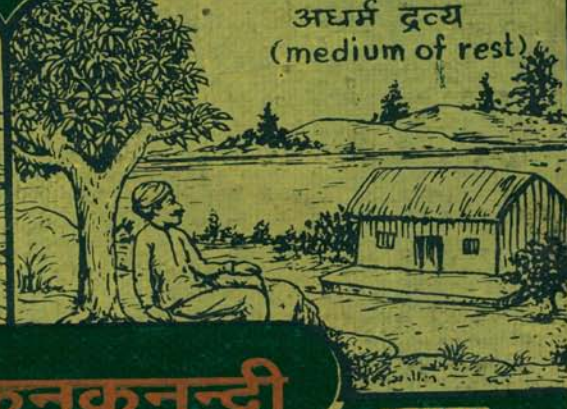


# स्वतंत्रता के सूत्र

(मोक्ष शास्त्र, तत्त्वार्थ सूत्र)



## आचार्य कनकनन्दी



# स्वतन्त्रता के सूत्र (मोक्षशास्त्र, तत्त्वार्थ सूत्र)

आशीर्वाद

गणधराचार्य श्री 108 कुन्थुसागर जी

समीक्षक

उपाध्याय श्री 108 कनकनन्दीजी

सहायक

- मुनि श्रीकुमार विद्या नंदी जी, मुनि श्री गुप्ति नंदी जी, आर्यिका राज श्री, आर्यिका क्षमा श्री माताजी, ब्र. सुषमा, ब्र. संध्या

विशेष सहयोगी

- 1. श्री नेमीचन्द काला C/O नव अल्पना, जयपुर
- 2. श्री मुकेश कुमार संगी, निवाई

सर्वाधिकार सुरक्षित  
द्रव्यदाता

- लेखकाधीन
- 1. श्रीमती सोनीदेवी पाटनी  
धर्मपत्नी स्व. श्री नेमीचन्द जी पाटनी, सुजानगढ़ निवासी
- 2. श्रीमती इन्द्र देवी काला  
माताश्री श्री नेमीचन्द जी काला, जयपुर
- 3. दिगम्बर जैन महिला समाज, निवाई
- 4. श्री हरिश चन्द्र जी काला, जयपुर
- 5. श्रीमती मैना देवी तेरापंथी, जयपुर
- 6. श्री प्रकाश चन्द जी दीवान, जयपुर
- 7. श्री गुलाब चन्द जी पांड्या, जयपुर
- 8. श्री माणक चन्द जी बाकलीवाल, जयपुर

मूल्य

- स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, (मात्र रू. 71/-)

संस्करण

- प्रथम

तिथि

- 19 नवम्बर 1992

प्रतियाँ

- 2100

प्रकाशक एवं

- धर्मदर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत (मेरठ) U. P.

प्राप्ति स्थान

मुद्रण कार्य

- नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स,  
मनिहारों का रास्ता, जयपुर-3 द्वारा

## प्रार्थना

श्रीमत्परमगंभीर स्याद्वादमोघलाञ्छनम् ।  
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनम् ॥3॥

जो अनेक अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मियों से भरपूर है और अत्यन्त गम्भीर स्याद्वाद ही जिसका सार्थक चिन्ह है, ऐसे श्री त्रैलोक्यनाथ का शासन श्री जैन शासन, चिरकाल तक जीवित रहो ।

श्रीमुखालोकनादेव श्रीमुखालोकनं भवेत् ।  
आलोकनविहीनस्य, तत्सुखावाप्तयः कुतः ॥4॥

आज श्री जिनेन्द्र देव का मुख देखने मात्र से मुक्ति रूपी लक्ष्मी का मुख दिखाई देता है भला जो श्री जिनेन्द्र देव के मुख का दर्शन नहीं करते उनको यह सुख कहीं से मिल सकता है ।

नमोनमः सत्वहितंकराय,  
वीराय भव्याम्बुजभास्कराय ।  
अनन्तलोकाय सुरार्चिताय,  
देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥7॥

जो भगवान् वर्धमान स्वामी समस्त प्राणियों का भला करने वाले हैं भव्य रूपी कमलों को सूर्य के समान प्रफुल्लित करने वाले हैं, अनन्त लोक, अलोक को देखने वाले हैं, देवों के द्वारा पूज्य हैं और देवों के भी परम देव हैं, ऐसे अरहन्त देव महावीर स्वामी के लिए मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ।

नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय,  
विनष्टदोषाय गुणार्णवाय ।  
विमुक्तिमार्गं प्रतिबोधनाय,  
देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥8॥

जो भगवान् अरहन्त देवों के द्वारा पूज्य हैं, क्षुधा, तृषा आदि अठारह



दोषों से रहित हैं, अनंत गुणों के समुद्र हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं और देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव हैं ऐसे अरहंत देव के लिए मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

**देवाधिदेव! परमेश्वर! वीतराग!**

**सर्वज्ञ! तीर्थकर! सिद्ध! महानुभाव!**

**त्रैलोक्यनाथ! जिनपुंगव! वर्धमान!**

**स्वामिन्! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥१॥**

हे देवाधिदेव! हे परमेश्वर! हे वीतराग! हे सर्वज्ञ! हे तीर्थकर! हे सिद्ध! हे महानुभव! हे तीनों लोकों के नाथ! हे जिनेन्द्र देव श्री वर्धमान स्वामिन् मैं आपके दोनों चरण कमलों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

**जितमदहर्षद्वेषा, जितमोहपरीषहा, जितकषायाः।**

**जितजन्ममरणरोगा, जितमात्सर्या, जयन्तु जिनाः ॥१०॥**

मद, हर्ष - द्वेष को जीतने वाले मोह और परिषहों को जीतने वाले कषायों को जीतने वाले और मत्सरता को जीतने वाले, भगवान जिनेन्द्र देव सदा जयशील हों।

**जयतु जिन! वर्द्धमानस्त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजबन्धुः।**

**त्रिदशपतिमुकुटभासुर, चूडामणिरश्मिरंजितारुणचरणः ॥११॥**

जो श्री वर्धमान स्वामी तीनों लोकों का हित करने वाले, धर्मचक्ररूपी कमलों के लिए सूर्य के समान हैं और जिनके अरुण (लाल रंग के) चरण कमल इन्द्र के मुकुट में दैदीप्यमान चूडामणि रत्न की किरणों से और भी सुशोभित हो रहें हैं, ऐसे श्री वर्धमान स्वामी सदा जयशील हों।

**जय, जय, जय! त्रैलोक्यकाण्ड शोभि शिखामणे;**

**नुद, नुद, नुद, स्वान्तध्वान्तं जगत्कमलार्क! नः।**

**नय, नय, नय, स्वामिन्! शांतिं, नितान्तमनन्तिमां,**

**नहि, नहि, नहि त्राता लोकैकमित्र! भवत्परः ॥१२॥**

हे भगवन्! आप तीनों लोकों में अत्यन्त सुशोभित होने वाले शिखामणि

के समान है। इसलिए आपकी जय हो, जय हो, जय हो, ! हे प्रभु! आप जगत् रूपी कमल को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान हैं। इसलिये मेरे हृदय के मोहान्धकार को दूर कीजिये! दूर कीजिये! हे स्वामिन्! कभी भी न नाश होने वाली अत्यन्त शांति दीजिये, दीजिये, दीजिये। हे भव्य जीवों के अद्वितीय मित्र आपके सिवाय मेरी रक्षा करने वाला संसार के दुःखों से बचाने वाला अन्य कोई नहीं है, नहीं है, नहीं है।

धर्मः सर्वं सुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते।  
 धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः॥  
 धर्मान्नास्त्यपरं सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया।  
 धर्मचित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय॥

धर्मरूपी चारित्र, स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सब सुखों का आकार अर्थात् उत्पत्ति स्थान है; सब जीवों के हित का करने वाला है। चारित्र रूप इस धर्म को सभी विवेकशील तीर्थंकर आदि महापुरुष भी संचित करते हैं। धर्म से ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है, उस धर्म के लिए सदा नमस्कार हो। धर्म के अतिरिक्त और कोई संसारी जीवों का उपकारक अर्थात् मित्र नहीं है। धर्म का मूल कारण दया है। इस कारण धर्म में मैं प्रतिदिन चित्त लगाता हूँ। हे धर्म तू मेरा पालन कर।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं,अहिंसा संयमो तवो।  
 देवावि तस्स पणमंति,जस्स धम्मो सयामणो॥

यह धर्म उत्कृष्ट मंगल है, अर्थात् मल को गालने वाला और सुख को देने वाला है। अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है, क्योंकि जिसका मन धर्म में सदा तल्लीन है उसको देव भी नमस्कार करते हैं।

## स्वतन्त्रता के सूत्र का सार

The summary of principles of absolute liberation

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नव पद सहितं जीवषट्काय लेश्याः ।  
पंचान्येचास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्र भेदाः ॥  
इत्येतन् मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः ।  
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान यः स वै शुद्ध वृष्टिः ॥

Three (divisions) of time (Present, Past and Future) Six Drayyas (substances) with nine padarthas (Categories) six kind of embodied souls, six thought - points, the five Astikayas (embodied substances) the five vratas (vows) the five kinds of Samiti (Carefulness) the five kinds of Gati (Conditions of existence) the five kinds of Gyana (Knowledge) the five kinds of Charitra (Conduct) these are the root principles of liberations, as described by Arhats (the adored ones) who are perfect and the great lords of the three Worlds, (upper, middle and lower) the wise man who knows these is convinced of them, and who realises these, is verily one who has attained right belief.

तीन काल (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) षट् द्रव्य ((1) जीव (2) पुद्गल (3) धर्म (4) अधर्म (5) आकाश (6) काल) नव पदार्थ ((1) जीव (2) अजीव (3) आस्रव (4) बंध (5) संवर (6) निर्जरा (7) मोक्ष (8) पुण्य (9) पाप) सहितषट् जीविकाय ((1) पृथ्वीकाय (2) जलकाय (3) अग्निकाय (4) वायुकाय (5) वनस्पतिकाय (6) त्रसकाय) षट् लेश्या ((1) कृष्ण (2) नील (3) कापोत (4) पीत (5) पद्म (6) शुक्ल) पांच अस्तिकाय ((1) जीव (2) पुद्गल (3) धर्म (4) अधर्म (5) आकाश) व्रत ((1) अहिंसा (2) सत्य (3) अचौर्य (4) ब्रह्मचर्य (5) अपरिग्रह) समिति ((1) ईर्या (2) भाषा (3) एषणा (4) आदान निक्षेपण (5) उत्सर्ग) ज्ञान ((1) मति (2) श्रुत (3) अवधि (4) मनः पर्यय (5) केवलज्ञान) चारित्र ((1) सामायिक

(2) छेदोपस्थापना (3) परिहार विशुद्धिदि (4) सूक्ष्म साम्पराय (5) यथाख्यात चारित्र)। यह सब तीन लोक से पूजित अर्हत परमेष्ठी के द्वारा मूलभूत तत्त्व कहा गया है। जो इसकी प्रतीति (श्रद्धा, विश्वास), ज्ञान, करता है और उनके अनुसार उसका स्पर्श (अनुकरण, आचरण) करता है वह बुद्धिमान है वही शुद्ध दृष्टि सम्पन्न है। इस श्लोक में मोक्षमार्ग, मोक्षमार्ग के कारणभूत तत्त्व, उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन के विषय भूत तत्त्व का संक्षिप्त, सांगोपाग वर्णन किया गया है।

### ‘उपाध्याय श्री कनकन्दी के विचारामृत’

1. मैं दूसरों की सहमति की अनिवार्यता स्वीकार नहीं करता हूँ परन्तु मेरी मति सतत् सन्मति हो इसकी अनिवार्यता स्वीकार करता हूँ।
2. सत्य ही मेरा भगवान है।
3. सत्य की उपलब्धि ही महान् उपलब्धि है।
4. सत् का विनाश नहीं होता है एवम् असत् का प्रादुर्भाव नहीं होता है।
5. स्वयं को जानना, मानना, पाना ही भगवान को जानना, मानना, पाना है।

## आद्यमिताक्षर

विश्व अनादि है तथा अनादि काल से जीव सत्य स्वरूप से, स्वस्वरूप से विमुख होकर, च्युत होकर चतुर्गति रूपी संसार में तथा 84 लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि कष्टों को तथा जन्म-जरा-मरण को अनुभव करता है। जब योग्य अंतरंग-बहिरंग कारण, तथा योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करके मिथ्या स्वरूप एवं पर स्वरूप से च्युत होकर स्व स्वरूप का अवलोकन, आवलम्बन एवं आचरण करता है तब वह अनादिकालीन समस्त वैभाविक संस्कार, वैभाविक परिणामन, मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र को त्याग करके सुसंस्कार से सुसंस्कृत होकर स्वाभाविक परिणामन, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त करके शुद्ध स्वस्वरूप, अमृत स्वरूप, सत्य स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसे ही मोक्ष, परिनिर्वाण, कैवल्यपदवी, भगवत्स्वरूप, परमात्म स्वरूप, ईश्वरपना, प्रभू, विभू, सच्चिदानन्द, सत्यं-शिवं-सुन्दरं आदि नाम से अभिहित करते हैं। आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने उपर्युक्त सत्य-तथ्य को ही निम्न प्रकार से उजागर किया है -

कुबोधरागादिविचेष्टितैः		फलं,
त्वयापि	भूयो	जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि	भव्य	प्रतिलोमवृत्तिभिः,
ध्रुवं	फलं	प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥[106]

हे भव्य ! तूने बार-बार मिथ्याज्ञान एवं राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणादिरूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों-सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर अमर पद-को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

जब जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के माध्यम से घातियाँ कर्म को नाश करके अनंत शक्ति धारी आनन्द घन स्वरूप अरिहंत केवली बन जाते हैं तब विश्व कल्याण के लिए निस्वार्थ भाव से दिव्यध्वनि के माध्यम से परम अहिंसात्मक सापेक्ष प्रणाली से उपदेश देते हैं। अरिहंत भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वविद्या-विश्वविद्या विशारद एवं सर्व भाषा के ज्ञाता होते हुए भी जो परम





जो सत्य जिज्ञासु, परमसत्य को धार्मिक आस्था से  
दार्शनिक, तार्किक पद्धति द्वारा वैज्ञानिक परीक्षण  
प्रणाली से परिज्ञान, परिपालन, उपलब्धि करना चाहते  
हैं उन्हें आशीर्वाद यह ग्रन्थ समर्पण

उपाध्याय कनकनंदी



सत्य को जानते हैं उन सम्पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं क्योंकि अनंत ज्ञान से जानने के बाद जो उसे अभिव्यक्त करने वाली भाषा है वह सीमित है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा भी है—

पण्णवणिज्जाभावा, अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।

पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिवद्धो ॥[334]

अनभिलप्य पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण श्रुत में निबद्ध हैं।

केवलज्ञानी सर्वज्ञ होने से केवलज्ञान के द्वारा जो जानते है उसकी अभिव्यक्ति दिव्यध्वनि के माध्यम से करते एवं दिव्यध्वनि की शक्ति सीमित होने से जितना जानते हैं उसका अनन्तवें भाव प्ररूपणा (अभिव्यक्ति, कथन, उपदेश) करते हैं। इसलिये जितना जानते हैं उसके अनन्तवें भाग प्ररूपण करते हैं अवशेष भाग का कथन नहीं होता है। अरिहंत भगवान जो कथन करते है उसके अनन्तवें भाग गणधर झेलते (ग्रहण करते) हैं। गणधर जितना ग्रहण करते हैं उसके अनन्तवें भाग श्रुत में निबद्ध (लिपिबद्ध, निरूपित, श्रुतरचना) करते हैं। इससे सिद्ध होता है जो पूर्ण द्वादशांग श्रुत है वह भी पूर्ण ज्ञान स्वरूप नहीं है परन्तु पूर्ण श्रुत में सम्पूर्णद्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन अवश्य है अथवा केवलज्ञान अनंत प्रत्यक्ष ज्ञान है एवं श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान है। कहा भी है—

सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।

सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं ॥[369] गो.सार

ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

जिस तरह श्रुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है उस ही तरह केवलज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है। विशेषता इतनी ही है कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है इसलिये परोक्ष-अविशद अस्पष्ट है। इसकी अमूर्त पदार्थों में और उनकी अर्थ पर्यायों तथा दूसरे सूक्ष्म अंशों में स्पष्ट रूप से प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु केवलज्ञान निरावरण होने के

कारण समस्त पदार्थों और उनके सम्पूर्ण गुणों तथा पर्यायों को स्पष्ट रूप से विषय करता है।

सर्वज्ञ भगवान ही सम्पूर्ण सत्य के ज्ञाता होने से सत्य के सर्वोत्कृष्ट उपदेशक अरिहन्त ही होते हैं। अरिहन्त की दिव्य ध्वनि को सुनकर गणधर (गणपति, मुनिसंघ के अधिपति या आचार्य) उस दिव्यध्वनि से प्राप्त अर्थ को अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप से विभाग या सम्पादन करते हैं। कहा भी है—

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंधियं सम्मं ।  
पणमामि भक्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा ॥[2]

जो अर्थरूप से अरहन्त देव के द्वारा जाना गया है, गणधरों के द्वारा जिसकी रचना हुई है, जो दो और अनेक भेदों में स्थित है, जो अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य के भेद से प्रसिद्ध है तथा जो अनंत पदार्थों को विषय करने वाला है, उस श्रुतज्ञान को भी नमस्कार करता हूँ।

विश्व अनादि अनंत होने से मोक्षमार्ग अनादि है और मोक्षमार्ग को प्राप्त करने वाले भी अनादि से हैं। इसलिए तीर्थंकर, केवली, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सिद्ध भी अनादि से होते आ रहे हैं, परन्तु वर्तमान अवसर्पिणी काल के आदि ब्रह्मा ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त 24 तीर्थंकर हुए हैं। ऐसे 24 तीर्थंकर भूतकाल में भी अनंत हो गये हैं। विदेह आदि शाश्वतिक कर्मभूमि में अभी भी सीमन्धर आदि तीर्थंकर विद्यमान हैं। ऐसे ही आगे भी भविष्यत् काल में तीर्थंकर आदि होंगे, परन्तु वर्तमान में इस युग के अंतिम 24 वें तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन चल रहा है। भगवान महावीर का जन्म ईसा पू. 599 (विक्रम पूर्व, 542) में हुआ था। वे 30 वर्ष की किशोरावस्था में बाल ब्रह्मचारी रहते हुए ईसा पूर्व (569) वि.पू. (512) में सम्पूर्ण अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह के साथ-साथ वस्त्र त्याग कर दिगम्बर दीक्षाधारण कर ली। 12 वर्ष की कठिन मौनपूर्वक तपस्या के बाद 42 वर्ष की आयु में ई.पू. (557) वि.पू. (500) को केवलज्ञान प्राप्त किया। 30 वर्ष तक विभिन्न स्थान में विहार करके धर्मोपदेश दिया। 527 ई.पू. (470 वि.पू.) में 72 वर्ष की आयु में पावापुरी के पद्म सरोवर से निर्वाण प्राप्त किया। यह समय चतुर्थ काल के अंतिम चरण





## मंगल आशीर्वाद

विशेष प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्रता के सूत्र का प्रकाशन हो रहा है। पुस्तक के लेखक उपाध्याय कनकनंदी जी हैं, वे विशेष परिश्रम कर रहे हैं। वर्तमान में बालकों पर संस्कार डालना परमावश्यक है, उनको धार्मिक ज्ञान प्राप्त होना जरूरी है, आगे जाकर बच्चों पर ही धर्म का भार है, उन्हीं को धर्म चलाना है, उनको शिक्षित करना परम आवश्यक है, इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह तैयार की है। आशा है अवश्य लाभान्वित होंगे। लेखक व प्रकाशक एवं द्रव्यदाता और धर्म ज्ञान प्राप्त करने वाले सभी को मेरा आशीर्वाद।

यह पुस्तक जैन धर्म को समझने में आशादीप सिद्ध हो—  
इन्हीं मंगलकामना के साथ।

— गणधराचार्य कुन्थुसागर





और पंचम काल के कुछ वर्ष पहले का है अर्थात् 3 वर्ष 8 माह । पक्ष चतुर्थ काल का अवशेष रहते हुए या इतने ही काल पंचमकाल के पूर्व महावीर भगवान का निर्वाण हुआ ।

जिस दिन महावीर भगवान ने निर्वाण को प्राप्त किया वह दिन कार्तिक कृष्णा अमावस्या था । महावीर भगवान जिस दिन मोक्ष पधारे उस दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ इसके उपलक्ष्य में देवलोग दीपमालिका प्रज्ज्वलित कर पर्व मनाया । तब से “दीपावली” का त्यौहार भारत वर्ष में प्रारंभ हुआ । जो कि अभी तक भारतवर्ष में प्रायः सभी सम्पूर्ण सम्प्रदाय उत्साह सहित मानते है ।

गौतम गणधर के सिद्ध होने पर सुधर्मास्वामी केवली हुए । सुधर्मास्वामी के कर्मनाश करने (मुक्त होने) पर जम्बू स्वामी केवली हुए । जम्बूस्वामी के सिद्ध होने के पश्चात् फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ । गौतमादिक (गौतम गणधर, सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी) केवलियों के धर्म प्रवर्तन काल का प्रमाण पिण्डरूप से बासठ (62) वर्ष प्रमाण है ।

केवलज्ञानियों में अंतिम केवली श्रीधर कुण्डलगिरी से सिद्ध हुए और चारण ऋषियों में सुपार्श्वचन्द्र ऋषि अन्तिम हुए ।

प्रज्ञाश्रमणों में ब्रजयश अन्तिम हुए और अवधिज्ञानियों में श्रुत, विनय और सुशिलादि से सम्पन्न श्री नामक ऋषि अन्त में हुए है ।

मुकुटधरों में अंतिम जिनदीक्षा चन्द्रगुप्त ने धारण की । इसके पश्चात् किसी मुकुटधारी ने प्रव्रज्या ग्रहण नहीं की । चौदह पूर्व धारियों के नाम एवं उनके काल का प्रमाण – (1) नन्दी, (2) नन्दि मित्र, (3) अपराजित, (4) गोवर्धन, (5) भद्रबाहु इस प्रकार ये 5 पुरुषोत्तम जग में चौदह पूर्वी इस नाम से विख्यात हुए । बारह अंगों के धारक ये पाँचों श्रुतकेवली श्री वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ में हुए हैं । इन 5 श्रुतकेवलियों का सम्पूर्ण काल 100 वर्ष होता है । इन पाँचों के बाद भरत क्षेत्र में फिर श्रुतकेवली नहीं हुए ।

दसपूर्वधारी एवं उनका काल – (1) विशाखा, (2) प्रोष्ठिल, (3) क्षत्रिय, (4) जय, (5) नाग, (6) सिद्धार्थ, (7) धृतिषेण, (8) विजय, (9) बुद्धिल

गंगदेव (10) सुधर्म— इन सबका काल एक सौ तैरासी (183) वर्ष प्रमाण है। इसके बाद दसपूर्वधर रूप सूर्य फिर नहीं (उदित) रहें।

ग्यारह अंगधारी एवं उनका काल— (1) नक्षत्र, (2) जयपाल, (3) पांडु (4) ध्रुवसेन, (5) कंस ये 5 आचार्य ग्यारह अंगधारी हुए। इनका काल 220 वर्ष हैं। इनके स्वर्गस्थ होने पर फिर अन्य ग्यारह अंग धारक भी नहीं रहे।

आचारांगधारी एवं काल— (1) सुभद्र, (2) यशोभद्र, (3) यशोबाहु, (4) लोहार्य ये चारों आचारांगधारी हुए, इनका काल 118 वर्ष है। ये चारों आचार्य आचारांग के अतिरिक्त शेष ग्यारह अंगों और 14 पूर्वों के एक देश के धारक थे।

गौतम गणधर से लोहार्य पर्यन्त का सम्मिलित काल प्रमाण— इनके स्वर्गस्थ होने पर भरतक्षेत्र में फिर कोई आचाराङ्ग ज्ञान के धारक नहीं हुए है। गौतम मुनि को आदि लेकर (आचार्य लोहार्य पर्यन्त के) सम्पूर्ण काल का प्रमाण 683 वर्ष होता है।

इसके बाद अंग के कुछ अंग के धारी धरसेन हुए। इनसे आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि अध्ययन करके षट्खण्डागम की रचना की। वर्तमान काल में दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार लिपिबद्ध रूप में यह शास्त्र-रचना सर्वप्रथम थी। इन्होंने प्राकृत भाषा में गद्य रूप में सूत्र की रचना की। इसके बाद गुणधर आचार्य हुए, जिन्होंने कषायपाहुड की रचना की। यह रचना प्राकृत गाथा बद्ध है। गुणधर आचार्य का काल ईसा सम्वत् 57 से लेकर 156 तक संभावित है। इसी परम्परा में आगे जाकर आचार्य पद्मनंदी हुए, जिनका प्रसिद्ध नाम कुन्दकुन्ददेव है। इनका काल संभवतः 127 से लेकर 179 ई. सम्वत् है। बहुशः (सम्भवतः) इनके सुयोग्य शिष्य आचार्य उमास्वामी (उमास्वाति) हुए। इनका काल संभवतः 179 से 220 तक है।

इनका समय नन्दिसंघ की पट्टावलि के अनुसार वीर-निर्माण सम्वत् 571 है, जो कि वि. स. 101 आता है। विद्वज्जनबोधक में अग्रलिखित पद्य है:—

वर्षसप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ।  
उमास्वामिमुनिजातिः कुन्दकुन्दस्तथैव च॥

वीरं निर्वाण संवत् 770 में उमास्वामी मुनि हुए, तथा उसी समय कुन्द-कुन्दाचार्य भी हुए। नन्दिसंघ की पट्टावलि में बताया है कि उमास्वामी 40 वर्ष 8 महिने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु 84 वर्ष की थी और विक्रम संवत् 142 में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। प्रो. हार्नले, डा. पिटर्सन और डा. सतीशचन्द्र ने इस पट्टावलि के आधार पर उमास्वामी को ईसा की प्रथम शताब्दी का माना जाता है।

आचार्य उमास्वामी एक प्रवृद्ध, प्रज्ञाधनी, बहुशास्त्रज्ञ, आगमज्ञ, संस्कृत के प्रकाण्ड तलस्पर्शी विद्वान्, तार्किक तथा बहुआयामी तत्त्वज्ञ साधक तथा लेखक थे। इसलिये उनके लिए कहा गया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।  
वन्दे गणेन्द्रसंजातमुमास्वामीमुनीश्वरम्॥

तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता, गृद्धपिच्छ से युक्त, गणीन्द्र संजात, उमास्वामी मुनीश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।

नगर ताल्लुक के एक दिगम्बर शिलालेख नं. 46 में लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।  
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

इस तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता का नाम उमास्वाति बतलाया गया है और उन्हें श्रुतकेवलीदेशीय लिखा है। सम्भवतः 'गणीन्द्र संजात' का मतलब भी श्रुतकेवली देशीय ही जान पड़ता है।

श्रवणबेल गोला के शिलालेखों में यह श्लोक पाया जाता है—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।  
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥

कुन्दकुन्द के वंश में गृद्ध पिच्छाचार्य उमास्वामी मुनीश्वर हुए। उस समय

समस्त पदार्थों का ज्ञाता उनके समान दूसरे नहीं थे।

शिला लेख नं. 108 में लिखा है—

अभूदुमास्वाति मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।  
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के जानने वाले उमास्वामी मुनि हुए जिन्होंने जिन प्रणीत द्वादशांग वाणी को सूत्रों में निबद्ध किया।

इस युग में लिपिबद्ध साहित्य की रचना भूतबलि और पुष्पदंत आचार्य से शुरु हुई और यह परम्परा कुन्दकुन्दाचार्य तक प्राकृत भाषा में ही थी परन्तु आचार्य उमास्वामी ही प्रथम आचार्य है जिन्होंने अपनी रचना संस्कृत में सूत्रबद्ध रूप में की।

बहुशः उस समय भारतवर्ष में संस्कृत भाषा की प्राधान्यता और प्रचुरता बहुलता हुई हो इस कारण इन्होंने अपनी रचना संस्कृत भाषा में की हो। जिस ग्रन्थ की रचना उमास्वामी ने की है, उसमें दस अध्याय है और 357 सूत्र है। इस शास्त्र का प्राचीन नाम सम्भवतः “तत्त्वार्थ” रहा होगा क्योंकि इसमें तत्त्व और उसके अर्थ का सांगोपांग वर्णन है। और भी एक कारण यह है कि इसके ऊपर और भी अनेक प्रसिद्ध टीका है। उसके अनुसार “तत्त्वार्थ” है। जैसे-पूज्य पाद की तत्त्वार्थ वृत्ति (अपरनाम-सर्वार्थसिद्धि) अंकलकदेव का तत्त्वार्थ वार्तिक (अपरनाम-राजवार्तिक) आचार्य विद्यानन्द का श्लोक वार्तिक, श्रुतसागर की तत्त्वार्थ वृत्ति, आदि है। अमृतचन्द सूरि ने भी तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर ही श्लोक- बद्ध ‘तत्त्वार्थ सार’ की रचना की है। इन सब रचना में ‘तत्त्वार्थ’ मूल रूप में आया है। आगे जाकर इस शास्त्र का नाम “तत्त्वार्थ सूत्र” तथा “मोक्षशास्त्र” रूप में प्रसिद्ध हुआ। बहुशः यह शास्त्र सूत्रबद्ध में रचित होने से “तत्त्वार्थ सूत्र” इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस शास्त्र में मोक्ष का सांगोपांग वर्णन होने से यह ‘मोक्षशास्त्र’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

इस शास्त्र के रचना के बारे में प्रसिद्ध किम्बदन्ती है कि सौराष्ट्र देश के ऊजर्यन्त गिरी के निकट ‘गिरी’ नामक नगर में सिद्धय्य नामक विद्वान् श्रावक रहता था। उसने शास्त्र की रचना के लिए एक फलक पर “दर्शनज्ञानचारित्राणि



मोक्ष मार्गः” लिखकर दिवाल पर टंगा दिया था। एक दिन आहार चर्या के लिए गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वामी) आये उन्होंने आहार के बाद उस सूत्र को देखकर विचार किया कि यह सूत्र गलत है तथा संशोधन के योग्य है क्योंकि केवल दर्शन, ज्ञान, चारित्र से मोक्ष नहीं होता बल्कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के समूह से मोक्ष होता है। इसलिए उन्होंने इस सूत्र के पहले ‘सम्यक्’ शब्द जोड़ दिया जिससे “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” सूत्र बन गया। उसके बाद आचार्य श्री अपनी वसतिका में लौट गये। जब आचार्य श्री आहार के लिए आये थे तब सिद्धय्य बाहर गया हुआ था। जब वह वापस आया तब उसने देखा कि सूत्र के पहले ‘सम्यक्’ शब्द लगा हुआ है। तब वह अपनी माता से मुनिराज के आने का समाचार ज्ञात करके खोजता हुआ उनके पास पहुँचा और नमन करने के बाद पूछा-गुरुदेव! आत्मा का हित क्या है? मुनि महाराज बोले-आत्मा का हित समस्त बंधनों से रहित पूर्ण स्वातन्त्र्य या मोक्ष है। पुनः उसने प्रश्न किया - भगवन्! मोक्ष के प्राप्त करने का उपाय क्या है? आचार्य श्री ने उत्तर दिया-‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ उसके बाद वह श्रावक विचार करता है शास्त्र का रचनाकार मैं नहीं हो सकता हूँ। गुरुदेव ही इसके लिए समर्थ है इसलिए उसने गुरुदेव से मोक्षमार्ग के प्ररूपणा के अर्थ शास्त्र रचना की प्रार्थना की। तब आचार्य उमास्वामी ने उस भव्य को सम्बोधन करने के लिए भव्यजनों को मार्ग दर्शन करने के लिए, आत्म सम्बोधन के लिए, सत्यार्थ प्रकाशन के लिए, वस्तु स्वरूप निरूपण करने के लिए, धर्म प्रभावना के लिए, परम्परा आगत जिनवाणी को जीवित रखने के लिए, एवं आगे बढ़ाने के लिए ‘तत्त्वार्थ सूत्र’ की रचना की। क्योंकि आचार्य देव को मालूम था वर्तमान काल में कोई तीर्थंकर, गणधर, महान पुरुष नहीं है, परन्तु उन महान पुरुष की वाणी, व जिनवाणी ही उनके उत्तरदायित्व को निभाती है। इसलिए जिनवाणी की रचना एवं प्रचार-प्रसार ही जिनवाणी की पूजा है जिनवाणी की पूजा ही भगवान् की पूजा है।

पद्मनन्दी आचार्य ने कहा भी है:-

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि-  
 स्तद्वाचः परमास्तेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका।  
 सदरत्नत्रयधारिणो यतिवरस्तेषा समालम्बनं।  
 तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान् इस भरत क्षेत्र में नहीं है तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उस वाणी के आधार स्तम्भश्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी है। इसलिए उन मुनियों की पूजन तो सरस्वती की पूजन है तथा सरस्वती पूजन साक्षात् केवली भगवान् की पूजन है।

उपरोक्त श्लोक में वर्णित भावना ही प्रबल उद्दीपक प्रेरणाप्रद कारण है जिसके कारण निस्पृह-शान्त निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ जैन संत भी जो कि ख्याति-पूजा-लाभ-प्रशंसा-लोकपंक्ति-लोकसंग्रह की भावना से रहित होते हुए भी ग्रन्थों की रचना करते हैं। इसी प्रकार इस तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पीछे भी कारण है। इस तत्त्वार्थ सूत्र में जैन धर्म के करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग सम्बन्धी समस्त विषय सूक्ष्म रूप से सूत्रबद्ध-रूप में निबद्ध है। जैसे-हिन्दु धर्म में गीता, इस्लाम में कुरान, ईसाई धर्म में बाइबिल का स्थान महत्त्वपूर्ण है इसी तरह जैन धर्म में इस 'तत्त्वार्थसूत्र' का स्थान महत्त्वपूर्ण है इसलिए तो विद्यानंदि स्वामी आप्त परीक्षा में इसे बहुमूल्य रत्नों का उत्पादक, सलिलनिधि समुद्र कहा है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भूतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,  
 प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।  
 स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,  
 विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥

प्रकृष्ट रत्नों के उद्भव के स्थानभूत श्रीमत्तत्त्वार्थ शास्त्ररूपी अद्भूत समुद्र की उत्पत्ति के प्रारम्भकाल में महान् मोक्षपथ को प्रसिद्ध करने वाले और तीर्थोपमस्वरूप जिस स्तोत्र को शास्त्रकार गृद्धपिच्छाचार्य ने समस्त कर्ममल के भेदन करने के अभिप्राय से रचा है और जिसकी (समन्तभद्र) स्वामी ने मीमांसा की है,

उसी स्तोत्र का सत्यवाक्यार्थ (यथार्थता) की सिद्धि के लिए मुझ विद्यानन्द ने अपनी शक्ति के अनुसार किसी प्रकार व्याख्यान किया है।

इस शास्त्र का इतना महत्त्व है कि भावपूर्वक इसका स्वाध्याय करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द देव ने स्वाध्याय को परमतप कहा है। स्वाध्याय से पाँचों इन्द्रियाँ एवं मन, शरीर संयमित हो जाते हैं जिससे पाप कर्म की निर्जरा होती है सातिशय पुण्य बँधता है, आत्म विशुद्धि होती है इसलिए इसके पाठ से एक उपवास का फल लगता है। कहा भी है—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।  
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः॥

दस अध्यायों में विभक्त इस तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) के पाठ करने तथा परिच्छेदन अर्थात् मनन से श्रेष्ठ मुनियों ने एक उपवास का फल कहा है।

तत्त्वार्थसूत्र का अपरनाम मोक्षशास्त्र है। यह नाम अन्वर्थ संज्ञक है क्योंकि इसमें मोक्ष का, मोक्ष उपाय का सांगोपांग वर्णन है। प्रत्येक जीव मोक्ष प्राप्त करना चाहता है क्योंकि मोक्ष में ही शाश्वतिक सुख एवं शांति है। सुख एवं शांति प्रत्येक जीव को भाती है इसलिए वह चाहता है। यह जीव का स्वाभाविक गुण है। इस मोक्षशास्त्र में जो कुछ वर्णन किया गया है वह शाश्वतिक सत्य होने के कारण इसका वर्णन अन्य-अन्य जैनाचार्यों ने अपनी कृति में विभिन्न प्रणाली में किया है। इतना ही नहीं, गणधर एवं साक्षात् सर्वज्ञ अरिहन्त तीर्थंकर का भी यही उपदेश है। अभी तक जो अनन्त केवली हुए हैं, विदेहादि में केवली हैं, और आगे भी अनन्त केवली होंगे उनका भी यही उपदेश है। भले ही उस उपदेश में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लेकर अन्तर पड़ता है परन्तु शाश्वतिक सत्य एवं अन्तर्निहित तथ्यरूपी मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, सत्य की प्ररूपणा है। इसलिए आचार्य उमास्वामी ने लिपिबद्ध रूप में जो सूत्रों का प्रणयन किया है भले ही इस सूत्र के रचनाकार आचार्य उमास्वामी को मान सकते हैं तथापि इस सत्य के साक्षात्कार करने वाले केवल उमास्वामी ही नहीं हैं, परन्तु जो अनन्त जीव अभी तक मोक्ष प्राप्त कर लिये हैं उन्होंने किया है और आगे भी अनन्त जीव जो मोक्ष प्राप्त करेंगे, वे भी करेंगे और

जो अभी विदेहादि से मोक्ष प्राप्त करेंगे, वे भी करेंगे और जो अभी विदेहादि से मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं वे भी कर रहे हैं। इसलिए इस शास्त्र में निहित सत्य लिपिबद्ध रूप से सादि होते हुए भी भावात्मक रूप से अनादि अनन्त और शाश्वतिक है क्योंकि परम सत्य तीन काल में अपरिवर्तनशील रहता है तथा अनन्त सत्य दृष्टा जो सत्य का दर्शन करते हैं वह सत्य एक ही होता है। इसलिए अनन्तज्ञानियों का सिद्धान्त वचन एक ही होता है और एक अज्ञानी के मत एवं वचन अनेक होते हैं। अतएव आचार्य कुन्दकुन्द देव ने जो मोक्षमार्ग का वर्णन किया वह वर्णन भी तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित वर्णन के समान ही है—

**मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।**

**मग्गो मोक्खउवायो, तस्स फलं होई णिव्वाणं ॥[2]**

जिनेन्द्र भगवान के शासन में मार्ग और मार्ग का फल इस प्रकार से दो प्रकार का कथन किया गया है, मोक्ष का उपाय मार्ग है और उस मार्ग का फल निर्वाण है।

**णियमेव य जं कज्जं, तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।**

**विखरीयपरिहरत्थं, भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥[3]**

जो नियम से करने योग्य है वह 'नियम' कहलाता है और वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र है। विपरीत का परिहार करने के लिए वास्तव में 'सार' ऐसा वचन कहा गया है। यहां पर नियम शब्द में 'सार' इस शब्द के प्रतिपादन द्वारा स्वभाव (सम्यक्) रत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है।

**णियमं मोक्खउवायो, तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं ।**

**एदेसिं तिण्हं पि य, पत्तेयपरूवणा होई ॥[4]**

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय स्वरूप नियम मोक्ष का उपाय है। उसका फल परम निर्वाण है। पुनश्च इन तीनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा होती है।

**अत्तागमतच्चाणं, सद्वहणादो हवेइ सम्पत्तं ।**

**ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥[5]**

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। समस्त दोषों से रहित और सकल गुणों से सहित आत्मा होता है।

**जीवा पोग्गलकाया, धम्माधम्मा य काल आयासं।**

**तच्चत्था इदि भणिदा, णाणगुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥[9]**

जीव; पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश से छहों ही विविध गुण पर्यायों से संयुक्त 'तत्त्वार्थ' इस प्रकार से कहे गये हैं।

इसी प्रकार मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक है। यह रत्नत्रय जीव का स्वभाव होने से मोक्षमार्ग भी जीव का स्वरूप है। इतना ही नहीं, रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष है और यह पूर्णता जीव में ही होती है इसलिए जीव का स्वस्वरूप ही मोक्ष है। द्रव्यसंग्रह में कहा भी है—

**सम्पदंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।**

**ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइयो णिओ अप्पा ॥[39]**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को व्यवहार से मोक्ष का कारण जानो। तथा निश्चय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है उसको मोक्ष का कारण जानो।

**रणत्तयं ण वडुइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियमिह।**

**तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥[40]**

आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वही निश्चय से मोक्ष का कारण है।

मोक्ष की सिद्धि सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के सम्यक् समवाय (समुदाय, संगठन, मिलन) से ही होती है। राजवार्तिक में अंकलंक देव स्वामीने कहा भी है—

रसायन के समान सम्यग्दर्शनादि तीनों में अविनाभाव सम्बन्ध है, नान्तरीयक (तीनों के साथ अविनाभाव) होने से। तीनों की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे रसायन के ज्ञान मात्र में रसायनफल अर्थात्



रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इसमें रसायन श्रद्धान और रसायन क्रिया का अभाव है। यदि किसी ने रसायन के ज्ञान मात्र से रसायन फल-आरोग्य देखा हो तो बतावे? परन्तु रसायन ज्ञान से आरोग्य फल मिलता नहीं है, न रसायन की क्रिया (अपथ्यत्यागादि) मात्र से रोग निवृत्ति होती है। क्योंकि इसमें रसायन के आरोग्यता गुण का श्रद्धान और ज्ञान का अभाव है तथा ज्ञानपूर्वक क्रिया से रसायन का सेवन किये बिना केवल श्रद्धान मात्र से भी आरोग्यता नहीं मिल सकती। इसलिये पूर्णफल की प्राप्ति के लिये रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक ही है। जिस प्रकार यह विवाद रहित है—उसी प्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव में सिर्फ ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्षमार्ग के ज्ञान और तदनुरूप क्रिया के अभाव में सिर्फ श्रद्धान मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और न ज्ञान, श्रद्धान, शून्य क्रिया मात्र से मुक्ति प्राप्त हो सकती है क्योंकि ज्ञान-श्रद्धानरहित क्रिया निष्फल होती है।

“हृतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।  
 धावन् किलान्धको दग्धः, पश्यन्नपि च पंगुलः (1)  
 संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।  
 अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ, तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥” (2)

कहा भी है - क्रियाहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल होती है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार अन्धा इधर-उधर भाग कर भी जल जाता है, उसी प्रकार लंगड़ा देखता हुआ भी जल जाता है, क्योंकि एक चक्र से रथ नहीं चल सकता है। अतः ज्ञान और क्रिया का संयोग ही कार्यकारी है— ऐसा विद्वानों का कथन है। एक अन्धा और एक लंगड़ा दोनों वन में प्रविष्ट थे। दोनों मिल गये तो नगर में आ गये। यदि अन्धा और लंगड़ा दोनों मिल जायें और अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठ जाये तो दोनों का ही उद्धार हो जाय। लंगड़ा रास्ता बताकर ज्ञान का कार्य करे और अंधा पैरों से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनों ही नगर में आ सकते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्त से सुनिश्चित निर्णय होता है कि रत्नत्रय ही मोक्ष मार्ग तथा मोक्ष स्वरूप है। इसलिए उमास्वामी ने प्रथम अध्याय में सभ्यदर्शन

एवं सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया है तथा सम्यग्ज्ञान के कारणभूत सम्यक् नय का भी वर्णन किया है। सम्यक् चारित्र व वर्णन सप्तम अध्याय से लेकर आगे 9वें अध्याय तक किया गया है। प्रकारान्तर से पहले अध्याय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है एवं द्वितीय अध्याय में सम्यग्दर्शन के कारण-भूत जीवादि सप्त तत्त्वों में से जीव तत्त्व उसके विभिन्न भाग व भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में जीव के उत्तर भेद स्वरूप नारकी, मनुष्य एवं तिर्यचों का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में जीव के उत्तर भेद स्वरूप चारों प्रकार के देवों का वर्णन है। पंचम अध्याय बहुत ही महत्त्व पूर्ण, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक अध्याय है। इसमें धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य के साथ-साथ जीव द्रव्य का भी वैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रणाली से सूत्र-बद्ध वर्णन है। आधुनिक विज्ञान की भौतिक विज्ञान, रसायनिक विज्ञान, जीव विज्ञान की शाखाओं के साथ-साथ अणुविज्ञान, प्रकाश सिद्धान्त, शब्द सिद्धान्त, रसायनिक बन्ध प्रक्रिया, धर्म द्रव्य (गति माध्यम Media of Motion) अधर्म द्रव्य (स्थिति माध्यम Media of rest) सापेक्ष सिद्धान्त (theory of Relativity) आदि का वर्णन है। प्रकारान्तर से तीसरे अध्याय में अधोलोक एवं मध्यलोक का वर्णन है एवं चतुर्थ अध्याय में उर्ध्वलोक (स्वर्ग) का वर्णन है।

6 वें अध्याय में तीसरे आस्रव तत्त्व का वर्णन है। आस्रव ही संसार का मूल कारण है। मुख्य रूप से आस्रव दो प्रकार के हैं— (1) पुण्यास्रव (2) पापास्रव। पापास्रव संसार का कारण होने से हेय है, पुण्यास्रव परम्परा से मोक्ष का कारण होने से प्राथमिक अवस्था में उपादेय है।

तीर्थंकर प्रकृति भी पुण्यास्रव है, जिस प्रकृति को निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि ही बाँधते हैं। शुभ आस्रव एवं शुभ बन्ध जीव के लिए हितकारी होने से इसका वर्णन विस्तार रूप से सप्तम अध्याय में किया गया है। शुभआस्रव के निमित्त भूत देशव्रत एवं महाव्रत है इसलिए इस अध्याय में देशव्रत, महाव्रत का वर्णन किया गया है। प्रकारान्तर से रत्नत्रय के अभेद अंगस्वरूप चारित्र का वर्णन किया गया है। अष्टम अध्याय में जीव-अजीव, आस्रव, के बाद चतुर्थ बन्ध तत्त्व का वर्णन है। आस्रव पूर्वक बन्ध होता है इसलिए आस्रव के बाद बन्ध का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। गोम्मट सार कर्मकाण्ड

में जो कर्म सिद्धान्त का वर्णन किया है उसका ही संक्षिप्त एवं सारगर्भित वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

संसार के कारणभूत आस्रव एवं बन्ध तत्त्व हैं, संवर एवं निर्जरा मोक्ष के लिए कारणभूत है इसलिए क्रम प्राप्त पाँचवें एवं छठवें तत्त्व का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। 9 वें अध्याय में संवर एवं निर्जरा के कारणभूत मुनि चारित्र, तप, ध्यान, गुप्ति, समिति, धर्म एवं अनुप्रेक्षा का वर्णन किया गया है। दसवें अध्याय में जीव के मुख्य ध्येय स्वरूप अन्तिम सप्तम तत्त्व मोक्ष का वर्णन किया गया है। मोक्ष का अर्थ सम्पूर्ण बन्धनों से रहित होना है। सम्पूर्ण बन्धनों से रहित होने पर सम्पूर्ण वैभाविक भाव नष्ट हो जाते हैं परन्तु स्वाभाविक भाव पूर्ण रूप से शुद्ध होकर प्रगट रूप में रहते हैं। मोक्ष प्राप्त होता है मध्य लोक के अढ़ाईद्वीप में और मुक्त जीव उसी ही एक समय में सिद्ध शिला के ऊपर लोकाग्र में अनन्त काल तक के लिये स्थिर हो जाते हैं। वहाँ से पुनः संसार में वापिस नहीं आते हैं क्योंकि संसार में परिभ्रमण होने के कारण भूत कर्मों का सम्पूर्ण रूप से अभाव होता है। सिद्ध जीव कर्म के साथ-साथ शरीर, इन्द्रियाँ, मन से भी रहित होते हैं। जन्म, जरा, मरण, शरीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक दुखों से भी रहित होते हैं। भौतिक शरीर से रहित होने के कारण अशरीरी होते हुए भी ज्ञानघनस्वरूप होने से ज्ञानाकार रूप हैं। ऐसे सिद्ध जीव अनन्त काल तक अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य का अनुभव करते हुए अनन्त काल तक लोकाग्र में स्थित रहते हैं।

इस प्रकार प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में जिस मोक्ष मार्ग का वर्णन किया गया उसका ही सांगोपांग वर्णन सम्पूर्ण तत्त्वार्थ सूत्र में अर्थात् दसों अध्याय में किया गया।

तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ समुद्र के समान अथाह, आकाश के समान व्यापक, अणु के समान सूक्ष्म, शुद्ध आत्मा के समान पवित्र, आत्मज्ञान के समान गूढ़ एवं रहस्यपूर्ण होने के कारण इसके ऊपर बड़े-बड़े आचार्यों ने बड़ी-बड़ी टीकाएँ की हैं। इतना ही नहीं आधुनिक पण्डितों ने भी अनेक टीकाएँ की हैं। तथापि मैंने जो इस टीका की रचना की है उसका कुछ विशेष उद्देश्य

है। इसका मुख्य उद्देश्य है तत्त्वार्थ सूत्र में निहित वैज्ञानिक तथ्यों को उजागर करना क्योंकि आधुनिक युग वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से धार्मिक सिद्धान्त जो गूढ़ एवं शुष्क रहता है वही सिद्धान्त सरल एवं सुरुचि पूर्ण हो जाता है।

दूसरा उद्देश्य यह भी है कि धार्मिक दृष्टि में विज्ञान को समझने के लिए और विज्ञान की दृष्टि में धर्म को समझने के लिए जो विद्यार्थी एवं शोधकर्ता चाहते हैं उन्हें इससे मार्ग दर्शन मिले एवं आगे किसी भी विषय को शोध करने के लिए दिशा बोध भी मिले।

तीसरा उद्देश्य यह है कि उमास्वामी आचार्य ने जो कहा है उस सिद्धान्त सम्बन्धित अन्यान्य आचार्यों ने क्या कहा है उसका भी दिग्दर्शन कराना है।

चौथा उद्देश्य यह है कि अभी तक जो आधुनिक हिन्दी टीकायें हुई हैं, उसमें संक्षिप्त वर्णन है इसलिए उस विषय को विस्तार से विद्यार्थी लोग हृदयांगम करे, इस कारण से विस्तार से लिखा गया है।

जब संघ सहित हमारा आगमन जयपुर में हुआ था उस अवधि में जयपुर में विभिन्न धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक कार्यक्रम की श्रृंखला में शैक्षणिक शिविर भी लगा था। उस शिविर में प्रायः पहली कक्षा से लेकर लेक्चरर (शिक्षक, आचार्य) तक के 600 जैन-अजैन विद्यार्थी भाग लिये थे। उस शिविर में मेरे द्वारा (कनकनन्दी) “धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका” भाग-1-2, छहढाला की कक्षायें चली। यह शिविर इतना सफल रहा कि इसकी चर्चा जयपुर में चली। इससे पंडित और बुद्धिजीवी भी प्रभावित हुए। इस शिविर के लिए नेमीचन्द काला आदि व्यक्ति की सहायता से “धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका” की 2100 पुस्तकें छपी थी। जब उन्होंने मेरी किताबें एवं शिक्षा देने की प्रणाली देखी एवं सुनी तो वे सम्पूर्ण शिविर की व्यवस्था करने के साथ साथ शिविर की हर क्लास में उपस्थित रहते थे। मेरी लेखन, शिक्षा, पढ़ाने की शैली से प्रभावित होकर कहा-गुरुदेव! ‘मोक्ष शास्त्र’ जैन धर्म का मुख्य शास्त्र है इसलिए विद्यार्थी वर्ग और शिक्षण शिविर के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आधुनिक प्रणाली से लिखने का कष्ट करें।

उनकी भावना से प्रेरित होकर जिनवाणी की सेवा तथा प्रचार, प्रसार के लिए बच्चों को ज्ञानी एवं आर्दश बनाने की मेरी जो अन्तरंग भावना है उससे संबल प्राप्त कर इस टीका की रचना हुई है। इसकी टीका के लिए मैंने कुन्दकुन्द स्वामी के साहित्य, आर्यिका सुपाश्व मति माताजी से अनुवादित अकलंक स्वामी कृत राजवार्तिक, तत्त्वार्थसार, सर्वार्थसिद्धि, इष्टोपदेश, समाधितंत्र, स्वामी समन्तभद्र साहित्य, आत्मानुशासन, तिलोय पण्णत्ति, त्रिलोकसार, द्रव्य संग्रह, भगवती आराधना, पुरुषार्थ सिद्धिउपाय, हरिवंश पुराण, गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, ज्ञानार्णव Cosmology old and new, Reality, Tatvartha sutram (english) आदि जैन आचार्यों के साहित्य के साथ-साथ पातञ्जलि योग दर्शन, महाभारत आदि जैनेतर कृतियों का आवलम्बन एवं उद्धरण लिया है। इसलिए वस्तुतः इस कृति के रचनाकार वे ही महानुभाव हैं जिनकी कृति का मैंने आवलम्बन लिया है। मैं तो केवल एक मालाकार या मधुकर के समान हूँ। जैसे मालाकार विभिन्न वृक्षों से विभिन्न श्रेष्ठ पुष्पों को संचय कर माला बनाता है वैसे ही मैंने भी विभिन्न आचार्यों के साहित्य रूपी पुष्प तरु से सिद्धान्त रूपी अच्छे-अच्छे पुष्प चयन करके उमास्वामी कृत सूत्र में पिरोया है। जैसे-मधुमक्खी विभिन्न पुष्पों से मधु लाकर छत्ते में संचय करती है वैसे मैंने भी आगम रूपी विभिन्न पुष्पों से सिद्धान्तरूपी मधु संग्रह करके तत्त्वार्थ सूत्र रूपी मधु कोश में संचय किया है।

मेरे लेखन कार्य अधिक व्यापक होने के कारण इस कार्य में हमारे संघस्थ मुनि कुमार विद्यानंदि, मुनि गुप्तिनन्दी, आर्यिका राजश्री माताजी, आर्यिक क्षमाश्री माता जी, ब्र. सुषमा, ब्र. प्रज्ञा (डोली), ब्र. दीपा, ब्र. संध्या, ब्र. मीना, मुज्जफरनगर की मेरी धार्मिक शिष्या कु. सोनिया, कु. पूनम, डॉ. नीलम, कु. ममता, निवाई नगर की धार्मिक शिष्यायें कु. सन्मति जैन, कु. रेखा पाटनी, कु. हैप्पी, कु. हीरा, कु. साधना, कु. बिन्दू गुप्ता, कु. निर्मला, कु. कमला, कु. शिमला संगी, कु. मिनि, कु. शिमला, कु. पंकी, कु. डिम्पल और मुकेश कुमार लुहाडिया (संयोजक), मुकेश कुमार कासलीवाल ने विशेष सहायता की है।

अभी तक प्रायः मेरी जो 50-60 किताबें छपी हैं उसका अर्थ भार का

वहन प्रायः एक-एक व्यक्ति ने अधिकांशतः वहन किया है। परन्तु निवाई में नया कुछ आदर्श प्रस्तुत हुआ है। मेरी निवाई की धार्मिक शिष्य एवं शिष्याएँ मिलकर 'उपाध्याय कनकनन्दी की दृष्टि में शिक्षा' नामक पुस्तक का अर्थभार वहन किया तो निवाई दि.जैन समाज ने 'स्वप्न विज्ञान' का अर्थभार वहन किया है। इस 'स्वतन्त्रता के सूत्र' ग्रन्थ का अर्थभार दि.जैन महिला समाज ने वहन किया है। महिला समाज ने इस पुस्तक का अर्थभार वहन करके यह सिद्ध कर दिया है कि महिलाएँ अबला नहीं सबला है। महिला केवल भोग सन्तान-उत्पत्ति, खाना बनाने का यंत्र नहीं है परन्तु पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक, धार्मिक आदि प्रत्येक कार्य में पुरुष के कन्धे में कन्धे मिलाकर आगे बढ़ने में भी समर्थ है। इसके प्रकाशन में नेमीचन्द्र काला जैन आदि जयपुर वालों का तथा सौ.शारदा, महेन्द्रकुमार जैन कलकत्ता वालों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा।

उपरोक्त द्रव्यदाता, लेखन कार्य में सहायक करने वाले, "धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन" के कार्यकर्ता, इस पुस्तक के अध्ययन करने वाले विद्यार्थी वर्ग को मेरा मंगलमय आशीर्वाद हैं। इस 'स्वतंत्रता के सूत्र' का अध्ययन करके मनन पूर्वक उसका आचरण करके समस्त जीव मोक्षमार्ग के पथिक बने इस महती भावना के साथ—

**उपाध्याय कनकनन्दी**

वर्तमान युग में विश्व में जो अशान्ति फैली हुई है उसका मुख्य कारण सत्य के प्रति विकर्षण एवं असत्य के प्रति आकर्षण है।

## “गुरूवर की साधना एवं सिद्धि”

निवाई नगरी जो पहाड़ी की तलहटी में बसा है यहाँ ही “उपाध्याय श्री कनकनंदी महाराज जी” का चार्तुमास हो रहा है इस चातुर्मास की भक्तों की भक्ति और प्राकृतिक सौन्दर्य की निराली छवि आंखों को सुहानी लगती है। वर्षा रानी भी गुरू के परिश्रम से खुश हो इस बार झूम-झूम कर आई और उसने तमतमाते सूर्य को अपने आंचल में छुपा कर सबको शीतलता प्रदान कर आनंदित कर दिया। ऐसी वर्षा रानी की शरण पा इस सुहाने मौसम ने प्रेरित किया “उपाध्याय कनकनंदी महाराज जी” को कि आप भी अपना कार्य करें, आपका यह वर्षा रानी स्वागत करने को तैयार है वह भी चाहती है कि आपकी लेखनी से आज की सोई समाज में जागृति आये और पुण्यवान जीवों की भक्ति व पुण्य से मैं खुश होकर सारे विश्व को हराभरा, सुखी, सम्पन्न बना दूँ। तो वर्षा रानी ने अपनी ठंडक से गुरूवर के तन, मन को शीतलता पहुँचायी जिससे उनका मन इस कठिन कार्य में याने “तत्त्वार्थसूत्र” की इस पुस्तक की टीका लिखने में उत्सुक हो उठा। एक घटना और घटी। और घटना घटनी भी स्वाभाविक थी क्योंकि जब भी कोई महापुरुष या कोई व्यक्ति बड़ा कार्य करने के लिए कदम उठाते हैं तब परीक्षा देवी उसके सामने उनका साहस, धैर्य, उत्साह, लगन व्यक्तित्व आदि का लेखा जोखा करने आ धमकती है, और बिना उसकी मांग पूरी किये किसी की ताकत नहीं जो किसी कार्य में सफलता पा ले। तो ऐसा ही हुआ उपाध्याय कनकनंदी महाराज जी के साथ।

उपाध्याय श्री ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ की टीका करने जिस पुस्तक पर निशान व टिप्पणी, विषय संकलन का कठिन परिश्रम किया था वहीं पुस्तक पद्मनंदी महाराज जी के संघ की ब्रह्मचारिणी के साथ चली गयी थी, इधर उपाध्याय श्री ने पुस्तक बहुत ढूँढ़ी परन्तु वह नहीं मिली तब जयपुर, बड़ौत, रोहतक सब जगह आदमी भेजकर पुछवाया, वैसे भी गुरूदेव को जिस पुस्तक से काम लेना होता है उन पुस्तकों के प्रति उनका अतिराग रहता है। अतः, जब वह पुस्तक नहीं मिली तो महाराज श्री का मन उदास हो गया और उनका होना भी स्वाभाविक था, क्योंकि वे जो भी कार्य करते हैं उसमें उनका अथक परिश्रम

होता है और अपनी सारी शक्ति उस कार्य में लगा देते हैं। आज सारे देश में शायद ही उनके जितना परिश्रमी दूसरा साधु हो। अब तो महाराज श्री कहने लगे कि मैं न तो यह पुस्तक लिखूँ और न ही बड़ी पुस्तक की टीका ही लिखूँ। इस प्रकार जब उनका मन हुआ तब समाज व साधुओं के पुण्य ने भी साथ दिया और वह पुस्तक मिल गयी।

एक दिन हम महाराज जी से पद्मपुराण पढ़ रहे थे उसमें निकला कि राम सीता के विरह में कितने दुःखी थे। तो गुरुदेव कहने लगे कि देखो क्षायिक सम्यग्दृष्टि राम एक स्त्री के पीछे इतने दुःखी हो रहे है। तो मैने कहा-गुरुदेव क्षमा करना, मुझे याद है जब आपकी पुस्तक नहीं मिल रही थी तब आप भी तो ऐसे दुःखी हो गये थे। जैसे राम हनुमान का मुख देख रहे थे कि यह क्या सूचना लाया है वैसे ही आप भी पुस्तक के बारे में सूचना लाने वाले को देखते थे और उस समय आप हर कार्य से उदासीन हो चुके थे। परन्तु जब पुस्तक मिल गयी, यह सूचना मिली तो पुनः आप उत्साह से भर गये और आप इस कार्य में ऐसे जुट गये कि 1 1/2 माह में इतनी सुन्दर टीका जो आज की नई पीढ़ी, बच्चे, युवक व विद्वान सबकी समझ में आने वाली वैज्ञानिक व धार्मिक ढंग से लिखी गयी जो आज पढ़ने वाली समाज व बच्चों को मार्ग प्रशस्त करके हमें जैनधर्म का हर तरह से ज्ञान कराने के लिए ज्ञान दीपिका का काम करेगी। क्योंकि गुरुवर की लेखनी व दिल दोनों ही व्यापक है वे जब पढ़ाते हैं तब भी सारा निचोड़ दे देते हैं चाहे वह कोई भी विषय हो उसमें सभी विषयों का समन्वय करके पढ़ाते है, लिखते हैं।

इनके इस परिश्रम से तैयार की गयी यह धर्ममयी सैद्धान्तिक “स्वतन्त्रता के सूत्र” रूपी माला पहन कर अपने इस जीवन के अंग-प्रत्यंगों को संयम के अलंकारों से सुसज्जित कर मोक्षमार्ग पर गमन करते हुए उस मुक्ति श्री का वरण करें, जिसे पा लेने के बाद संसार की हर वस्तु तुच्छ है त्यजनीय है। गुरुवर ने इतना अधिक परिश्रम किया सिर्फ इसी उद्देश्य को लेकर कि आज की वैज्ञानिक व तार्किक समाज जो धर्म से विरक्त हो गयी है कुछ सामाजिक कुतत्त्व व रूढ़ियों के कारण, ऐसे उन सुषुप्त चेतनाओं को जगाकर पुनः सारे देश व समाज में जैनधर्म एक वैज्ञानिक व लोजीक (तार्किक) धर्म



है यह बतलाने के लिए ही वे हर तरह की पुस्तकें पढ़ते व लिखते हैं, प्रवचन करते हैं, शिविर आदि लेते हैं।

अब ये हमारे भाग्य या पुरुषार्थ की बात हैं कि हम इन कनकनदी रूपी ज्ञान के सागर से अपनी गागर कितनी भर सकते हैं।

जिनवाणी की अविनय जिनको कभी न भाती।  
आगम विरुद्ध जिनको बातें कभी न सुहाती॥  
जन जन को जिनकी वाणी सन्मार्ग दिखाती।  
गुरू कनक नदी के चरणों में क्षमा नित शीश झुकाती॥

“गुरूभक्ता”  
“आर्यिका क्षमा श्री”

वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य के लिए भाग्य बन जाता है इसलिए भाग्य और पुरुषार्थ परस्पर में जन्य-जनकत्व, अनुपूरक-परिपूरक है।

मानसिक अहिंसा-मनोभाव को सम्पूर्ण दुराग्रह, हठाग्रह से रहित होकर सत्यान्वेषी, सत्यग्राही, व्यापक दृष्टिकोण को अपनाते हुए वस्तु के विभिन्न गुण, धर्म को विभिन्न पहलुओं से अनेकान्त दृष्टि से स्वीकार करना मानसिक अहिंसा है।

## विषय सूची - प्रथम अध्याय

विषय	पृ.सं.
1. मोक्षमार्ग का स्वरूप	44
(A) रत्नत्रय की परिभाषा	46
2. सम्यग्दर्शन का लक्षण	47
3. सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा भेद	48
4. तत्त्वों के नाम	51
5. सात तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि के व्यवहार के कारण	53
6. सम्यग्दर्शन आदि तथा तत्त्वों के जानने के उपाय	55
7. सम्यग्ज्ञान का वर्णन ज्ञान के भेद और नाम	60
8. प्रमाण का लक्षण और भेद	64
9. परोक्ष प्रमाण के भेद	65
10. प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद	66
11. मतिज्ञान के दूसरे भेद तथा नाम	67
12. मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण और स्वरूप	69
13. मतिज्ञान के भेद	70
14. अवग्रह आदि के विषय भूत पदार्थ	72
15. अवग्रह ज्ञान में विशेषता	75
16. श्रुतज्ञान का वर्णन, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का क्रम और भेद	77
17. अवधिज्ञान का वर्णन	84
18. क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के भेद और स्वामी	85
19. मनः पर्यय ज्ञान के भेद	87
(A) द्रव्यमन का स्थान और आकार	90
20. ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर	92
21. मति और श्रुतज्ञान का विषय	95
22. अवधिज्ञान का विषय	96
23. मनःपर्यय ज्ञान का विषय	97
24. केवलज्ञान का विषय	98
25. एक जीव के एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं।	99

26. मति श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन	100
27. नयों के भेद	104

## अध्याय 2.

	पृ.सं.
1. जीव के असाधारण भाव	111
2. भावों के भेद	112
3. औपशमिक भाव के दो भेद	112
4. क्षायिक भाव के नौ भेद	113
5. क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद	114
6. औदयिक भाव के इक्कीस भेद	117
7. पारिणामिक भाव के भेद	120
8. जीव का लक्षण	122
9. उपयोग के भेद	123
10. जीव के भेद	127
11. संसारी जीवों के भेद	127
12. संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद	129
13. स्थावरों के भेद	130
14. त्रस जीवों के भेद	135
15. इन्द्रियों की गणना	137
16. इन्द्रियों के मूल भेद	138
17. द्रव्य इन्द्रिय का स्वरूप	138
18. भाव इन्द्रिय का स्वरूप	139
19. पंचेन्द्रियों के नाम	140
20. इन्द्रियों के विषय	142
21. मन का विषय	144
22. इन्द्रियों का स्वामी	145
23. समनस्क का स्वरूप	148
24. विग्रहगति में गमन का कारण	150

25. गमन किस प्रकार होता है ?	151
26. मुक्त जीवों की गति	152
27. संसारी जीवों की गति और समय	155
28. अविग्रह गति का समय	156
29. जन्म के भेद	157
30. योनियों के भेद	158
31. गर्भजन्म किसके होता है ?	159
32. सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है ?	161
33. शरीर के नाम और भेद	162
34. शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन	165
35. शरीर के प्रदेशों का विचार	166
36. तैजस और कार्माण शरीर की विशेषता	167
37. एक साथ जीव के कितने शरीर हो सकते हैं ?	170
38. कार्माण शरीर की विशेषता	170
39. औदारिक शरीर का लक्षण	171
40. वैक्रियिक शरीर का वर्णन	171
41. आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण	174
42. लिंग (वेद) के स्वामी	178
43. अकाल मृत्यु किनकी नहीं होती ?	182

### अध्याय 3.

	पृ.सं.
1. सात पृथिवियों - नरक	184
A. नरक में उत्पत्ति का काल	186
B. नरक में उत्पत्ति के स्वामी	187
2. सात पृथिवियों में नरकों (बिलों) की संख्या	188
3. नारकियों के दुःख का वर्णन	188
4. नारकों में उत्कृष्ट आयु का लक्षण	194
5. द्वीप, समुद्रों के नाम	195

6. द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार	196
7. जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार	196
8. सात क्षेत्रों के नाम	199
9. क्षेत्रों का विभाग करने वाले 6 कुलाचलों के नाम	203
10. कुलाचलों का वर्णन	206
11. कुलाचलों का आकार	206
12. कुलाचलों पर स्थित सरोवरों के नाम	206
13. प्रथम सरोवर की लम्बाई चौड़ाई	207
14. प्रथम सरोवर की गहराई	208
15. उसके मध्य में क्या है ?	208
16. महापद्मादि सरोवरों तथा उसमें रहने वाले कमलों की प्रभा	208
17. कमलों में रहने वाली 6 देवियाँ	209
18. चौदह महानदियों के नाम	209
19. नदियों के बहने का क्रम	210
20. महानदियों की सहायक नदियाँ	210
21. भरतक्षेत्र का विस्तार	211
22. आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार	211
23. विदेह क्षेत्र के आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार	212
24. भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन	213
25. अन्य भूमियों की व्यवस्था	214
26. हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था	215
27. ऐरावत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था	215
28. विदेह क्षेत्र में आयु की व्यवस्था	216
29. भरत क्षेत्र का अन्य प्रकार से विस्तार	216
30. धातकी खण्ड का वर्णन	217
31. पुष्कर द्वीप का वर्णन	217
32. मनुष्य क्षेत्र	218
33. मनुष्यों के भेद	218
34. कर्मभूमि का वर्णन	221

35. मनुष्यों की उत्कृष्ट और ज्ञान्य स्थिति	222
36. तिर्यचों की स्थिति	224

#### अध्याय 4.

	पृ.सं.
1. देवों का वर्णन	226
2. भवनत्रिक देवों में लेश्या का वर्णन	227
3. चार निकायों के प्रभेद	227
4. चार प्रकार के देवों का सामान्य भेद	228
5. व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में इंद्र आदि भेदों की विशेषता	230
6. देवों में इन्द्रों की व्यवस्था	230
7. देवों में स्त्री सुख का वर्णन	231
8. शेष स्वर्गों के देवों के विषय	232
9. सोलह स्वर्गों से ऊपर के देवों के सुख	233
10. भवनवासियों के दस भेद	233
11. व्यन्तर देवों के आठ भेद	234
12. ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद	236
13. ज्योतिष्क देवों का विशेष वर्णन	243
14. काल का व्यवहार होने का कारण	247
15. मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिष देवों की स्थिति	248
16. वैमानिक देवों का वर्णन	249
17. वैमानिक देवों के भेद	249
18. कल्पों का स्थितिक्रम	250
19. वैमानिक देवों के रहने का स्थान	250
20. वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता	252
21. वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता	253
22. वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन	254
23. कल्प संज्ञा कहाँ तक है ?	254
24. लौकान्तिक देव	255

25. लौकान्तिक देवों के नाम	255
26. अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार का नियम	256
27. तिर्यच कौन है ?	256
28. भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन	258
29. वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु	258
30. क्रमशः आगे के स्वर्गों में आयु	259
31. ब्रह्मलोक से अच्युत पर्यंत स्थिति	259
32. कल्पातीत देवों की आयु	260
33. स्वर्गों में जघन्य आयु का वर्णन	261
34. उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु के नियम	261
35. नारकियों की जघन्य आयु का वर्णन	262
36. प्रथम नरक की जघन्य आयु	263
37. भवनवासियों की जघन्य आयु	263
38. व्यन्तरो की जघन्य आयु	263
39. व्यन्तरो की उत्कृष्ट आयु	263
40. ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु	263

## अध्याय 5.

	पृ.सं.
1. अजीव तत्व का वर्णन	265
2. द्रव्यों की गणना	267
3. द्रव्यों की विशेषता	271
4. पुद्गल द्रव्य अरूपी नहीं है	272
5. द्रव्यों के स्वभेद की गणना	273
6. द्रव्यों के स्वप्रदेशों की गणना	274
7. समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान	281
8. जीव प्रदेशों का संकोच विस्तार स्वभाव	289
9. धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार या लक्षण	292
10. आकाश का उपकार या लक्षण	297

11. पुद्गल द्रव्य का उपकार	298
12. जीवों का उपकार	303
13. काल का उपकार	304
14. पुद्गल द्रव्य का लक्षण	308
15. पुद्गल की पर्याय	308
16. पुद्गल के भेद	311
A. विभिन्न प्रकार के स्कन्ध	313
B. परमाणु का वर्णन	314
17. स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण	317
18. अणु की उत्पत्ति का कारण	318
19. चाक्षुष (देखने योग्य-स्थूल) स्कन्ध की उत्पत्ति	319
20. द्रव्य का लक्षण	320
21. सत् का लक्षण	324
22. परमाणुओं के बंध होने के कारण	332
23. बन्ध किनका होता है ?	335
24. काल भी द्रव्य है	341
25. काल द्रव्य की विशेषता	344
26. गुण का लक्षण	345
27. पर्याय का लक्षण	349

## अध्याय 6.

	<b>पृ.सं.</b>
1. आस्रव तत्त्व का वर्णन	353
2. आस्रव का स्वरूप	355
A. भाव आस्रव का स्वरूप	356
B. द्रव्य आस्रव का स्वरूप	356
3. योग के निमित्त से आस्रव का भेद	356
4. स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद	359
5. साम्प्रदायिक आस्रव के भेद	360



6. जीवाधिकरण के भेद	365
7. अजीवाधिकरण के भेद	368
8. ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव	370
9. असाता वेदनीय के आस्रव	372
10. साता वेदनीय का आस्रव	375
11. दर्शन मोहनीय का आस्रव	378
12. चारित्र मोहनीय का आस्रव	379
13. नरकआयु का आस्रव	381
14. तिर्यंच आयु का आस्रव	383
15. मनुष्य आयु का आस्रव	384
16. सब आयुओं का आस्रव	386
17. देव आयु का आस्रव	386
18. अशुभ नामकर्म का आस्रव	388
19. शुभ नामकर्म का आस्रव	389
20. तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव	390
21. नीच गोत्र कर्म का आस्रव	395
22. उच्च गोत्र कर्म का आस्रव	396
23. अन्तराय कर्म का आस्रव	397

## अध्याय 7.

	पृ.सं.
1. व्रत का लक्षण	400
2. व्रत के भेद	403
3. व्रतों की स्थिरता के कारण	406
4. अहिंसा व्रत की पांच भावनाएँ	407
5. सत्यव्रत की भावनाएँ	408
6. अचौर्यव्रत की भावनाएँ	409
7. ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ	409
8. परिग्रह त्याग की भावनाएँ	410

9. हिंसादि पांच पापों के विषय में करने योग्य विचार	411
10. निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भाग हैं	416
11. संसार और शरीर के स्वभाव का विचार	418
12. हिंसा पाप का लक्षण	419
13. असत्य का लक्षण	422
14. कुशील का लक्षण	427
15. परिग्रह पाप का लक्षण	429
16. व्रतों की विशेषता	432
17. व्रतों के भेद	433
18. अगारी का लक्षण	433
19. अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत	434
20. व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश	440
21. सम्यक् दर्शन के पांच अतिचार	443
22. 5 व्रत और 7 शीलों के अतिचारों की व्याख्या	445
23. अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार	445
24. सत्याणुव्रत के अतिचार	446
25. अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार	447
26. ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार	449
27. परिग्रह परिमाणानुव्रत के अतिचार	451
28. दिग्व्रत के अतिचार	452
29. देशव्रत के अतिचार	453
30. अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार	454
31. सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार	455
32. प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार	456
33. भोग उपभोग परिमाण के अतिचार	457
34. अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार	459
35. सल्लेखना के अतिचार	460
36. दान का लक्षण	461
37. दान में विशेषता	462

## अध्याय 8.

	पृ.सं.
1. बन्धतत्त्व का वर्णन (बन्ध के कारण)	466
2. बन्ध का लक्षण	471
3. बन्ध के भेद	474
4. प्रकृति बंध का वर्णन-प्रकृति बन्ध के मूल भेद	476
5. प्रकृति बंध के उत्तर भेद	482
6. ज्ञानावरण के पाँच भेद	483
7. दर्शनावरण कर्म के 9 भेद	484
8. वेदनीय के दो भेद	486
9. मोहनीय के 28 भेद	487
10. आयुर्कर्म के भेद	491
11. नामकर्म के भेद	493
12. गोत्रकर्म के भेद	503
13. अन्तराय कर्म के भेद	505
14. स्थिति बन्ध का वर्णन	506
15. मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति	506
16. नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति	507
17. आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति	508
18. वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति	508
19. नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति	508
20. शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति	509
21. अनुभव बन्ध का लक्षण	509
22. फल दे चुकने के बाद क्या होता है ?	510
23. प्रदेशबंध का स्वरूप	512
A. अनादि द्रव्य का प्रमाण	512
B. समय प्रबद्ध का प्रमाण	516
C. वेदनीय कर्म का अधिक भाग होने का कारण	516

D. अन्य कर्मों का द्रव्य विभाग स्थिति के अनुसार	516
24. पुण्य प्रकृतियाँ	518
25. पाप प्रकृतियाँ	518

## अध्याय 9.

	पृ.सं.
1. संवर का लक्षण	520
2. संवर के कारण	523
3. निर्जरा और संवर का कारण	525
4. गुप्ति का लक्षण व भेद	528
5. समिति के भेद	529
6. दस धर्म	532
7. बारह अनुप्रेक्षायें	539
8. परिषह सहन करने का उपदेश	560
9. बाईस परीषह	561
10. किस गुणस्थान में कितने परिषह होते हैं ?	569
11. एक साथ होने वाले परिषहों की संख्या	574
12. पाँच चारित्र	574
13. निर्जरा तत्त्व का वर्णन - बाह्य तप	578
14. आभ्यन्तर तप	580
15. प्रायश्चित के नौ भेद	581
16. विनय तप के चार भेद	582
17. वैय्यावृत्य तप के दस (10) भेद	584
18. स्वाध्याय तप के पाँच (5) भेद	586
19. व्युत्सर्ग तप के दो भेद	587
20. ध्यान तप का लक्षण	588
21. ध्यान के भेद	590
22. आर्तध्यान का लक्षण एवं भेद	594
23. गुणस्थानों की अपेक्षा आर्तध्यान के स्वामी	600

24. रौद्रध्यान के भेद व स्वामी	602
25. धर्मध्यान का स्वरूप व भेद	609
26. शुक्लध्यान के स्वामी	611
27. शुक्लध्यान के 4 भेदों के नाम	612
28. शुक्लध्यान के आलम्बन	614
29. आदि के दो ध्यानों की विशेषता	615
30. वितर्क का लक्षण	616
31. वीचार का लक्षण	616
32. निर्ग्रन्थ साधुओं के भेद	622
33. पुलाकादि मुनियों में विशेषता	624
34. पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन	625

### अध्याय 10.

	पृ.सं.
1. मोक्ष तत्व का वर्णन	629
2. मोक्ष के कारण और लक्षण	632
3. कर्मों का क्षय होने के बाद	643
4. मुक्त जीव के उर्ध्वगमन के कारण	646
5. उक्त चारों के कारणों के क्रम से चार दृष्टान्त	647
6. लोकाग्र के आगे नहीं जाने में कारण	649
7. मुक्त जीवों में भेद होने के कारण	650

व्यवहार में, आचार में अहिंसा का स्वरूप— दया-परिपालन, जीव रक्षण, परधन-सम्पत्ति का अनाधिकार अपहरण नहीं करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना।

## (मंगल स्मरण)

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।  
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

I bow to him who is the guide on the path to liberation, the destroyers of Mountains of Karmas and knower of the principles of the universe, so that I may attain these qualities belonging to him.

जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों के भेदने वाले हैं, और विश्वतत्त्व के ज्ञाता हैं, उनकी मैं उनके समान गुणों की प्राप्ति के लिए सदा वंदना करता हूँ।

मोक्ष शास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र, स्वतंत्रता के सूत्र) के आदि में मंगलाचरण के रूप में मोक्षमार्ग के नेता (स्वतंत्रता के हितोपदेशक) स्वतंत्रता के भोक्ता (स्वामी) एवं विश्व के समस्त तत्त्व के ज्ञाता (सर्वज्ञ) को उनकी गुणों की उपलब्धि के लिए नमस्कार (नमन) किया गया है।

महान् आदर्श पुरुषों को नमस्कार करना गुणग्राही महान् आदर्श परंपरा है। इसे ही मंगलाचरण कहते हैं। मंगलाचरण का अर्थ—“मलं पापं गालयति विध्वंसयतीति मंगलं”, अथवा “मंगं पुण्यं सुखं तल्लाति आदत्ते गृह्णाति वा मंगलं”।

‘मं’ अर्थात् मल या पाप को जो गालयति अर्थात् गलावे सो मंगल है अथवा ‘मंग’ जो पुण्य तथा सुख उसे जो लाति-अर्थात् देवे सो मंगल है। मंगलाचरण स्वरूप से महान् आत्मा का गुणगान करना, नमन करना, कोई अंध परंपरा नहीं, एक सभ्य परम्परा है। क्योंकि—

नास्तिक्य परिहारस्तु शिष्टाचार प्रपालनम्।  
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुति ॥

नास्तिकपने के त्याग के लिए अर्थात् ग्रन्थकर्ता आस्तिक्य है यह बताने के लिए, शिष्टाचार जो परम्परा से चला आया विनय का नियम उसको पालने

के लिए, पुण्य की प्राप्ति के लिए तथा विघ्न को दूर करने के लिए इन चार बातों को चाहते हुए ग्रन्थ के आदि में इष्ट देव की स्तुति की जाती है।

यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इष्ट देव कौन हैं? इष्ट देव वे हैं जो सम्पूर्ण दोषों से रहित हो, स्वतंत्रता को प्राप्त कर लिया हो तथा स्वतंत्रता के मार्ग का उपदेशक हो। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है :-

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।  
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥(5)

नियम से आप्त को दोष रहित, सर्वज्ञ और आगम का स्वामी होना चाहिए। क्योंकि अन्य प्रकार से आप्तपना नहीं हो सकता।

सर्व दोषों से रहित होने पर एवं आध्यात्मिक गुणों से सहित जीव आप्त है, भले उसका नाम कुछ भी हो। गुणग्राही आदर्श व्यक्ति गुण चाहता है और उस गुण की पूजा करता है, न कि व्यक्ति की और न हि मूर्ति की। अकलंक देव ने कहा है :-

यो विश्वं वेद वेद्यं जनन जलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्या,  
पौर्वापर्याविरूढं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।  
तं वन्दे साधुवंद्यं सकल गुण निधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं,  
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदल मिलयं केशवं वा शिवं वा॥(9)

(अ.स्तोत्र)

जो विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान को जान लिया अर्थात् विश्व विद्या विशारद है। जो जन्म-जरा-मरण रूपी समुद्र को नष्ट कर लिया, पार कर लिया। जिनके वचन पूर्वापर विरोध से रहित, सम्पूर्ण दोषों से रहित, उपमा रहित है, सम्पूर्ण गुणों की खान स्वरूप समस्त दोषों को ध्वस्त कर लिया और साधुओं से भी वन्दनीय ऐसी आत्मा को वन्दना है, भले ऐसे गुण सहित बुद्ध हो, महावीर हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, या शिव हो। हरिभद्र सूरि ने लोकतत्त्व निर्णय में कहा है-

पक्षपातो न मे खीरे, न द्वेष कपिलादिषु।  
युक्तिमद्बचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

मेरा वीर जिनेन्द्र में पक्षपात नहीं है, एवं कपिलादि में द्वेष नहीं है, किन्तु जिसका वचन युक्ति युक्त, तर्क संगत, परस्पर अविरोध, इह लोक और परलोक का हितकारी है, उन्हीं का वचन ग्रहण करने योग्य है, अन्य का नहीं।

प्रश्न होता है कि ऐसे महान् पुरुषों की वन्दना क्यों करनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि उनके गुणों की उपलब्धि के लिए, उनके गुण स्मरण के लिए, कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए। कहा भी है:—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,  
स च भवति सुशास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।  
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रासादात्सुद्धैः,  
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यक्ज्ञान है। सो सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है। उस आगम की उत्पत्ति आप्त (देव) से है इसलिए वह आप्त (देव) पूजनीय है- जिसके प्रसाद से तीव्र बुद्धि होती है। निश्चय से साधु लोग अपने ऊपर किये गये उपकार को नहीं भूलते हैं।

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।  
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनि पुंज्जवाः ॥

मोक्षमार्ग की सिद्धि परमेष्ठी भगवान के प्रसाद से होती है, इसलिये मुनियों में मुख्य, शास्त्र के आदि में उनके गुणों की स्तुति करते हैं।

स्तुति करने का मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक कारण पूज्यपाद स्वामी ने कहा है:—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।  
ददाति यस्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥(23)

इष्टोपदेशः

अपने आत्मा से भिन्न अरहन्त, सिद्ध, परमात्मा की उपासना, आराधना



करके आत्मा उनके समान परमात्मा बन जाती है। जैसे - दीपक से भिन्न बत्ती दीपक की उपासना करके यानी साथ-साथ रहकर दीपक के समान प्रकाशमान बन जाती है।

येन भावेन तद्रूपं ध्यायेत्मात्मानमात्मवित्।

तेन तन्मयता याति सोपधिः स्फटिको यथा ॥

जिस भाव से जिस प्रकार यह आत्मा का ध्यान करता है उस स्वरूप हो जाता है। जैसे - स्फटिक मणि विभिन्न रंगों के सम्पर्क से उस वर्ण रूप परिणमन करता है।

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।

अर्हत्ध्यानविष्टो भवार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात् ॥

यह आत्मा जिस भाव से परिणमन करता है वह उस स्वरूप हो जाता है। अर्हत् के ध्यान सहित ध्याता स्वयं अर्हत् रूप हो जाता है।

कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार में भी प्रकारान्तर से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यथा :-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥(80)

जो कोई अरहन्त भगवान् के द्रव्यपने, गुणपने तथा पर्याय पने को जानता है वह पुरुष अर्हन्त के ज्ञान के पीछे अपने आत्मा को जानता है। उस आत्मज्ञान के प्रताप से उस पुरुष का दर्शनमोह का निश्चय से क्षय हो जाता है।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।

किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥(82)

सब ही अरहन्त उसी विधि से कर्माशों का क्षय करके और उसी प्रकार उपदेश को करके वे निर्वाण को प्राप्त हुए उनके लिए नमस्कार हो।

इस मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में ही मोक्षमार्ग के उपाय मोक्षमार्ग के उपदेशक और मोक्षमार्ग के गुण, मुमुक्षु के कर्तव्य, मोक्ष का स्वरूप आदि का संक्षिप्त सार गर्भित वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नो

कर्म को नष्ट करके वीतरागी, सर्वज्ञ, कृत्कृत्य बनना ही मोक्ष है, और उसके उपाय ही मोक्षमार्ग है। जो मोक्षमार्ग के लिए एवं मोक्ष के लिए विरोध-कारण स्वरूप घाती कर्म हैं उनको नष्ट करने वाला एवं जीवों के हित का उपदेश देने वाला ही मोक्ष मार्ग का नेता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय को नाश करके जब जीव अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख को प्राप्त करके जो वीतरागी और हितोपदेशी बनता है वह ही यथार्थ से मोक्षमार्ग का नेता है। तीर्थंकर प्रकृति सहित ऐसे जीव को तीर्थंकर केवली कहते हैं। उनके समवशरण की रचना होती है वे समवशरण में विराजमान होकर देव-दानव, मानव पशु पक्षियों के लिए भी मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। इसे ही दिव्य ध्वनि कहते हैं। यह 18 महाभाषा तथा 700 क्षुद्रभाषा सहित होती है। तीर्थंकर भगवान सम्पूर्ण अंग-उपांग से 718 भाषाओं में या विश्व की सम्पूर्ण भाषा यहाँ तक कि पशु-पक्षियों की भाषा में भी उपदेश देते हैं। सामान्य केवली के समवशरण की रचना नहीं होती है परन्तु गंधकुटी की रचना होती है और गंधकुटी में रहकर पूर्वोक्त विधि से धर्मोपदेश देते हैं। दिव्यध्वनि के बारे में कहा भी है :-

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयं,  
 नो वांछा कलितं न दोषमलिनं नोच्छवासरूद्धक्रमं।  
 शान्तामर्षविषै! समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,  
 तन्नः सर्वविदो विनष्ट विपदः पायादपूर्वं वचः॥

सर्व आपत्तियों से रहित श्री सर्वज्ञ भगवान का वह अपूर्व वचन हमारी रक्षा करे जो सर्व आत्माओं का हितकारी है, अक्षर रूप नहीं है, दोनों ओठों के हलन चलन बिना प्रगट होता है, इच्छा रहित होता है, दोषों से मलिन नहीं है, न उसमें श्वासोच्छ्वास के रुकने का क्रम है, जिसको क्रोध रूपी विष को शान्त किए हुए पशुगण भी अपने कानों से सुन सकते हैं।

इस मंगलाचरण सूत्र से यह भी ध्वनित होता है कि मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वालों) को गुणग्राही होकर गुणियों का आदर सत्कार, विनय करना चाहिए। क्योंकि इससे स्वयं के अन्दर विद्यमान स्वगुण धीरे-धीरे प्रगट होते हैं और एक समय वह आता है कि वह भी उसे प्राप्त कर लेता है। तुलसीदास ने

कहा भी है :-

“लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।”

मनोविज्ञान सिद्धान्त यह है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है उसका उस वस्तु के प्रति आकर्षण होता है। इसी प्रकार जो मोक्ष चाहता है उसका आकर्षण मोक्षमार्ग व मोक्ष जीव के प्रति होता है। इससे उसे प्रेरणा आदर्श मिलता है जिससे वह धीरे-धीरे मोक्षमार्ग पर चलता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

## अध्याय - 1

### मोक्ष मार्ग का स्वरूप

#### सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः (1)

सम्यक् दर्शन Right darsana (belief) सम्यक् ज्ञान Right Jnana (Knowledge) सम्यक् चारित्र Right charitra (Conduct) मोक्ष मार्गः the path to liberation.

Right belief, right knowledge, right conduct these together constitute the path to liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

नीतिकारों ने कहा है “पराधीन स्वप्नहूँ सुख नहीं” अर्थात् पराधीनता में सर्वदा, सर्वथा सुख का अभाव है। क्योंकि जीव का शुद्ध स्वस्वरूप पूर्ण स्वतंत्रतामय सुखस्वरूप है। इसलिए प्रत्येक जीव सुख चाहता है एवं दुःख से घबराता है। अतएव प्रत्येक जीव सुख की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है। परन्तु सुख के उपाय स्वरूप सम्यक्श्रद्धा, सम्यक् परिज्ञान एवं सम्यक् आचरण के बिना सुख प्राप्त नहीं कर पाता है। इसलिए समन्तभद्र आचार्य ने सुख प्राप्ति के उपाय के लिए समीचीन धर्म बतलाते हुए कहा है :-

देश्यामि समीचीनं, धर्मं कर्म-निबर्हणम्।  
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमेसुखे ॥(2)

(र.श्रा.)

मैं (समन्तभद्राचार्य) कर्मों के नाशक, अबाधित और उपकारी उस धर्म का कथन करूंगा जो प्राणियों को संसार के शारीरिक और मानसिक आदि दुःखों से निकाल कर स्वर्ग और मोक्ष आदि के सुखों को प्राप्त कराता है।

सद्वृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मधर्मेश्वरा विदुः।  
यदीय-प्रत्यनी-कानि, भवन्तिभवपध्दतिः ॥(3)

जो प्राणियों को संसार के दुःखों से निकालकर स्वर्ग आदि के उत्तम सुखों को प्राप्त कराता है उसे धर्म बतलाया है। इसीलिये प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वर्ग आदि के सुखों को प्राप्त कराने के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म हैं तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म हैं क्योंकि ये प्राणियों को संसार के दुःखों में ही फँसाते हैं।

रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) को धर्म या मोक्षमार्ग इसलिए कहते हैं कि इनसे जीव बन्धन में नहीं पड़ता वरन् बन्धन से मुक्त होता है। जैसा कि अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।

स्थितिरात्मनि चरित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः ॥(216)

(पु.उ.)

सम्यग्दर्शन आत्मा की प्रतीति को कहा जाता है। आत्मा का सम्यक् प्रकार ज्ञान करना बोध-सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आत्मा में स्थिर होना अर्थात् लवलीन होना सम्यक् चारित्र कहा जाता है। इनसे बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

आचार्य प्रवर कुन्द-कुन्ददेव ने मोक्ष मार्ग का संक्षिप्त सारगर्भित वर्णन करते हुए कहा है—

सम्पत्तणाणं जुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।  
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लध्द बुद्धीणं॥(106)  
(पं.अ.)

सम्यक्त्व और ज्ञान से ही युक्त, - न कि असम्यक्त्व और अज्ञान से युक्त, चारित्र ही—न कि अचारित्र, रागद्वेष रहित ही—न कि रागद्वेष सहित, भाव से मोक्ष का ही—न बंध का, मार्ग ही—न कि अमार्ग, भव्यों को ही—न कि अभव्यों को लब्धबुद्धियों को, (ज्ञानियों को) ही—न कि अलब्धबुद्धियों को, क्षीणकषायपने में ही होते हैं—न कि कषायसहितपने में। इस प्रकार आठ प्रकार से नियम यहाँ देखना (समझना)।

### “रत्नत्रय की परिभाषा”

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्ज्ञानं स्यादवबोधनम्।  
उपेक्षणं तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम्॥(4)  
(त.सा. अध्याय।)

तत्त्व—अपने-अपने यथार्थ स्वरूप से सहित जीव, अजीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान और रागादि भावों की निवृत्ति रूप उपेक्षा होना सम्यक् चारित्र सुनिश्चित है।

कुन्द-कुन्ददेवने रत्नत्रय की परिभाषा करते हुए उपरोक्त सिद्धान्त को ही प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण रूप से वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

सम्पत्तं सद्वहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।  
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं॥(107)  
पं.अ.

भावों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उनका अवबोध ज्ञान है, मार्ग पर आरूढ़ होकर विषयों के प्रति अवर्तता हुआ समभाव चारित्र है।

धम्मादीसद्वहणं सम्पत्तं णाणमंगपुव्वगदं।  
चेद्वा तवमिह चरिया ववहारो मोक्खमग्गोति॥(160)

धर्मास्तिकाय आदि का श्रद्धान सो सम्यक्त्व, अंगपूर्व सम्बन्धी ज्ञान

सो ज्ञान और तप में चेष्टा सो चारित्र इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आत्म को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिनकहिये।  
आकुलता शिवमाहिं न ताते, शिवमग लाग्यो चाहिये॥  
सम्यग्दर्शन-ज्ञान चरण शिव मग सो द्विविध विचारो।  
जो सत्यार्थ रूप सो निश्चय कारण सो ववहारो॥

(छहढाला)

## सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् 1 (2)

Belief on conviction in things ascertained as they are, (is) right belief.

तत्त्व :- वस्तु के यथार्थ स्वरूप सहित अर्थ- जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

प्रथम सूत्र में मोक्षमार्ग का संक्षिप्त वर्णन करते हुए कहा गया है कि तत्त्वत्रय ही मोक्षमार्ग है। अभी इस सूत्र में सम्यग्दर्शन की परिभाषा की गई है। विश्व में जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका उस रूप होना तत्त्व है। तत्त्व का जो अर्थ है उसको तत्त्वार्थ कहते हैं। उस तत्त्वार्थ का श्रद्धान (प्रतीति, विश्वास, रूचि) ही सम्यक् दर्शन है। जैन दर्शन की कुंजी स्वरूप द्रव्य संग्रह में कहा भी गया है :-

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं रूपमप्यणो तं तु।  
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि॥(41)  
(द्र.सं.)

जीव आदि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। और इस सम्यक्त्व के होने पर संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय इन तीनों दुरभिनिवेशों से रहित होकर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

उपरोक्त सम्यग्दर्शन की परिभाषा अधिकतः द्रव्यानुयोगनिष्ठ है। समन्तभद्र

स्वामी ने चरणानुयोग की मुख्यता करके रत्नकरण्डक श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन की परिभाषा निम्न प्रकार की है—

श्रद्धानं परमार्थना—माप्तागमतपोभृताम् ।  
त्रिमूढापोढ—मष्टांगं सम्यग्दर्शन—मस्मयम् ॥(4)  
(श्रा.आ.)

सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का तीन मूढता रहित, आठ अंग सहित, आठ मद रहित जैसा का तैसा श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहलाता है।

जीव अजीव तत्त्व अरू आस्रव, बन्धरू संवर जानो ।  
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों का त्यों सरधानो ॥  
है सोई समकित ववहारी अब इन रूप बखानो ।  
तिनको सुन सामान्य विशेषै वृढ प्रतीत उर आनो ॥(3)  
(छ.ढा.)

सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति की अपेक्षा भेद  
तन्निर्गतादधिगमाद्वा । (3)

This (right belief is attained) by :-

- (1) निर्गमज :- Intuition, independently of the precept for others ; or
- (2) अधिगमज :- Intuition, acquisition of knowledge from external sources. e.g. by precept of others or reading the scriptures.

वह सम्यग्दर्शन (निर्गमात्) स्वभाव से (अधिगमात्) पर उपदेशादि से उत्पन्न होता है।

जो जीव पहले गुरु उपदेश आदि निमित्त को प्राप्त करके सम्यग्दर्शन की उपलब्धि कर लेता है पुनः कुछ निमित्त को प्राप्त करके मिथ्यादृष्टि बन जाता है, ऐसा जीव परोपदेश बिना या स्वल्प परोपदेश प्राप्त करके जिस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है उस सम्यग्दर्शन को निर्गमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो सम्यग्दर्शन परोपदेश से उत्पन्न होता है उस सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

गुणभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन के विभिन्न भेद-प्रभेद का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढ सदा,  
 संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम् ।  
 निश्चिन्वन् नव सप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां,  
 सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना ॥(10)

(आत्मानुशासनम्)

तत्त्वार्थश्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का ; औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से तीन प्रकारका ; तथा आगे कहे जाने वाले आज्ञासम्यक्त्व आदि के भेद से दस प्रकार का भी है। मूढता आदि (3 मूढता, 8 मद, 6 अनायतन और 8 शंका-कांक्षा आदि) दोषों से रहित होकर संवेग आदि गुणों से वृद्धि को प्राप्त हुआ वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) निरन्तर संसार का नाशक, कुमति, कुश्रुत एवं विभंग इन तीन मिथ्याज्ञानों की शुद्धि (समीचीनता) का कारण ; तथा जीवाजीवादि सात अथवा इनके साथ पुण्य और पाप को लेकर नौ तत्त्वों का निश्चय करानेवाला है। वह सम्यग्दर्शन स्थिर मोक्षरूप भवन के ऊपर चढ़ने वाले बुद्धिमान् शिष्यों के लिए प्रथम सीढ़ी के समान है। इसीलिये इसे चार आराधनाओं में प्रथम आराधनास्वरूप कहा जाता है।

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।

विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमवगाढं च ।(11)

वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ और परगावगाढ ; इस प्रकार से दस प्रकार का है।

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुतविरूचितं वीतरागाज्ञयैव,

त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्धन्मोहशान्तेः ।

मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,

या सज्ञानागमाब्धि प्रसृतिभिरूपदेशादिसदेशि इष्टिः।(12)



दर्शन मोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहा गया है। दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थश्रवण के बिना जो कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है उसे मार्गसम्यग्दर्शन कहते हैं। त्रेसठ शलाकापुरुषों के पुराण (वृत्तान्त) के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन (तत्त्वश्रद्धान) उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले आगमरूप समुद्र में प्रवीण गणधर देवादि ने उपदेशसम्यग्दर्शन कहा है।

आकर्ण्यचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनंश्रद्धानः,  
सूक्तासी सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।  
कश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाब्दीजदृष्टिः पदार्थान्,  
संक्षेपेषैव बुद्ध्वा रूचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः।(13)

मुनि के चरित्र (सकलचरित्र) के अनुष्ठान को सूचित करनेवाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उत्तम सूत्रसम्यग्दर्शन कहा गया है। जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाले भव्य जीव के जो दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशम वश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं। जो भव्य जीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्वश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शन को संक्षेपसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरूचिरथ तं विद्धि विस्तारं दृष्टिं,  
संजातार्थात्कृतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।  
दृष्टिः साङ्गाङ्बाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा,  
कैवल्यालोकितार्थै रूचिरिह परमवगाढेति रूढा॥(14)

जो भव्य जीव बारह अंगों को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है उसे विस्तार सम्यग्दर्शन से युक्त जानो अर्थात् द्वादशअंग के सुनने से जो तत्त्वश्रद्धान होता है, उसे विस्तारसम्यग्दर्शन कहते हैं। अंगबाह्य आगमों के पढ़ने के बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थश्रद्धान होता है वह अर्थसम्यग्दर्शन कहलाता है। अंगों के साथ अंगबाह्यश्रुत का अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगाढसम्यग्दर्शन कहते हैं। केवलज्ञान

के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में रूचि होती है वह यहाँ परमावगाढसम्यग्दर्शन इस नाम से प्रसिद्ध है।

## तत्त्वों के नाम

### जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्। (4)

The (तत्त्व) Principles (are) जीव soul अजीव non soul आस्रव inflow (of Karmic matter into the soul) बन्ध bondage [of soul by Karmic Matter], संवर stopgae [of inflow of Karmic matter into the soul], निर्जरा shedding [of Karmic Matter by the soul] (and) मोक्ष Liberation [of soul from Matter].

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

विश्व सत् स्वरूप है। उस सत् के दो भेद हैं। (1) जीव (2) अजीव। अजीव के पाँच भेद हैं (1) पुद्गल (2) धर्म (3) अधर्म (4) आकाश (5) काल।

यहाँ पर मोक्ष मार्ग का वर्णन होने के कारण (1) जीव एवं (2) अजीव (पुद्गल, अर्थात् कार्माण वर्गणा) तथा इनकी विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन इस सूत्र में किया गया है। जैसे-जीव एवं अजीव (पुद्गल) दो मौलिक द्रव्य हैं। जीव में पुद्गल का प्रवेश होना आस्रव है। तथा इस आस्रव से आगत पुद्गल का एक क्षेत्रावगाही होकर मिल जाना बंध है। आते हुए (आस्रव) कर्म परमाणुओं का रूक जाना संवर है। जीव के साथ बंधे हुए कर्मों का आंशिक रूप से जीव से पृथक् (अलग) हो जाना निर्जरा है। समस्त कर्मों का जीव से पूर्ण रूप से पृथक् हो जाना मोक्ष है।

उपरोक्त सात तत्त्व में (1) पुण्य (2) पाप मिला देने से नव पदार्थ हो जाते हैं। गोम्मडुसार जीवकाण्ड में कहा है—

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।

आस्रवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंति त्ति॥(621)

(गो.जी)

मूल में जीव और अजीव ये दो पदार्थ हैं, दोनों ही के पुण्य और पाप

ये दो-2 भेद हैं। इसलिये चार पदार्थ हुए। तथा जीव और अजीव के ही आम्रव संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष ये पांच भेद भी होते हैं। इसलिए सब मिलाकर नव पदार्थ हो जाते हैं।

उपरोक्त सप्त तत्त्व में से सुखार्थी सम्यक्दृष्टि मुमुक्षुजीवों के लिये कौन सा तत्त्व हेय, उपादेय, ग्रहणीय त्यजनीय है इसका कथन करते हुए अमृतचंद्र सूरि ने कहा है—

उपादेयतथा जीवोऽजीवो हेयतयोदितः ।  
 हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्त्वेनाम्रवः स्मृतः ॥(7)  
 (तत्त्वार्थ सार)

हेयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः ;  
 संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ ।  
 हेयग्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः ॥(8)

इन सात तत्त्वों में जीवतत्त्व उपादेयरूप से और अजीवतत्त्व हेय रूप से कहा गया है अर्थात् जीवतत्त्व ग्रहण करने योग्य और अजीव तत्त्व छोड़ने योग्य बतलाया गया है। छोड़ने योग्य अजीवतत्त्व के ग्रहण रूप होने से बन्ध तत्त्व का निर्देश हुआ है। संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व, अजीवतत्त्व के छोड़ने में कारण होने से कहे गये हैं और छोड़ने योग्य अजीवतत्त्व के छोड़ देने से जीव की जो अवस्था होती है उसे बतलाने के लिये मोक्ष तत्त्व दिखाया गया है। भावार्थ- जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। इनमें जीव उपादेय है और अजीव छोड़ने योग्य है, इसलिये इन दोनों का कथन किया गया है। जीव अजीव का ग्रहण क्यों करता है? इसका ग्रहण करने से जीव की क्या अवस्था होती है, वह बतलाने के लिये बन्ध तत्त्व का निर्देश है। जीव अजीव का सम्बन्ध कैसे छोड़ सकता है, यह समझाने के लिये संवर और निर्जरा का कथन है तथा अजीव का सम्बन्ध छूट जाने पर जीव की क्या अवस्था होती है, यह बताने के लिये मोक्ष का वर्णन किया गया है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं और शेष पांच तत्त्व उन दो तत्त्वों के संयोग तथा वियोग से होने वाली अवस्था विशेष है।

सात तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि के व्यवहार के कारण—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः । (5)

By name repres representation, privation, present, condition, their  
न्यास aspects (are known.)

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि  
और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है।

इस सूत्र में वस्तु स्वरूप को विभिन्न दृष्टिकोण से परिज्ञान/शोध-बोध  
करने की प्रणाली का वर्णन है। प्रत्येक वस्तु में विभिन्न गुण-धर्म होने के कारण  
उसको जानने की प्रणाली भी विभिन्न होना स्वाभाविक है। जब तक हम विभिन्न  
गुण-धर्म को भिन्न-2 दृष्टिकोण से नहीं देखेंगे तब तक हमको उस वस्तु-स्वरूप  
का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए यतिवृषभ आचार्य ने यथार्थ से कहा  
भी है—

जो ण प्रमाण-णयेहिं णिक्खवेणं णिरक्खदे अत्थं ।

तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥(82)

(ति.प., प्रथम खण्ड)

जो नय और प्रमाण तथा निक्षेप से अर्थ का निरीक्षण नहीं करता है,  
उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है।

नाम निक्षेप का लक्षण

या निमित्तान्तरं किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते ।

द्रव्यस्य कस्यचित्संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम्॥(10)

(त.सा., पृ.4)

जाति, गुण, क्रिया आदि किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा न करके किसी  
द्रव्य की जो संज्ञा रखी जाती है वह 'नाम निक्षेप' कहा गया है।

## स्थापना निक्षेप का लक्षण

सोऽयमित्यक्षकाद्यादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि ।  
यद्वचनंस्थापनायात्रं स्थापना साभिधीयते ॥(11)

पांसा तथा काष्ठ आदि के सम्बन्ध से 'यह वह है' इस प्रकार अन्य वस्तु में जो किसी अन्य वस्तु की व्यवस्था की जाती है वह 'स्थापना निक्षेप' कहलाता है।

किसी में किसी अन्य की कल्पना करने को स्थापना कहते हैं। इसके दो भेद हैं— तदाकार स्थापना और (2) अतदाकार स्थापना। जैसा आकार है उसमें उसी आकार वाले की कल्पना करना तदाकार स्थापना है, जैसे— पार्श्वनाथ की प्रतिमा में पार्श्वनाथ भगवान की स्थापना करना और भिन्न आकार वाले में भिन्न आकार वाले की कल्पना करना अतदाकार स्थापना है, जैसे— शतरंज की गोटों में बजीर, बादशाह आदि की कल्पना करना।

## द्रव्य निक्षेप का लक्षण

भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित् ।  
स्थाद्गृहीताभिमुख्यं हि तद् द्रव्यं ब्रुवते जिनाः ॥(12)

किसी द्रव्य को, आगे होने वाली पर्याय की अपेक्षा वर्तमान में ग्रहण करना द्रव्यनिक्षेप है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

द्रव्य की जो पर्याय पहले हो चुकी हैं अथवा आगे होने वाली है उसकी अपेक्षा द्रव्य का ग्रहण करना अर्थात् उसे भूतपर्याय रूप अथवा भविष्यत् पर्यायरूप वर्तमान में ग्रहण करना सो द्रव्य निक्षेप है।

## भावनिक्षेप का लक्षण

वर्तमानेन यत्नेन पर्यायेणोपलक्षितम् ।  
द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥(13)

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को जिनेन्द्र भगवान् भाव निक्षेप कहते हैं। जो पदार्थ वर्तमान में जिस पर्याय रूप हैं, उसे उसी प्रकार कहना भाव निक्षेप हैं।

## सम्यग्दर्शन आदि तथा तत्त्वों के जानने के उपाय- प्रमाणनघैरधिगमः । (6)

अधिगम Adhigama is knowledge that is derived form tuition external sources, e.g. precept and scriptures. It is attained by (means of)- प्रमाण एवं नय प्रमाण Authority by means of which we test direct or indirect right knowledge of the self and the non self in all their aspects.

नय a stand - point which gives partial knowledge of a thing in some particular aspect of it.

**प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है।**

रत्नत्रय, जीवादि द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ आदि का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है।

पदार्थ का सम्पूर्ण परिज्ञान जिससे होता है उसे प्रमाण कहते हैं। जिससे पदार्थ का आंशिक ज्ञान प्राप्त होता है उसे नय कहते हैं। नय एवं प्रमाण का वर्णन तत्त्वार्थ सार में निम्न प्रकार किया गया है :-

तत्त्वार्थाः सर्व एवैते सम्यग्बोधप्रसिद्धये।

प्रमाणेन प्रमीयन्ते नीयन्ते च नयैस्तथा ॥

(14 तत्त्वार्थसार पृ.5)

ये सभी तत्त्वार्थ सम्यग्ज्ञान की प्रसिद्धि के लिए प्रमाण के द्वारा प्रमित होते हैं और नयों के द्वारा नीत होते हैं अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा जाने जाते हैं।

### प्रमाण का लक्षण और उसके भेद

सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम्।

तत्परोक्षं भवत्येकं प्रत्यक्षमपरं पुनः ॥(15)

उन प्रमाण और नयों में से प्रमाण को सम्यग्ज्ञान रूप कहा है अर्थात् समीचीनज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं। उसके दो भेद है - एक परोक्ष प्रमाण

और दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण। 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'— जिसके द्वारा जाना जावे उसे 'प्रमाण' कहते हैं; इस व्युत्पत्ति को आधार मानकर कितने ही दर्शनकार इन्द्रियों के तथा पदार्थों के साथ होने वाले उनके सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं परन्तु जैनदर्शन में जानने का मूल साधन होने के कारण ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। इसके अभाव में इन्द्रियाँ और सन्निकर्ष अपना कार्य करने में असमर्थ रहते हैं।

### परोक्ष प्रमाण का लक्षण

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत्।  
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम् ॥(16)

गृहीत अथवा अगृहीत पर की प्रधानता से जो पदार्थों का ज्ञान होता है उसे परोक्ष प्रमाण कहा गया है। जो ज्ञान पर की प्रधानता से होता है उसे 'परोक्ष प्रमाण' कहते हैं। पर के दो भेद है (1) समुपात्त और (2) अनुपात्त। जो प्रकृति से ही गृहीत है उसे समुपात्त कहते हैं, जैसे-स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा जो प्रकृति से गृहीत न होकर पृथक् रहता है उसे अनुपात्त कहते हैं,— जैसे-प्रकाश आदि। इस तरह इन्द्रियादिक गृहीत कारणों से और प्रकाश आदि अगृहीत कारणों से जो ज्ञान होता है 'वह परोक्ष' प्रमाण कहलाता है।

### प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षामुक्तमव्यभिचारि च।  
साकारग्रहणं यत्स्यात्तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते ॥(17)

इन्द्रियाँ और मन की अपेक्षा से मुक्त तथा दोषों से रहित पदार्थ का जो सविकल्पज्ञान होता है उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं।

साकार और अनाकार के भेद से पदार्थ का ग्रहण दो प्रकार का होता है जिसमें घट-पटादिका आकार प्रतिफलित होता है उसे साकारग्रहण कहते हैं और जिसमें किसी वस्तु विशेष का आकार प्रतिफलित न होकर सामान्यग्रहण होता है उसे अनाकारग्रहण कहते हैं। साकार ग्रहण को ज्ञान और अनाकार ग्रहण को दर्शन कहते हैं। जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता आवश्यक

नहीं होती, जो विशदरूप होने के कारण दोषरहित होता है तथा जिसमें पदार्थों के आकार विशेषरूप से प्रतिभाषित होते हैं, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

### निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः । (7)

Adhigama is attained by (considering a principle, or any substance with reference to its निर्देश (Description, Definition), स्वामित्व (Possession, Inherence, साधन (Cause), अधिकरण (Place), स्थिति (Duration) and विधान (Division).

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

वस्तु स्वरूप का अन्वेषण, गवेषण, शोध एवं बोध करने के लिए इस सूत्र में वैज्ञानिक विभिन्न प्रणालियों का निर्देशन किया गया है। इस सूत्र में वस्तु स्वरूप को जानने के लिए जिस प्रणाली का निर्देशन किया गया है इसी प्रणाली का प्रयोग जैन धर्म के ज्ञान कोष स्वरूप षट्खण्डआगम एवं कषाय पाहुड़ में प्रायोगिक रूप में विस्तार से किया गया है। यहाँ पर इसका संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं—

(1) निर्देश :— वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश है। जैसे— “तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है” ऐसा कथन करना निर्देश है।

(2) स्वामित्व :— ‘स्वामित्व’ का अर्थ आधिपत्य है। वस्तु के अधिकार को स्वामित्व कहते हैं। जैसे— सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन के स्वामी संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य जीव है।

(3) साधन :— वस्तु की उत्पत्ति के कारण को ‘साधन’ कहते हैं। साधन दो प्रकार का है। (1) बाह्य (2) अन्तरंग। बाह्य साधन निम्न प्रकार है—नारकियों के चौथे नरक से पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथे से लेकर सातवें तक किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।



(4) अधिकरण :- वस्तु के आधार या अधिष्ठान को अधिकरण कहते हैं। अधिकरण दो प्रकार का है - (1) आभ्यन्तर और (2) बाह्य।

(1) आभ्यन्तर अधिकरण :- जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वही उसका आभ्यन्तर अधिकरण है।

(2) बाह्य अधिकरण :- एक राजू चौड़ी और चौदह राजू लम्बी लोकनाड़ी है।

(5) स्थिति :- वस्तु के अस्तित्व काल को स्थिति कहते हैं। जैसे- औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त दो पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागर है। मुक्त जीव की सादि-अनन्त है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर है।

(6) विधान :- वस्तु के भेद या प्रकार को विधान कहते हैं। (सर्वाथसिद्धि पृ.20 पैरा 31)

भेद की अपेक्षा सम्यग्दर्शन सामान्य से एक है। निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है तथा श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है। इसी प्रकार यह निर्देश आदि विधिज्ञान और चारित्र में तथा जीव और अजीव आदि पदार्थों में आगम के अनुसार लगा लेना चाहिए।

**सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।(8)**

(The eight principles are known) also by-

(1) सत् Existence

(2) संख्या Number, enumeration of kinds or classes.

- (3) क्षेत्र Place, where the thing is found at the present time.
- (4) स्पर्शन Extent or the amount of space touched by it in all ages.
- (5) काल Time
- (6) अन्तर Interval (of time)
- (7) भाव Quality, i.e. that determinateness which is one with the being of the object.
- (8) अल्प बहुत्व Quantity; the being so much with reference to a possible more or less, measurable or numberable amount.

सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्प-बहुत्व से भी सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

इस सूत्र में वस्तु स्वरूप को अत्यन्त वैज्ञानिक प्रणाली से सविस्तार जानने के उपाय बताये गये हैं। षट्खण्डागम (धवला) कषायपाहुड, जयधवला की वर्णन प्रणाली पूर्ण रूप से इसके अनुरूप ही है।

1. सत्— वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य सत् स्वरूप है। अस्तित्व से रहित किसी भी द्रव्य की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। सत् के आधार पर ही संख्या, गुण, पर्याय टिकती हैं। इसलिए पहले सत् का ग्रहण किया गया।

2. संख्या— वस्तु के परिणामों की गिनती को संख्या कहते हैं अथवा वस्तु के भेदों की गणना को संख्या कहते हैं।

3. क्षेत्र— वस्तु के वर्तमान काल विषयक निवास को क्षेत्र कहते हैं अर्थात् वर्तमान काल में वस्तु जहां रहती है उस आकाश प्रदेश को क्षेत्र कहते हैं।

4. स्पर्शन— वस्तु के तीन काल विषयक निवास को स्पर्शन कहते हैं अर्थात् वस्तु के भूतकालीन क्षेत्र तथा वर्तमान काल क्षेत्र और भविष्य काल क्षेत्र को स्पर्शन कहते हैं।

5. काल- वस्तु के रहने की मर्यादा को काल कहते हैं।
6. अन्तर- वस्तु के विरह काल को अन्तर कहते हैं अर्थात् वस्तु की एक पर्याय नष्ट होने पर पुनः उसकी व्युत्पत्ति में जो काल व्यवधान पड़ता है उसे अन्तर कहते हैं।
7. भाव- वस्तु के गुणों को भाव कहते हैं जैसे औपशमिकादि भाव।
8. अल्पबहुत्व- एक वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु की हीनाधिकता को अल्पबहुत्व कहते हैं।

### सम्यग्ज्ञान का वर्णन, ज्ञान के भेद और नाम मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानिज्ञानम्। (9)

Righ knowledge (is of five kinds)-

मति Sensitive knowledge. Knowledge of the self and the non-self by means of the senses and mind.

श्रुत Scriptural knowledge. Knowledge derived from the reading or preaching of scriptures, or through an object known by sensitive knowledge.

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

गोम्मट्टसार जीवकाण्ड के ज्ञानमार्गणाधिकार में ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा भी है-

पंचेव ह्येति णाणा, मदिसुदओहीमणं च केवलयं।  
खयउवसमिया चउरो, केवलणाणंहवेखइयं॥

(गा. 300)

सम्यग्ज्ञान पाँच ही हैं। इनमें से आदि के चार ज्ञान जो क्षायोपशमिक हैं वे अपने-अपने प्रतिपक्षी मतिज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं। सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, सदवस्थारूप उपशम और देशघाति का

उदय हो तो क्षयोपशम कहा जाता है। प्रतिपक्षी कर्म की इस अवस्था में होने वाले ज्ञान को क्षायोपशमिक कहते हैं। अन्तिम केवलज्ञान क्षायिक है। वह सम्पूर्ण ज्ञानावरण के क्षय से प्रकट हुआ करता है।

1. मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशमसे और इन्द्रिय-मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का विकलरूप से (अपूर्ण रूप से) विशेषतः अवबोधन करता है वह आभिनिबोधिकज्ञान है।
2. श्रुतज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से और मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह श्रुतज्ञान है।
3. अवधि ज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह अवधिज्ञान है।
4. मनःपर्ययज्ञान आवरण के क्षयोपशम से ही परमनोगत (दूसरों के मन के साथ सम्बन्ध वाले) मूर्तद्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह मनः पर्यय ज्ञान है।
5. समस्त आवरणके अत्यन्त क्षय से, केवल ही (अकेला आत्मा ही) मूर्तः, अमूर्त द्रव्य का सकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह स्वभाविक केवलज्ञान है।

### 1. मतिज्ञान

मदिणाणं पुण तिविहं उवलद्धी भावणं च उवओगो ।

तह एवं चदुवियप्पं दंसणपुव्वं हवदि णाणं ।(1)

(पञ्चास्तिकाय पृ.141)

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर पांच इन्द्रिय और मन के द्वारा जो कोई मूर्तिक और अमूर्तिक वस्तुओं को विकल्प सहित या भेद सहित जानता है वह मतिज्ञान है। सो तीन प्रकार हैं— मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो पदार्थों को जानने की शक्ति प्राप्त होती है उसको उपलब्धि मतिज्ञान कहते हैं। यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूप से जो पदार्थ के जानने का व्यापार उसको उपयोग मतिज्ञान कहते हैं। जाने हुए पदार्थ को बारम्बार

चिन्तवन करना सो भावना मतिज्ञान है। यही मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणा के भेद से चार प्रकार हैं। अथवा कोष्ठ बुद्धि, बीज बुद्धि, पदानुसारी बुद्धि और सभिन्न श्रोतृता बुद्धि के भेद से भी चार प्रकार हैं। यह मतिज्ञान सत्ता अवलोकनरूप दर्शनपूर्वक होता है।

## 2. श्रुतज्ञान

सुदणाणं पुणणाणी भणंति लब्धीय भावणा चेव।

उवओग णयवियपं णाणेण य वत्थु अत्थस्स॥ (2)

वही आत्मा जिसने मतिज्ञान से पदार्थ को जाना था, जब श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर जो मूर्त और अमूर्त पदार्थों को जानता है उसको ज्ञानीजन श्रुतज्ञान कहते हैं। वह श्रुतज्ञान जो शक्ति की प्राप्ति रूप है सो लब्धि है, जो बार-बार विचार रूप है सो भावना है। उसी के उपयोग और नय ऐसे भी दो भेद हैं। 'उपयोग' शब्द से वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण जान लेना चाहिये तथा 'नय' शब्द से वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय मात्र लेना चाहिये, क्योंकि कहा है—“नयो ज्ञातुरभिप्रायः” कि नय ज्ञाता का अभिप्राय मात्र है। जो गुणपर्याय रूप पदार्थ का सर्व रूप से जानना सो प्रमाण है और उसी के किसी एक गुण या किसी एक पर्याय मात्र को मुख्यता से जानना सो नय हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि ग्रहण करने योग्य परमात्मतत्त्व का साधक जो विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव रूप शुद्ध आत्मीक तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रयरूप भावश्रुत है सो निश्चयनय रूप से ग्रहण करने योग्य है और व्यवहारनयसे इसी भावश्रुतज्ञान के साधक द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना चाहिये।

## 3. अवधिज्ञान

ओहिं तहेव घेप्पदु देसं परमं च ओहिसव्वं च।

तिण्णिवि गुणेण णियमा भवेण देसं तहा णियदं॥ (3)

जो अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर मूर्तिक वस्तुको प्रत्यक्ष रूपसे जानता है वह अवधिज्ञान है। जैसे पहले श्रुतज्ञान को उपलब्धि भावना तथा उपभोग की अपेक्षा तीन भेद से कहा था वैसे यह अवधिज्ञान भावना

को छोड़कर उपलब्धि तथा उपयोग स्वरूप है। अवधिज्ञान की शक्ति सो उपलब्धि है, चेतन की परिणति का उधर झुकना सो उपयोग है तथा उसके तीन भेद और भी जानो—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। किन्तु इन तीनों में से परमावधि और सर्वावधि ज्ञान उन चरमशरीरी मोक्षगामी मुनियों के होता है जो चैतन्य भाव के उछलने से पूर्ण व आनन्दमय परम सुखामृत रस के आस्वादरूप परम समरसी भाव में परिणमन कर रहे हैं। जैसा कि वचन है “परमोही सब्वोही चरमशरीरस्य विरदस्य” ये तीनों ही अवधिज्ञान विशेष सम्यग्दर्शन आदि गुणों के कारण नियम से होते हैं तथा जो भव प्रत्यय अवधि है अर्थात् जो देव नारकियों के जन्म से होनेवाली अवधि है वह नियम से देशावधि ही होती है यह अभिप्राय है।

#### 4. मनः पर्ययज्ञान—

विउलमदी पुण्णाणं अज्जवणाणं च दुविह मण्णाणं।

एदे संजमलद्धी उवओगे अप्पमत्तस्स ॥(4)

यह आत्मा मनःपर्यय ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने पर दूसरे के मन में प्राप्त मूर्त वस्तु को जिसके द्वारा प्रत्यक्ष जानता है वह मनः पर्यय ज्ञान है। उसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। इनमें विपुलमति मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मन में प्राप्त पदार्थ को सीधा (सरल) व वक्र दोनों को जानता है जबकि ऋजुमति मात्र सीधे (सरल विषय) को ही जानता है। इनमें से विपुलमति उन चरमशरीरी मुनियों के ही होता है जो निर्विकार आत्मानुभूति की भावना को रखने वाले हैं। तथा ये दोनों ही उपेक्षा संयम की दशामें संयमियों के ही होते हैं और केवल उन मुनियों के ही होते हैं जो वीतराग आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र की भावना सहित, पन्द्रह प्रमाद रहित अप्रमत्त गुणस्थान के विशुद्ध परिणाम में वर्त रहे हों। जब यह उत्पन्न होता है तब अप्रमत्त सातवें गुणस्थान में ही होता है, यह नियम है। फिर प्रमत्त के भी बना रहता है, यह तात्पर्य है।

## 5. केवलज्ञान

णाणं षेयणिमित्तं केवलणाणं ण होदि सुदणाणं।  
षेयं केवलणाणं णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो॥(5)

केवलज्ञान घटपट आदि जानने योग्य पदार्थों के आश्रय से नहीं उत्पन्न होता है इसलिये वह जैसे ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से नहीं होता है वैसे ही श्रुतज्ञानरूप भी नहीं है। यद्यपि दिव्यध्वनि के समय में इस केवलज्ञान के आधार से गणधर देव आदिकों के श्रुतज्ञान होता है तथापि वह श्रुतज्ञान गणधरदेवादि को ही होता है। केवली अरहन्तों के नहीं है। केवली भगवान के ज्ञान में किसी सम्बन्ध में ज्ञान व किसी में अज्ञान नहीं होता है, किन्तु सर्व ज्ञेयों का बिना क्रम के ज्ञान होता है अथवा मतिज्ञान आदि भेदों से नाना प्रकार का ज्ञान नहीं है किन्तु एक मात्र शुद्ध ज्ञान ही है। यहाँ जो मतिज्ञान आदि के भेद से पाँच ज्ञान कहे गये हैं वे सब व्यवहारनय से हैं। निश्चय से अखंड एक ज्ञान के प्रकाश रूप ही आत्मा है जैसे मेघादि रहित सूर्य होता है, यह तात्पर्य है।

### प्रमाण का लक्षण और भेद तत्प्रमाणे । (10)

They (i.e. five kinds of knowledge are) the two प्रमाण (and no others.)

वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण रूप है।

“सम्यक् ज्ञानं प्रमाणम्।” अर्थात् जो ज्ञान सम्यक् अर्थात् समीचीन (यथार्थ) है वही ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान को समीचीन होने के लिए ज्ञान सम्बन्धी जो दोष हैं, उससे ज्ञान को रहित होना चाहिए। इसका प्रतिपादन प्रमेयरत्नमाला में निम्न प्रकार किया है—

प्रकर्षेण संशयादि व्यवच्छेदेनमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं  
येन तत्प्रमाणं ।

जिसके द्वारा प्रकर्ष से अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के व्यवच्छेद (निराकरण) से वस्तुतत्त्व जाना जाय वह प्रमाण कहलाता है।

तार्किक चूड़ामणि समन्तभद्र स्वामी ने भी सम्यग्ज्ञान का लक्षण अग्र प्रकार कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।  
निःसन्देहं वेद, यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥  
(42, र.श्रा.पृ.32)

जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता, अधिकता, विपरीतता और सन्देह रहित जैसा को तैसा जानता है वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

संसयविमोहविभ्रमविवज्जियं अप्परसरूवस्स।  
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥  
(42 द्र.सं.पृ.142)

आत्मस्वरूप और परपदार्थ के स्वरूप का जो संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विभ्रम (विपर्यय) कुज्ञान से रहित जानना है वह सम्यग् ज्ञान कहलाता है। यह आकार (विकल्प) सहित है और अनेक भेदों का धारक है।

जाणइ तिकालविसए, दब्बगुणे पज्जए य बहुभेदे।  
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं वेत्ति ॥  
(299 गो.जी.पृ.160)

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष।

### परोक्ष प्रमाण के भेद आद्ये परोक्षम्। (11)

The first two kinds of knowledge, i.e. मति sensitive and श्रुत Scriptural knowledge, are परोक्ष Paroksha i.e., Indirect or mediate.

प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण है।



आद्य के दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञाने और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है। जो ज्ञान परावलम्बन से होता है एवं अस्पष्ट होता है उसे परोक्षज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान इन्द्रिय, मन एवं प्रकाश आदि के आवलम्बन से होता है एवं अस्पष्ट होता है इसलिए इसे परोक्षज्ञान कहते हैं। कुन्द-कुन्द स्वामी ने कहा भी है-

जं परदो विण्णारणं तं तु परोक्खं ति भणिदमत्थेसु।(58)

पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है वह तो परोक्ष इस नाम से कहा गया है।

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो ति अप्पणो भणिदा।

अवलद्धं तेहि कथं पच्चक्खं अप्पणो होदि॥

(पवयणसारो, पृ.सं. 132 श्लोक न.57)

वे प्रसिद्ध पाँचो इन्द्रियों को आत्मा की अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी आत्मा की स्वभाव रूप निश्चय से नहीं कही गई हैं क्योंकि, उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थ से हुई है इसलिये वे परद्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यमयी हैं उन इन्द्रियों के द्वारा जाना हुआ उन्हीं के विषय योग्य पदार्थ सो आत्मा के प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है? अर्थात् किसी भी तरह नहीं हो सकता है। जैसे पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसे ही नाना मनोरथों के करने में 'यह बात कहने योग्य है, मैं कहने वाला हूँ' इस तरह नाना विकल्पों के जाल को बनाने वाला जो मन है वह इन्द्रियज्ञान की तरह निश्चय से परोक्ष ही है।

**प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद-**

**प्रत्यक्षमन्यत्। (12)**

The remaining three, i.e. अवधि visual, direct material knowledge, मनःपर्यय Mental, direct mental knowledge and केवल perfect knowledge are प्रत्यक्ष i.e. directly known by the soul itself, without any external help.

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जो ज्ञान परावलम्बन के बिना जानता है उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इस दृष्टि से केवलज्ञान ही पूर्ण (सकल) प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा सीमा सहित होने के कारण परोक्ष होते हुए भी ये दोनों ज्ञान मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के समान पूर्ण परन्तन्त्र नहीं हैं इसलिए इन दोनों ज्ञान को प्रत्यक्ष में ग्रहण किया गया है। तथापि केवलज्ञान के समान पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण इसे देश प्रत्यक्ष भी कहते हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा कुन्दकुन्ददेव ने निम्न प्रकार से की है—

जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥

(58 प्रब.पृ. 134)

जो मात्र जीव के द्वारा ही जाना जाता है वह ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष है।

### मतिज्ञान के दूसरे नाम

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। (13)

मतिः Sensitive knowledge (connotes) the same things as :

स्मृति (remembrance of a thing known before, but out of sight now) :

संज्ञा also called प्रत्यभिज्ञान recognition (remembrance of a thing known before when the thing itself or something similar or markedly dissimilar to it, is present to the senses now) :

चिन्ता Chinta or Tarka induction (reasoning or argument based upon observation. If a thing is put in fire, its temperature would rise.)

**अभिनिबोध** Abhinibodh or Anumana. (Deduction, Reasoning by inference; e.g. any thing put in fire become sheated this thing is in Fire; therefore is must be heated.

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं।

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अन्तरंग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करने के कारण मतिज्ञान एक है तथापि कुछ विशेष कारणों से उसमें उपरोक्त भेद हो जाते हैं।

1. **मति**— “मननं मतिः” जो मनन किया जाता है उसे मति कहते हैं। मन और इन्द्रिय से वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान होना मति है।
2. **स्मृति**— “स्मरणं स्मृति” स्मरण करना स्मृति है। पहले जाने हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आने को स्मृति कहते है।
3. **संज्ञा**— “संज्ञानं संज्ञा” वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर यह वही है इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान को संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।
4. **चिन्ता**— किन्ही दो पदार्थों के कार्य-कारण आदि सम्बन्ध के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं। इसको तर्क भी कहते हैं। जैसे—अग्नि के बिना धूम नहीं होता है, आत्मा के बिना शरीर व्यापार, वचन व्यापार नहीं हो सकते हैं, पुद्गल के बिना स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हो सकते है इस प्रकार कार्य कारण सम्बन्ध का विचार करना ‘चिन्ता’ है। संक्षिप्ततः व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं।
5. **अभिनिबोध**— एक प्रत्यक्ष पदार्थ को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाले अप्रत्यक्ष का बोध-ज्ञान होना अभिनिबोध (अनुमान) है। जैसे— पर्वत पर प्रत्यक्ष धूम को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाली अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना।

‘इति’ शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि को ग्रहण करना चाहिए।

दिन या रात्रि में कारण के बिना ही जो स्वतः प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है। जैसे प्रातः मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा कोई इष्ट सम्बन्धी आयेगा आदि।

अर्थग्रहण करने की शक्ति को 'बुद्धि' कहते हैं।

पाठग्रहण करने की शक्ति का नाम 'मेधा' है।

कहा भी है—आगमाश्रितज्ञान मति है। बुद्धि तत्कालीन पदार्थ का साक्षात्कार करती है। प्रज्ञा अतीत को तथा मेधा त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान करती है। नवीन-नवीन उन्मेषशालिनी प्रतिभा है।

## मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण और स्वरूप

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। (14)

It is acquired by the help of the इन्द्रिय senses and अनिन्द्रिय i.e., mind. वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन रूप निमित्त से होता है। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम, वीर्योन्तराय कर्म के क्षयोपशम, नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ-साथ इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे 'मतिज्ञान' कहते हैं।

'इन्द्र' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'इन्दतीतिइन्द्रः' जो आज्ञा और ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र है। 'इन्द्र' शब्द का अर्थ आत्मा है। वह यद्यपि ज्ञस्वभाव है तो भी मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के रहते हुए स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है अतः उस पदार्थ के जानने में जो लिंग (निमित्त) होता है वह इन्द्र का लिंग इन्द्रिय कही जाती है। अथवा जो लीन अर्थात् गूढ पदार्थ का ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार 'इन्द्रिय' शब्द का यह अर्थ हुआ कि, जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में लिंग अर्थात् कारण है उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं, जैसे लोक में धूम, अग्नि का ज्ञान कराने में कारण होता है। इसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण कर्ता आत्मा के अभाव में नहीं हो सकते हैं अतः उनसे ज्ञाता का अस्तित्व पाया जाता है। अथवा इन्द्र शब्द नामकर्म का वाची है। अतः यह अर्थ हुआ कि, उससे रची गई इन्द्रिय है। वे इन्द्रियाँ स्पर्शनादिक हैं। अनीन्द्रिय, मन और अन्तःकरण

ये एकार्थ वाची नाम हैं।

मन को नो इन्द्रिय या अनिन्द्रिय कहते हैं। यहाँ अनिन्द्रिय का अर्थ निषेधपरक नहीं है परन्तु किञ्चित् अर्थ में है। यथा “ईषदर्थस्यनञ-प्रयोगात्” नञ्का प्रयोग ‘ईषद्’ अर्थ में किया है। ईषत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय। यथा अनुदरा कन्या। इस प्रयोग में जो अनुदरा शब्द है उससे उदरका अभाव रूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।

ये इन्द्रियां निश्चित देश में स्थित पदार्थों का विषय करती हैं और कालान्तर में अवस्थित रहती हैं। किन्तु मन इन्द्रिय का लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता और कालान्तर में अवस्थित नहीं रहता।

इसे अन्तःकरण कहा जाता है। इसे गुण और दोषों के विचार और स्मरण करने आदि कार्यों में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के समान इसकी बाहर उपलब्धि भी नहीं होती। इसलिए यह अनागत करण होने से अन्तःकरण कहलाता है। इसलिए अनिन्द्रिय में नञ् का निषेध रूप अर्थ न लेकर ‘ईषद्’ अर्थ लिया गया है।

### मतिज्ञान के भेद अवग्रहेहावायधारणाः । (15)

अवग्रह Avagraha or perception.

ईहा Conception.

आवाय Judgement.

धारणा Retention.

अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद है।

इस सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के मनोवैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है। किसी भी विषय के धारणा रूपी ज्ञान के लिये किन-किन मनोवैज्ञानिक प्रणालियों से गुजरना पड़ता है उसका वर्णन किया गया है। विद्यार्थियों को इस सूत्र में प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक प्रणाली से अध्ययन करना चाहिये जिससे

उनकी धारणा शक्ति (स्मरण शक्ति) अधिक हो सकती है।

विषय और विषयी के सम्बन्ध के बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी का सन्निपात (सम्बन्ध) होने पर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह 'अवग्रह' कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों में उसके विषय में विशेष जानने की इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे, 'जो शुक्ल रूप देखा है वह क्या वकपंक्ति हैं' ? इस प्रकार जानने की इच्छा 'ईहा' है। विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे 'अवाय' कहते है। जैसे-उत्पतन, निपतन और पंखविक्षेप आदि के द्वारा 'यह वकपंक्ति ही है ध्वजा नहीं है, ऐसा निश्चय होना अवाय है। जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता उसे 'धारणा' कहते है। जैसे- यह वही वकपंक्ति है जिसे प्रातः काल मैंने देखा था, ऐसा जानना धारणा है। सूत्र में इन अवग्रहादिक का उपन्यास क्रम इनके उत्पत्ति क्रम की अपेक्षा किया है। तात्पर्य यह है कि, जिस क्रम से ये ज्ञान उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से इनका सूत्र में निर्देश किया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा भी गया है—

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहयमणिंदिइंदियजं ।

अवगहईहावायाधारणगा

होंतिपत्तेयं ॥ (306)

[गोम्मटसार जीवकाण्ड]

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ को 'अभिमुख' कहते हैं। जैसे-चक्षु का रूप नियत है इस ही तरह जिस-2 इन्द्रिय का जो-2 विषय निश्चित है उसको नियमित कहते है। इस तरह के पदार्थों का मन अथवा स्पर्शन आदिक पाँच इन्द्रियों की सहायता से जो ज्ञान होता है उसको 'आभिनिबोधक मतिज्ञान' कहते हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रिय रूप सहकारी निमित्तभेद की अपेक्षा से मतिज्ञान के छह भेद हो जाते हैं। इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार-2 भेद हैं। प्रत्येक के चार-2 भेद होते हैं, इसलिए छह को चार से गुणा करने

पर मतिज्ञान के चौबीस भेद हो जाते हैं।

विसयाणं विसङ्गं, संजोगाणंतरं हवे णियमा।

अवगहणाणं गहिदे, विसेसकंखा हवे ईहा ॥(308)

पदार्थ और इन्द्रियों का योग्य क्षेत्र में अवस्थान रूप सम्बन्ध होने पर सामान्य अवलोकन या निर्विकल्प ग्रहणरूप दर्शन होता है और इसके अनन्तर विशेष आकार आदि को ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थ को अवग्रह ने ग्रहण किया है उस ही के किसी विशेष अंश को ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान होता है।

ईहणकरणेण जदा, सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।

कालंतरे वि णिण्णिदवत्थुसुमरणास्स कारणं तुरियं ॥

(309)

ईहा ज्ञान के अनन्तर वस्तु के विशेष चिन्हों को देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको 'अवाय' कहते हैं। जैसे भाषा, वेष विन्यास आदि को देखकर "यह दाक्षिणात्य ही है" इस तरह के निश्चय को अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तु का कालान्तर में भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं।

अवग्रह आदि के विषय भूत पदार्थ

बहुबहुविधक्षिप्रानिः सूतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्। (16)

बहु More.

एक Eka अल्प One in number or unit of quantity.

बहुविध of many kinds.

एक विध of one kind.

क्षिप्र Quick.

अक्षिप्र Slow.

अनिःसृत Hidden.

निःसृत Exposed.

अनुक्त unexpressed.

उक्त Described.

ध्रुव Lasting.

अध्रुव Transient.

सेतर (प्रतिपक्ष सहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव के अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा रूप मतिज्ञान होते हैं।

अवग्रह आदिक जो ज्ञान होते है उनके विषयभूत पदार्थों का वर्णन इस सूत्र में किया गया है। यथा, (1) बहु (2) एक (3) बहुविध (4) एकविध (5) क्षिप्र (6) अक्षिप्र (7) अनिःसृत (8) निःसृत (9) अनुक्त (10) उक्त (11) ध्रुव (12) अध्रुव।

गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में इसका सविस्तृत वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

बहुवृत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणमिह ।  
सगणामादो सिद्ध खिप्पादी सेदरा य तथा ॥(311)  
(गो.जी.120)

1. बहु - एक जाति के बहुत से व्यक्तियों को 'बहु' कहते हैं। जैसे- मनुष्यों का समूह।
2. एक - एक जाति के एक व्यक्ति को 'एक' कहते हैं। जैसे- एक मनुष्य।
3. बहुविध - बहुत प्रकार के व्यक्तियों के समूह को 'बहु-विध' कहते हैं। जैसे- विभिन्न देश के विभिन्न संस्कृति व विभिन्न वेष-भूषाओं के मनुष्यों के समूह।
4. एकविध - एक जाति के अनेक व्यक्तियों के ज्ञान को 'एक विध' कहते है। जैसे- एक देश एक सम्यता संस्कृति के अनेक मनुष्य।



5. क्षिप्र – शीघ्रता से गमन करते हुए पदार्थ के ज्ञान को 'क्षिप्र' कहते हैं। जैसे- शीघ्रता से दौड़ती हुई गाड़ी का ज्ञान या विशेष क्षयोपशम के कारण पदार्थों को शीघ्रता से जानने को भी क्षिप्रज्ञान कहते हैं।
6. अक्षिप्र – मन्दता से गमन करते हुए पदार्थों के ज्ञान को 'अक्षिप्र' कहते हैं। जैसे- धीरे-धीरे चलते हुए कछुआ का ज्ञान अथवा क्षयोपशम की मन्दता से पदार्थों का धीरे-धीरे ज्ञान होना भी अक्षिप्रज्ञान है।
7. अनिःसृत – छिपे हुए पदार्थ के ज्ञान को 'अनिःसृत' कहते हैं। अर्थात् एकदेश के ज्ञान से सर्व देश के ज्ञान को अनिःसृत कहते हैं। जैसे- बाहर निकली हाथी की सूड़ देखकर जल में डूबे पूरे हाथी का ज्ञान होना।
8. निःसृत – प्रगट पदार्थ के ज्ञान को निःसृत कहते हैं। जैसे- सामने स्पष्ट दिखाई देने वाला हाथी का ज्ञान।
9. अनुक्त – बिना कहे हुए विषय को अभिप्राय से जान लेना अनुक्त कहते हैं। जैसे- शरीर के हलन-चलन एवं हाव-भाव से व्यक्ति के अभिप्राय का ज्ञान होना।
10. उक्त – वचनों के द्वारा प्रतिपादित विषयों का ज्ञान होना उक्त है। जैसे- इधर आइए।
11. ध्रुव – स्थिर पदार्थ का ज्ञान होना ध्रुव है। जैसे- स्थिर पर्वत का ज्ञान होना।
12. अध्रुव – अस्थिर पदार्थ का ज्ञान होना अध्रुव है। जैसे- बिजली का ज्ञान।

### अर्थस्य (17)

The 288 refer to i.e. are of determinable sense objects (i.e.) thing that can be touched, tasted, smelt, seen, heard or perceived

by the mind.)

The 288 sub-divisions of knowledge relates to determinable sense objects.

अर्थ (वस्तु के) अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा ये चारों मतिज्ञान होते हैं।

अवग्रह आदि विशेषण से विशिष्ट पदार्थ के अवग्रह आदिज्ञान होते हैं। चक्षु आदि के विषयभूत पदार्थ को अर्थ कहते हैं।

अवग्रह आदि केवल गुण के नहीं होते है परन्तु गुण सहित गुणी अर्थात् द्रव्यों के होते हैं। क्योंकि अमूर्तिक गुणों का इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

जो पर्यायों को प्राप्त होता है, अथवा पर्यायों के द्वारा प्राप्त होता है उस द्रव्य को 'अर्थ' कहते हैं। जो अन्तरंग एवं बहिरंग निमित्त के कारण से उत्पत्ति के प्रति तत्पर स्वकीय पर्यायों को प्राप्त होता है वा पर्यायों के द्वारा किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं और वह अर्थ ही द्रव्य है।

शंका— ये रूपादि गुण सूक्ष्म हैं, यदि इन्द्रियों के द्वारा उनका सन्निकर्ष नहीं हो तो "मैंने रूप देखा, मैंने गंधसूंघी" इत्यादि परिणति नहीं होनी चाहिये परन्तु परिणति होती है ?

उत्तर— मैंने रूप देखा, गंधसूंघी इत्यादि जो प्रवृत्ति होती है अर्थात् रूपादि का ग्रहण होता है वह पदार्थ से अभिन्न होने से, पदार्थ के ग्रहण से उन गुणों का भी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण हो जाता है।

### अवग्रह ज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्यावग्रहः । (18)

There is only perception i.e. indeterminable subject, (i.e. of a thing of which we know very little, so little that we can not proceed to the Iha Conception, Judgement and retention of it.

व्यंजन का अवग्रह ही होता है।

सामान्य सत्तावलोकन को दर्शन कहते हैं। एक तरफ लगे हुए उपयोग को अन्य तरफ करने को भी दर्शन कहते हैं। दर्शन के अनन्तर अवग्रह होता है। इस के दो भेद है (1) व्यंजनावग्रह (2) अर्थावग्रह।

व्यक्त पदार्थ का ग्रहण करना अर्थावग्रह है, अव्यक्त का ग्रहण व्यंजनावग्रह है, नवीन सकोरा के समान। जैसे नूतन मिट्टी का सकोरा दो, तीन सूक्ष्म जलकण के सींचने से गीला नहीं होता है परन्तु लगातार जल-बिन्दुओं के डालते रहने पर वही सकोरा धीरे-धीरे गीला हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के प्रथम, शब्दादि का अव्यक्त रूप से ग्रहण होता है इसलिए प्रथम व्यंजनावग्रह होता है और तदनन्तर व्यक्त शब्दादि का ग्रहण होने से अर्थावग्रह होता है।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। (19)

This is not possible to the eye or the mind.

[It is possible to remaining four senses]

चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी है। चूंकि नेत्र अप्राप्त, योग्य दिशा में अवस्थित, युक्त सन्निकर्ष के योग्य देश में अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदि से व्यक्त हुए पदार्थ को ग्रहण करता है और मन भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करता है। अतः इन दोनों के द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता।

“पुट्टं सुणेदि सद्दं अपुट्टं चेव पस्सदे रूअं।  
गंधं रसं च फासं पुट्टमपुट्टं विद्याणादि॥”

पञ्चसंग्रह गा. 68

श्रोत स्पृष्ट शब्द को सुनता है और अस्पृष्ट शब्द को भी सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूप को ही देखता है। तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रम से स्पृष्ट और अस्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्श को जानती है।”

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थ को नहीं ग्रहण करती। यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो क्या वह त्वचा इन्द्रिय के समान

स्पृष्ट हुए अंजन को ग्रहण करती? किन्तु वह स्पृष्ट अंजन को नहीं ग्रहण करती है। इससे मालूम होता है कि मन के समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। अतः सिद्ध हुआ कि चक्षु और मन को छोड़कर शेष इन्द्रियों के व्यंजनावग्रह होता है। तथा सब इन्द्रिय और मन के अर्थावग्रह होता है।

पहले अवग्रह के दो भेद बतला आये हैं— अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। इनमें से अर्थावग्रह तो पांचों इन्द्रियों और मन इन छहों से होता है किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन इन दो से नहीं होता यह इस सूत्र का भाव है। चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता? इसका निर्देश करते हुए जो टीका में लिखा है उसका भाव यह है कि ये दोनों अप्राप्यकारी है अर्थात् ये दोनों विषय को स्पृष्ट करके नहीं जानते हैं। इसलिए इनके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता इससे यह अपने आप फलित हो जाता है कि व्यंजनावग्रह प्राप्त अर्थ का ही होता है और अर्थावग्रह प्राप्त तथा अप्राप्त दोनों प्रकार के पदार्थों का होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि, यदि अप्राप्त अर्थ का अर्थावग्रह होता है तो होओ इसमें बाधा नहीं, पर प्राप्त अर्थ का अर्थावग्रह कैसे हो सकता है? सो इस शंका का यह समाधान है कि, प्राप्त अर्थ का सर्वप्रथम ग्रहण के समय तो व्यंजनावग्रह ही होता है किन्तु बाद में उसका भी अर्थावग्रह हो जाता है। नेत्र प्राप्त अर्थ को क्यों नहीं जानता? इसका निर्देश तो टीका में किया ही है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियाँ भी कदाचित् अप्राप्यकारी होती है। यह भी सिद्ध होता है। प्रायः पृथ्वी में जिस ओर निधि रखी रहती है उस ओर वनस्पति के मूल का विकास देखा जाता है। इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत इन्द्रिय द्वारा भी उसकी सिद्धि हो जाती है।

**श्रुतज्ञान का वर्णन, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का क्रम और भेद  
श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम्। (20)**

Scriptural knowledge is always preceded by sensitive knowledge. It is of two kinds. One of which has twelve and the other many divisions.

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। वह दो प्रकार का, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का भी है।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान होता है तथापि यह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता है। मतिज्ञान सामान्य ज्ञान है और श्रुतज्ञान विशेष ज्ञान है। एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक मिथ्यात्व गुणस्थान से 12 वें गुणस्थान (क्षीणकषाय) तक श्रुतज्ञान होता है तथापि यहाँ पर मोक्षमार्ग का वर्णन होने से सुश्रुतज्ञान विवक्षित है। यह श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है। शब्दात्मक उपदेश सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान यहाँ विवक्षित रूप से लिया है। इसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर है।

श्रुतज्ञान के मूल भेद दो हैं- अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य । . . .

बुद्धि आदि अतिशय वाले गणधरों के द्वारा रचित अंग प्रविष्ट 12 प्रकार का है। भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ देवरूपी हिमाचल से निकली हुई वचनरूपी गंगा के अर्धरूपी निर्मल जल से प्रक्षालित है अन्तःकरण जिनका ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धियों के धनी गणधरों के द्वारा ग्रन्थरूप से रचित आचारादि बारह अंगों को अंगप्रविष्ट कहते हैं। जैसे- (1) आचारांग, (2) सूत्रकृतांग, (3) स्थानांग, (4) समवायांग, (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (6) ज्ञातृधर्मकथा, (7) उपासकाध्ययनांग, (8) अन्तकृद्दशांग, (9) अनुत्तरौपपादिकदशांग, (10) प्रश्नव्याकरण, (11) विपाकसूत्र और (12) दृष्टिवाद।

(1) आचारांग :- आचारांग में आठ प्रकार की शुद्धि, पाँच समिती, तीन गुप्तिरूप चर्या का विधान किया जाता है।

(2) सूत्रकृतांग :- सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्य, अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का निरूपण है।

(3) स्थानांग :- स्थानांग में अर्थों के एक-एक दो-दो आदि अनेके आश्रयरूप से पदार्थों का कथन किया जाता है।

4. समवायांग :- समवायांग में सर्व पदार्थों की समानता रूप से समवाय (समानता) का विचार किया गया है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है। जैसे- धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के तुल्य असंख्यात प्रदेश होने से इन्हें द्रव्यरूप समवाय (समानता) कहा

1 बारह अंगों में पद संख्या			2 दृष्टिवाद अंग में पद संख्या		
क्र.	नाम	पद संख्या	क्र.	नाम	पद संख्या
1	आचारांग	18,000	1	परिकर्म	18,10,5000
2	सूत्रकतांग	36,000	A	चन्द्र प्रज्ञप्ति	360,5000
3	स्थानांग	42,000	B	सूर्य प्रज्ञप्ति	60,3000
4	समवायांग	1,64,000	C	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	32,5000
5	व्याख्याप्रज्ञप्ति	2,28,000	D	द्वीप समुद्र प्रज्ञप्ति	52,36,000
6	शातृधर्म कथांज	5,56,000	E	व्याख्या प्रज्ञप्ति	84,36000
7	उपासकाध्ययन	1,17,000	2	सूत्र	88,00,000
8	अन्तकृद्दशांग	23,24,000	3	अनुयोग	5000
9	अनुत्तयेपपादिकदशांग	92,44,000	4	पूर्वगत	955000005
10	प्रश्न व्याकरणाङ्ग	93,16,000	5	चूलिका	104946000
11	विपाक सूत्र	18,40,000	1	जलगता	20979205
12	दृष्टि वाद	10,86,85605	2	स्थलगता	"
			3	आकाशगता	"
			4	रूपगता	"
			5	मायागता	"
		11,28,35,805			



### 3 चौदह पूर्वों में पदादि संख्या

क्र.	नाम	वस्तुगत	प्राभुज	पद संख्या
1.	उत्पाद पूर्व	10	200	10000000
2.	अग्रायणीय पूर्व	14	280	9600000
3.	वीर्यानुवाद पूर्व	8	108	7000000
4.	अस्ति नास्ति प्रवाद	18	380	6000000
5.	ज्ञान प्रवाद	12	240	9999999
6.	सत्य प्रवाद	12	40	10000006
7.	आत्म प्रवाद	16	320	260000000
8.	कर्म प्रवाद	20	400	18000000
9.	प्रत्याख्यान प्रवाद	3	600	8400000
10.	विद्यानुवाद	15	300	11000000
11.	कल्याणनामधेय	10	200	260000000
12.	प्राणावाय	10	200	130000000
13.	क्रियाविशाल	10	200	80000000
14.	लोक बिन्दुसार	10	200	125000000





जाता है। जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक, नंदीश्वर द्वीप की वापिका ये सब एक लाख योजन विस्तार वाले होने से इनका क्षेत्र की दृष्टि से समवाय है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होने से इनका काल की दृष्टि से समवाय है।

क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन यथाख्यातचारित्र ये सब अनंत विशुद्धि रूप से भाव समवाय हैं।

5. व्याख्याप्रज्ञप्ति :- व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग में 'जीव है कि नहीं' इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का उत्तर है या निरूपण है।

6. ज्ञातृधर्मकंधाग :- ज्ञातृधर्मकंधाग में अनेक आख्यान और उपाख्यानों का वर्णन है।

7. उपासकाध्ययनांग :- उपासकाध्ययनांग में श्रावक धर्म का विशेषरूप से विवेचन किया गया है।

8. अन्तकृद्दशांग :- संसार का अन्त जिन्होंने कर दिया है वे अन्तकृत् हैं - जैसे- वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, निष्कम्बल, पाल और अम्बष्ठपुत्र ये दस मुनि घोर उपसर्ग सहन करके सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर अन्तकृत् केवली हुए। उसी प्रकार ऋषभादि तेईस तीर्थंकरों के समय में दस-दस मुनि घोरोपसर्ग सहन करके अन्तकृत्केवली हुए हैं। उस दस-दस मुनियों का वर्णन जिसमें है उसको अन्तकृद्दशांग कहते हैं। अथवा- अन्तकृत्ओं की दशा अन्तकृद्दशा उसमें अर्हव् आचार्य होने की विधि तथा सिद्ध होने वालों की अंतिम-विधि का वर्णन है।

9. अनुत्तरौपपादिकदशांग :- उपपाद जन्म ही है प्रयोजन जिसका वे औपपादिक हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामक पाँच अनुत्तर हैं। उन अनुत्तरों में उत्पन्न होने वालों को अनुत्तरौपपादिक कहते हैं। महावीर के समय में ऋषिदास, वान्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नंद-नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दस मुनि घोर उपसर्ग सहन करके विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुए हैं।

इसी प्रकार ऋषभादि तेईस तीर्थंकरों के समय में अन्य-अन्य दस-दस

मुनिराज दारुण उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर विजयादि अनुत्तरो में उत्पन्न हुए हैं। उन अनुत्तरौपपादिकों की दशा का वर्णन जिसमें किया जाता है – उस अंग का नाम अनुत्तरौपपादिक दशांग है। अनुत्तरौपपादिकों की दशा अनुत्तरौपपादिक दशांग कहलाती है, इस अंग में विजय आदि अनुत्तर विमानों की आयु विक्रिया क्षेत्र आदि का वर्णन है।

10. प्रश्नव्याकरण :- प्रश्नव्याकरणांग में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है। तथा उसमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।

11. विपाकसूत्र :- विपाकसूत्र में पुण्य और पाप के विपाक (फल) का विचार (कथन) है।

12. दृष्टिवाद :- इसमें 363 कुवादियों के मतों का निरूपण पूर्वक खंडन किया है। कौल्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारित, मुण्ड, आश्वलायन आदि क्रियावादियों के 180 भेद हैं। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौदगलायन आदि अक्रियावादियों के 84 भेद हैं। साकल्य, वल्कल, कुधुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनी, आदि अज्ञानवादियों के 67 भेद हैं। वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्णि, वाल्मीकि, रौमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, ओपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थुण आदि वैनयिकों के 32 भेद हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टियों के कुल 363 भेद हैं। इन सब का वर्णन दृष्टिवाद में है। दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं – परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

1. परिकर्म :- 'परितः' अर्थात् पूरी तरह से 'कर्माणि' अर्थात् गणित के करणसूत्र जिसमें हैं वह परिकर्म है। उसके भी पाँच भेद हैं – चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति। उनमें से चन्द्रप्रज्ञप्ति, चन्द्रमा के विमान, आयु, परिवार, ऋद्धि, गमन, हानि, वृद्धि, पूर्णग्रहण, अर्धग्रहण, चतुर्थांशग्रहण आदि का वर्णन करती है।

सूर्यप्रज्ञप्ति- सूर्य की आयु, मण्डल, परिवार, ऋद्धि, गमन का प्रमाण

तथा ग्रहण आदि का वर्णन करती है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपगत मेरु, कुलाचल, तालाब, क्षेत्र, कुण्ड, वेदिका, वनखण्ड, व्यन्तरो के आवास, महानदी आदि का वर्णन करती है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति-असंख्यात द्वीपसमुद्रों के स्वरूप, उनमें स्थित ज्योतिषीदेव, व्यन्तरो और भवनवासी देवों के आवासों में वर्तमान अकृत्रिम जिनालयों का वर्णन करती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति-रूपी-अरूपी, जीव-अजीव, द्रव्यों का भव्य और अभव्य भेदों का, उनके प्रमाण और लक्षणों का, अनन्तर सिद्ध और परम्परा सिद्धों का तथा अन्य वस्तुओं का वर्णन करती है।

2. सूत्र-- 'सूत्रयति' अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि दर्शनों को सूचित करता है वह सूत्र है। जीव अबन्धक है, अकार्ता है, निर्गुण है, अभोक्ता है, स्वप्रकाशक नहीं है, पर प्रकाशक है, जीव अस्ति ही है या नास्ति ही है इत्यादि क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैयक्तिक मिथ्यादृष्टियों के तीन सौ तिरसठ मतों को पूर्वपक्ष के रूप में कहता है।

3. प्रथमानुयोग :- प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि, अत्रती या अव्युत्पन्न व्यक्ति के लिए जो अनुयोग रचा गया वह प्रथमानुयोग है। यह चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव, इन तिरसठ शलाका प्राचीन पुरुषों का वर्णन करता है।

4. पूर्वगत :- चौदह प्रकार के सम्बन्ध में आगे विस्तार से कहेंगे।

5. चूलिका :- चूलिका भी पाँच प्रकार की है - जलगता चूलिका, स्थलगता, मायागता, आकाशगता, और रूपगता। जलगता चूलिका-जल का स्तम्भन, जल में गमन, अग्नि का स्तम्भन, अग्नि का भक्षण, अग्नि में बैठना, अग्नि में प्रवेश आदि के कारण मन्त्र, तन्त्र, तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। मायागता, चूलिका-मायावी रूप, इन्द्रजाल (जादूगरी) विक्रिया के कारण मंत्र, तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। रूपगता चूलिका-सिंह, हाथी, घोड़ा, मृग, खरगोश, बैल, व्याघ्र आदि के रूप बदलने में कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य, उत्खनन आदि का लक्षण व धातुवाद, रसवाद, खदान आदि वादों का कथन करती है। आकाशगता चूलिका-आकाश में गमन करने में कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरण का कथन करता है।

पूर्वगत चौदह प्रकार का है - 1. उत्पादपूर्व, 2. अग्रायणी, 3. वीर्यप्रवाद, 4. अस्तिनास्तिप्रवाद, 5. ज्ञानप्रवाद, 6. सत्यप्रवाद, 7. आत्मप्रवाद, 8. कर्मप्रवाद, 9. प्रत्याख्यान, 10. विद्यानुवाद, 11. कल्याणवाद, 12. प्राणावाय, 13. क्रियाविशाल, 14. लोकबिन्दुसार।

1. **उत्पादपूर्व** :- काल, पुद्गल, जीव आदि की जिस काल में जिस क्षेत्र में जिस पर्याय से उत्पत्ति होती है, उन सबका वर्णन जिसमें है उसको उत्पादपूर्व कहते हैं।

2. **अग्रायणी** :- जिसमें क्रियावादियों की प्रक्रिया, अग्रणी के समान अंगादि तथा स्वसमय के विषय का विवेचन किया गया है वह अग्रायणी पूर्व है।

3. **वीर्यप्रवाद** :- जिसमें छद्मस्थ और केवलियों की शक्ति; सुरेन्द्र, असुरेन्द्र आदि की ऋद्धि वा नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदि के सामर्थ्य और द्रव्यों के समीचीन लक्षण आदि का वर्णन है वह वीर्यप्रवाद है।

4. **अस्तिनास्तिप्रवाद** :- जिसमें पाँचों अस्तिकायों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश) का और नयों का अस्ति नास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है, उसको अस्ति-नास्तिप्रवाद कहते हैं। अथवा-जीवादि छह द्रव्यों का उभय नय के द्वारा वशीकृत, अर्पित (विवक्षित), अनर्पित (अविवक्षित) स्व पर पर्याय के कारण भाव (विधि), अभाव (निषेध) से जो वर्णन करता है अर्थात् स्वद्रव्य क्षेत्र काल की अपेक्षा जीवादि अस्तिरूप हैं और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा नास्ति रूप हैं, इस प्रकार नय विवक्षा से वस्तु के स्वरूप का वर्णन करता है - वह अस्तिनास्ति प्रवाद है।

5. **ज्ञानप्रवाद** :- जिसमें प्रादुर्भाव विषयों के आयतन स्वरूप ज्ञानियों के पाँच ज्ञानों का और अज्ञानियों के विषयों के आयतन इन्द्रियों का विभाग किया जाता है वह ज्ञानप्रवाद है।

6. **सत्यप्रवाद** :- जिसमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कार, के कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ता के अनेक प्रकार, मूषाभिधान और दस प्रकार के सत्य के सद्भाव का वर्णन किया जाता है, वह सत्यप्रवाद है।

7. **आत्मप्रवाद**:- जिसमें आत्मा का अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों और षट् जीवनिकाय के भेदों का युक्ति से निरूपण किया गया है - वह आत्मप्रवाद है।

8. **कर्मप्रवाद**:- जिसमें कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा, उपशम आदि दशाओं का तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आदि स्थिती का तथा प्रदेशों के समूह का वर्णन किया जाता है वह कर्मप्रवाद है।

9. **प्रत्याख्यान**:- जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, आराधना, विशुद्धि का उपक्रम आदि व मुनियों के आचरण का कारण तथा परिमित, अपरिमित द्रव्य के प्रत्याख्यान आदि का वर्णन है उसे प्रत्याख्यान पूर्व कहते हैं।

10. **विद्यानुवाद**:- जिसमें समस्त विद्याएँ, आठ महानिमित्त, उनका विषय, रज्जु राशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोक-प्रतिष्ठा, समुद्धात आदि का विवेचन है। अंगुष्ठप्रसेनादि 700 अल्पविद्याएँ और रोहिणी आदि 500 महाविद्याएँ होती हैं।

11. **कल्याणवाद**:- जिसमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तारागणों का गमन क्षेत्र, उपपादक्षेत्र, शकुन आदि का वर्णन है तथा अर्हत, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि का एवं गर्भ जन्म तप केवलज्ञान मोक्ष इन पंचकल्याणकों का वर्णन किया है वह कल्याणपूर्व कहलाता है।

12. **प्राणावाय**:- कायचिकित्सा आदि आठ अंग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिप्रक्रम प्राणायाम के विभाग का जिसमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है वह प्राणावाय नामक पूर्व है।

13. **क्रियाविशाल**:- लेखनक्रिया आदि पुरुषों की 72 कलाओं का, स्त्रियों की 64 कलाओं का तथा शिल्प, काव्यगुणदोष, छन्द, क्रिया, क्रिया का फल व उसके भोक्ता आदि का जिसमें विस्तारपूर्वक वर्णन है, वह क्रिया विशालपूर्व है।

14. **लोकबिन्दुसार**:- आठ प्रकार का व्यक्धार, चार बीजराशि, परिकर्म आदि गणित तथा सारी श्रुत सम्पत्ति का जिसमें विवरण है। वह लोकबिन्दुसार है।

## अवधिज्ञान का वर्णन भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् । (21)

Birth-born visual knowledge (is in born) in celestial and hellish beings.

**भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है।**

अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान की उपलब्धि होती है। इसके 2 भेद है। (1) भवप्रत्यय (2) गुणप्रत्यय।

(1) **भवप्रत्यय**— भव को निमित्त करके जो अवधिज्ञान होता है उसे भव प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है परन्तु यह भव को निमित्त प्राप्त करके होता है। जैसे-देव एवम् नारकियों के अवधिज्ञान।

(2) **गुणप्रत्यय**— गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन, तपादि को गुण कहते हैं इन गुणों के निमित्त से अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो अवधिज्ञान होता है उसे गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं। गोम्मट्टुसार जीवकाण्ड में सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने अवधिज्ञान का बहुत ही सुन्दर निम्न प्रकार वर्णन किया है—

अवहीयदि त्ति ओही, सीमाणाणे त्ति वण्णियं समये।  
भवगुणपच्चयविहियं, जमोहिणाणे त्ति णं बेत्ति ॥

(370)

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिसके विषय की सीमा हो उसको 'अवधिज्ञान' कहते हैं। इस ही लिये परमागम में इसको सीमाज्ञान कहा है। तथा इसके जिनेन्द्रदेव ने दो भेद कहे हैं, एक भव प्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय।

**भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो ।**

**गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिण्हभवो ॥(371)**

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरों के भी होता है और यह ज्ञान सम्पूर्ण अज्ञ से उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य

तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यचों के भी होता है। और यह ज्ञान शंखादि चिन्हों से होता है।

नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश आदि जो शुभ चिन्ह होते हैं, उस जगह के आत्मप्रदेशों में होने वाले अवधिज्ञानावरण तथा विर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से होता है।

## क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान के भेद और स्वामी

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् । (22)

(The other kind of visual or direct material knowledge is) of six kinds (and it) arises from the part destruction, part sub-sidence and part operation (of the Karmas which obscure visual or direct material knowledge) (This is acquired by the other i.e. by human and sub-human beings, who are possessed of mind.

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का है। जो शेष अर्थात् तिर्यञ्चों और मनुष्यों के होता है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में इसका सविस्तार सुन्दर वर्णन अग्र प्रकार किया है—

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद है— I अनुगामी II अननुगामी III अवस्थित IV अनवस्थित V वर्धमान VI हीयमान ।

I. अनुगामी :- जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ जाये उसको अनुगामी कहते है। इसके तीन भेद हैं- (1) क्षेत्रानुगामी (2) भवानुगामी (3) उभयानुगामी ।

(1) क्षेत्रानुगामी— जो दूसरे क्षेत्र में साथ जायें उसको क्षेत्रानुगामी कहते है।

(2) भवानुगामी— जो दूसरे भव में साथ जाये उसको भवानुगामी कहते है।

(3) उभयानुगामी— जो दूसरे क्षेत्र तथा भव में साथ जाये उसको उभयानुगामी



कहते है।

II अननुगामी :- जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव के साथ न जाय उसको अननुगामी कहते हैं। इसके भी तीन भेद है- (1) क्षेत्राननुगामी (2) भवाननुगामी (3) उभयाननुगामी।

III अवस्थित :- जो सूर्यमण्ड की तरह न घटे न बढ़े उसको अवस्थित कहते हैं।

IV अनवस्थित :- जो चन्द्र मण्ड की तरह कभी कम हो कभी अधिक हो उसे अनवस्थित कहते हैं।

V वर्धमान :- जो शुक्लपक्ष की चन्द्र की तरह अपने अन्तिम स्थान तक बढ़ता जाये उसको वर्धमान कहते हैं।

VI हीयमान :- जो कृष्णपक्ष के चन्द्र की तरह अन्तिम स्थान तक घटता जाय उसको हीयमान कहते है।

सामान्यतया अवधिज्ञान के जो तीन भेद बताये है, उनमें से केवल गुण प्रत्यय देशावधिज्ञान के ही अनुगामी आदि छह भेद हुआ करते हैं।

भवपच्चङ्गो ओही, देसोही होदि परमसव्वोही।

गुणपच्चङ्गो णियमा, देसोही वि य गुणे होदि॥

जीवकाण्ड भाग 2 (373)

भव प्रत्यय अवधि नियम से देशावधि ही होती है और परमावधि तथा सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही हुआ करते हैं। देशावधिज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों तरह का होता है।

दर्शनविशुद्धि आदि गुणों के निमित्त से होने वाला गुणप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि परमावधि सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकार का होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान नियम से देशावधिरूप ही हुआ करता है।

देसोहिस्स य अवरं, णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं।

परमोही सव्वोही, चरमसरीरस्स विरदस्य ॥ (374)

जघन्य देशावधिज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकार के मनुष्य तथा

देशसंयमी – संयतासंयत तिर्यञ्चों के होता है। उत्कृष्ट देशावधिज्ञान संयत जीवों के ही होता है। किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी महाव्रती के ही होता है।

पडिवादी देसोही, अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ।

मिच्छतं अविरमणं, ण य पडिवज्जंति चरमदुगे ॥ (375)

देशावधिज्ञान प्रतिपाती होता है और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं। परमावधि और सर्वावधि वाले जीव नियम से मिथ्यात्व और अव्रत अवस्था को प्राप्त नहीं होते।

सम्यक्त्व और चारित्र से च्युत होकर मिथ्यात्व और असंयम की प्राप्ति को प्रतिपात कहते हैं। इस तरह का यह प्रतिपात देशावधि वाले का ही हो सकता है। परमावधि और सर्वावधि वाले का नहीं होता। फलतः ये दोनों अन्तिम अवधिज्ञान अप्रतिपाती ही है और देशावधिज्ञान प्रतिपाती अप्रतिपाती दोनों ही तरह का हैं।

**मनः पर्यय ज्ञान के भेद**

**ऋजुविपुलमतिमनःपर्ययः । (23)**

Mental knowledge (is of two kinds)–

ऋजुमति Simple direct knowledge of complex mental things e.g. of what a man is thinking of now along with what he as thought of it in the past and will think of it.

ऋजुमति और विपुलमति, मनःपर्ययज्ञान है।

पर मनोगत रूप पदार्थ को जो ज्ञान प्रकाशादि बाह्य अवलम्बन के बिना जाना जाता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। इसके 2 भेद हैं। (1) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान (2) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान।

ऋजु का अर्थ है- सरल, सीधा। विपुल का अर्थ है-कुटिल।

(1) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान- दूसरे के मनगत सरल वचन, काय और मनकृत अर्थ को जो मनःपर्ययज्ञान जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते

है। अथवा वर्तमान मनगत विषय को जो जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

(2) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान— दूसरे के मनगत त्रिकालवर्ती वचन, काय और मनकृत् अर्थ विषय को जानता या कुटिल गत विषय को जानता है उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। तत्त्वार्थ सार में अमृतचंद्र सूरि ने कहा भी है—

परकीयमनःस्थार्थज्ञानमन्यानपेक्षया।

स्यान्मनःपर्ययो भेदो तस्यर्जुविपुले मती॥(28)

प्रथम अधिकार(पृ.13)

अन्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानना मनःपर्ययज्ञान है। इसके ऋजुमति और विपुल मति इस प्रकार दो भेद हैं।

गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा—

“मनः पर्ययमान का स्वरूप”

चिंतियमचिंतियं वा, अध्दं चिंतियमणयभेयगयं।

मणपज्जवं ति उच्चइ, जं जाणइ तं खु णरलोए॥

(438 पृ.208)

जिसका भूतकाल में चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् काल में चिन्तवन किया जायेगा, अथवा अर्धचिन्तित-वर्तमान में जिसका चिन्तवन किया जा रहा है, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप दूसरे के मन में स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञान को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह मनःपर्ययज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही उत्पन्न हे बाहर नहीं।

मनःपर्यय के भेद

मणपज्जवं च दुविहं, उजुविउलमदि ति उजुमदी ति विहा।

उजुमणवयणे काए, गदत्थविसया ति णियमेण॥

(439)

सामान्य की अपेक्षा मनःपर्यय एक प्रकार का है और विशेष भेदों की अपेक्षा दो प्रकार का है— एक ऋजुमति दूसरा विपुलगति। ऋजुमति के भी तीन भेद हैं— ऋजुमनोगतार्थ विषयक, ऋजुवचनगतार्थविषयक, ऋजुकायगतार्थविषयक। परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन, वचन, काय के द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को ऋजुमति ज्ञान कहते हैं। अतएव सरल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुए पदार्थ को विषय करने की अपेक्षा ऋजुमति के पूर्वोक्त तीन भेद हैं।

विउलमदी वि य छद्वा, उजुगाणुजुवयकायचित्तगयं।  
अत्थं जाणदि जम्हा, सदत्थगया हु ताणत्था ॥

(440)

विपुलगति के छह भेद हैं— ऋजु, मन, वचन, काय के द्वारा किये गये परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद, और कुटिल मन, वचन, काय के द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थों को विषय करने की अपेक्षा तीन भेद। ऋजुमति तथा विपुलगति मनःपर्यय के विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के होते हैं।

कोई आकर पूछें तो उसके मन की बात मनः पर्यय ज्ञानी जान सकता है। कदाचित् कोई न पूछे मौनपूर्वक स्थित हो तो भी उसके मनःस्थ विषय को वह जान सकता है।

तियकालविषयरूविं, चिंतियं वट्टमाणजीवेण।  
उजुमदिणाणं जाणदि, भूदभविस्सं च विउलमदी ॥(441)

वर्तमान जीव के द्वारा चिन्तयमान - वर्तमान में जिसका चिंतवन किया जा रहा है ऐसे त्रिकालविषयक रूपी पदार्थ को ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान जानता है और विपुलगतिज्ञान भूत, भविष्यत् को भी जानता है।

जिसका भूतकाल में चिन्तवन किया हो अथवा जिसका भविष्य में चिंतवन किया जाएगा अथवा वर्तमान में जिसका चिन्तन हो रहा है, ऐसे तीनों ही प्रकार के पदार्थ को विपुल मति मनः पर्ययज्ञान जानता है।

सर्वंगअंगसंभवचिणहादुप्यज्जदे जहा ओही।  
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्यज्जदे णियमा ॥(442)

जिस प्रकार अवधिज्ञान समस्त अंग से अथवा शरीर में होने वाले शंखादि शुभ चिन्हों से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह मनःपर्ययज्ञान जहाँ पर द्रव्यमन होता है उन्हीं प्रदेशों से उत्पन्न होता है।

जहाँ पर द्रव्यमन होता है उस स्थान पर जो आत्मा के प्रदेश है वहीं से मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्व अंग से होता है और गुण प्रत्यय अवधिज्ञान शंखादिक चिन्हों के स्थान से ही होता है। साथ ही इन चिन्हों का स्थान द्रव्यमान की तरह निश्चित नहीं है। यह उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा अवधि और मनःपर्ययज्ञान में अंतर है।

#### द्रव्यमन का स्थान और आकार

हिदि होदि हु दव्वमणं, वियसियअट्टच्छदारविंदं वा।  
अंगोबगुदयादो, मणबग्गणखंधदो णियमा ॥(443)

अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदय स्थान में नियम से विकसित आठ पांखड़ी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

णोइंदियं ति सणणा, तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।  
वत्तत्ताभावादो, मणमणपज्जं च तत्थ हवे ॥(444)

इस द्रव्यमन की नोइन्द्रिय संज्ञा भी है, क्योंकि दूसरी इन्द्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्यमन के निमित्त से भावमन तथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

#### मनः पर्ययज्ञान का स्वामी

मणपज्जवं च णाणां, सत्तसु विरदेसु सत्तइइढ्ढीणं।  
एगादिजुदेसु हवे, वइढंतविसिट्ठचरणेसु ॥(445)

प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान

वाले के, इस पर भी सात ऋद्धियों में से कम से कम किसी भी एक ऋद्धि को धारण करने वाले के, ऋद्धि प्राप्त में भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्र को धारण करने वाले के ही यह मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि।  
णिरवेक्खिय विउलमदी, ओहिं वा होदि णियमेव॥(446)

अपने तथा परके स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन तथा मनोयोग, काययोग, वचनयोग की अपेक्षा से ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् वर्तमान में विचार प्राप्त स्पर्शनादि के विषयों को ऋजुमति जानता है। किन्तु विपुलमति अवधि की तरह इनकी अपेक्षा के बिना ही नियम से होता है।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु।  
सुध्दो पढमो बोहो सुध्दतरो विदियबोहो दु॥  
(447)

ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि ऋजुमति वाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियों पर चढ़ता है। उसमें यद्यपि क्षपक की अपेक्षा ऋजुमति वाले का पतन नहीं होता; तथापि उपशम श्रेणि की अपेक्षा चारित्र मोहनीय कर्म का उद्रेक हो आने के कारण कदाचित् उसका पतन भी सम्भव है। विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है। तथा ऋजुमति शुद्ध है और विपुलमति इससे भी शुद्धतम होता है अर्थात् दोनों में विपुलमति की विशुद्धि प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम विशेष के कारण अधिक है।

परमणसि टिठयमद्दं, ईहामदिणा उजुटिठयं लहिय।  
पच्छा पच्चक्खेण य, ऊजुमदिणा जाणदे णियमा॥

448

ऋजुमति वाला दूसरे के मन में सरलता के साथ स्थित पदार्थ को पहले ईहामतिज्ञान के द्वारा जानता है, पीछे प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतियमणेय भेय गयं।  
ओहिं वा विउलमदी, लहिऊण विजाणए पच्छा॥  
(449)

चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित इस तरह अनेक भेदों को प्राप्त दूसरे के मनोगत पदार्थ को अवधि की तरह विपुलमति प्रत्यक्ष रूप से जानता है।

द्व्वं खेत्तं कालं, भाव प्रडिजीवलक्खियं रूबि।

अज्जुविउलमदीं जाणदि, अवरवरंमज्झिमं च तथा॥(450)

द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव में से किसी की भी अपेक्षा से जीव के द्वारा चिन्तित रूपी (पुद्गल) द्रव्य को तथा उसके सम्बन्ध से जीवद्रव्य को भी ऋजुमति और विपुलमति जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट तीन-तीन प्रकार जानते हैं।

### ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां वद्विशेषः । (24)

Their difference (are as to) purity (and) infallibility.

विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा इन दोनों में अन्तर है।

ऋजुमति मनः पर्यय और विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान ये दोनों मनः पर्ययमान के अन्तर भेद होते हुए भी इन दोनों में कुछ विशेष अन्तर पाया जाता है।

विशुद्धि— मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो आत्मा में निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं।

प्रतिपात— गिरने का नाम प्रतिपात है।

अप्रतिपात— नहीं गिरना अप्रतिपात है।

उपशान्त कषाय जीव का चारित्र मोहनीय के उदय से संयम शिखर टूट जाता है जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीव के पतन का कारण न होने से प्रतिपात नहीं होता। इन दोनों की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में भेद है।

1. विशुद्धि— यथा ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है। यहाँ तो कार्मण द्रव्य का अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वाधिज्ञान का विषय है उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमति का विषय है।

और इस ऋजुमति के विषय के अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमति का विषय है। अनन्त के अनन्त भेद हैं अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा विशुद्धि कही। भाव की अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य को विषय करनेवाला होने से ही जान लेनी चाहिए क्योंकि इनका उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम पाया जाता है; इसलिए ऋजुमति से विपुलमति में विशुद्धि अधिक होती है।

2. अप्रतिपात— अप्रतिपात की अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है; क्योंकि इसके स्वामियों के प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है, क्योंकि इसके स्वामियों के कषाय के उदय से घटता हुआ चारित्र पाया जाता है।

गोम्मट्टसार में भी इसका वर्णन निम्न प्रकार पाया जाता है—

गाउपपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जायेणपुधत्तं।  
विउलमदिस्सं य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं॥(455)

ऋजुमति का जघन्य क्षेत्र दो तीन कोस और उत्कृष्ट सात आठ योजन है। विपुलमतिका जघन्य क्षेत्र आठ नव योजन तथा उत्कृष्ट मनुष्यलोक प्रमाण है।

णरलोएत्ति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स।  
जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं॥(456)

मनः पर्यय के उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण जो नरलोकप्रमाण कहा है सो नरलोक इस शब्द से मनुष्य लोक विष्कम्भ ग्रहण करना चाहिये लोक वृत्त; क्योंकि दूसरे के द्वारा चिंतित और मानुषोत्तर पर्वत के बाहर स्थित पदार्थ को भी विपुलमति जानता है; क्योंकि मनः पर्ययज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र समचतुरस्र घनप्रतररूप पैतालीस लाख योजन प्रमाण है।



दुर्गतिगभवा हु अवरं सत्तद्गभवा हवन्ति उक्कस्सं।  
अडणवभवा हु अवर मसंखेज्जं विउलउक्कस्सं॥(457)

काल की अपेक्षा से ऋजुमति का विषय भूत जघन्य काल दो-तीन काल भव और उत्कृष्ट सात आठ भव तथा विपुलमति का जघन्य आठ नौ भव और उत्कृष्ट पत्य के असंख्यातवें में भाग प्रमाण है।

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।  
तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी॥(458)

भाव की अपेक्षा से ऋजुमति का जघन्य तथा उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यातगुणा है। विपुलमति का जघन्यप्रमाण ऋजुमति के उत्कृष्ट विषय से असंख्यातगुणा है, और उत्कृष्ट विषय असंख्यात लोक प्रमाण है।

**अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान में विशेषता**  
**विशुद्धि क्षेत्र स्वामिविषयेभ्योऽवधि मनः पर्ययोयः । (25)**

Between Visual and Mental knowledge the (Telepathy) differences relate to their purity, place person of inherence and subject- matter.

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान में भेद हैं।

अवधिज्ञान एवम् मनः पर्ययज्ञान दोनों देशप्रत्यक्ष होते हुए भी दोनों में कुछ अन्तर पाया जाता है। परिणामों की निर्मलता को विशुद्धि कहते हैं। ज्ञाता (जानने वाला) जहाँ के क्षेत्र को जानता है उसे क्षेत्र कहते हैं। जानने वाले को स्वामी कहते हैं। ज्ञाता जिसको जानता है उसे विषय कहते हैं।

विशुद्धि— दोनों ज्ञानों में अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान विशुद्धतर है क्यों कि मनःपर्ययज्ञान का विषय सूक्ष्म है। अवधिज्ञान, जिस रूपी द्रव्य को जानता है उनके अनन्त वें भाग रूपी द्रव्य को मनःपर्ययज्ञान जानता है। सर्वावधिज्ञान को अनन्तवां भाग मनः पर्यय ज्ञान जानता है।

क्षेत्र— अवधिज्ञान की उत्पत्ति का क्षेत्र समस्त त्रस नाड़ी है। किन्तु मनः पर्यय ज्ञान मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होने से मनुष्य लोक, अढाई द्वीप अथवा

45 लाख योजन इसका प्रमाण है।

स्वामी- मनः पर्यय ज्ञान प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक के उत्कृष्ट चारित्र गुण से युक्त जीवों के ही पाया जाता है। वहाँ उत्पन्न होता हुआ भी वह वर्द्धमान चारित्र वाले जीवों के ही उत्पन्न होता है, घटते हुए चारित्र वालों के नहीं। वर्द्धमान चारित्र वाले जीवों में उत्पन्न हुआ भी सात प्रकार की ऋद्धियों में से एक ऋद्धि को प्राप्त हुए जीवों के ही उत्पन्न होते है अन्य के नहीं। ऋद्धि प्राप्त जीवों में भी किन्ही के ही उत्पन्न होता है सबके नहीं, इस प्रकार सूत्र में इसका स्वामी विशेष या विशिष्ट संयम का ग्रहण प्रकृत है। परन्तु अवधिज्ञान चारों गति के जीवों के होता है, इस लिए स्वामियों के भेद से भी इनमें अंतर है।

विषय :- अवधिज्ञान के विषय का क्षेत्र समस्त लोक है किन्तु मनःपर्ययज्ञान के विषय का क्षेत्र पैतालीस लाख योजन का घन रूप ही है। इतने क्षेत्र में स्थित अपने योग्य विषय को ही ये ज्ञान जानते है।

### मति और श्रुतज्ञान का विषय मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। (26)

The-subject matter of sensitive and scriptural knowledge is all the six substances but not in all their modifications.

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व कालादि सर्व द्रव्यों में होती हैं परन्तु उसकी सब पर्यायों में नहीं होती। परन्तु कुछ पर्यायों में होती है। इन दोनों ज्ञान का विषय सर्वद्रव्य की अनन्तपर्यायि नहीं परन्तु कुछ पर्यायि होती है।

क्योंकि मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों के अवलम्बनभूत है। इसलिये जिस द्रव्य में रूपादि है उसी को जानते हैं, सर्वपर्यायों को नहीं जान सकते। अर्थात्

मतिज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है और रूपादि को विषय करता है। अतः स्वभावतः वह रूपी द्रव्यों को जानकर भी उनकी कुछ स्थूलपर्यायों को ही जानेगा। श्रुतज्ञान भी प्रायः शब्दनिमित्तक होता है और द्रव्य पर्यायों संख्यात, असंख्यात, अनंत भेदरूप है— अतः वे असंख्यात शब्द पर्यायों को ही कह सकते हैं। कहा भी है—

“पण्णवणिज्जा भावा अणंत भागो दु अणभिलप्पाणं ।  
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंत भागो सुदणिवद्धो” ॥

शब्दों के द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थों से वचनातीत पदार्थ अनंत गुणे हैं अर्थात् अनन्तवाँ भाग पदार्थ प्रज्ञापनीय हैं, और जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उसके अनन्तवें भाग पदार्थ श्रुत में निबद्ध होते हैं।

अतीन्द्रिय पदार्थों में मतिज्ञान की प्रवृत्ति का अभाव होने से ‘सर्वद्रव्य पर्याय’ शब्द युक्त नहीं है; ऐसा नहीं कहना क्योंकि मन का विषय सर्वद्रव्य हो सकता है।

प्रश्न— अतीन्द्रिय होने से धर्मास्तिकायादि द्रव्यों को मतिज्ञान नहीं जान सकता अतः मतिश्रुत का विषय सर्वद्रव्य निबन्ध है, ऐसा कहना उचित नहीं है—

उत्तर— यद्यपि धर्म, अधर्म, आकाशदि, अरूपी पदार्थ अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियका विषय नहीं है तथापि मानस मतिज्ञान का विषय होते हैं - नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशमलब्धि की अपेक्षा मतिज्ञान का धर्मादि द्रव्यों में व्यापार होता है अर्थात् मतिज्ञान धर्मादि द्रव्यों को जानते है, यदि मानसज्ञान से अतीन्द्रिय पदार्थों को नहीं जानते तो अवधिज्ञान के साथ मतिज्ञान का निर्देश करते कि रूपी पदार्थों को ही मतिज्ञान जानता है।

### अवधिज्ञान का विषय रूपिष्ववधेः । (27)

Matter (and embodied soul are the subject matter) of visual knowledge, but not in all their modifications.

**अवधिज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है।**

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान होते हुए भी देशप्रत्यक्ष है क्योंकि अवधिज्ञान, अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण इसकी शक्ति सीमित है इसलिए सीमा सहित होने के कारण अवधि कहते हैं। वह अवधिज्ञान रूपी द्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्य को ही जानता है। जहाँ रूप होगा वहाँ स्पर्श, रस, गंध भी होगा और जो स्पर्श रस गंध वाला है वहाँ पुद्गल है। अवधिज्ञान पुद्गल की अनन्त पर्यायों को नहीं जानता परन्तु कुछ पर्यायों को जानता है। वह अवधिज्ञान जीव के औदयिक, औपशमिक और क्षयोपशमिक भावों को विषय करता है। क्योंकि इनमें रूपी कर्म का सम्बन्ध है तथा रूपी कर्म के सम्बन्ध का अभाव होने से क्षायिक भाव, पारिणामिक भाव तथा धर्मादि द्रव्यों को अवधिज्ञान विषय नहीं करता। अवधिज्ञान इनको नहीं जानता।

### **मनःपर्ययज्ञान का विषय**

**तदनन्तभागे मनः पर्ययस्य। (28)**

The infinitesimal part or the subtlest from of that (which can be known by the highest visual knowledge is the subject matter) of mental knowledge.

**मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है।**

जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञान का विषय है उसके भाग करने पर उसके एक भाग में मनःपर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है। सूक्ष्मता की उपेक्षा अवधिज्ञान का सर्वोत्कृष्ट भेद सर्वावधिज्ञान परमाणु तक को जानता है। मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवें भाग है अर्थात् अवधिज्ञान परमाणु को जानता है तो मनः पर्ययज्ञान परमाणु के भी अनन्तवें भाग को जानता है। यद्यपि परमाणु स्वयं अविभागी एक प्रदेशी द्रव्य है तथापि सूक्ष्मता को बतलाने के लिए उसमें अनन्त भागों की कल्पना की गई है। यदि परमाणु के अनन्त भाग किये जावें तो उनमें से एक भाग को मनः पर्ययज्ञान जान सकता है। (शक्ति के अंश)

## केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । (29)

(The subject matter) of perfect knowledge (is) all the substances (and all their) modifications.

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है।

प्रत्येक जीव में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि अनन्त गुण हैं। परन्तु जैसे- धने बादल के कारण सूर्य उदित रहते हुए भी सूर्य की रश्मि छिप जाती है। उसी प्रकार कर्मरूपी धने बादल के कारण ज्ञान रश्मि तिरोहित हो जाती है, जिससे जीव अल्पज्ञ हो जाता है। परन्तु जैसे-जितने-जितने अंश में बादल हटता जाता है उतने-उतने अंश में सूर्य रश्मि प्रगट होती जाती है उसी प्रकार जितने-जितने अंश में ज्ञानावरणीय कर्मरूपी बादल हटता जाता है उतने-उतने अंश में ज्ञानरूपी सूर्य रश्मि प्रगट होती जाती है। जैसे- सम्पूर्ण बादल सूर्य के सामने हट जाता है तब सूर्य रश्मि पूर्णरूप से प्रगट हो जाता है उसी तरह सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म हट जाता है तब सम्पूर्ण ज्ञान रश्मि प्रगट हो जाती है। इसे ही केवलज्ञान कहते हैं। यह केवल ज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त लोक अलोक को प्रकाशित करता है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा है—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तै रनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥(1)

(पृ.उ.)

जिसमें संपूर्ण अनंतपर्यायों से सहित समस्त पदार्थों की माला अर्थात् समूह दर्पण के तल भाग के समान झलकती है, वह उत्कृष्ट ज्योति अर्थात् केवलज्ञान रूपी प्रकाश जयवंत हो।

संपुण्णं तु समग्नं, केवलमसवत्त सव्वभावगणं।

लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं ॥(460)

(गो.जी 214)

यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, केवल प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थ गत और

लोकालोक में अन्धकार रहित होता है।

यह ज्ञान समस्त पदार्थों को ग्रहण करने वाला है और लोकालोक के विषय में आवरण रहित है। तथा जीव द्रव्य के जितने अंश है वे यहां पर सम्पूर्ण व्यक्त हो गए हैं, इसलिए उसको (केवलज्ञान को) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह अप्रतिहत शक्ति युक्त है, और निश्चल है अतएव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए केवल कहते हैं। चारों घातिकर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण वह क्रमकरण और व्यवधान से रहित है, फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों के ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है, इसलिए उसको असपत्न (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्।

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्॥(30)

(त.सा.पृ.15)

जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्म-स्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

**एक जीव के एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?**

एकदीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः । (30)

Beginning from the first onwards in one (should) (at) a time as to their distribution (there can be found) upto four (kinds of knowledge.)

एक जीव में एक साथ एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक विभक्त करने के योग्य है अर्थात् हो सकते हैं।

एक साथ एक आत्मा में एक से लगाकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यथा-यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान होता है। उसके साथ दूसरे क्षयोपशमिक ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते। दो होते हैं तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तीन होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मतिज्ञान,

श्रुतज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान होते हैं। तथा चार होते हैं। तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान होते हैं। एक साथ पाँच ज्ञान नहीं होते, क्योंकि केवलज्ञान असहाय है। तथा सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से प्रगट होता है। इसलिये क्षायिक ज्ञान कहा जाता है। क्षायिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ नहीं रहता हैं।

## मति श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च । (31)

And sensitive scriptural visual (knowledge are also) wrong (knowledge).

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों विपर्यय भी है। ज्ञान का कार्य जानना है। परन्तु जब ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है तब ज्ञान की शक्ति कुंठित हो जाती है, परन्तु विपरीत नहीं होती है। किन्तु मोहनीय कर्म के उदय से ज्ञान विपरीत रूप में परिणामन कर लेता है। अमृतचन्द्र सूरि ने कहा भी है—

मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्वसमवायिनः ।

मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता ॥(35)

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं तो मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और उस दशा में उनमें प्रमाणता नहीं मानी जाती । (तत्त्वार्थसार, पृ. 16)

मिच्छता अण्णाणं अविरदिभावो य भावआवरणा ।

जेयं पडुच्च काले तह दुण्णय दुप्पमाणं च ॥(6)

(पंचास्तिकाग प्राभृत) पृ. 147

द्रव्य मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान, अज्ञान रूप अर्थात् कुमति, कुश्रुत व विभंगज्ञान रूपी होता है तथा व्रत रहित भाव भी होता है। इस तरह तत्त्वार्थ श्रद्धानुरूप भाव सम्यग्दर्शन व भाव संयम का आवरण रूप भाव होता है तैसे ही मिथ्यात्व के उदय से ज्ञेयरूप जीवादि पदार्थों को आश्रय करके तत्त्व विचार के समय में सुनय दुर्नय हो जाता है व प्रमाण दुःप्रमाण हो जाता है।

अण्णाणतियं होदि हु, सण्णाणतियं खु मिच्छाअणउदये।  
 णवरि विभंगं णाणं पंचिदियसण्णिपुण्णेव ॥  
 (301)

अज्ञानत्रिकं भवति खलु सदज्ञानत्रिकं खलु मिथ्यात्वनोदये।  
 नवति विभंगं ज्ञानं पंचेन्द्रियसंज्ञिपूर्ण एव ॥  
 (301)

आदि के तीन (मति, श्रुत, अवधि) ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। ज्ञान के मिथ्या होने का अन्तरंग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय है। मिथ्या अवधि को विभंग भी कहते हैं। इसमें यह विशेषता है कि यह विभंगज्ञान संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय के ही होता है।

विसंजतकूटपंजरबंधादिसु णिणुवएसकरणेण।  
 जा खलु पवट्टइ मई, मइअण्णाणेति णं वेत्ति।(303)  
 विषयन्त्रकूटपंजरबंधादिषु विनोपदेशकरणेण।  
 या खलु प्रवर्तते मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति।(303)

दूसरे के उपदेश के बिना ही विषय यंत्र कूट पंजर तथा बंध आदि के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं।

जिसके खाने से जीव मर सके उस द्रव्य को विष कहते हैं। भीतर पैर रखते ही जिसके किवाड़ बन्द हो जायें और जिसके भीतर बकरी आदि को बाँधकर सिंह आदि को पकड़ा जाता है उसको यंत्र कहते हैं। जिससे चूहे वगैरह पकड़े जाते हैं, उसको कूट कहते हैं। रस्सी में गाँठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं। हाथी आदि को पकड़ने के लिए जो गड़दे आदिक बनाये जाते हैं उनको बन्ध कहते हैं। इत्यादि पदार्थों में दूसरे के उपदेश के बिना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं, क्योंकि उपदेश पूर्वक होने से वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जायेगा।



आभीयमासुरखं,----- ।

तुच्छा असाहणीया, सुय अण्णाणेति णं वेत्ति ।(304)

आभीतमासुरक्षं

तुच्छा असाधनीया श्रुतज्ञानमिति इदं ब्रुवन्दि ।(304)

अर्थ— चौरशास्त्र, तथा हिंसाशास्त्र,..... परमार्थशून्य अतएव अनादरणीय उपदेशों को मिथ्याश्रुतज्ञान कहते हैं।

‘आदि’ शब्द से सभी हिंसादि पाप कर्मों के विधायक तप असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रन्थों को कुश्रुत और उनके ज्ञान को श्रुतज्ञान समझना चाहिये।

विवरीयमोहिणाणं, खओवसमियं च कम्मबीजं च ।

विभंगो त्ति पउच्चूउ, समत्तणाणीण समयम्हि ।(305)

विपरितमवचिज्ञानं क्षायोपशिमिकं च कम्मबीजं च ।

विभंग इति प्रोच्यते समाप्तज्ञानिनां समये ।(305)

सर्वज्ञों के उपदिष्ट आगम में विपरित अवधिज्ञान को ‘विभंग’ कहते हैं। इसके दो भेद हैं— एक क्षायोपशमिक, दूसरा भवप्रत्यय ।

देव नारकियों के विपरीत अवधिज्ञान को भवप्रत्यय विभंग कहते हैं और मनुष्य तथा तिर्यचों के विपरीत अवधिज्ञान को क्षायोपशमि विभंग कहते हैं। इस विभंग का अतरंग करण मिथ्यात्व आदिक कर्म है। ‘विभंग’ शब्द का निरूक्तिसिद्ध अर्थ यह है कि मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से अवधिज्ञान की विशिष्टता समीचीनता का भंग होकर उसमें अयथार्थता आ जाती है, इसलिए उसको ‘विभंग’ कहते हैं इसको कर्म बीज इसलिए कहा है कि मिथ्यात्वादि कर्मों के बन्ध का वह कारण है। परन्तु साथ ही ‘च’ शब्द का उच्चारण करके यह भी सूचित कर दिया गया है कि कदाचित् नरकादि गतियों में पूर्वभव का ज्ञान कराकर वह सम्यक्त्व उत्पत्ति में भी निमित्त हो जाता है।

सदसतोरेविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् (32)

From lack of discrimination of the real, and the unreal (the soul with

wrong knowledge) like a lunatic, knows things according to his own whims.

वास्तविक और अवास्तविक के अन्तर के बिना 'यदृच्छोपलब्धि' (जब जैसा रूप आया उस रूप ग्रहण होने) के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है।

ज्ञेय के अनुरूप जो ज्ञान होता है उसे 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं। ज्ञेय के अनुरूप जो ज्ञान नहीं होता उसे 'मिथ्याज्ञान' कहते हैं। जब जीवों का श्रद्धान विपरीत होता है तब ज्ञान भी विपरीत हो जाता है। प्रकृत में 'सत्' का अर्थ विद्यमान और 'असत्' का अर्थ अविद्यमान है। इनकी विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करने से विपर्यय होता है। कदाचित् रूपादिक विद्यमान है तो भी उन्हें अविद्यमान मानता है और कदाचित् अविद्यमान वस्तु को भी विद्यमान कहता है। कदाचित् सत् को सत् और असत् को असत् ही मानता है। यह सब निश्चय मिथ्यादर्शन के उदय से होता है। जैसे पित्त के उदय से आकुलित बुद्धि वाला मनुष्य माता को भार्या और भार्या को माता मानता है। जब अपनी इच्छा की लहर के अनुसार माता को माता और भार्या को भार्या ही मानता है तब भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार मत्यादिक का भी रूपादिक में विपर्यय जानना चाहिए। खुलासा इस प्रकार है— इस आत्मा में स्थित कोई मिथ्यादर्शन रूप परिणाम रूपादिक की उपलब्धि होने पर भी कारण विपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास को उत्पन्न करता रहता है।

**कारण विपर्यास—** यथा कोई मानते हैं कि रूपादिक का एक कारण है जो अमूर्त और नित्य है। कोई मानते हैं कि पृथ्वी जाति के परमाणु अलग है और चार गुण वाले हैं। जल जाति के परमाणु अलग है जो तीन गुण वाले हैं। अग्नि जाति के परमाणु अलग है जो दो गुण वाले हैं और वायु जाति के परमाणु अलग हैं जो एक गुण वाले हैं। तथा ये परमाणु अपने समान जातीय कार्य ही उत्पन्न करते हैं। कोई कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूत हैं और इन भूतों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म है। इन सबके समुदाय को एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं। कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये क्रम से कठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और ईरणवादि

गुण वाले अलग-अलग जाति के परमाणु होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं।

**भेदाभेदविपर्यास-** यथा कारण से कार्य को सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना।

**स्वरूपविपर्यास-** यथा-रूपादिक निर्विकल्प है, या रूपादिक है ही नहीं, या रूपादिक के आकाररूप से परिणत हुआ विज्ञान ही है उसका आलम्बनभूत और कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन के उदय से जीव प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका यह ज्ञान मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान या विभंग ज्ञान होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ के ज्ञान में श्रद्धान उत्पन्न करता है अतः इस प्रकार का ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है।

**नयों के भेद**

**नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतानयाः। (33)**

The points of view (are): figurative, general, distributive, actual descriptive, specific, active.

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय है।

प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुण पर्यायात्मक है। अतएव उसके जानने के उपाय भी अनेक हैं। केवली भगवान का ज्ञान अनन्त होने के कारण केवली भगवान अनन्त केवलज्ञान के माध्यम से द्रव्य के अनन्त गुण-पर्याय को जान लेते हैं। तथापि केवली भगवान द्रव्य के अनन्त गुण पर्याय को एक साथ बता नहीं सकते हैं। इसलिए भगवान भी सप्तभंगी रूप से द्रव्य का प्रतिपादन करते हैं। छद्मस्थ जीव तो द्रव्य के अनन्त गुण पर्याय को न तो एक साथ जान सकते हैं और न ही प्रतिपादित कर सकते हैं। इसलिए छद्मस्थ जीव विशेषकर नय का आवलम्बन करके वस्तु के स्वरूप का परिमाण करते हैं। इसके विशेष परिज्ञान के लिए मेरे द्वारा (कनक नदी) रचित अनेकान्त दर्शन का अवलोकन करें। यहां पर तत्त्वार्थ सार के अनुसार नयों का वर्णन कर रहे हैं।

वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यज्जितात्मनः ।

एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः ॥(37)

(त.सा.पृ.17)

प्रमाण के द्वारा जिसका स्वरूप प्रकट है ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक देश को जो जानता है वह नय है। नय अनेक प्रकार का माना गया है।

संसार का प्रत्येक पदार्थ नित्य-अनित्य, एक अनेक, भेद अभेद आदि परस्पर विरोध अनेक धर्मों का भण्डार है ऐसा प्रमाण ज्ञान के द्वारा अनुभव में आता है। उन अनन्त धर्मों में से जो किसी एक धर्म को जानता है वह नय कहलाता है। इस नय के अनेक भेद हैं।

**नैगमनय का लक्षण**

अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः ।

प्रस्थौदनादिजस्तस्य विषयः परिकीर्तितः ॥(44)

जो नय पदार्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है वह 'नैगमनय' है। जैसे कोई मनुष्य जंगल को जा रहा था, उससे किसी ने पूछा कि-जंगल किसलिये जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि प्रस्थ लाने जा रहा हूँ। प्रस्थ एक परिमाण का नाम है। जंगल में प्रस्थ नहीं मिलता है। वहाँ से लकड़ी लाकर प्रस्थ बनाया जावेगा, परन्तु जंगल जाने वाला व्यक्ति उत्तर देता है कि प्रस्थ लाने के लिये जा रहा हूँ। यहाँ प्रस्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करने से नैगमनय का वह विषय माना गया है। दूसरा दृष्टान्त ओदन का है। कोई मनुष्य लकड़ी, पानी, अग्नि आदि एकत्रित कर रहा था। उससे किसी ने पूछा क्या कर रहे हो? उत्तर दिया, ओदन अर्थात् भात बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह भात नहीं बना रहा था, सिर्फ सामग्री एकत्रित कर रहा था तो भी भात का संकल्प होने से उसका वह उत्तर नैगमनय का विषय स्वीकृत किया गया है।

## संग्रहनय का लक्षण

भेदेनैक्यमुपानीय स्वाजातेरविरोधतः ।

समस्तग्रहणं यस्मात्स नयः संग्रहो मतः ॥(45)

अपनी जाति का विरोध न करते हुए भेद द्वारा एकत्व को प्राप्त कर समस्त पदार्थों का ग्रहण जिससे होता है वह संग्रहनय माना गया है। जैसे सत्, द्रव्य और घट आदि। अर्थात् सत् के कहने से समस्त संतो का ग्रहण होता है, द्रव्य के कहने से समस्त द्रव्यों का संग्रह होता है और घट के कहने से समस्त घटों का बोध होता है। संग्रहनय में अवान्तर विशेषताओं को गौण कर सामान्य को विषय किया जाता है।

## व्यवहारनय का लक्षण

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः ।

व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः ॥(46)

संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है। जैसे सत् के दो भेद हैं- द्रव्य और गुण। द्रव्य के दो भेद हैं - जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। घटके दो भेद हैं - पार्थिव (मिट्टी का) और अपार्थिव (मिट्टी भिन्न धातुओं से निर्मित)

## ऋजुसूत्रनय का लक्षण

ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम् ।

वर्तमानैकसमयविषयं परिग्रह्यते ॥(47)

जिसके द्वारा वर्तमान एक समय की पर्याय ग्रहण की जावे उसे 'ऋजुसूत्रनय' कहते हैं।

## शब्दनय का लक्षण

लिङ्गसाधनसंख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा ।

व्यभिचारनिवृत्तिः स्याद्यतः शब्दनयो हि सः ॥(48)

जिससे लिङ्ग, साधन, संख्या, काल और उपग्रह के व्यभिचार की निवृत्ति

होती है वह शब्दनय है।

लिङ्ग व्यभिचार-जैसे 'पुष्यः तारका और नक्षत्रम्।' ये भिन्न-भिन्न लिङ्ग के शब्द है, इनका मिलाकर प्रयोग करना लिङ्ग व्यभिचार है।

साधन-व्यभिचार- जैसे, 'सेना पर्वतम धिवसति' सेना पर्वत पर है, यहाँ अधिकरण कारण में सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये, पर 'अधि उपसर्ग पूर्वक वसधातु का प्रयोग होने से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

संख्या व्यभिचार-जैसे, 'जल, आपः, वर्षाः ऋतुः, आम्नाः, वनम्, वारणाः नगरम्' यहाँ एक वचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों का विशेषण विशेष रूप से प्रयोग किया गया हैं कालव्यभिचार- जैसे, 'विश्वदृशवास्य पुत्रो जनिता' इसका पुत्र विश्वदृशवा होगा। जिसने विश्व को देख लिया है वह विश्वदृशवा कहलाता है यहाँ 'विश्वदृशवा' इस भूतकालिक कर्ता का 'जनिता' इस भविष्यत्-कालिक क्रिया के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। जैसे- 'सतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति आदि' यहा परस्मैपदी 'स्था धातु का 'सम् और 'प्र' उपसर्ग के कारण आत्मनेषद में प्रयोग हुआ है तथा 'रम्' इस आत्मनेपदी धातु का 'वि' और 'उप' उपसर्ग के कारण परस्मैपद में प्रयोग हुआ है। लोक में यद्यपि ऐसे प्रयोग होते हैं तथापि इस प्रकार के व्यवहार को शब्दनय अनुचित मानता है।

**समभिरूढनय का लक्षण**

**ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्वि षयः सहि।**

**एकस्मिन्नभिरूढोऽर्थे नानार्थान् समतीत्य यः॥(49)**

जहाँ शब्द नाना अर्थों का अल्लङ्घन कर किसी एक अर्थ में रूढ होता है उसे समभिरूढनय जानना चाहिए। जैसे 'गोः' यहाँ 'गो' शब्द, वाणी आदि अर्थों को गौणकर गाय अर्थ में रूढ हो गया है।

## एवम्भूतनय का लक्षण

शब्दो येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसाययेत् ।

यो नयो मुनयो मान्यास्तमेवंभूतमध्यधुः ॥(50)

शब्द जिस रूप में प्रचलित है उसका उसी रूप में जो नय निश्चय कराता है माननीय मुनि उसे 'एवम्भूतनय' कहते हैं। जैसे इन्द्रशब्द का व्युत्पत्त्यर्थ 'इन्द्रतीति इन्द्र' ऐश्वर्य का अनुभव करने वाला है इसलिये यह नय इन्द्र को उसी समय इन्द्र कहेगा जबकि वह ऐश्वर्य का अनुभव कर रहा होगा, अभिषेक या पूजन करते समय इन्द्र को इन्द्र नहीं कहेगा। तात्पर्य यह है कि समभिरूढनय शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करता है और एवं भूतनय निरूक्त अर्थ को।

प्रकारान्तर से नय के भेद एवं स्वरूप का वर्णन यहाँ दे रहे है।

### द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का स्वरूप

द्रव्यपर्यायरूपस्य सकलस्यापि वस्तुनः ।

नयावंशेन नेतारी द्वी द्रव्यपर्यायार्थिकौ ॥(38)

(पृ.17)

अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः ।

नयस्तद्विषयोयः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः ॥(39)

व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः ।

पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिको मतः ॥(40)

संसार की सभी वस्तुएँ द्रव्य और पर्यायरूप हैं। वस्तु की इन दोनों रूपता को एक अंश से ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय है। अर्थात् जब वस्तु की द्रव्यरूपता को ग्रहण किया जाता है तब द्रव्यार्थिक नय का उदय होता है। और जब वस्तु की पर्यायरूपता को ग्रहण किया जाता है तब पर्यायार्थिक का उदय होता है। अनुप्रवृत्ति सामान्य और द्रव्य ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं अर्थात् तीनों का एक ही अर्थ होता है। जो नय इन्हें विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्याय को विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

द्रव्यार्थिकनय के भेद—

शुद्धशुद्धार्थसंग्राही त्रिधा द्रव्यार्थिको नयः ।  
नैगमसंग्रहश्चैव व्यवहारश्च संस्पृतः ॥(41)

शुद्ध और अशुद्ध अर्थको ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकार का माना गया है- (1) नैगम (2) संग्रह और (3) व्यवहार।

पर्यायार्थिकनयके भेद और अर्थनय तथा शब्दनय का विभाग—

चतुर्धा पर्यायार्थः स्याद्वृजु शब्दनमाः परे

उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मसूक्ष्मार्थभेदता ।

शब्दः समभिरूढैवंभूती ते शब्द भेदगाः ॥(42)

(षट्पटम)

घत्वारोऽर्थनया आधास्त्रयः शब्दनयाः परे ।

उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मगोचरता मता ॥(43)

पर्यायार्थिक नयके चार भेद हैं (1) ऋजुसूत्रनय (2) शब्दनय (3) समभिरूढनय और (4) एवंभूतनय। इन नयों में उत्तरोत्तर अर्थ की सूक्ष्मता रहती है। अथवा प्रारम्भ के चार नय अर्थनय हैं और आगे के तीन नय शब्द नय हैं। इन नयों में भी उत्तरोत्तर विषय की सूक्ष्मतामानी गई है।

नयों की परस्पर सापेक्षता—

एते परस्परपेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः ।

निरपेक्षाः पुनः सन्तो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः ॥(51)

(पृ.21)

ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं तो सम्यग्ज्ञान के हेतु होते हैं और निरपेक्ष रहते हैं तो मिथ्याज्ञान के हेतु होते हैं।



## अध्याय 1

### अभ्यास प्रश्न

1. मंगलाचरण में किसे नमस्कार किया गया है ?
2. नमस्कार करने का उद्देश्य क्या है ?
3. यथार्थ से आप्त कौन हो सकता है ?
4. मंगलाचरण करने का उद्देश्य क्या है ?
5. मोक्षमार्ग का स्वरूप क्या है ?
6. रत्नत्रय की परिभाषा क्या है ?
7. सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या है ?
8. सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण और भेद प्रभेदों का वर्णन करो ?
9. तत्त्व कितने होते हैं, तथा उनका नाम निर्देश कीजिए ?
10. निक्षेप के भेद एवं लक्षण का वर्णन करो ?
11. तत्त्वों को जानने के विभिन्न उपाय बताइये ?
12. ज्ञान के भेद एवं उसकी परिभाषा बताओ ?
13. प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?
14. मतिज्ञान की उत्पत्ति के कारण कौन-कौन से हैं ?
15. अवग्रह के भेद-प्रभेदों का वर्णन कीजिए ?
16. श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेदों का वर्णन करो ?
17. अवधिज्ञान के भेद-प्रभेदों का वर्णन करो ?
18. मनः पर्ययज्ञान के भेद-प्रभेदों का वर्णन करो ?
19. ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में क्या अन्तर है ?
20. अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में क्या विशेषता है ?
21. केवलज्ञान का विषय क्या है ?
22. मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान कब मिथ्या होते हैं और कब सम्यक् होते हैं ?
23. नयों के भेद एवं उसकी परिभाषा का वर्णन करो ?

## अध्याय 2

### जीव के असाधारण भाव

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्चजीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक  
पारिणामिकौ च । (1)

The Souls own thatness, i.e. thought activity (is of five kinds.)

- (1) औपशमिक Subsidential,
- (2) क्षायिक Destructive, Purifind.
- (3) मिश्र Mixed.
- (4) औदयिक Operative.
- (5) पारिणामिक Natural.

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व हैं।

इस शास्त्र का नाम मोक्षशास्त्र है। मोक्षशास्त्र होने के कारण इसमें मोक्ष का वर्णन है। वह वर्णन पहले अध्याय के प्रथम सूत्र में किया गया है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों के सम्यक् समवाय से बनता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सहित उन तत्त्वों के परिज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के लिए तत्त्वों का श्रद्धान एवं ज्ञान होना चाहिए इसलिए मोक्षशास्त्र में तत्त्वों का वर्णन किया गया है। सात तत्त्वों में पहला जीव तत्त्व है। इसलिए इस अध्याय में जीव तत्त्व के असाधारण भावों का वर्णन किया गया है। उपरोक्त सूत्र में वर्णित पाँचों भाव जीव को छोड़कर अन्य तत्त्व में न होने के कारण यह भाव जीव के असाधारण भाव है।

1. औपशमिक— नीचे स्थित कीचड़ के समान अनुद्भूत स्ववीर्य की वृत्ति से कर्मों का उपशमन होना औपशमिक भाव है। जैसे- कतक फल या निर्मली के डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना उपशम है।

(2) **क्षायिकः**— कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति को क्षय कहते हैं। जैसे— जिस जल का मैल नीचे बैठा हो, उसे यदि दूसरे पवित्र पात्र में रख दिया जाय तो जैसे उसमें अत्यंत निर्मलता आ जाती है उसी प्रकार आत्मा से कर्मों की अत्यंत निवृत्ति होने से जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है वह क्षय कहलाता है।

(3) **क्षयोपशमिकः**— क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान उभयात्मक परिणाम को मिश्र भाव कहते हैं। जैसे— जल से प्रक्षालन करने पर कुछ कोदों की मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण। उसी प्रकार यथोक्त क्षय के कारणों से सन्निधान होने पर (परिणामों की निर्मलता से) कर्मों के एक देश क्षय और एक देश कर्मों की शक्ति का उपशम होने पर उभयात्मक मिश्र भाव होता है।

(4) **औदयिकः**— द्रव्यादि के निमित्त के वश से कर्मों के फल की प्राप्ति का नाम उदय है। द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से विपच्यमान कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं।

(5) **पारिणामिकः**— द्रव्यात्मक लाभ मात्र हेतु परिणाम है। जिस भाव के द्रव्यात्मक लाभ मात्र ही हेतु होता है अन्य किसी भी कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा नहीं है, वह परिणाम कहलाता है।

### भावों के भेद

द्विनवाष्टदशैकविंशतिभिर्भेदा यथाक्रमम्।(2)

(They are) of two nine, eighteen, twenty, one and three kinds respectively.

उक्त पांचों भावों के क्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

अर्थात् औपशायिक के दो, क्षायिक के नौ, क्षायोपशमिक के अठारह, औदयिक के इक्कीस और पारिणामिक के तीन भेद होते हैं।

### औपशमिक भाव के दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे। (3)

(The two kinds are) belief and conduct.

औपशमिक सम्यक्त्व Subsidential-right-belief,

औपशमिक चारित्र Subsidential right conduct.

औपशमिक भाव के दो भेद हैं— औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक चारित्र।  
चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं— कषायवेदनीय और नो-कषाय वेदनीय। इनमें  
से कषाय वेदनीय के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद  
और दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद।  
इन सात के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

काललब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है। अब यहाँ काललब्धि  
को बतलाते हैं। कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन नाम  
के काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है  
इनसे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता यह एक काललब्धि है। दूसरी  
काललब्धि का सम्बन्ध कर्म स्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष  
रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का  
लाभ नहीं होता। परन्तु जब बंधने वाले कर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी  
सागर पड़ती है और विशुद्धि परिणामों के वश से सत्ता में स्थित कर्मों की  
स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर पड़ती है तब यह  
जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है। एक काललब्धि भव की अपेक्षा होती  
है- जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व  
को उत्पन्न करता है। 'आदि' शब्द से जातिस्मरण आदि का ग्रहण करना  
चाहिए।

समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है। इनमें  
से 'सम्यक्त्व' पद को आदि में रखा है क्योंकि चारित्र सम्यक्त्व पूर्वक होता  
है।

## क्षायिक भाव के नौ भेद

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च । (4)

(The nine kinds are) knowledge, conation, charity, gain, enjo-  
yment, re-enjoyment, power and (belief and conduct.)

क्षायिक भाव के नौ भेद हैं— क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक  
लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और

क्षाधिक चारित्र ।

सूत्र में 'च' शब्द सम्यक्त्व और चारित्र के ग्रहण करने के लिए आया है। ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक केवल ज्ञान होता है। इसी प्रकार केवलदर्शन भी होता है। दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है। समस्त लाभान्तराय कर्म के क्षय से कवलहार क्रिया से रहित केवलियों के क्षायिक लाभ होता है जिससे उनके शरीर को बल प्रदान करने में कारणभूत, दूसरे मनुष्यों को असाधारण अर्थात् कभी न प्राप्त होने वाले परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। समस्त भोगान्तराय कर्म के क्षय से अतिशय वाले क्षायिक अनन्त भोग का प्रादुर्भाव होता है। जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं। समस्त उपभोगान्तराय के नष्ट हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है। जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं। वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक अनन्त वीर्य प्रकट होता है। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के अत्यन्त विनाश से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। इसी प्रकार क्षायिक चारित्र का स्वरूप समझना चाहिए।

### क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्ध्यश्चतुस्त्रिपंचभेदाःसम्यक्त्वचरित्रसंयमासंयमाश्च ।

(5)

(The 18 kinds are) 4 kinds of (right) knowledge, 3 wrong knowledge 3 conations, 5 attainments, right belief, conduct and contral, non-control.

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं— चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व चारित्र और संयमासंयम।

उदय प्राप्त सर्वघाति स्पर्धकों का क्षय होने पर, अनुदय (सत्ता में अवस्थित) प्राप्त सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम होने पर तथा देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर क्षायोपशमिक भाव होता है। स्पर्धक दो प्रकार के हैं— सर्वघातिस्पर्धक और देशघातिस्पर्धक। उनमें जब सर्वघातिस्पर्धकों का उदय

होता है तब आत्मा के गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसलिए उनके उदय के अभाव को क्षय कहते हैं— उन्हीं अणुय प्राप्त सर्वघातिस्पर्धकों की सदवस्था उपशम कहलाती है। क्योंकि ऊर्जा की शक्ति अभी प्रकट नहीं है। इसलिये आत्मसाद्भावित (उदय में आने वाले) सर्वघाति स्पर्धकों का उदय, भावी क्षय (बिना फल दिये नष्ट होना) और देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर सर्वघाति के अभाव में उपलभ्यमान भाव क्षायोपशमिक कहलाता है।

अविभाग से परिच्छिन्न कर्मप्रदेश के रस भाग के प्रचय की पंक्ति क्रमवृद्धि और क्रमहानि को स्पर्धक कहते हैं।

**स्पर्धक**— उदय प्राप्त कर्मों के प्रदेश अभव्यों से अनन्तगुणे तथा सिद्धों के अनन्तवैभाग प्रमाण होते हैं। उनमें से सर्व जघन्यगुण वाले ग्रहण किये गये हैं। उनका अनुभाग बुद्धि के द्वारा तब तक विभाजन करना चाहिये, जिससे आगे विभाजन न हो सके। सर्वजीवराशि के अनन्तगुण प्रमाण ऐसे सर्वजघन्य अविभागी परिच्छेदों की राशि को एक वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार सर्वजघन्य अविभाग परिच्छेदों के सर्वजीवराशि से अनन्तगुणा प्रमाण, राशि रूप वर्ग बनाने चाहिये। इन समगुण वाले समसंख्यक वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। पुनः एक अविभाग परिच्छेद अधिक गुण वालों के सर्व जीव राशि के अनन्त गुणा प्रमाण राशि रूप वर्ग बनाने चाहिये। उन वर्गों के समूह की वर्गणा बनानी चाहिये। इस प्रकार एक एक अविभाग परिच्छेद बढ़ाकर वर्ग और वर्गसमूह रूप वर्गणाएँ तब तक बनानी चाहिये, जब तक एक अधिक अविभाग परिच्छेद मिलता जाये। इस क्रम से वृद्धि और हानि वाली वर्गणाओं के समुदाय को एक स्पर्धक कहते हैं। इसके बाद इसके ऊपर दो, तीन, चार, संख्यात और असंख्यात गुण अधिक परिच्छेद नहीं मिलते हैं। किन्तु अनन्तगुण अधिक वाले ही मिलते हैं। उनमें एक प्रदेश जघन्यगुण करना चाहिये। इस प्रकार समगुण वर्गों का समुदाय वर्गणा होती है। इस प्रकार एक अधिक अविभाग परिच्छेदों को पूर्व के समान विरलन करके वर्ग वर्गणा करनी चाहिये, जब तक दूसरा स्पर्धक होता है। इसके आगे दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात गुण अधिक परिच्छेद नहीं मिलेंगे। किन्तु अनन्तगुण अधिक ही मिलते हैं; इस प्रकार समगुण वाले वर्गों के समुदायरूप, वर्गणाओं के समूह रूप स्पर्धक एक उदयस्थान में सिद्धों के अनन्तवै भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुण होते हैं।

(1) **ज्ञानचतुष्क-** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। वीर्यान्तराय और मतिश्रुतज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय, क्षय एवं उन्हीं आगामी उदय में आने वाले स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम होने पर तथा देशघातिस्पर्धकों का उदय होने पर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होता है। देशघाति स्पर्धकों के अनुभाग तारतम्य से क्षायोपशमिक ज्ञान में भेद होता है- जैसे किसी का मति ज्ञान अधिक और किसी का कम होता है। इस प्रकार अवधिज्ञान और मनः पर्यय के भी स्वावरण क्षयोपशम के भेद से क्षायोपशमिकपना जानना चाहिये।

(2) **अज्ञानत्रय-** अज्ञान तीन प्रकार का है- मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभागावधिज्ञान।

इनके भी पूर्व के समान क्षायोपशमिकपना ही समझना चाहिये। इनमें ज्ञान एवं अज्ञान का विज्ञान मिथ्यात्व कर्म के उदय और अनुदय से होता है; अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय से ये तीनों ज्ञान अज्ञान कहलाते हैं और सम्यग्दर्शन के कारण यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं।

(3) **दर्शनत्रय-** चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम से होते हैं।

(4) **पंचलब्धियाँ-** दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ भी अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम से होती है। जैसे- दानान्तरायादि कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का क्षयोपशम होने पर और देशघाति स्पर्धकों के उदय का सद्भाव होने पर ये पाँच लब्धियाँ होती हैं।

(5) **सम्यक्त्व-** सम्यक्त्व शब्द से यहाँ क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व और सम्यङ्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदायाभावी क्षय और आगामी काल में उदय में आने वाले इन्हीं के स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति देशघातिस्पर्धकों का उदय होने पर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है- वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह वेदक भी कहलाता है।

(6) **क्षायोपशमिक चारित्र-** अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान रूप बारह कषायों के उदयभावी क्षय और आगामी काल में उदय में आने वाले इनके सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा संज्वलन कषाय

चतुष्टय में से किसी एक कषाय और नव नोकषायों का यथासंभव उदय होने पर आत्मा के जो निवृत्ति रूप परिणाम होते हैं, उसको 'क्षायोपशमिक चारित्र' कहते हैं।

(7) **संयमासंयम**— अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यान रूप आठ कषायों के स्पर्धकों का उदयाभावीक्षय तथा आगामी काल में उदय में आने वाले सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम, प्रत्याख्यान कषाय का उदय, संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों का उदय और यथासंभव नोकषायों का उदय होने पर विरत-अविरत परिणाम उत्पन्न करने वाला क्षायोपशमिक संयमासंयम होता है।

### औदयिकभाव के इक्कीस भेद

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्-  
त्र्यैकैकैकैकषड्भेदाः । (6)

(The 21 are) :-

4 kinds of Condition.

4 passions,

3 sexes,

1 wrong belief,

1 ignorance,

1 vowlessness,

1 non-liberation,

6 paints.

औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं— चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धभाव, और छः लेश्यायें।

(1) **चार गति**:- गति नामकर्म के उदय से आत्मा नरकादि भावों को प्राप्त होता है, इसलिए गति औदयिक है। जिस कर्म के उदय से आत्मा के नरकादि भावों की प्राप्ति होती है, वह गति है। वह गति नामकर्म चार प्रकार का है— नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति। उसमें नरकगति नामकर्म के उदय से नरकगति प्राप्त होती है, तिर्यचगति नामकर्म के उदय से तिर्यचगति,



मनुष्यगति नामकर्म के उदय से मनुष्यगति और देव नामकर्म के उदय से देवगति प्राप्त होती है। ये चारों गतिरूप भाव नामकर्म के उदय से होते हैं— इसलिए औदयिक भाव है।

(2) चार कषायः— चारित्रमोह कर्मविशेष के उदय से आत्मा के क्लुष भाव होते हैं, वह कषाय औदयिक है। कषाय नामक चारित्रमोह के उदय से होने वाली क्रोधादिरूप क्लुषता कषाय कहलाती है। यह आत्मा के स्वाभाविक रूप को कष देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है। यह, क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायरूप हैं। अनन्तानुबंधी— क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान— क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यान— क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन— क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के ये 16 भेद भी हैं। ये मोहकर्म के उदय से होते हैं इसलिए औदयिक भाव हैं।

(3) तीन लिंग— वेद के उदय से उत्पन्न अभिलाषा विशेष को “वेद” कहते हैं। द्रव्य और भाव के भेद से लिंग दो प्रकार का है। यहाँ इस सूत्र में आत्मा के भावों का प्रकरण है— इसलिये नामकर्म के उदय से होने वाले द्रव्यलिंग की यहाँ विवक्षा नहीं है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक के अन्योन्य अभिलाषा भावलिंग आत्मा का परिणाम है। जिसके उदय से स्त्री के साथ रमण करने की अभिलाषा होती है, वह पुरुषवेद है। जिसके उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद है। जिसके उदय से स्त्री एवं पुरुष दोनों के साथ रमण करने की उभयाभिलाषा होती है, वह नपुंसकवेद है। यह अभिलाषा चूंकि चारित्र मोह के विकल्प नोकषाय के भेद स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद के उदय से होती है इसलिये वेद औदयिक भाव है।

(4) मिथ्यादर्शन— दर्शन मोह के उदय से तत्त्वार्थ में अश्रद्धान परिणाम मिथ्यादर्शन है। तत्त्वरूचि स्वभाव वाले आत्मा के श्रद्धान के प्रतिबंधक कारण दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ का निरूपण करने पर भी तत्त्व में श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता। इसलिये मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है।

(5) अज्ञान— ज्ञानावरणी के उदय से अज्ञान होता है। जैसे प्रकाशमान सूर्य का तेज सघन मेघों द्वारा तिरोहित हो जाने पर अभिव्यक्त नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञानस्वभाव आत्मा के ज्ञानगुण की अनभिव्यक्ति (अप्रगटता) होती है, वह अज्ञान है और वह अज्ञान भाव ज्ञानावरण कर्म

के उदय से होता है इसलिये औदयिक है। जैसे-जो एकेन्द्रिय के रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोतेन्द्रियावरण के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होने से रस, गन्ध, शब्द, रूप का अज्ञान रहता है— वह औदयिक अज्ञान है, ऐसा दो इन्द्रियआदि का भी समझना चाहिये। शुक, सारिकादि (तोता मैना आदि) को छोड़कर पंचेन्द्रिय तिर्यैचों में तथा कुछ मनुष्यों में अक्षर श्रुतावरण के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होने से अक्षर श्रुतज्ञान नहीं होता। वह अक्षर श्रुतज्ञान औदयिक है। नो इन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होने पर जीव हिताहित की परीक्षा करने में असमर्थ होता है, वह असंज्ञित्व अज्ञान औदयिक भाव में गर्भित है। इसी प्रकार अवधिज्ञानावरण, मनः पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण के उदय से होने वाला अज्ञान औदयिक कहलाता है। ऐसा जानना चाहिये।

(6) असंयम— चारित्र मोह के उदय से होने वाले हिंसादि पापों से एवं इन्द्रिय विषयों से अनिवृत्तिपरिणाम असंयम है। अर्थात् चारित्र मोहकर्म के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय होने से प्राणिघात, असत्यभाषण आदि पापों में तथा पंचेन्द्रियों के विषयों में द्वेष एवं अभिलाषा रूप परिणामों की निवृत्ति नहीं होना, असंयम भाव है। यह असंयमभाव चारित्रमोह के उदय से होता है इसलिये औदयिक भाव है।

(7) असिद्धत्व— कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा असिद्धत्व भाव होता है। अनादि कर्मबन्ध— सन्तान के कारण परतंत्र हुए आत्मा के सामान्यतः सभी कर्मों का उदय होने पर असिद्धत्वपर्याय होती है। यह कर्मों के उदय की अपेक्षा से होती है इसलिये औदयिकी है। यह असिद्धत्वपर्याय मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मों के उदय की अपेक्षा से है। उपशान्तमोही, ग्यारहवें और क्षीणमोही बारहवें गुणस्थान में सात कर्मों के उदय की अपेक्षा और सयोग केवली एवं अयोग केवली गुणस्थान ये चार अघातियां कर्मों के उदय के कारण असिद्धत्व भाव है।

(8) षट् लेश्या— कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के भेद से लेश्या दो प्रकार की हैं। द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होती है। अतः आत्मभावों के प्रकरण में उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया है। भावलेश्या कषाय के उदय से अनुरंजित योगवृत्ति

का निमित्त पाकर होती है इसलिये कषाय औदयिकी कही जाती है। यह लेश्या छह प्रकार की है— कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। आत्मपरिणामों की अशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा कृष्णादि शब्दों का उपचार किया जाता है।

## पारिणामिक भाव के भेद जीवभव्याभव्यत्वानि च। (7)

The 3 kinds of the souls natural thought activity are;

1. जीवत्व Consciousness, livingness or Soulness in a Soul.
2. भव्यत्व Capacity of being liberated.
3. अभव्यत्व Incapacity of becoming liberated

पारिणामिक भाव के तीन भेद है:—

- (1) जीवत्व
- (2) भव्यत्व
- (3) अभव्यत्व।

जो भाव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना होते हैं, उन्हें पारिणामिकभाव कहते हैं। ये पारिणामिक भाव अन्य द्रव्यों में नहीं होते इसलिए ये आत्मा के जानने चाहिए।

(1) जीवत्व:— जीवत्व का अर्थ चैतन्य है। यद्यपि यह जीव शुद्धनिश्चयनय से आदि, मध्य और अन्त से रहित, निज तथा पर का प्रकाशक, उपाधिरहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राण है, उससे जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय से अनादिकर्मबन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्य प्राण और भाव प्राण है, उनसे जीता है इसलिये जीव है। इसका जो भाव है वह जीवत्व है।

(2) भव्यत्व:— जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है वह भव्य कहलाता है। अथवा भावी भगवान को भव्य कहते हैं। इसका भाव भव्यत्व है।

(3) अभव्यत्व:— जिसमें सम्यग्दर्शनादिरूप परिणामन करने की शक्ति नहीं है वह अभव्य है। इसका जो भाव है वह अभव्यत्व है।

गोम्मट्टसार में कहा भी है—

भविया सिद्धि जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।

तव्विवरीयाऽभव्वा, संसारादो ण सिज्झंति ॥

(557 पृ.250)

जिन जीवों की अनन्त चतुष्टरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उनको भवसिद्ध कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवों को अभव्यसिद्ध कहते हैं।

कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य हैं, परन्तु कभी मुक्त न होंगे; जैसे बन्ध्या के दोष से रहित विधवा सती स्त्री में पुत्रोत्पत्ति की योग्यता है; परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। इसके सिवाय कोई भव्य ऐसे हैं जो नियम से मुक्त होंगे। जैसे बन्ध्यापने के दोष से रहित स्त्री के निमित्त मिलने पर नियम से पुत्र उत्पन्न होगा। इस तरह योग्यता भेद के कारण भव्य दो प्रकार के हैं। इन दोनों योग्यताओं से जो रहित है उनको अभव्य कहते हैं। जैसे बन्ध्या स्त्री के निमित्त मिले चाहे न मिले, परन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। जिनमें मुक्ति प्राप्ति की योग्यता है उनको भव्यसिद्ध कहते हैं। इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

भव्वत्तणस्य जोग्गा, जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा ।

ण हु मलविगमे णियमा, ताणं कणयोवलाणमिव ॥ (558)

जो जीव अनन्त चतुष्टयरूप सिद्धि की प्राप्ति के योग्य हैं; उनको भवसिद्ध कहते हैं किन्तु यह बात नहीं है कि इस प्रकार के जीवों का कर्ममल नियम से दूर हो ही। जैसे- कनकोपल का।

ऐसे ही बहुत से कनकोपल हैं जिनमें कि निमित्त मिलाने पर शुद्ध स्वर्णरूप होने की योग्यता तो है, परन्तु उनकी इस योग्यता की अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी। अथवा जिस तरह अहमिन्द्र देवों में नरकादि में गमन करने की शक्ति है परन्तु उस शक्ति की अभिव्यक्ति कभी नहीं होती। इस ही तरह जिन जीवों में अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता है परन्तु उनको वह कभी प्राप्त नहीं होगी उनको भी भवसिद्ध कहते हैं। ये जीव भव्य होते हुए भी सदा संसार में ही रहते हैं।

ण य जे भव्वाभव्वा, मुक्तिसुहातीदणंतसंसार।

ते जीवा णायव्वा, णेव य भव्वा अभव्वा य॥(559)

जिनका पांच परिवर्तनरूप अनन्त संसार सर्वथा छूट गया है और इसलिये जो मुक्ति सुख के भोक्ता हैं उन जीवों को न तो भव्य समझना और न अभव्य समझना चाहिये; क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रही है। इसलिये भव्य भी नहीं हैं। और अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर चुके हैं इसलिये अभव्य भी नहीं है।

जिनमें अनंत चतुष्टय के अभिव्यक्त होने की योग्यता ही नहीं हो उसको अभव्य कहते हैं। अतः मुक्त जीव अभव्य भी नहीं है; क्योंकि इन्होंने अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है। और “भवितुं योग्या भव्या” इस निरूक्ति के अनुसार भव्य उनको कहते हैं जिनमें कि, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता है। किन्तु अब वे उस अवस्था को प्राप्त कर चुके, इसलिये उनके भव्यत्व रूप योग्यता का परिपाक हो चुका अतएव अपरिपक्व अवस्था की अपेक्षा से भव्य भी नहीं है।

## जीव का लक्षण

### उपयोगो लक्षणम्। (8)

The lakshna or differentia of soul is upayoga, attention, consiousness, attentiveness.

उपयोग जीव का लक्षण है।

इस सूत्र में जीव के महत्वपूर्ण सदभूत लक्षण का वर्णन है। पहले अध्याय में जीव के ज्ञान गुण का वर्णन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है तो इस अध्याय में भी जीव के भावों का वर्णन असाधारण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। उपयोग जीव के असाधारण भाव या लक्षण होने के कारण यह भाव अन्य अजीव पदार्थ में नहीं पाया जाता है तथा किसी भी रसायनिक प्रक्रिया से उपयोग शक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। डार्विन आदि वैज्ञानिक जो रसायनिक प्रक्रिया से जीव की उत्पत्ति मानते हैं वह सिद्धांत कपोल-कल्पित, अविचारित रम्य है। इस सिद्धांत का खण्डन मेरी (कनकनंदी) “विश्व विज्ञान रहस्य” पुस्तक में किया है। जिज्ञासु वहाँ से देखकर अध्ययन करें।

पंचास्तिकाय में कुंदकुद देव ने इसका वर्णन सविस्तार से निम्न प्रकार किया है—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।

जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥

(40) (पृ.सं. 138)

उपयोग वास्तव में दो प्रकार है ज्ञान और दर्शन से संयुक्त अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। यह सर्वकाल इस जीव से एकरूप है जुदा नहीं है ऐसा जानो।

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स दु उवयोग ।

जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं।

द्रव्यसंग्रह में नेमिचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

“जीवो उवओगमओ” “जीवो” शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्त-

वर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरूपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन

यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभाव प्राणेर्जीवतीति जीवः ।

यद्यपि यह जीव शुद्धनिश्चयनय से आदि मध्य और अंत से रहित निज और पर का प्रकाशक, उपाधि रहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राण है, उससे जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय से अनादि कर्मबन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्यप्राण और भाव प्राण है, उनसे जीता है इसलिये जीव है।

उपयोग के भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।(9)

(Attention is of) 2 kinds which is subdivided in to 8 and 4 kinds-

ज्ञानोपयोग knowledge attention:

दर्शनोपयोग Conation-attention:

उपयोग Is a modification of Consiousness, which is an essential

attribute of the soul. Thus attentiveness is kind of consciousness. Consciousness is a characteristic of the knower, the soul.

**वह उपयोग दो प्रकार का है - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग।**

**ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।**

जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्त से होता है और चैतन्य को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं रहता है वह 'उपयोग' कहलाता है। वह उपयोग दो प्रकार का है, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है: मतिज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुतज्ञान और विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का:- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

साकार और अनाकार के भेद से इन दोनों उपयोग में भेद है। साकार ज्ञानोपयोग है और अनाकार दर्शनोपयोग। ये दोनों छद्मस्थों के क्रम से होते हैं और कर्म आवरणरहित जीवों के युगपत् होते हैं। यद्यपि दर्शन पहले होता है तो भी श्रेष्ठ होने के कारण सूत्र में ज्ञान को दर्शन से पहले रखा है।

नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार में उपयोग का वर्णन निम्न प्रकार से सविस्तार से किया है-

**वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जोदु उवजोगो।**

**सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव अणायारो ॥ (672)**

जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं-- एक साकार (विकल्प) और दूसरा निराकार (निर्विकल्प)।

**णाणं पंचविहं पि य, अण्णाणतियं च सागरुवजोगो।**

**चदुदंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवा ॥ (673)**

पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान- मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय तथा केवल और तीन प्रकार का अज्ञान- मिथ्यात्व-कुमति, कुश्रुत, विभंग ये आठ साकार उपयोग के भेद हैं। चार प्रकार का दर्शन चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन अनाकार उपयोग है। यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवों का लक्षण

है, क्योंकि उपयोग के इन 12 प्रकारों में से जीव के कोई न कोई उपयोग अवश्य रहा करता है।

**साकार उपयोग में कुछ विशेषता :-**

**मदिसुदओहिमणेहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं।**

**अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो॥(674)**

मति श्रुत अवधि और मनः पर्यय इनके द्वारा अपने अपने विषय का अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त जो विशेषज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं।

साकार उपयोग के पाँच भेद हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें से आदि के चार ही उपयोग छद्मस्थ जीवों के होते हैं। उपयोग चेतना का एक परिणामन है। तथा एक वस्तु के ग्रहणरूप चेतना का यह परिणामन है। तथा एक वस्तु के ग्रहण रूप चेतना का यह परिणामन छद्मस्थ जीव के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्तकाल तक ही रह सकता है। इस साकार उपयोग में यही विशेषता है, कि यह वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करता है।

**अनाकार उपयोग का स्वरूप**

**इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जे गहणं।**

**अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो॥(675)॥**

इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अन्तर्मुहूर्तकाल तक पदार्थों का जो सामान्य रूप ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं। दर्शन के चार भेद हैं- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमें से आदि के तीन दर्शन छद्मस्थ जीवों के होते हैं। नेत्र के द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। और नेत्र को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मन के द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधि-ज्ञान के पहले इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्ममात्र से जो रूपी पदार्थ विषयक सामान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। यह दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोग की तरह छद्मस्थ जीवों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

अनाकार उपयोग या दर्शन उपयोग का वर्णन प्रकारान्तर से गोम्मट्टसार में निम्न



प्रकार से पाया जाता है-

भावाणं सामण्णं विसेसयाणं सरूवमेत्तं जं ।  
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि ॥ (483)

निर्विकल्परूप से जीव के द्वारा जो सामान्य विशेषात्मक पदार्थों की स्व-पर सत्ता का अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं।

पदार्थों में सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किंतु इनके केवल सामान्य धर्म की अपेक्षा से जो स्व-पर सत्ता का अवभासन होता है उसको 'दर्शन' कहते हैं। इसका शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसके चार भेद हैं चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन का स्वरूप

चक्खूणं जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेत्ति ।  
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति ॥ (484)

जो पदार्थ चक्षुस्त्रय का विषय है उसका देखना, अथवा वह जिसके द्वारा देखा जाय, अथवा उसके देखने वाले को 'चक्षुदर्शन' कहते हैं। और चक्षु के सिवाय दूसरी चार इन्द्रियों के अथवा मन के द्वारा जो अपने-अपने विषयभूत पदार्थ का सामान्य ग्रहण होता है उसको 'अचक्षुदर्शन' कहते हैं।

अवधिदर्शन का स्वरूप

परमाणु आदियाइ अंतिमखंधं ति मुत्तिदंवाइ ।  
तं ओहिदंसणं पुणं जं पस्सइ ताइं पचक्खं ॥ (485)

अवधिज्ञान होने के पूर्व समय में अवधि के विषय भूत परमाणु से लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्य को जो सामान्य रूप से देखता है उसको 'अवधिदर्शन' कहते हैं। इस अवधि दर्शन के अनन्तर प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान होता है।

केवल दर्शन का स्वरूप

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।  
त्तो गालो गवित्तिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥ (485)

तीव्र-मंद-मध्यम आदि अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा तथा चन्द्र, सूर्य आदि

पदार्थों की अपेक्षा अनेक प्रकार के प्रकाश जगत् में परिमित क्षेत्र में रहते हैं; किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है, ऐसे प्रकाश को 'केवल दर्शन' कहते हैं।

समस्त पदार्थों का जो सामान्य दर्शन होता है उसको 'केवलदर्शन' कहते हैं।

## जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च । (10)

They are of 2 kinds:

संसारी Mundane and मुक्त liberated Souls.

जीव दो प्रकार के हैं-- संसारी और मुक्त ।

वस्तुतः जीव द्रव्य एक प्रकार के होते हुए भी कर्म सहित एवं कर्म रहित की अपेक्षा जीव 2 प्रकार के हो जाते हैं। कर्म सहित जीव संसारी है तथा कर्म रहित जीव मुक्त है। कहा भी है-

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ॥(109)

उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ।

प.का.मृ.280)

जीव दो प्रकार के हैं- (1) संसारी अर्थात् अशुद्ध और (2) सिद्ध अर्थात् शुद्ध । वे दोनों वास्तव में चेतनास्वभाव वाले हैं और चेतना परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने योग्य है। उसमें संसारी जीव देह में वर्तनेवाले अर्थात् देह सहित है और सिद्ध जीव देह में न वर्तनेवाले अर्थात् देह रहित है।

.....मिच्छादंसणकसायजोगजुदा ।

विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥(32)

मिथ्यादर्शन - कषाय योगसहित संसारी है और अनेक मिथ्यादर्शन - कषाय योग रहित सिद्ध है।

## संसारी जीवों के भेद

समनस्कामनस्काः । (11)

The mudane souls are of 2 kinds :-

समनस्क Rational, those who have a mind; i.e. the faculty

of distigushing right and wrong.

मनसहित तथा मनरहित ऐसे संसारी जीव हैं।

मनसहित जीव को समनस्क (सैनी) कहते हैं और मन रहित जीव अमनस्क (असैनी) कहते हैं। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीव असैनी होते हैं एवम् मन सहित पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी होते हैं। इन दोनों में से संज्ञी जीव श्रेष्ठ है क्योंकि संज्ञी जीव गुण और दोषों का विचारक होता है। अमनस्क जीव मन रहित होने के कारण गुण-दोषों की समीक्षा नहीं कर पाता है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान होते हुए भी मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान, कुज्ञान के साथ-साथ बहुत ही अ विकसित ज्ञान है, इतना ही नहीं असंज्ञी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं रखता है। संज्ञी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखता है। मन दो प्रकार का है (1) द्रव्य मन, (2) भाव मन।

उनमें से द्रव्य मन पुद्गलविपाकी आंगोपांग नाम कर्म के उदय से होता है तथा वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भाव मन कहते हैं। यह मन जिन जीवों के पाया जाता है वे 'समनस्क' है और जिनके मन नहीं पाया जाता है वे 'अमनस्क' है। इस प्रकार मन के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा संसारी जीव दो भागों में बँट जाता है।

द्रव्य मन का स्वरूप

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्टच्छदारविंदं वा ।

अङ्गोवंगुदयादो मणवगणखंधदो णियमा ॥(443)

अङ्गोपाङ्गनाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदयस्थान में नियम से विकसित आठ पांखुड़ी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा ।

वत्तत्ताभावादो-----॥ (444)

इस द्रव्यमन की नो इन्द्रिय संज्ञा भी है, क्योंकि दूसरी इन्द्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। (गोम्मटसार,पृ.163)

## संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः । (12)

The mundane souls (are of 2 kinds from another point of view. त्रस Mobile many-sensed, i.e. having a body with more than one Sense.

स्थावर Immobile, one sensed, i.e. having a only the sense of touch.

तथा संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

कर्म सहित जीवों को संसारी जीव कहते हैं। इस दृष्टि से समस्त संसारी जीव एक होते हुए भी विभिन्न कर्मों के कारण भेद-प्रभेद हो जाते हैं। इसके मुख्यतः दो भेद है- (1) त्रस जीव (2) स्थावर जीव।

त्रस नाम कर्म के उदय से दो इन्द्रिय से लेकर अयोग केवली तक के जीव को त्रस कहते हैं।

स्थावर नाम कर्म के उदय से पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पति कायिक तक जीव को स्थावर जीव कहते हैं। अग्निकायिक, जलकायिक और वायुकायिक जीव गमन करते हुए पाये जाते हैं तो भी वे त्रस नहीं है। परन्तु उपचार से उनको कुछ शास्त्र में त्रस कहा गया है। संसारी जीवों का वर्णन द्रव्य संग्रह में निम्न प्रकार से किया गया है—

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।

विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥ (11)

पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं और ये सब एक स्पर्शन इंद्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदिक दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं।

समणा अमणा णेया पंचिदिय णाम्मणा परे सव्वे ।

आदारसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ (12)

पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के जानने चाहिए और दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय ये सब मनरहित (असंज्ञी) है, एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म

दो प्रकार का है और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं, ऐसे 14 जीव समास हैं।

मग्गणगुणठाणेहि थ चउदसहि हवन्ति तह असुद्धणया।

विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥ (13)

संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थानों से तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं, और शुद्धनय से तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं।

## स्थावरों के भेद

पृथिव्यप्तेजो वायुवनस्पतयः स्थावराः। (13)

Immobile (one sensed souls)(are of 5 kinds).

(1) पृथ्वी Earth bodied;

(2) अप् Water bodied;

(3) तेज Fire bodied;

(4) वायु Air bodied; and

(5) Vegetable - bodied.

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर हैं।

आधुनिक विज्ञान में केवल वनस्पति को ही जीव सिद्ध किया है परन्तु पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक को जीव सिद्ध करने में असमर्थ है, क्योंकि इन जीवों का आकार अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण एवम् उसके सूक्ष्म शरीर में होने वाली सूक्ष्म क्रियाओं के कारण वैज्ञानिक लोग इन्हें जीव सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो पाये हैं। परन्तु जैन धर्म केवली भगवान द्वारा प्रतिपादित होने के कारण इसमें सूक्ष्म परमाणु से लेकर आकाश तक सम्पूर्ण द्रव्यों का एकेन्द्रिय से लेकर सिद्ध तक के जीवों का वर्णन है। इन पंच स्थावर के विशेष शोध-बोध के लिए एवम् आधुनिक शोध-बोध विद्यार्थियों के मार्ग दर्शन के लिए इस का विशेष वर्णन यहां कर रहा हूँ:-

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्ददेव ने कहा है-

पृथ्वी य उदगमगणी वाउ वणप्फ् जीवसंसिदा काया ।

देति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ॥ (110)

(पृ.282)

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ऐसे यह पुद्गल परिणाम बंधवशात् [बंध के कारण] जीव सहित हैं। अवान्तर जातिरूप भेद करने पर वे अनेक होने पर भी सभी (पुद्गल परिणाम), स्पर्शनिन्द्रियावरण के क्षयोपशम वाले जीवों को बहिरंग स्पर्शनिन्द्रिय की रचनाभूत हुए कर्मफल चेतना प्रधानपने के कारण अत्यन्त मोह सहित ही स्पर्शोपलब्धि (ज्ञान) संप्राप्त कराते हैं।

ति स्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा ।

मणपरिणाम विरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥ (111)

उनमें तीन जीव स्थावर शरीर के संयोग वाले हैं, वायु-कायिक और अमिकायिक जीव त्रस हैं, वे सब मनपरिणाम रहित एकेन्द्रिय जीव जानना ।

तत्र स्थावरनाम कर्मोदयाद्धिन्नमनंत ज्ञानादिगुण समूहादभिन्नत्वं यदात्मत्तत्त्वं तदनुभूति रहितेन जीवेन यदुपार्जितं स्थावर-नामकर्म तदुदयाधीनत्वात् यद्यप्यग्निवातकायिकानां व्यवहारेण चलनमस्ति तथापि निश्चयेन स्थावरा ।

जीव ने जो स्थावर नामकर्म बांधा है उसके उदय के आधीन होने से यद्यपि अग्नि और वायुकायिक जीवों को व्यवहार नय से चलनापना है तथापि निश्चयनय से स्थावर ही है।

एदे जीवणिकाया पंचविधापुढविकाइयादीया ।

माणपरिणामविरहिदा जीवा एणंदिया भणिया ॥ (112)

पृथ्वीकायिक आदि जीव, स्पर्शनिन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से मनरहित एकेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रियों को चैतन्य का अस्तित्व होने सम्बन्धी

दृष्टान्त का कथन है:-

अंडेसु पवड्ढंता गब्धत्था माणुसा य मुच्छगया।

जारिसया तारिसया जीवा एगेदिया णेया॥(113)

अंडे में वृद्धि पाने वाले प्राणी, गर्भ में रहे हुए प्राणी और मूर्छा प्राप्त मनुष्य जैसे (बुद्धिपूर्वक व्यापार रहित होते हुए भी) जीव हैं, वैसे ही एकेन्द्रिय भी जीव जानना।

जैसे अंडों के भीतर के तिर्यंच व गर्भस्थ पशु या मनुष्य या मूर्च्छागत मानव इच्छापूर्वक व्यवहार करते नहीं दिखते हैं वैसे इन एकेन्द्रियों को जानना चाहिए अर्थात् अंडो में जनमने वाले प्राणियों के शरीर की पुष्टि या वृद्धि को देखकर बाहरी व्यापार करना न दिखने पर भी भीतर चैतन्य है ऐसा जाना जाता है, यही बात गर्भ में आये हुए पशु या मानवों की भी है। गर्भ बढ़ता जाता है इसी से चेतना की सत्ता मालूम होती है। मूर्च्छागत मानव तुरंत मूर्छा छोड़ सचेत हो जाता है। इसी ही तरह एकेन्द्रियों के भीतर भी जानना चाहिए। जब गर्भस्थ शरीर या अण्डे या मूर्च्छा प्राप्त प्राणी म्लानित हो जाते अर्थात् बैदते नहीं या उनके शरीर की चेष्टा बिगड़ जाती तब यह अनुमान होता है कि, उनमें जीव नहीं रहा। उस ही तरह एकेन्द्रिय जीव जब म्लानित या मर्दित हो जाते हैं तब वे जीव रहित अचित हो जाते हैं।

## पृथ्वीकायिक आदि जीवों का आकार

मसूराण्णुपृषत्सूचिकलापध्वजसन्निधाः।

धराप्तेजोमरुत्काया

नानाकारास्तरुत्रसाः॥(57)

(त.सा.पृ.51)

पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों का आकार क्रम से मसूर, पानी की बूँद, खड़ी सुइयों का समूह तथा ध्वजा के समान है। वनस्पतिकायिक और त्रस जीव अनेक आकार के होते हैं।

## पृथिवीकायिक जीवों के छत्तीस भेद-

मृत्तिका बालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।.

त्वणोऽयस्तथा ताग्रं त्रपुः सीसकमेव च॥(58)

रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिङ्गुलम्।  
 मनःशिला तथा तुत्थमज्जनं सप्रवालकम् ॥ (59)  
 क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च वादराः।  
 गोमेद रूचकाङ्कश्च स्फटिको लोहितप्रभः ॥ (60)  
 वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः।  
 गैरिकाश्चन्दनशैव वर्चूरो रूचकस्तथा ॥ (61)  
 मोठो मसारगल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः।  
 षट्त्रिंशत्पृथिवीभेदा भगवद्विजिनेश्वरैः ॥ (62)

(1) मिट्टी, (2) रेत, (3) चुनकंकरी, (4) पत्थर, (5) शिलाएँ, (6) नमक,  
 (7) लोहा, (8) ताबों, (9) रांगा, (10) सीसा, (11) चाँदी, (12) सोना,  
 (13) हीरा (14) हरताल, (15) इंगुर, (16) मैन्सिल, (17) तूतिया, (18)  
 सूमा, (19) मूँगा, (20) क्रिरोलक, (21) भोड़ल बड़ी-बड़ी मणियों के खण्ड,  
 (22) गोमेद, (23) रूचकाङ्क (24) स्फटिक (25) पद्मराग, (26) वैडूर्य, (27)  
 चन्द्रकान्त, (28) जलकान्त, (29) सूर्यकान्त, (30) गैरिक, (31) चन्दन, (32)  
 वर्चूर, (33) रूचक, (34) मोठ, (35) मसार और (36) गल्ल नामक मणि  
 ये सब पृथिविकायिक के छत्तीस भेद जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं।

### जलकायिक जीवों के भेद-

अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धधनोदके।  
 शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः ॥ (63)

ओस, बर्फ के कण-शुद्धोदक-चन्द्रकान्तमणि से निकला पानी, मेघ से तत्काल  
 वर्षा हुआ पानी तथा कुहरा आदि जलकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

### अग्निकायिक जीवों के भेद-

ज्वालाङ्गरास्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।  
 अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः ॥ (64)

ज्वालाएँ, अंगार, अर्चि-अग्नि की किरण, मुर्मुर-अग्निकण (भस्म के भीतर  
 छिपे हुए अग्नि के छोटे-छोटे कण) और शुद्ध अग्नि-सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न



अग्नि ये सब अग्निकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

### वायुकायिक जीवों के भेद-

महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः ।

वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः ॥ (65)

वृक्ष वगैरह को उखाड़ देने वाली महान् वायु अर्थात् आँधी, घनवात, तनु, वात, गुञ्जा-गूँजनेवाली वायु, मण्डलि-गोलाकार वायु, उत्कलि-तिरछी बहने वाली वायु और वात-सामान्य वायु ये सब पवनकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

### वनस्पतिकायिक जीवों के भेद-

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरूहास्तथा ।

संमूर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिका ॥ (66)

मूलबीज-मूल से उत्पन्न होने वाले अदरक, हल्दी आदि अग्रबीज-कलम से उत्पन्न होने वाले गुलाब आदि, पर्वबीज-पर्व से उत्पन्न होने वाले गन्ना आदि, कन्दबीज-कन्द से उत्पन्न सूरण आदि, स्कन्धबीज-स्कन्ध से उत्पन्न होने वाले ढाक आदि, बीज रूह-बीज से उत्पन्न होने वाले गेहूँ, चना आदि तथा समूर्च्छिन अपने आप उत्पन्न होने वाली घास आदि वनस्पतिकाय प्रत्येक तथा साधारण दोनों प्रकार के होते हैं।

### एकेन्द्रियादि तिर्यचों की उत्कृष्ट अवगाहना-

योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः ।

एकेन्द्रियस्य देहः स्यद्विज्ञेयः स च पद्मिनी ॥ (143)

त्रिकोशः कथितः कुम्भी शंखो द्वादशयोजनः ।

सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चैकयोजनः ॥ (144)

एकेन्द्रिय जीव का शरीर उत्कृष्टता से कुछ अधिक एक हजार योजन विस्तार वाला है। एकेन्द्रिय जीव की यह उत्कृष्ट अवगाहना कमल की जानना चाहिये। दो इन्द्रिय जीवों में शंख बारह योजन विस्तार वाला है, तीन इन्द्रिय जीवों में कुम्भी-चिंउटी तीन कोश विस्तार वाली है, चार इन्द्रिय जीवों में भौरा एक योजन-चार कोस विस्तार वाला है। और पांच इन्द्रिय महामच्छ

एक हजार योजन विस्तार वाला है।

ये उत्कृष्ट अवगाहना के धारक जीव स्वयंभूरमण द्वीप के बीच में पड़े हुए स्वयंभू पर्वत के आगे के भाग में होते हैं। मच्छ स्वयंभूरमणसमूद्र में रहता है।

### एकेन्द्रियादिक जीवों की जघन्य अवगाहना-

असंख्याततमो भागो यावानस्त्यंगुलस्य तु।

एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यतः ॥(145)

एकेन्द्रियादिक सभी जीवों का शरीर जघन्य रूप से घनागुल के असंख्यातवैभाग प्रमाण है।

एकेन्द्रिय जीवों में सर्वजघन्य शरीर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के तीसरे समय में होता है तथा उसका प्रमाण घनागुल के असंख्यातवै भाग प्रमाण है। द्वीन्द्रियों में सर्वजघन्य शरीर अनुंधरी का त्रीन्द्रियों में कुन्धु का, चतुरिन्द्रिय में कणमक्षिका का, और पंचेन्द्रिय में तण्डुलमच्छ का होता है। यद्यपि इन सबका सामान्य रूप से प्रमाण घनागुल का असंख्यातवै भाग बराबर है तथापि वह आगे-आगे संख्यात गुणा-संख्यात गुणा है।

### स्थावरादिजीवों की कुल कोटी-

बावीस सत्त तिण्णिय, सत्त य कुलकोडियसयसहस्साहि।

णेया पुढ्विदगागणि, वाउक्कायाण परिसंखा ॥(113)

पृथिवीकायिक जीवों के कुल बाईस लाख कोटी है। जलकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटी हैं। अग्निकायिक जीवों के कुल तीन लाख कोटी हैं। और वायुकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटी हैं।

### त्रस जीवों के भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसा :। (14)

(Mobile or many sensed souls) with 2 senses etc; .

दो इन्द्रिय आदि त्रस हैं।

त्रसनाम कर्म के उदय से संसारी जीव त्रसकायिक होते हैं। इस अपेक्षा से त्रस जीव एक होते हुए भी इन्द्रियादि भेद से उनमें भी भेद पाये जाते हैं।

गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में जीवों के विभिन्न भेद प्रभेदों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे ।  
इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुपणगभेदजुदे ॥(75)

सामान्य से जीव का एक ही भेद है, क्योंकि 'जीव' कहने से जीव मात्र का ग्रहण हो जाता है। इसलिए सामान्य से जीव समास का एक भेद, त्रस और स्थावर अपेक्षा से ये दो भेद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रिय) की अपेक्षा तीन भेद। यदि पंचेन्द्रिय के दो भेद कर दिये जायें तो जीव समास के एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा पांच भेद हैं, अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, वनस्पति ये पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार कायकी अपेक्षा छह भेद हैं। यदि पांच स्थावरों में त्रस के विकल और सकल इस तरह दो भेद करके मिला दिये जाँय तो सात भेद होते हैं। और विकल, असंज्ञी, संज्ञी इस प्रकार तीन भेद करके मिलाने से आठ भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, इस तरह चार भेद करके मिलाने से नव भेद होते हैं। और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इस तरह पाँच भेद मिलाने से दश भेद होते हैं।

### द्वीन्द्रिय जीवों के नाम

शम्बूकः शङ्खशुक्ति वा गण्डूपदकपर्दकाः ।  
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥(53)

त.सा. अ.2

शम्बूक, शङ्ख, सुक्ति-सीप, गिंडोलें, कौंडी तथा पेट के कीड़े आदि ये दो इन्द्रिय जीव माने गये हैं।

### त्रीन्द्रिय जीवों के नाम

कुन्धुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः  
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥54॥

कुन्धु, चिंउटी, कुम्भी, बिच्छू, बीरबहुटी, घुनका कीड़ा, खटमल, चीलर-जूंवा आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं।

### चतुरिन्द्रिय जीवों के नाम

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।

घरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥55॥

भौरा, उड़ने वाले कीड़े, डांस, मच्छर, मक्खी, वरं तथा टिड्डी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं।

### पञ्चेन्द्रिय जीवों के नाम

पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवीकसः ।

तिर्यञ्चोऽप्युरगा भोगिपरिसर्पचतुष्पदाः ॥ (56)

मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यच, साँप, फणवाले नाग, सरकने वाले अजगर आदि तथा चौपाये पाँच इन्द्रिय जीव हैं।

### इन्द्रियों की गणना

पञ्चेन्द्रियाणि । (15)

The senses are five.

**इन्द्रियाँ पाँच हैं।**

कोई अन्य मतवादी, पाँच छह और ग्यारह भी इन्द्रियाँ मानते हैं। उनका निराकरण करने के लिए 'इन्द्रियाँ पाँच हैं अधिक नहीं हैं, ऐसा नियम करने के लिए "पाँच" यह शब्द दिया है। 'इन्द्र' आत्मा का लिंग इन्द्रियाँ कहलाती हैं। कर्म परतंत्र होने पर भी आत्मा अनंत ज्ञानादि परमेश्वरत्व शक्ति के योग से इन्द्र व्यपदेश को धारण करने वाला है। स्वयं अर्थ को ग्रहण करने में असमर्थ आत्मा को जो अर्थग्रहण करने में सहायक है- उसको इन्द्रिय कहते हैं।

कर्मरूप इन्द्र के द्वारा निर्मित होने से 'इन्द्रियाँ' कहलाती हैं। अथवा स्वकीय कर्म विपाकवश आत्मा देवेन्द्र, मानव, तिर्यच, नरकादि योनियों में इष्टानिष्ट का अनुभव करता है अतः कर्म ही इन्द्र है और इस कर्मरूपी, इन्द्र के द्वारा सृष्ट-रची हुई होने से इन्द्रियाँ कहलाती हैं। अनवस्थान होने से-मन इन्द्रिय नहीं है। अर्थ चिंतन में सहायक एवं कर्मकृत होते हुए भी मन चक्षुरादि

इन्द्रियों के समान नियत स्थानीय नहीं है, अनवस्थित है अतः मन को इन्द्रियों में शामिल नहीं किया गया।

मन का व्यापार इन्द्रियों के पूर्व होता है इसलिये भी इन्द्रियों में मन परिगणित नहीं है। चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा रूपादि विषय के उपयोग से परिणमन के पूर्व ही मानसिक व्यापार हो जाता है क्योंकि शुक्लादि के देखने का इच्छुक प्रथम मानसिक उपयोग करता है कि, मैं रूप को देखता हूँ, उसका स्वाद लेता हूँ इत्यादि। तथा उस मन का बलाधान (निमित्त) पाकर चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय में व्यापार करता है इसलिए मन के अनिन्द्रियत्व है।

## इन्द्रियों के मूल भेद द्विविधानी। (16)

They are of 2 kinds:-

- (1) द्रव्येन्द्रिय Objective-senses, sense organs; and,
- (2) भावेन्द्रिय (Subjective- senses, senses- faculties.

वे प्रत्येक दो दो प्रकार की हैं।

पांचो इन्द्रियों के दो-दो भेद हो जाते हैं। (1) द्रव्येन्द्रिय (2) भावेन्द्रिय।

## द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। (17)

Objective senses or sense- organs (have a two-fold formation:-

- (1) निर्वृत्ति- The organs itself, e.g. the pupil of the eye.
- (2) उपकरण- Its protecting environment e.g. the eye-lid etc.

निर्वृत्ति और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय है।

रचना की जाती है- वह निर्वृत्ति कहलाती है। नाम कर्म के द्वारा जिसकी रचना, निष्पादन की जाती है- वह निर्वृत्ति कहलाती है।

निर्वृत्ति बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की हैं। विशुद्ध आत्मप्रदेशों की रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशों की चक्षुरादि के आकार रूप से रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है।

आत्मा के उन्हीं विशुद्ध प्रदेशों में इन्द्रियों के नाम से कहे जाने वाले भिन्न-2 आकारों के धारक संस्थान नामकर्म के उदय से होने वाले अवस्था विशेष से युक्त, जो पुद्गल पिण्ड हैं वह बाह्य निर्वृत्ति है अर्थात् उन भावेन्द्रिय आकार रूप से स्थित आत्म प्रदेशों में नामकर्म के उदय से शरीर योग्य पुद्गल प्रचर्यों की चक्षुरादि इन्द्रिय आकार रूप रचना होना बाह्य निर्वृत्ति है।

जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है उसे उपकरण कहते हैं।

वह उपकरण पूर्व के समान दो प्रकार का है। जैसे— बाह्याभ्यन्तर के भेद से निर्वृत्ति दो प्रकार की है, उसी प्रकार उपकरण भी बाह्याभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। आँख में सफेद और काला मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक आदि बाह्य उपकरण है।

### भाव इन्द्रिय का स्वरूप लब्ध्युपयोगी भावेन्द्रियम्।(18)

Bhavendriyas subjective sense, sense faculties (are of 2 kinds)—

(1) लब्धि— It is the attainment of manifestation of the sense faculty by the partial destruction subsidence and operation of the knowledge-obscuring karma relating to that sense.

(2) उपयोग The conscious attention of the soul directed to that sense.

लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय है।

लाभ को लब्धि कहते हैं अर्थात् इन्द्रियों की रचना में कारण भूत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। जिस ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशमरूप परिणाम के रहने पर आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के लिए व्यापार करता है, ज्ञानावरण कर्म के उस क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। तन्निमित्त परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेषरूप लब्धि का निमित्त पाकर उत्पन्न आत्मा के परिणाम विशेष (ज्ञानादि व्यापार) को उपयोग कहते हैं।

भावेन्द्रिय और लब्धि क लक्षण-

लब्धिस्तथयोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदाहृतम्।  
सा लब्धिर्बोधरोधस्य यः क्षयोपशमोभवेत् ॥ 44  
(तत्त्वार्थसार अ. 2 पृ.48)

लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहा है। ज्ञानावरणकर्म का जो क्षयोपशम है वह लब्धि कहलाती है।

उपयोग का लक्षण और उसके भेद

स द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते यतः।  
कर्मणो ज्ञानरोधस्य क्षमोपशमहेतुकः ॥(45)  
आत्मनः परिणामो य उपयोगः स कथ्यते।  
ज्ञानदर्शनभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः ॥(46)

जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापृत होता है ऐसा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है। ज्ञान और दर्शन के भेद से मूल में उपयोग दो प्रकार हैं। फिर ज्ञानोपयोग के आठ और दर्शनोपयोग के चार भेद मिलाकर बारह प्रकार का होता है।

पञ्च इन्द्रियों के नाम

स्पर्शरसनाघ्राणचक्षुः श्रोत्राणि । (19)

The Senses are-

स्पर्शन Organ of touch, i.e. the whole body.

रसना Organ of taste i.e. tongue

घ्राण Organ of smell i.e. nose.

चक्षु Organ of sight i.e. eyes.

श्रोत Organ of hearing i.e. ears.

स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत ये इन्द्रियाँ हैं।

जो स्वतंत्र रूप से काम करता हो उसे इन्द्र कहते हैं। स्पर्शादि स्वतंत्र रूप से काम करते हैं इसलिए इन्हें 'इन्द्रिय' कहते हैं। अथवा संसारी जीव के चिन्ह विशेष को इन्द्रिय कहते हैं। या संसारी जीव जिस उपकरण के माध्यम से बाह्य वस्तु को जानता है उसे भी इन्द्रिय कहते हैं।

वीर्यान्तराय और मतिज्ञान कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नाम कर्म के आलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जिसके द्वारा स्वाद लेता है वह रसना इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सूँघता है वह घ्राण इन्द्रिय है। उनमें से यहाँ दर्शन रूप अर्थ लिया गया है इसलिए जिसके द्वारा पदार्थों को देखता है वह चक्षु इन्द्रिय है तथा जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत इन्द्रिय है। इसी प्रकार इन इन्द्रियों की विवक्षा भी देखी जाती है। जैसे यह मेरी आँख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। और इसलिये इन स्पर्शन आदि स्पर्शन इन्द्रिय है। जो स्वाद लेती है वह रसना इन्द्रिय है, जो सूँघती है वह घ्राण इन्द्रिय है, जो देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है। इन्द्रियों का जो स्पर्शन के बाद रसना और उसके बाद घ्राण इत्यादि क्रम से निर्देश किया है वह एक-2 इन्द्रिय की इस क्रम से वृद्धि होती है यह दिखलाने के लिए किया है।

पूर्व में भावेन्द्रियों के स्वरूप, विषय क्रम, वृद्धि, विषय क्षेत्र का वर्णन हो चुका है। किन्तु द्रव्येन्द्रियों का वर्णन बाकी है। अतएव अब उसी का स्वरूप बताने की दृष्टि से यहाँ इन्द्रियों की बाह्य निवृत्ति का स्वरूप बताते हैं। अपने-2 स्थान पर जो कर्म रूप पुद्गलवर्गणाओं का जो आकार बनता है उसी को बाह्य निवृत्ति कहते हैं। चक्षु श्रोत घ्राण और जिह्वा इन चार इन्द्रियों का आकार नियत है, परन्तु स्पर्शन इन्द्रिय का आकार नियत नहीं है। क्योंकि वह सम्पूर्ण शरीर के साथ व्याप्त है और शरीरों के आकार विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं।

तत्तत् इन्द्रिय के स्थान पर अपने-2 आवरण कर्म के क्षयोपशम रूप कार्माण पुद्गलस्कन्ध से युक्त आत्मा के प्रदेशों का जो आकार बनता है। उसको आभ्यन्तर निवृत्ति कहते हैं। स्पर्शनिन्द्रिय की यह आभ्यन्तर निवृत्ति भी भिन्न-2 प्रकार की हुआ करती है।



## इन्द्रियों के विषय स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थः । (20)

The functions (of the 5 senses are to determine the various kinds of) touch, taste, smell, colour, and sound (respectively. स्पर्श Touch is of 8 kinds: उष्ण hot, शीत Cold, रूक्ष rough; स्निग्ध smooth; कोमल Soft; कठोर hard; लघु Light and गुरु heavy, रस Taste is of 5 kinds. तिक्त pungent; अम्ल acid, कटू bitter मधुर sweet and कषायला astringent. गन्ध smell is of 2 kinds: सुगन्ध sweet smelling; fragrant दुर्गन्ध bad-smelling; malodorous, वर्ण colour is of 5 kinds कृष्ण black, नील blue, पीत yellow शुक्ल white, पदम् Pink, शब्द Sound, स्वर is of 7 kinds; षड्ज Sadja ऋषभ risabha, गन्धार Gandhara मध्यम Madhyama पञ्चम Panchama; धैवत dhavata and निषाध nisadha, i.e. the do, re, me, fa, solla, si.

स्पर्शन, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द ये क्रम से उन इन्द्रियों के विषय है।

1. स्पर्शन इन्द्रिय— संसारी जीव जिस इन्द्रिय के माध्यम से स्थूल भौतिक वस्तु के स्पर्श गुण को छूकर जानता है उसको 'स्पर्शन इन्द्रिय' कहते हैं। जैसे शीत, उष्ण, कोमल-कठोर, हल्का-भारी, ठंडा-गर्म का ज्ञान स्पर्श इन्द्रिय से होता है।

2. रसना इन्द्रिय:— जिसके माध्यम से पुद्गल के खट्टा-मीठा, कड़ुवा कषायलादि रस गुण का ज्ञान होता है उसे 'रसना इन्द्रिय' कहते हैं।

3. घ्राण इन्द्रिय:— जिसके माध्यम से पुद्गल के सुगन्ध और दुर्गन्ध रूपी गन्ध गुण का ज्ञान होता है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं।

4. चक्षु इन्द्रिय:— जिसके माध्यम से पुद्गल के नीला, पीला, हरा, लाल, सफेदादि वर्ण गुण का ज्ञान होता है उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं।

5. कर्ण इन्द्रिय— जिसके माध्यम से सा रे गम शब्द का ज्ञान होता है उसे कर्ण इन्द्रिय कहते हैं। गोम्मट्टसार में इन्द्रियों के विषय क्षेत्र, आकार, अवगाहनादि

का वर्णन नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने निम्न प्रकार से किया है:-

एङ्दियस्स फुसणं एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं।

होति कम्पउङ्घियाइं जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं ॥ (167)

एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शनिन्द्रिय ही होती है। शेष जीवों के क्रम से जिब्हा, घ्राण चक्षु और श्रोत बढ़ जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शनिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय के स्पर्शन, रसना (जिब्हा) त्रीन्द्रियके स्पर्शन, रसना, घ्राण (नासिका) चतुरिन्द्रियके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और पंचेन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र होते हैं।

स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ कितनी दूर तक रखे हुए अपने विषय का ज्ञान कर सकती हैं यह बताने के लिये इन्द्रियों का विषयक्षेत्र बताते हैं-

धणुवीसडदसयकदी जोयणाछादालहीणतिसहस्सा।

अट्टसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णि ति ॥ (168)

स्पर्शन, रसना, घ्राण इनका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र क्रमसे चारसौ धनुष, चौसठ धनुष, सौ धनुष प्रमाण है। चक्षुका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र दो हजार नवसौ योजन है। और श्रोतेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र आठ हजार धनुष प्रमाण है। और आगे असंज्ञिर्पर्यन्त दूना विषय बढ़ता गया है।

संज्ञी जीवकी इन्द्रियों का विषयक्षेत्र

सण्णिस्स वार सोदे, तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स।

सत्तेतालसहस्सा बेसदतेसट्ठिमदिरेया ॥ (169)

संज्ञी जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण इन तीन में प्रत्येक विषय क्षेत्र नव-2 योजन है। और श्रोत्रेन्द्रियका बारह योजन, तथा चक्षुका सैंतालीस हजार दोसौ त्रेसठसे कुछ अधिक विषयक्षेत्र है।

इन्द्रियों का आकार

चक्खु सोदं घाणं जिब्भायारं मसूरजवणाली।

अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ॥ (171)

मसूर के समान चक्षुका जवकी नलीके समान श्रोत्रका तिलके फूल के

समान घ्राणका तथा खुरपा के समान जिह्वाका आकार है। और स्पर्शनिन्द्रिय के अनेक प्रकार हैं।

इन्द्रियों के (द्रव्येन्द्रियों के) आकार में जो आत्मा के प्रदेश हैं उनका अवगाहन प्रमाण बताते हैं।

अंगुलअसंखभागं संखेज्जगुणं तदो विसेसहियं।

तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेज्जयं तत्तु ॥ (172)

आत्मप्रदेशों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रियका अवगाहन घनाङ्गुलके असंख्यात भाग प्रमाण है। और इससे संख्यातगुणा श्रोत्रेन्द्रियका अवगाहन हैं। श्रोत्रेन्द्रियका जितना प्रमाण है उससे पत्यके असंख्यात वें भाग अधिक घ्राणेन्द्रिय का अवगाहन है। घ्राणेन्द्रिय के अवगाहन से पत्य के असंख्यात वें भाग गुणा रसनेन्द्रिय का अवगाहन है। परन्तु सामान्य की अपेक्षा गुणाकार और भागहारका अपवर्तन करने से उक्त चारों ही इन्द्रियों का अवगाहन प्रमाण घनाङ्गुल के संख्यात भागमात्र है।

स्पर्शनिन्द्रिय के प्रदेशों का अवगाहनप्रमाण

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयहिं।

अङ्गुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ (173)

स्पर्शनिन्द्रियकी जघन्य अवगाहना घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। और यह अवगाहना सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तक के उत्पन्न होने से तीसरे समय में होती है। उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्य के होती है, इसका प्रमाण संख्यात घनाङ्गुल है।

मन का विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य । (21)

(The function) of the mind (is the) cognition of scriptural knowledge.

श्रुत मन का विषय है।

श्रुतज्ञान का विषय भूत अर्थ श्रुत है वह अनिन्द्रिय अर्थात् मन का विषय है, क्योंकि श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम को प्राप्त हुए जीव के श्रुतज्ञान के विषय

में आलम्बन से ज्ञान होता है। अथवा श्रुत शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है। और वह मन का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है। यह प्रयोजन मन के स्वतः आधीन है इसमें उसे दूसरे के साहाय्य की आवश्यकता नहीं लेनी पड़ती।

यहाँ श्रुत शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान का विषय या श्रुतज्ञान किया है और उसे अनिन्द्रिय का विषय बतलाया है। आशय यह है कि श्रुतज्ञान की उपयोग दशा पाँच इन्द्रियों के निमित्त से न होकर केवल अनिन्द्रिय के निमित्त से होती है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि, अनिन्द्रिय के निमित्त से केवल श्रुतज्ञान ही होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय है कि, जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनों के निमित्त से होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान इन दोनों के निमित्त से न होकर केवल अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है।

### इन्द्रियों के स्वामी वनस्पत्यन्तानामेकम् (22)

The earth- bodied, fire-bodied, air-bodied water-bodied up to the vegetable-bodied, souls (have only) one sense i.e, touch. They know only by means of touch.

वनस्पतिकायिक तक के जीवों के एक अर्थात् प्रथम इन्द्रिय होती है।

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अम्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक की केवल प्रथम इन्द्रिय अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय ही होती है।

वीर्यान्तराय तथा स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम के होने पर और शेष इन्द्रियों के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय होने पर तथा शरीर नामकर्म के आलम्बन होने पर और एकेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय की आधीनता के रहते हुए एक स्पर्शन इन्द्रिय प्रकट होती है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैक वृद्धानि । (23)

कृमि Worms etc; (have 2 Senses : touch and taste).

पिपीलिका Ants, ect; (have 3 Senses: touch, taste, smell.)

भ्रमर Bumble-bee, etc. (have 4 Sense: touch, taste, smell and sight.)

मनुष्य Man etc; (have 5 Sense: touch, taste, smell sight and hearing.)

कृमि, पिपीलिका, भ्रमर और मनुष्य आदि के क्रम से एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है।

इन्द्रियाँ एक-एक के क्रम से बढ़ी हैं इसलिए वे 'एकैकवृद्ध' कही गयी हैं। ये इन्द्रियाँ कृमि से लेकर बढ़ी हैं। यहाँ स्पर्शन इन्द्रिय का अधिकार है। स्पर्शन इन्द्रिय से लेकर एक-एक के होने से क्रम से बढ़ी हैं। इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। 'आदि' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। जिससे यह अर्थ हुआ कि क्रमि आदि जीवों के स्पर्शन, रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। पिपीलिका आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। मनुष्यादिक के श्रोत्र इन्द्रिय के और मिला देने पर पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार उक्त जीव और इन्द्रिय इनका यथाक्रम से सम्बन्ध का व्याख्यान किया।

द्विइन्द्रिय जीव में स्पर्शन एवम् रसना इन्द्रिय सम्बन्धी सर्वघातिस्पर्धकों का क्षयोपशम रहता है एवम् इनके ही देशघाति स्पर्धकों का उदय रहता है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए।

कुंदकुंद देव ने पंचास्तिकाय में त्रस जीवों का वर्णन निम्न प्रकार से किया-

संबुक्कपादुवाहा संखा सिप्पी आपाद्गा य किमी।

जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा॥(114)

स्पर्शनिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श और रस को जानने वाले वह (शंबूक आदि) जीव मनरहित द्वीन्द्रिय जीव हैं।

त्रीन्द्रिय जीव -

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छयादिया कीडा।

जाणंति रसं फासं गंध तेइन्दिया जीवा॥

स्पर्शनिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से

स्पर्श, रस और गंध को जानने वाले यह (जूं आदि) जीव मनरहित त्रीन्द्रिय जीव हैं।

चतुरिन्द्रिय जीव-

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरा पतंगमादीया ।  
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति ॥(116)

स्पर्शनिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्ण को जानने वाले यह (डांस आदि) जीव मनरहित चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दणुह ।  
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेन्द्रिया जीवा ॥(117)

स्पर्शनिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण मन के आवरण का उदय होने से, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को जानने वाले जीव मन रहित पंचेन्द्रिय जीव हैं, कुछ (पंचेन्द्रिय जीव) होते हैं जिनके मनके आवरण भी क्षयोपशम होने से संज्ञी है।

उनमें देव, मनुष्य और नारकी मनसहित ही होते हैं, तिर्यच दोनों जाति के (अर्थात् मन रहित तथा मन सहित) होते हैं।

इन्द्रियों का विषय क्षेत्र-

धणुवीसडदसयकदी, जोयणछादालहीणतिसहस्सा ।  
अट्ठसहस्स धणूणं, विसया दुगुणा असण्णि ति ॥(168)

गो.सा.

एकेन्द्रिय के स्पर्शनिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र चार सौ धनुष है। और द्वीन्द्रियादि के वह दूना-दूना होता गया है। अर्थात् द्विन्द्रिय के आठ सौ, त्रीन्द्रिय के सोलह सौ, चतुरिन्द्रिय के बत्तीस सौ, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के चौंसठ सौ धनुष स्पर्शनिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र है। द्वीन्द्रिय के रसनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र चौंसठ धनुष है और वह भी त्रीन्द्रियादिक के स्पर्शनिन्द्रिय के विषय क्षेत्र

की तरह दूना-दूना होता गया है। अर्थात् त्रीन्द्रिय के 128 चतुरिन्द्रिय के 256 और असंज्ञीपंचेन्द्रिय के रसना का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र 512 धनुष प्रमाण हैं। इसी प्रकार घ्राण और श्रोत्र का विषय क्षेत्र भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् घ्राणेन्द्रिय का विषय क्षेत्र त्रीन्द्रिय के 100, चतुरिन्द्रिय के 200, और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के 400 धनुष प्रमाण है। चक्षुन्द्रिय का विषय क्षेत्र चतुरिन्द्रिय के 2954 और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के 5908 योजन है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के श्रोत्र का विषय 8000 धनुष है।

**संज्ञी जीव की इन्द्रियों का विषय क्षेत्र-**

सण्णिस्स वार सोदे, तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स ।

सत्तेतालसहस्सा, बेसदतेसट्ठिभिदिरेया ॥(169)

संज्ञी जीव के स्पर्शन, रसना, घ्राण इन तीन इन्द्रियों में से प्रत्येक का विषयभूत क्षेत्र नौ-नौ योजन है। और श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र बारह योजन है। तथा चक्षुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय क्षेत्र सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन से कुछ अधिक है।

**समनस्क का स्वरूप**

**संज्ञिनः समनस्काः ।(24)**

The rational (beings are also called-)

**संज्ञी-** i.e. one who has got sanjna-mind here.

**मनवाले जीव संज्ञी होते हैं।**

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव में से पंचेन्द्रिय सैनी जीव अधिक विकसित जीव है क्योंकि संज्ञी जीव मन सहित होता है। मन दो प्रकार के है- (1) द्रव्यमन (2) भावमन

पुद्गालविपाकी अंगोपांग नाम कर्म के उदय से द्रव्यमन होता है तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले की आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं। यह मन जिन जीवों के पाया जाता है वे समनस्क है और उन्हे ही संज्ञी कहते हैं। परिशेष न्याय से यह सिद्ध

हुआ कि इनके अतिरिक्त और जितने जीव होते हैं वे असंज्ञी है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार में संज्ञी मार्गणा में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा ।  
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो ॥

नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं। और जिनके यह संज्ञा न हो किन्तु केवल यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञी असंज्ञी की पहचान के लिए चिन्ह :-

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।  
जो जीवो सो सण्णी तच्चिवरीओ असण्णी दु ॥(661)

हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिसके द्वारा किया जाए उसको 'शिक्षा' कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ पैर के चलाने को 'क्रिया' कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बताये हुए कर्तव्य को 'उपदेश' कहते हैं। और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं।

जो जीव इन शिक्षादि को मन के अवलम्बन से ग्रहण = धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं। और जिन जीवों में यह लक्षण घटित न हो उसको असंज्ञी कहते हैं।

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।  
सिक्खादि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरिदो ॥

जो जीव प्रवृत्ति करने से पहले अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार करें तथा तत्त्व और अतत्त्व का स्वरूप समझ सके, और जो नाम रखा गया हो उस नाम के द्वारा बुलाने पर आ सके, उन्मुख हो या उत्तर दे सके उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं। और इससे जो विपरीत है उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं।



**संज्ञीमार्गणागत जीवों की संख्या :-**

देवहि सदिरेगो रासी सण्णीण होदि परिमाणं।  
तेणूणो संसारी सव्वेसिमसण्णिजीवाणं ॥

देवों के प्रमाण से कुछ अधिक संज्ञी जीवों का प्रमाण है। सम्पूर्ण संसारी जीव राशि में से संज्ञी जीवों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवों का प्रमाण है। [गोम्मट्टसार, पृ.245]

## **विग्रह गति में गमन का कारण**

**विग्रहगतौ कर्मयोगः। (25)**

**विग्रहगति** Transmigration (i.e. the passage of the Soul from one incarnation to another there is only) body Vibration by which the electric and molecules are attracted by the Soul.

**विग्रहगति में कर्मयोग होता है।**

‘विग्रह’ का अर्थ देह है। ‘विग्रह’ अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है वह विग्रह गति है। अथवा विरुद्ध ग्रह को विग्रह कहते हैं जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि, जिस अवस्था में कर्म के ग्रहण होने पर भी नोकर्मरूप पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता वह ‘विग्रह’ है और इस विग्रह के साथ होने वाली गति का नाम विग्रहगति है। सब शरीरों की उत्पत्ति के मूलकारणरूप कार्मण शरीर को ‘कर्म’ कहते हैं। तथा वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के हलनचलन को ‘योग’ कहते हैं। कर्म के निमित्त से जो योग होता है वह कर्मयोग है। वह विग्रहगति में होता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इससे नूतन कर्म का ग्रहण और एक देश से दूसरे देश में गमन होता है।

## गमन किस प्रकार होता है अनुश्रेणि गति :। (26)

In transmigration or passage from one incarnation to another the souls' movement (is always) in a straight line.

**श्रेणि** A straight line of spatial units from end to end) parallel with one of the 6 directions; East-West, North, South, up and down either way.

**गति श्रेणी के अनुसार होती है।**

• लोक के मध्य से लेकर ऊपर नीचे और तिरछे क्रम से स्थित आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

अनु शब्द 'आनुपूर्वी' अर्थ में समसित है। इसलिए 'अनुश्रेणी' का अर्थ 'श्रेणी की आनुपूर्वी से' होता है। इस प्रकार की गति जीव और पुद्गलों की होती है यह इसका भाव है। इस अनुश्रेणि गति में कालनियम और देशनियम जानना चाहिए।

1. **कालनियम यथा** – मरण के समय जब जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब ऊर्ध्वगमन करते हैं तब उनकी गति अनुश्रेणि ही होती है।

2. **देशनियम यथा** – जब कोई जीव उर्ध्वलोक से अधोलोक के प्रति या अधोलोक से ऊर्ध्वलोक के प्रति आता जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोक से अधोलोक के प्रति या ऊर्ध्वलोक के प्रति जाता है तब उस अवस्था में गति अनुश्रेणि ही होती है। इसी प्रकार पुद्गलों की जो लोक के अन्त को प्राप्त कराने वाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणि भी होती है और विश्रेणि भी। किसी एक प्रकार की होने का कोई नियम नहीं है।

## मुक्त जीवों की गति अविग्रहा जीवस्य। (27)

The soul in its pure condition, i.e. the liberated) soul has (a Straight upward) vertical movement, the movement is called अविग्रहा because it is quite direct and upward, vertical and there is no turning in it.

### मुक्त जीव की गति विग्रह रहित होती है।

जीव की स्वाभाविक गति का प्रतिपादन करते हुए आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यों के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादक द्रव्य संग्रह शास्त्र में उल्लेख करते हैं कि “विस्ससोड्ढाई” अर्थात् जीव की स्वाभाविक गति उर्ध्वगमन स्वरूप है। अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार में जीव एवं पुद्गल के स्वभाव का वर्णन करते हुए उल्लेख करते हैं कि-

उर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः।

अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम्॥

(32 अ.पृ.199)

सर्वज्ञ - सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान ने जीव को उर्ध्व गौरव (उर्ध्व गुरुत्व) धर्म वाला बताया है और पुद्गल को अधोगौरव (अधोगुरुत्व) धर्म वाला प्रतिपादित किया है।

जीव की स्वाभाविक गति उर्ध्व से उर्ध्वगमन करने की है। पुद्गल (MATTER) की स्वाभाविक गति नीचे से नीचे की ओर है। कारण यह है कि, जीव के अमूर्तिक (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, वजन से रहित) एवं स्थानान्तरित रूप गति क्रिया-शक्ति से युक्त होने के कारण उसकी गति उर्ध्वगमन होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ:- हाइड्रोजन गैस लीजिए। हाइड्रोजन गैस से भरे हुए बैलून को मुक्त करने पर वह बैलून धीरे-2 ऊपर ही गमन करता रहता है। यदि वह बैलून किसी कारणवश फटा नहीं तो वह गति करते-2 उस ऊँचाई तक पहुँचेगा जहाँ तक वायुमण्डल की तह में हाइड्रोजन ही हाइड्रोजन गैस है। हाइड्रोजन - बैलून का ऊपर स्वाभाविक गमन करने का कारण यह है कि हाइड्रोजन गैस साधारण हवा से 14 गुणा हल्की होती है। जब हाइड्रोजन

हवा से 14 गुणा हल्की होने के कारण वह बैलून ऊपर ही ऊपर उड़ता है, तो शुद्ध जीव, जो पूर्णतः वजन (भार) शून्य है, का ऊपर गमन करना स्वाभाविक है। पुद्गल; में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, भारादि के साथ-2 स्थानान्तरित गति शक्ति युक्त होने से पुद्गल का अधोगौरव स्वभाव होना भी स्वाभाविक है। यहाँ पर जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जीव की स्वाभाविक गति उर्ध्वगमन स्वरूप है तो यह संसारी जीव विभिन्न प्रकार की वक्रादि गति से विश्व के विभिन्न भाग में क्यों परिभ्रमण करता है ?

इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए अमृतचंद्र सूरि बताते हैं:-

अधस्तिर्यक्तथोर्ध्व च जीवानां कर्मजा गतिः।

उर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम्॥ (34)

जीव की संसार अवस्था में जो विभिन्न गति होती है, वह स्वाभाविक गति नहीं है। जीव की संसारावस्था की अधोगति, तिर्यक्गति, उर्ध्वगति कर्म जनित है। सम्पूर्ण कर्म से रहित जीव के केवल एक स्वाभाविक उर्ध्वगति ही होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के गति सम्बन्धी प्रथम सिद्धान्त के अनुसार

“A body at rest will remain at rest and a body moving with uniform velocity in a straight line will continue to do unless an external force is applied to it.”

अर्थात् एक द्रव्य, जो विराम अवस्था में है वह विरामावस्था में ही रहेगा तथा एक द्रव्य जो सीधी रेखा में गतिशील है, वह गतिशील ही रहेगा, जब तक द्रव्य की अवस्था में परिवर्तन करने के लिए कोई बाह्य बल न लगाया जाए। (एक द्रव्य तब तक स्थिर रहता है जब तक बाह्य शक्ति का प्रयोग उसको गतिशील कराने में नहीं होता है तथा एक द्रव्य अविराम गति से एक सीधी रेखा में तब तक चलता रहता है, जब तक उस पर किसी बाह्य शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता है।)

कोई भी द्रव्य यदि किसी एक दिक् की ओर गति करता है, तो वह द्रव्य उस दिक् में अनन्त काल तक अविराम, अपरिवर्तित गति से गति करता ही रहेगा, जब तक कोई विरोधी शक्ति या द्रव्य उस गति का विरोध नहीं

करेगा। दिक् अनन्त काल अनन्त एवम् शक्ति अक्षय होने से, जिस दिक् में एक द्रव्य गति करता है, वह द्रव्य उस दिक् के अनन्त आकाश की ओर अनन्त काल तक गति करता ही रहता है, परन्तु केन्द्राकर्षण शक्ति, बाह्य भौतिक या जैविक आदि विरोध शक्ति के कारण उस गति में परिवर्तन आ जाता है। जैसे एक गेंद को यदि ऊर्ध्व दिक् में फेंकते हैं तो वह कुछ समय के पश्चात् नीचे गिर जाती है। इसका कारण यह है कि, गेंद को ऊपर फेंकने के लिए जो शक्ति प्रयोग की गई थी, उससे वह ऊपर की ओर उठी थी, परन्तु पृथ्वी की केन्द्राकर्षण शक्ति के कारण उसमें परिवर्तन आया और कुछ समय के बाद उस गेंद की उर्ध्व गति में परिवर्तन होकर अधोगति हो गई।

एक अन्य उदाहरण - खेत से पक्षी उड़ाने वाले रस्सी के एक यंत्र विशेष में पत्थर आदि रखकर रस्सी के दोनों छोरों को पकड़कर अपनी ओर घुमाते हैं। रस्सी के साथ-2 पत्थर भी घूमता रहता है। कुछ समय के बाद रस्सी के एक छोर को छोड़ देते हैं जिससे वह पत्थर छूट कर सीधा दूर जाता है। जिस समय, वह व्यक्ति रस्सी के दोनों छोर पकड़कर घुमा रहा था, उस समय पत्थर उस व्यक्ति की घुमाव शक्ति से प्रेरित होकर आगे भागने का प्रयास करता था, परन्तु दोनों छोर को पकड़कर घुमाने के कारण वह पत्थर रस्सी के साथ-2 वर्तुलाकार में घूमता रहता था। जब उस व्यक्ति ने रस्सी के एक छोर को छोड़ दिया तो वह पत्थर उस बन्धन से मुक्त होकर आगे भागा। इसी प्रकार जीव की स्वाभाविक उर्ध्वगति होते हुए भी विरोधात्मक कर्म शक्ति से प्रेरित होकर कर्म संयुक्त संसारी जीव चतुर्गति रूपी संसार में परिभ्रमण कर रहा है, परन्तु जब वह कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है तब अन्य गतियों में से निवृत्त होकर स्वाभाविक उर्ध्व गति से गमन करता है।

पयङ्गि ठिदि अणुभागप्पदेस बंधेहिं सव्वदो मुक्को ।

उद्धं गच्छदि सेसा विदिसा वज्जं गदिं जंति ॥

प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाग-बन्ध, प्रदेश-बन्ध से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने के बाद परिशुद्ध स्वतंत्र शुद्धात्मा तिर्यक् आदि गतियों को छोड़कर उर्ध्व गमन करता है।

## संसारी जीवों की गति और समय विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः । (28)

विग्रहवती Passage from one incarnation to another of a mundane soul (takes place) before 4 (as at the most.)

A समय is the time taken by an atom of matter in passing from one प्रदेश i.e. point of space to the next.

संसारी जीवों की गति विग्रहरहित और विग्रहवाली होती है। उसमें विग्रहवाली गति चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती है। परन्तु चौथे समय में नहीं होती है। निष्कृत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले जीव को सबसे अधिक मोड़े लेने पड़ते हैं, क्योंकि वहाँ आनुपूर्वी से अनुश्रेणिका अभाव होने से इषुगति नहीं हो पाती। अतः यह जीव निष्कृत क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए तीन मोड़ेवाली गति का प्रारम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़ों की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि, इस प्रकार का कोई उपपाद-क्षेत्र नहीं पाया जाता, अतः मोड़े वाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समय में नहीं होती। 'च' शब्द समुच्चय के लिए दिया है। जिससे विग्रह वाली और विग्रहरहित दोनों गतियों का समुच्चय होता है।

तत्त्वार्थसार में कहा है कि—

सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा ।

अविग्रहैव मुक्तस्य शेषस्यानियमः पुनः ॥ (99)

अविग्रहैकसमया कथितेषु गतिर्जिनैः ।

अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा ॥ (100)

द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लाङ्गलिकां जिनाः ।

गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यान्त्रिविग्रहा ॥ (101)

समयं पाणिमुक्तायामन्यस्यां समयद्वयम् ।

तथा गोमूत्रिकायां त्रीननाहारक इष्यते ॥ (102)

अ.2पृ.62

सविग्रहा— मोड़सहित और अविग्रहा मोड़रहित के भेद से वह विग्रहगति दो प्रकार की होती है। मुक्त जीव की गति अविग्रहा— मोड़रहित ही होती है।

शेष जीवों की गति का कोई नियम नहीं है। अर्थात् उनकी गति दोनों प्रकार की होती है। जिस गति में विग्रह मोड़ नहीं होता उसमें एक समय लगता है तथा जिनेन्द्र भगवान् ने उसका इषुगतिनाम कहा है। जिसमें एक मोड़ लेना पड़ता है उसमें दो समय लगते हैं तथा इसका 'पाणिमुक्ता' नाम है। जिसमें दो मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें तीन समय लगते हैं तथा जिनेन्द्र भगवान् 'लाङ्गलिकागति' कहते हैं। जिसमें तीन मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं और उसे 'गोमूत्रिका' कहते हैं। पाणिमुक्तागति में जीव एक समय तक, लाङ्गलिकागति में दो समय तक और गोमूत्रिकागति में तीन समय तक अनाहारक रहता है। इषुगति में जीव अनाहारक नहीं होता।

### अविग्रह गति का समय एकसमयाऽविग्रहा। (29)

Where the passage is straight and there is no turning, it takes only one samaya. Even an atom of matter in going one end of the universe to the other in a straight upward or vertical direction ; takes only one Samaya if it goes fastest.

एक समय वाली गति विग्रहरहित होती है।

जिस गति में एक समय लगता है वह एक समयवाली गति है। जिस गति में विग्रह अर्थात् मोड़ा नहीं लेना पड़ता वह मोड़रहित गति है। गमन करने वाले जीव और पुद्गलों के व्याधात के अभाव में एक समयवाली गति लोकपर्यन्त भी होती है।

### विग्रह गति में आहारक, अनाहारक की व्यवस्था

#### एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः। (30)

(In the) one, two or three (samayes of its passage, the soul remains) अनाहारक non- assimilative (that is does not attract the molecules of aharaka assimilative matter of which the external bodies, i.e. the physical, fluid and aharaka bodies are formed.

एक दो या तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है। तीन शरीर और देह

पर्याप्ति के योग्य पुद्गल वर्गणाओं के ग्रहण करने को 'आहार' कहते हैं। (यहाँ आहार शब्द भोजन ग्रहण अर्थ में नहीं है) जिन जीवों के इस प्रकार का आहार नहीं होता वे अनाहारक कहलाते हैं। किन्तु कामार्ण शरीर के सद्भाव में कर्म के ग्रहण करने में अन्तर नहीं पड़ता। जब यह जीव उपपाद क्षेत्र के प्रति ऋजुगति में रहता है तब वह आहारक होता है। बाकी के तीनों समयों में अनाहारक होता है। जीव एक समय दो समय और तीन समय तक अनाहारक होता है।

## जन्म के भेद

संमूर्च्छनगर्भोपपादा जन्मः । (31)

Birth if of 3 kinds-

संमूर्च्छन Spontaneous generation

गर्भ Uterine birth

उपपाद Instantaneous rise.

संमूर्च्छन गर्भ और उपपाद ये (तीन) जन्म हैं।

सम्पूर्ण विश्व के अनन्तानंत जीव मुख्यतः तीन रूप से जन्म ग्रहण करते हैं। (1) सम्मूर्च्छन (2) गर्भ (3) उपपाद।

1. सम्मूर्च्छन जन्म— तीनों लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे देह का चारों ओर से मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना सम्मूर्च्छन है। इसका अभिप्राय है चारों ओर से पुद्गलों का ग्रहण कर अवयवों की रचना होना। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरन्द्रिय तक के जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन ही होता है।

2. गर्भ जन्म— स्त्री के उदर में शुक्र और शोणित के परस्पर गरण अर्थात् मिश्रण को गर्भ जन्म कहते हैं।

3. उपपाद जन्म— प्राप्त होकर जिसमें जीव हलन-चलन करता है उसे उपपाद कहते हैं। उपपाद यह देव और नारकियों के उत्पत्ति स्थान विशेष की संज्ञा है। संसारी जीवों के ये तीनों जन्म के भेद हैं, जो शुभ और अशुभ परिणामों के निमित्त से अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं, उनके फल हैं।



## योनियों के भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः । (32)

Living matter, cold, covered with their opposites, and the combination of each (pair) (are) their nuclei or birth places.

योनि nucleus the material environment in which the incarnating soul finds lodgment, is of 9 kinds:- (1) सचित्त of living matter. (2)

अचित्त of matter only with no life.

(3) सचित्ताचित्त of living and dead matter.

(4) शीत Cold

(5) उष्ण hot.

(6) शीतोष्ण Where life is generated by the Co-existence of cold and heat.

(7) संवृत्त Covered.

(8) विवृत्त Exposed.

(9) संवृत्त विवृत्त Part exposed and part covered.

सचित्त, शीत और संवृत्त तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत्त तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत्तविवृत्त ये उसकी अर्थात् जन्म की योनियाँ हैं।

संसारि जीव के योनिभूत स्थान या आधार को 'योनि' कहते हैं। चित्त सहित योनि को सचित्त योनि कहते हैं। आत्मा के चैतन्य रूप विशेष परिणाम को चित्त कहते हैं। शीतल स्पर्श युक्त योनि को शीत योनि कहते हैं। भले प्रकार ढकी योनि को संवृत्त योनि कहते हैं। 'संवृत्त' का अर्थ है जो देखने में न आये। उभयरूप योनि को मिश्र कहते हैं अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत्त विवृत्त योनि कहते हैं।

योनि और जन्म में आधार अध्येय दृष्टि से भेद है। ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं और जन्म के भेद आधेय हैं। क्योंकि सचित्त आदि योनिरूप आधार में संमूर्च्छन आदि जन्म के द्वारा आत्मा, शरीर, आहार और इन्द्रियों

के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है। देव और नारकियों की अचित्त- योनि होती है, क्योंकि उनके उपपाददेश के पुद्गल प्रचयरूप योनि अचित्त है। गर्भजों की मिश्र योनि होती है, क्योंकि उनकी माता के उदर में शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं जिनका सचित्त माता की आत्मा से मिश्रण है इसलिए वह मिश्र योनि है। समूर्च्छनों की तीन प्रकार की योनियाँ होती हैं। किन्हीं की सचित्त योनि होती है, किन्हीं की अचित्तयोनि होती है और किन्हीं की मिश्र योनि होती है। साधारण शरीर जीवों की सचित्त योनि होती है। क्योंकि ये एक-दूसरे के आश्रय से रहते हैं। इनसे अतिरिक्त शेष समूर्च्छन जीवों के अचित्त और मिश्र दोनों प्रकार की योनियाँ होती हैं। देव और नारकियों की शीत और उष्ण दोनों प्रकार की योनियाँ होती हैं, क्योंकि इनके कुछ उपपादस्थान शीत हैं और कुछ उष्ण। तेजस्कायिक जीवों की उष्णयोनि होती है। इनसे अतिरिक्त जीवों की योनियाँ तीन प्रकार की होती हैं। किन्हीं की शीत योनियाँ होती है, किन्हीं की उष्णयोनियाँ होती है और किन्हीं की मिश्रयोनियाँ होती है। देव, नारकी और एकेन्द्रियों की संवृत योनियाँ होती हैं। विकलेन्द्रियों की विवृत योनियाँ होती हैं। तथा गर्भजों की मिश्र योनियाँ होती हैं। इन सब योनियों के चौरासी लाख भेद हैं यह बात आगम से जाननी चाहिए। कहा भी है—

‘णिच्चिदरधादु सत्त य तरू वियलिंगिएसु छच्चेव ।  
सुरणिरयतिरिय सउरो चोदस मणुए सदसहस्सा ॥’

नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अमिकायिक और वायुकायिक जीवों की सात-सात लाख योनियाँ हैं। वृक्षों की दस लाख योनियाँ हैं। विकलेन्द्रियों की मिलाकर छह लाख योनियाँ हैं। देव, नारकी और तिर्यकों की चार-चार लाख योनियाँ है तथा मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं।

**गर्भ जन्म किसके होता है ?**

**जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः । (33)**

Uterine birth is of 3 kinds.

जरायुज Umbilical birth in a yolk, sack, flesh envelope, like a human child.

आण्डज Incubatory. Birth from a shell like an egg.

पोत Unumbilical. Birth without any sack or shell, like a cub of a lion or a kitten.

**जरायुज, अण्डज और पोत जीवों का गर्भ जन्म होता है।**

(1) **जरायुज**— जाल के समान प्राणियों के परिआवरण को जरायु कहते हैं। गर्भाशय में प्राणी के ऊपर जो मांस और रक्त का जाल के समान आवरण होता है उसे जरायु कहते हैं। मनुष्य, गाय, भैंस आदि के जन्म जरायुज हैं। जरायुज प्राणी आधुनिक विज्ञान के अनुसार और जैनधर्म के अनुसार उन्नतशील जीव होते हैं। विशेषतः ये जीव स्थलचर होते हैं।

(2) **अण्डज**— शुक्र और शोणित से परिवेष्टित नख के ऊपरी भाग के समान कठिन और गोलाकार अण्डा होता है। जो नख की छाल के समान कठोर हो, पिता के वीर्य और माता के रक्त से परिवेष्टित हो तथा श्वेत वर्ण तथा गोलाकार हो उसका नाम अण्डा है। इस अण्डे में जन्म लेने वाले को अण्डज कहते हैं। चील, कबूतर, तोता; मैना (सारिका) आदि अण्डज प्राणी हैं। यह प्राणी विशेषतः आकाशचर होते हैं। कुछ अण्डज जलचर भी होते हैं जैसे— घड़ियाल (मगरमच्छ)।

(3) **पोतजन्म**— सम्पूर्ण अवयव तथा परिस्पन्द सामर्थ्य से उपलक्षित पोत है। जो गर्भाशय से निकलते ही चलने-फिरने के सामर्थ्य से युक्त हैं— सम्पूर्ण अवयव वाला है और जिसके ऊपर कोई आवरण नहीं है वह पोत कहलाता है। जरा में उत्पन्न होने वाला जरायुज, अण्डे में उत्पन्न होने वाला अण्डज और आवरण रहित पोत है।

**उपपाद जन्म किसके होता है ?**

**देवनारकाणामुपपादः । (34)**

**उपपाद** i.e. birth by instantaneous rise is peculiar to hellish and celestial beings.

**देव और नारकियों का उपपाद जन्म होता है।**

## संमूर्च्छन जन्म किसके होता है ?

### शेषाणां संमूर्च्छनम्। (35)

All the rest i.e. except those born by embryonic birth and instantaneous rise are संमूर्च्छन born by spontaneous generation  
शेष सब जीवों का संमूर्च्छन जन्म होता है।

गर्भ जन्म जरायुज, अण्डज और पोत जीवों का ही होता है। या जरायुज, अण्डज और पोत जीवों के गर्भ जन्म ही होता है। देव और नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है। संमूर्च्छन जन्म शेष जीवों के ही होता है या शेष जीवों के संमूर्च्छन जन्म ही होता है।

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तिर्यचों का नियम से संमूर्च्छन जन्म ही होता है। अन्य जीवों के गर्भ और संमूर्च्छन दोनों होता है। लब्धपर्याप्तक मनुष्यों के भी संमूर्च्छन जन्म होता है। चारों तरफ से पुद्गल का इकट्ठा होकर शरीर बनने को संमूर्च्छन कहते हैं। संमूर्च्छन जन्म अन्यत्र स्थानों में होता है। संमूर्च्छन जन्म के सचित्त, अचित्त, मिश्र तीनों तरह की योनियाँ होती हैं। संमूर्च्छन जन्म में शीत, उष्ण और मिश्र तीनों योनियाँ होती हैं। पंचेन्द्रिय संमूर्च्छन जीवों की विकलत्रयों की तरह विवृत योनि ही होती है। पंचेन्द्रिय संमूर्च्छन तिर्यच कर्मभूमियाँ ही होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यच गर्भज तथा संमूर्च्छन ही होते हैं। संमूर्च्छन जीवों के उदाहरण- काई, शैवाल, छत्रक (कुकुरमुक्ता) अनाज के कीड़े, गोबर आदि में उत्पन्न होने वाले कीड़े। देखने में आते हैं कि शीत ऋतु में सेम की लता एवं पत्ते में शाम तक कीड़े नहीं होते हैं परन्तु सुबह होने पर सैंकड़ों कीड़े लता एवं पत्ते में हो जाते हैं। यह सब जीव कहाँ से आये? यह सब उसी वातावरण के कारण वहाँ उत्पन्न हो रहे हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उस वातावरण से जीव की उत्पत्ति हुई है परन्तु उस वातावरण में विग्रह गति से अन्य स्थान से आकर जीव जन्म लेते हैं। डार्विन आदि वैज्ञानिक लोग जो रसायनिक प्रक्रिया से जीव की सृष्टि मानते हैं वह सिद्धान्त शरीर की अपेक्षा एवम् जन्म की अपेक्षा सत्य होते हुए भी अविद्यमान जीव की उत्पत्ति मानना मिथ्या है। क्योंकि रसायनिक तत्त्व भौतिक है और शरीर भी

भौतिक है इसलिए शरीर की संरचना रसायनिक द्रव्य व परिवर्तन से संभव है परन्तु जीव (आत्मा) अभौतिक, अमूर्तिक, चैतन्य युक्त होने के कारण इसकी उत्पत्ति भौतिक द्रव्य से नहीं हो सकती।

## शरीर के नाम व भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि । (36)

The bodies are of 5 kinds—

- (1) औदारिक The physical.
- (2) वैक्रियक, Fluid
- (3) आहारक assimilative:
- (4) तैजस Electric.
- (5) कार्मण, Karmic

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर हैं।

### (1) औदारिक—

पुरुमहदुदारूरालं, एयदूठो संविजाण तम्हि भवं ।

ओरालियं \_\_\_\_\_ ॥

(230 गो. सा.जी.)

पुरु. महत, उदार, उराल, ये सब शब्द एक ही स्थूल अर्थ के वाचक हैं। उदार में जो होय उसको कहते हैं औदारिक।

### (2) वैक्रियक—

विविहगुणइड्डिजुत्तं, विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं । (232)

नाना प्रकार के गुण और ऋद्धियों से, युक्तदेव तथा नारकियों के शरीर को वैक्रियिक अथवा विगूर्व कहते हैं। विक्रिया का अर्थ शरीर के स्वाभाविक आकार के सिवाय विभिन्न आकार बनाना है। देव और नारकियों के शरीर का निर्माण जिन वर्गणाओं से हुआ करता है उनमें यह योग्यता रहा करती है। अतएव उनको वैक्रियिक या वैगूर्विक वर्गणा कहते हैं। इनसे निष्पन्न शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं।

### (3) आहारक—

आहारस्सुदयेण य, पमत्तस्स होदि आहारं।

असंजमपरिहरणट्ठं, सं हविणासणट्ठं च ॥ (235)

असंयम परिहार करने के लिए तथा संदेह को दूर करने के लिये आहारक ऋद्धि के धारक छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारक शरीर होता है

यह शरीर औदारिक अथवा वैक्रियिक शरीर की तरह जीवन भर नहीं रहा करता, किन्तु जिनको आहारक ऋद्धि प्राप्त है ऐसे प्रमत्त मुनि अपने प्रयोजन वश उनको उत्पन्न किया करते हैं। इसके लिए मुनियों के मुख्यतया दो प्रयोजन बताये गये हैं— असंयम का परिहार और संदेह का निवारण। ढाई द्वीप में पाये जाने वाले तीर्थों आदि की वन्दना के लिए जाने में जो असंयम हो सकता है वह न हो इसलिये। अर्थात् बिना असंयम के भी तीर्थ क्षेत्रों आदि के वन्दना कर्म की सिद्धि। इसी तरह कदाचित् श्रुत के किसी अर्थ के विषय में ऐसा कोई संदेह हो जो कि ध्यानादि के लिये बाधक हो और उसकी निवृत्ति केवली, श्रुतकेवली के बिना हो नहीं सकती हो तो उस सन्देह को दूर करने के लिये भी आहारक शरीर का निर्माण हुआ करता है। किन्तु यह शरीर आहारक शरीर नामकर्म के उदय के बिना नहीं हुआ करता तथा मुनियों के ही होता है और उनके भी अप्रमत्त अवस्था में न होकर प्रमत्त अवस्था में ही उत्पन्न हुआ करता है। अप्रमत्त या असंयम अवस्था में कदापि नहीं होता है।

आहारक शरीर किस अवस्था में और किन-किन प्रयोजनों से मुनियों के उत्पन्न हुआ करता है इस बात को आचार्य स्पष्ट करते हैं:-

णियखेत्ते केवल्लिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे ।

परखेत्ते संघित्ते, जिण जिणघरवंदणट्ठं च ॥ (236)

अपने क्षेत्र में केवली तथा श्रुतकेवली का अभाव होने पर किन्तु दूसरे क्षेत्र में जहाँ पर कि औदारिक शरीर से उस समय पहुँचा नहीं जा सकता केवली या श्रुतकेवली के विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थकरों के दीक्षा कल्याण आदि तीन कल्याणकों में से किसी के होने पर तथा जिन, जिनगृह चैत्य, चैत्यालयों

की वन्दना के लिए भी आहारक-ऋद्धिवाले छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के आहारक शरीर नामकर्म के उदय से यह शरीर उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक शरीर का स्वरूप—

उत्तम अंगमिह हवे, धादुविहीणं सुहं असंहणणं।  
सुह संठाणं धवलं, हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥(237)

यह आहारक शरीर रसादिक धातु और संहननों से रहित तथा समचतुरस्र संस्थान से युक्त एवं चन्द्रकांत मणि के समान श्वेत और शुभ नामकर्म के उदय से शुभ अवयवों से युक्त हुआ करता है। यह एक हस्तप्रमाण वाला और आहारक शरीर आदि प्रशस्त नामकर्मों के उदय से उत्तमांग-शिर में से उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक शरीर के जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण—

अव्वाघादी अंतोमुहत्तकालद्धिदी जहण्णिदरे।  
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवई ॥(238)

यह आहारक शरीर दोनों ही तरफ से व्याघात रहित है। न तो इस शरीर के द्वारा किसी भी अन्य पदार्थ का व्याघात होता है और न किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा इस आहारक शरीर का ही व्याघात हुआ करता है; क्योंकि इसमें यह सामर्थ्य है— यह इतना सूक्ष्म हुआ करता है कि वज्रपटल को भी भेद कर जा सकता है। इसकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकार की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। आहारक शरीर पर्याप्त के पूर्ण होने पर कदाचित् आहारक ऋद्धिवाले मुनि का मरण भी हो सकता है।

आहारक काययोगका निरुक्ति सिद्ध अर्थ—

आहरदि अणेणमुणी, सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे।  
गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो ॥(239)

छठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपने को संदेह होने पर इस शरीर के द्वारा केवली के पास में जाकर सूक्ष्म पदार्थों का आहरण (ग्रहण) करता है इसलिए इस शरीर के द्वारा होने वाले योग को आहारक काययोग कहा जाता है।

#### (4) कार्माण-

कम्मेव य कम्मभवं.....(241)

ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मों के समूह को अथवा कार्माण शरीर नामकर्म के उदय से होने वाली कायको कार्माणकाय कहते हैं।

ओरालियवेगुव्विय, आहारयतेजणामकम्मदये।  
चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं॥(244)

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस नामकर्म के उदय से होने वाले चार शरीरों को नोकर्म कहते हैं और कार्माण शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं।

#### शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन परं परं सूक्ष्मम्। (37)

(Of these 5 bodies) each successive one is finer i.e. subtler than the one preceding it.

आगे-आगे का शरीर सूक्ष्म हैं।

पूर्व-2 शरीर से उत्तर-2 शरीर सूक्ष्म-2 हैं। सबसे स्थूल शरीर औदारिक शरीर है। औदारिक शरीर से सूक्ष्म वैक्रियक शरीर है। वैक्रियक शरीर से सूक्ष्म आहारक शरीर होता है। आहारक शरीर से सूक्ष्म तैजस शरीर है। तैजस शरीर से सूक्ष्म कार्माण शरीर है। ये पांचों शरीर में से पूर्व-2 शरीर से उत्तर-2 शरीर सूक्ष्म होते हुए भी जिन परमाणुओं से ये शरीर बनें है वे परमाणु उत्तरोत्तर कम नहीं है किन्तु अधिक-अधिक है इसका वर्णन स्वयं सूत्रकार आगे कर रहे हैं। पूर्व-2 शरीर से उत्तर उत्तर शरीर के परमाणु अधिक-2 होते हुए भी उनके सूक्ष्म बंध विशेष के कारण अथवा सूक्ष्म परिणमन के कारण पूर्व-2 शरीर से उत्तर-2 शरीर सूक्ष्म होते जाते हैं। इसका विशेष वर्णन इसी तत्त्वार्थ सूत्र के पंचम अध्याय में करेंगे।



## शरीर के प्रदेशों का विचार प्रदेशतोऽसंख्येय गुणं प्राक्तैजसात्। (38)

From the 1st to the 3rd body i.e. up to the electric body each one has innumerable times the number of atoms which are in the one preceding it.

तैजस से पूर्व तीन शरीरों में आगे-आगे का शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातगुणा है।

यहाँ पर प्रदेश का अर्थ परमाणु है। जिसका गुणाकार असंख्यात है वह असंख्य गुणा है। अर्थात् प्राकृत संख्या को असंख्यात में गुणा करना चाहिए। औदारिक शरीर अनन्तानन्त परमाणु से बनता है। यहाँ पर औदारिक शरीर के प्राकृत संख्यात (इकाई) है। औदारिक शरीर के परमाणु से वैक्रियिक शरीर के परमाणु असंख्यात-गुणित है और वैक्रियिक शरीर से आहारक शरीर के परमाणु असंख्यात गुणित है। उत्तरोत्तर शरीर के परमाणु असंख्यात होते हुए भी बन्ध विशेष के कारण पूर्व-पूर्व शरीर से उत्तर-उत्तर शरीर सूक्ष्म है। जैसे-समप्रदेश वाले लोहा और रुई के पिण्ड में परमाणुओं के निविड़ और शिथिल संयोग की दृष्टि से अवगाहन क्षेत्र में तारतम्य है, उसी प्रकार वैक्रियिक आदि शरीरों में उत्तरोत्तर निविड़ संयोग होने से अल्पक्षेत्रता और सूक्ष्मता है। इसलिये उत्तर शरीर में असंख्येय गुणा प्रदेश होने पर भी बंध विशेष की अपेक्षा अल्पत्व जानना चाहिये।

## शरीर के प्रदेशों का विचार अनन्तगुणे परे। (39)

Of the last two i.e. the electric and the karmic bodies, each one compared with the body immediately preceding it has an infinite-fold (number of atoms.)

परवर्ती दो शरीर प्रदेशों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं।

आहारक से तैजस और तेजस से कर्मण क्रमशः अनन्तगुणे प्रदेश वाले हैं।

प्रदेशतः इसका अनुवर्तन है इसलिये इसके साथ इस प्रकार-सम्बन्ध किया

जाता है कि आहारक से तैजस और तैजस से कर्मण शरीर के प्रदेश अनन्तगुणे हैं। इसका गुणाकार अभव्य जीवों से अनन्तगुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग है।

अनंतगुणत्व होने से दोनों में तुल्य प्रदेश हैं- ऐसा भी नहीं है क्योंकि अनंत के भी अनंत विकल्प होते हैं। अनंतगुणा होने से तैजस और कर्मण में तुल्य प्रदेश हैं ऐसा भी कहना उचित नहीं है क्योंकि असंख्यात के असंख्यात विकल्प के समान अनन्त के भी अनंत विकल्प होते हैं।

आहारक से दोनों अनन्त गुणे हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि 'परंपर' इस सूत्र का अभिसम्बन्ध है। 'परं-परं' का सम्बन्ध होने से तैजस से कर्मण में अनंत गुणे प्रदेश जाने जाते हैं।

## तैजस और कर्मण शरीर की विशेषता

### अप्रतीघाते। (40)

The electric and karmic bodies are unpreventible in their passage i.e, they can penetrate and permeate upto the end of the universe.

प्रतीघातरहित है। तैजस एवं कर्मण शरीर सर्वत्र अप्रतिघात (प्रतिघात से रहित) है।

मूर्तिमान् पदार्थ के द्वारा व्याघात को प्रतिघात कहते हैं। मूर्तिमान् पदार्थों का दूसरे मूर्तिमान् पदार्थ से व्याघात रूकावट या टक्कर होती है, उसे प्रतिघात कहते हैं।

उस प्रतिघात का अभाव है, सूक्ष्मपरिणमन होने से लोहपिण्ड में अनुप्रविष्ट अग्नि के समान जैसे अग्नि सूक्ष्म परिणमन के कारण लोहे के पिण्ड में घुस जाती है उसी प्रकार तैजस कर्मण शरीर का वज्रपटलादि में भी व्याघात नहीं है अर्थात् इन दोनों शरीरों की रूकावट या टकराना किसी पदार्थ से नहीं होता। इसलिये इन दोनों शरीरों को अप्रतीघात कहते हैं। अप्रतिघात होने से ये दोनों सब जगह प्रवेश कर जाते हैं।

## अनादि सम्बन्धे च। (41)

And their connection i.e. of the electric and the karmic bodies with the soul is without beginning.

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध वाले हैं।

तैजस एवम् कार्मण शरीर अनादि काल से जीव के साथ हैं। ये दोनों शरीर संतान परम्परा की अपेक्षा बीज-वृक्ष न्याय से जीव के साथ अनादि काल से साथ हैं। परन्तु सूत्र में निर्दिष्ट 'च' शब्द से यह ध्वनित होता है कि, ये दोनों शरीर सादि सम्बन्ध की अपेक्षा जीव के साथ सादि-सम्बन्ध है परन्तु अनादि सम्बन्ध नहीं है।

बंध-संतति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेषतः बीज-वृक्ष के समान सादि सम्बन्ध है। जैसे वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है— तथा वह वृक्ष दूसरे बीज से उत्पन्न हुआ था इस प्रकार बीज और वृक्ष का कार्य-कारण संबन्ध सामान्य अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है। उस बीज से यह वृक्ष हुआ और इस वृक्ष से यह बीज। इस विशेष की अपेक्षा से सादि है, अर्थात् सन्तति की दृष्टि से बीज वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि है। उसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीर के भी पौर्नभाविक निमित्त नैमित्तिक सन्तति की अपेक्षा अनादि है और तत् तत् दृष्टि विशेष की अपेक्षा सादि सम्बन्ध भी है।

एकांत से अनादिमान् ही स्वीकार कर लेने पर निमित्त होने से नवीन शरीर के सम्बन्ध का अभाव हो जायेगा। जिनके सिद्धान्त में एकांत से तैजस कार्मण शरीर का अनादि सम्बन्ध है— उनके सिद्धान्त में पूर्व में ही आत्यंतिकी शुद्धि को धारण करने वाले जीव के नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा— क्योंकि शरीर सम्बन्ध का कोई निमित्त ही नहीं है।

यदि एकांत से निर्निमित्त आदि सम्बन्ध माना जायेगा तो मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा— क्योंकि जैसे आदि शरीर अकस्मात् सम्बन्ध को प्राप्त होता है वैसे ही मुक्तात्मा के भी आकस्मिक शरीर सम्बन्ध होगा; इसलिये मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा।

एकान्त से अनादिमान् मान लेने पर भी निर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा। यदि एकान्त से सर्वथा तैजस कार्मण शरीर को अनादि मानेंगे तो भी अनिमोक्षका प्रसंग आयेगा। क्योंकि जो अनादि है— उसका आकाश के समान अन्त भी नहीं होगा। कार्यकारण सम्बन्ध का अभाव होने से; इसलिये मोक्ष का अभाव हो जाता है। यदि कहो कि अनादि बीज वृक्ष की संतान का अग्नि से सम्बन्ध होने पर अन्त देखा जाता है उसी प्रकार तैजस कार्मण शरीर का भी अन्त हो जायेगा— तब तो एकांत से अनादित्व का अभाव होगा। बीज वृक्ष विशेषापेक्षया आदिमान् है अतः जैसे बीज वृक्ष संतति कथंचित् सादि और कथंचित् अनादि होने से उसकी संतति अग्नि से नष्ट हो जाती है— वैसे ही कार्मण शरीर भी ध्यान— अग्नि से नष्ट हो जाता है। इसलिये साधूक्त किसी प्रकार से तैजस और कार्मण शरीर कथंचित् अनादि हैं— और कथंचित् सादि है। इसी प्रकार गोम्मदृसार में भी कहा गया है कि:—

पल्लतियं उवहीणं, तेत्तीसंतोमुहुत्त उवहीणं।  
छावट्ठी कम्मट्ठिदि, बंधुक्कस्सट्ठिदी ताणं॥(252)

औदारिक शरीर की उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्य, वैक्रियिक शरीर की तेतीस सागर, आहारक शरीर की अन्तर्मुहूर्त, तैजस शरीर की छयासठ सागर है। कार्मण शरीर की उत्कृष्ट स्थिति उतनी ही समझनी चाहिये जितनी कि कर्मों के स्थितिबंध प्रकरण में बताई गई है। वह सामान्यतया तो सत्तर कोडाकोडी सागर है किन्तु विशेष रूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। मोहनीय की सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम, गोत्रकी बीस कोडाकोडी सागर और आयु कर्मकी केवल तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

### सर्वस्य (42)

The electric and the karmic bodies are always found with all mundane souls.

तथा सब संसारी जीवों के होते हैं।

तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर सम्पूर्ण संसारी जीव के होते हैं। यह

दोनों शरीर से रहित संसारी जीव कभी भी नहीं हो सकते हैं। मुक्त जीव ही ये दोनों शरीर से रहित होते हैं। अन्य धर्म में एवं आधुनिक अतीन्द्रिय मनोविज्ञान में भी सूक्ष्म शरीर का वर्णन पाया जाता है परन्तु जैसे जैनधर्म में दार्शनिक, तार्किक, गणितिय प्रणाली में वर्णन पाया जाता है उसी प्रकार अन्यत्र नहीं पाया जाता है। कार्माण शरीर आठों कर्मों के समूह स्वरूप है। यह शरीर ही सम्पूर्ण सांसारिक गतिविधियों के लिए बीज स्वरूप है।

**एक साथ जीव के कितने शरीर हो सकते हैं ?**

**तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्ध्वः । (43)**

Along with these, two i.e. the electric and the karmic bodies in their distribution at one and the same time, with one soul (there can be utmost up to 4 (i.e. these two and one or two more bodies) i.e, a soul can never have all the 5 bodies at once.

**एक साथ एक जीव के तैजस और कार्माण से लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते हैं।**

उपरोक्त सूत्रों से सिद्ध होता है कि, सम्पूर्ण संसारी जीव में तैजस और कार्माण होते ही हैं। इसलिए संसारी जीव में कम से कम शरीर होंगे तो दो होंगे ही।

किसी के तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रियिक ये तीन शरीर होते हैं, किसी के तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक ये चार शरीर होते हैं।

**कार्माण शरीर की विशेषता**

**निरूपभोगमन्त्यम् । (44)**

(The last body i.e. the karmic is can not be the means of enjoyment to the soul throught the senses and the mind, as the physical body can be. The karmic body bears no sound, sees, no sights etc.

## अन्तिम शरीर उपभोग रहित हैं।

अन्तिम शरीर अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग से रहित है। इन्द्रिय रूपी प्रणालियों के द्वारा शब्दादि के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं। यह बात अंत के शरीर में नहीं पायी जाती अतः वह निरूपभोग है। विग्रहगति में लब्धिरूप भावेन्द्रिय के रहते हुये भी वहाँ द्रव्येन्द्रिय की रचना न होने से शब्दादिक का उपयोग नहीं होता। यद्यपि विग्रह गति में कर्मादान, निर्जरा और सुखदुःखानुभव आदि उपयोग संभव है; भावेन्द्रिय की उपलब्धि भी है तथापि द्रव्येन्द्रिय की निवृत्ति का अभाव होने से शब्दादि विषयों के अनुभव का अभाव होने से कार्मण शरीर निरूपभोग है।

तैजस शरीर के योग निमित्तत्व का अभाव होने से उसका यहाँ अधिकार नहीं है। तैजस शरीर योगनिमित्त नहीं होता। अतः उसकी उपभोग विचार में विवक्षा नहीं है। इसलिये योगनिमित्त शरीरों में अन्त का कार्मण शरीर ही निरूपभोग है, शेष शरीर उपभोग सहित है।

## औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम्। (45)

The first (i.e. the physical body is produced along with the electric and the karmic bodies, in beings who are) born in the embryonic way or by spontaneous generation (सम्मूर्च्छन)

पहला शरीर गर्भ और समूर्च्छन जन्म से पैदा होता है।

औदारिक शरीर की उत्पत्ति गर्भज और सम्मूर्च्छन जन्म से होती है।

## वैक्रियक शरीर का वर्णन

औपपादिकं वैक्रियिकम्। (46)

The fluid body is found along with the electric and the karmic bodies in those who are born by उपपाद instantaneous rise.

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से पैदा होता है।

जितने औपपादिक जन्म वाले होते हैं उनके वैक्रियिक शरीर होता है जैसे-

देव, नारकी के शरीर।

### लब्धिप्रत्ययं च। (47)

And (fluid body can also be attained by other) cause i.e. by a लब्धि attainment due to special austerities.

तथा लब्धि से भी पैदा होता है।

वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्य है। उपपाद जन्म से साथ-साथ कृद्धि निमित्तक भी होता है। तपश्चरण विशेष से जो कृद्धियां प्राप्त होती हैं वे लब्धि हैं। लब्धि प्रत्यय जिसके है वह लब्धि प्रत्यय कहलाता है। लब्धि और उपपाद में निश्चय और कादाचित्कृत विशेषता है। जन्म निमित्त होने से उपपाद निश्चय से होता है और लब्धि तो कादाचित्की होती है। लब्धि प्रत्यय वैक्रियिक शरीर तपोविशेष की अपेक्षा से उत्तर काल में होता है।

विविधकरण विक्रिया अर्थात् शरीर की नाना आकृतियाँ उत्पन्न करना विक्रिया है। वह विक्रिया दो प्रकार की है- (1) एकत्व विक्रिया, (2) पृथक्त्व विक्रिया। अपने शरीर से अपृथक् भाव से सिंह, व्याघ्र, हंस, कुत्ता आदि की रचना करना एकत्व विक्रिया है। अपने शरीर से भिन्न प्रासाद, मण्डप आदि की रचना करना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी (16वें स्वर्ग तक) देवों के दोनों प्रकार की विक्रिया होती है। ऊपर ग्रैवेयक देवों से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के देवों के प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है। छठे नरक तक के नारकियों के त्रिशुल, चक्र, तलवार, मुद्गार, परशुभिण्डवाल आदि अनेक आयुध रूप एकत्व विक्रिया होती है। नारकियों में पृथक्त्व विक्रिया नहीं है। सातवें नरक में गाय बराबर कीड़े, लोहित, कुन्धु आदि रूप से एकत्व विक्रिया ही होती है। सातवें नरक में अनेक आयुध रूप से एकत्व विक्रिया नहीं है और न पृथक्त्व विक्रिया है। तिर्यचों में मयूर आदि के कुमारदि भाव प्रति विशिष्ट एकत्व विक्रिया होती है, तिर्यचों में भी पृथक्त्व विक्रिया नहीं है। तप एवं विद्या आदि के प्राधान्य से मनुष्यों के प्रतिविशिष्ट एकत्व विक्रिया और पृथक्त्व विक्रिया होती है।

## तैजसमपि । (48)

Even the electric body can be product of special austerities. This takes place in two ways—

(1) शुभ तैजस Beneficent electric body, e.g. a saint with supernatural powers sees famine or plague etc. in a Country and is moved to compassion. His austerities enable his electric body to overflow itself and issuing out of his right shoulder go and to remove the causes of famine, plague, etc. and then came back and be reabsorbed in the same way in which it went out.

(2) अशुभ तैजस Maleficent electric body.

तैजस शरीर भी लब्धि से प्राप्त होता है।

तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय अर्थात् ऋद्धि निमित्तक होता है लब्धि प्रत्यय तैजस के दो भेद है (1) अशुभ तैजस (2) शुभ तैजस।

(1) अशुभ तैजस-: अपने मन को अनिष्ट (बुरा) उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर उत्पन्न हुआ है क्रोध जिसके ऐसा जो संयम का निधान महामुनि उसके वाम (बायें) कंधे से सिंदूर के ढेर की-सी कान्ति-वाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्येय भाग प्रमाण मूल विस्तार और नव योजन के अग्र विस्तार को धारण करने वाला काहल (विलाब) के आकार का धारक पुरुष निकल करके बाम प्रदक्षिणा देकर मुनि के हृदय में स्थित जो विरुद्ध पदार्थ है उसको भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जाय; जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकलके द्वारिका को भस्म कर उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म किया और वह पुतला आप भी भस्म हो गया उसी की तरह जो हो सो अशुभ तैजस-समुद्घात है।

(2) शुभ तैजस -: जगत् को रोग अथवा दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित देखकर उत्पन्न हुई है कृपा जिसके ऐसा जो परमसंयमनिधान महाऋषि उसके मूल शरीर को नहीं त्यागकर पूर्वोक्त देह के प्रमाण को धारण करने वाला अच्छी सौम्य आकृति का धारक पुरुष दक्षिण स्कंध से निकलकर, दक्षिण प्रदक्षिणा कर



रोग दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जाय यह शुभ रूप तेजस-समुद्घात है।

## आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याधाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव । (49)

And the आहारक body is beneficent pure and impreventible and found only in a प्रमत्त संयत Saint i.e. one in the 6 th stage of spiritual development with imperfect now.

It is शुभ always beneficent.

(2) विशुद्ध pure, the production of meritorious Karmas and

(3) अव्याधाति unpreventible by anything in its course.

आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित है और वह प्रमत्तसंयत के ही होता है।

शुभकर्म का कारण होने से इसे शुभ कहा है। विशुद्ध कर्म का कार्य होने से आहारक शरीर को विशुद्ध कहा है। तात्पर्य यह है कि जो चित्र-विचित्र न होकर निर्दोष है ऐसे विशुद्ध अर्थात् निर्दोष विशुद्ध चारित्र धारी मुनियों के होता है इसलिए भी विशुद्ध कहते हैं। पुण्य कर्म के कार्य होने से आहारक शरीर को भी विशुद्ध कहते हैं। दोनों ओर से व्याघात नहीं होता इसलिए यह अव्याधाती है। तात्पर्य यह है कि आहारक शरीर से अन्य पदार्थ का व्याघात नहीं होता और अन्य पदार्थ से आहारक शरीर का व्याघात नहीं होता। आहारक शरीर के प्रयोजन का समुच्चय करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया है। यथा आहारक शरीर कदाचित् लब्धि विशेष के सद्भाव को जताने के लिए कदाचित् सूक्ष्म पदार्थों का निश्चय करने के लिए और संयम की रक्षा करने के लिए उत्पन्न होता है।

जिस समय जीव आहारक शरीर की रचना का आरम्भ करता है उस समय वह प्रमत्त हो जाता है। इसलिए सूत्र में प्रमत्त संयत के ही आहारक शरीर होता है यह कहा है। इष्ट अर्थ के निश्चय करने के लिये सूत्र में "एवकार" पद का ग्रहण किया है जिससे यह जाना जाए कि आहारक शरीर प्रमत्तसंयत के ही होता है अन्य के नहीं। प्रत्येक प्रमत्त संयत के भी यह शरीर नहीं होता

परन्तु आहार ऋद्धि सम्पन्न मुनियों को ही होता है।

आहारक शरीर धारी को वैक्रियिक शरीर नहीं होता इसके साथ-साथ औदारिक, कार्मण, तैजस शरीर भी होता है। जिससे यह जाना जाता है कि प्रमत्तसंयत के ही आहारक शरीर होता है दूसरे के नहीं। ऐसी व्याप्ति नहीं है कि, प्रमत्तसंयत के आहारक शरीर ही होता है, औदारिक आदि नहीं। अर्थात् 'प्रमत्तसंयत के ही आहारक शरीर होता है।' इस प्रकार की अवधारणा करने के लिए एवकार है, न कि 'प्रमत्तसंयत के ही आहारक ही होता है।' इस अनिष्ट अवधारणा के लिए! जिस समय मुनि आहारक शरीर की रचना करते हैं, उस समय वह प्रमत्तसंयत ही होते हैं।

इन शरीरों में परस्पर संज्ञा, स्वलक्षण, स्वकारण, स्वामित्व, सामर्थ्य, प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, संख्या, प्रदेश, भाव और अल्पबहुत्व आदि की दृष्टि से भेद भी पाया जाता है-

(1) संज्ञा - संज्ञा से (नामसे) घट-पट के समान औदारिक आदि शरीर में अन्यत्व है अर्थात् इनके औदारिक-आदि नाम पृथक्-पृथक् हैं।

(2) लक्षण - इनका स्व लक्षण भी भिन्न-भिन्न है - जैसे स्थूल शरीर औदारिक है। विविध गुण ऋद्धि वाली विक्रिया करने वाला वैक्रियिक शरीर है। दुरधिगम सूक्ष्म पदार्थ का निर्णय करने के लिए आहारक शरीर होता है। शंख के समान श्वेत वर्ण वाला तैजस शरीर होता है। वह तैजस शरीर दो प्रकार का है-

(1) निःसरणात्मक (2) अनिःसरणात्मक। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के भीतर रहने वाला तथा इन शरीरों की दीप्ति का कारण रौनक देने वाला अनिःसरणात्मक तैजस शरीर है। उग्र चारित्र वाले, अति क्रोधी मुनिराज के जीव प्रदेशसंयुक्त बाहर निकल कर दाह्य (जिस पर क्रोध है उस) को घेर कर अवतिष्ठमान हैं तथा धान्य, हरित, फलादि से परिपूर्ण भूमि स्थाली में हुए शाक आदि को जैसे अग्नि पकाती है वैसे जलाकर भस्म कर देते हैं और उसे पकाकर लौट कर मुनि के शरीर में प्रवेश कर जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाए तो उसे भस्मसात् कर देता है वह निःसरणात्मक तैजस शरीर है। सभी शरीरों में कारणभूत कर्मसमूह को कार्मण शरीर कहते हैं। यह इनमें

स्वलक्षण की अपेक्षा भेद है।

(3) कारण – अपने कारणों की अपेक्षा भी इनमें भेद हैं जैसे औदारिक नामकर्म के उदय से औदारिक शरीर होता है। वैक्रियिक नामकर्म के उदय से वैक्रियिक शरीर होता है। आहारक शरीर नामकर्म के उदय से आहारक शरीर होता है, तैजस शरीर नामकर्म के उदय से तैजस शरीर होता है और कार्माण नामकर्म के उदय से कार्माण शरीर होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामकर्मों के उदय से ये शरीर होते हैं। अतः इनमें कारणभेद स्पष्ट है।

(4) स्वामित्व – स्वामी के भेद से भी इनमें भिन्नता है- जैसे औदारिक शरीर तिर्यच और मनुष्यों के होता है। वैक्रियिक शरीर देव-नारकियों के होता है तथा किसी-किसी तेजस्काय, वायुकाय और पंचेन्द्रिय तिर्यच तथा मनुष्यों में किसी के होता है।

(5) सामर्थ्य – सामर्थ्य की अपेक्षा भी इन शरीरों में परस्पर भिन्नता है। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से औदारिक शरीर का सामर्थ्य दो प्रकार का है। तिर्यच और मनुष्यों में, सिंह एवं अष्टापद, चक्रवर्ती और वासुदेव आदि में जो शारीरिक शक्ति का तारतम्य देखा जाता है वह भव प्रत्यय है। उत्कृष्ट तपस्वियों के शरीर विक्रिया करने का सामर्थ्य गुण प्रत्यय है।

प्रश्न – शरीर की विक्रिया तो तप का सामर्थ्य है औदारिक शरीर का नहीं ?

उत्तर – यद्यपि तप के सामर्थ्य से विक्रिया होती है तथापि औदारिक शरीर के बिना केवल तप के विक्रिया करने के सामर्थ्य का अभाव है अर्थात् औदारिक शरीर के बिना तप नहीं हो सकता। वैक्रियिक शरीर में मेरुकम्पन और समस्त भ्रूण्डल को उलटा पुलटा करने की शक्ति है। आहारक शरीर अप्रतिघाती होता है, वज्रपटल आदि से भी वह नहीं रूकता।

प्रश्न – वैक्रियिक शरीर में अप्रतिहत सामर्थ्य है। उसका भी वज्रपटलादि से अप्रतिघात देखा जाता है ?

उत्तर – यद्यपि वैक्रियिक शरीर भी साधारणतया अप्रतिघाती होता है तथापि

इन्द्रसामानिक आदि में शक्ति का तारतम्य देखा जाता है। अनन्तवीर्ययति ने इन्द्र की शक्ति को कुण्ठित कर दिया था, ऐसा श्रुत में प्रसिद्ध है। अतः वैक्रियिक शरीर क्वचित् प्रतिघाती होता है, किन्तु सभी आहारक शरीर तुल्य शक्ति और सर्वत्र अप्रतिघाती होते हैं। तैजस का सामर्थ्य क्रोध और प्रसन्नता के अनुसार दाह और अनुग्रह रूप है। कार्मण शरीर का सामर्थ्य सभी कर्मों को अवकाश देना है तथा उन्हें अपने में शामिल करना है।

(6) प्रमाण – प्रमाण की अपेक्षा भी इन शरीरों में भिन्नता है जैसे— जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण सूक्ष्म निगोदियों का औदारिक शरीर है और उत्कृष्ट (सबसे बड़ा) नन्दीश्वर द्वीप की, वापिका के कमल का, कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाण का होता है। वैक्रियिक मूल शरीर की दृष्टि से सबसे छोटा सर्वार्थ सिद्धि के देवों के एक अरत्नि प्रमाण और सबसे बड़ा सातवें नरक में पाँच सौ धनुष प्रमाण है। विक्रिया की दृष्टि से देव उत्कृष्ट शरीर जम्बूद्वीप प्रमाण कर सकते हैं।

आहारक शरीर एक अरत्नि प्रमाण होता है। तैजस और कार्मण जघन्य से अपने औदारिक शरीर प्रमाण होते हैं तथा उत्कृष्ट से केवलिसमुद्घात में सर्वलोक प्रमाण होते हैं।

(7) क्षेत्र – क्षेत्र की अपेक्षा भी इनमें पृथक्त्व है – औदारिक, वैक्रियिक और आहारक का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। तैजस एवं कार्मण शरीर लोक के असंख्यातवें भाग, असंख्यात बहुभाग प्रमाण है, प्रतर तथा लोपूरण अवस्था में सर्वलोक क्षेत्र हैं।

(8) स्पर्शन – स्पर्श की अपेक्षा भी औदारिक आदि शरीर भिन्न-भिन्न हैं। औदारिक आदि एक जीव के प्रति कहेंगे। जैसे- तिर्यचों ने औदारिक शरीर के द्वारा सर्वलोक का स्पर्श किया है और मनुष्यों ने लोक के असंख्यातवें भाग का। मूल वैक्रियिक शरीर से लोक के असंख्यात बहुभाग और उत्तर वैक्रियिक से कुछ कम 8/14 भाग स्पृष्ट होते हैं।

प्रश्न – उत्तर वैक्रियिक शरीर से आठ बटे चौदह राजू का स्पर्श कैसे होता है ?

उत्तर – सौधर्म स्वर्ग के देव स्वयं या पर के निमित्त से ऊपर आरणअच्युत स्वर्ग तक छह राजू जाते हैं और नीचे स्वयमेव बालुकाप्रभा तीसरे नरक तक दो राजू, इस प्रकार 8/14 भाग होते हैं। आहारक शरीर द्वारा लोक का असंख्यातवाँ भाग स्पर्श किया जाता है। तैजस और कार्मण शरीर सर्वलोक का स्पर्श करते हैं।

(9) काल – काल की अपेक्षा भी इन शरीरों में परस्पर पृथक्त्व है। औदारिक मिश्र अवस्था को छोड़कर तिर्यच और मनुष्यों के औदारिक शरीर का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम तीन पत्य है। यह अन्तर्मुहूर्त अपर्याप्तक काल है। अर्थात् तीन पत्य यह उत्कृष्ट आयु तो भोगभूमियाँ तिर्यच और मनुष्यों की हैं। यहाँ से कोई मानव या तिर्यच उत्कृष्ट भोगभूमि की आयु बाँधकर मरा और भोगभूमि में जन्मा तो आयु का प्रारम्भ विग्रहगति में ही हो गया – परन्तु विग्रहगति में कार्मण और निर्वृत्यापर्याप्तावस्था में औदारिक मिश्र काययोग रहता है- इसलिये इस अपर्याप्तावस्था के काल को घटा देने पर शेष अन्तर्मुहूर्त कम तीन पत्य उत्कृष्ट काल औदारिक शरीर का है। वैक्रियिक शरीर का काल देवों की अपेक्षा है। देवों के मूल वैक्रियिक शरीर का जघन्य काल अपर्याप्त काल के अन्तर्मुहूर्त कम दस हजार वर्ष प्रमाण हैं। उत्कृष्ट अपर्याप्तकालीन अन्तर्मुहूर्त कम तैंतीस सागर प्रमाण है। उत्तर वैक्रियिक शरीर के उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हैं।

## लिंग (वेद) के स्वामी

### नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।(S0)

The hellish beings and those who are सम्मूर्च्छिन Spontaneously generated are of a common or neuter sex.

नारक और सम्मूर्च्छिन नपुंसक होते हैं।

नरक में उत्पन्न होने वाले नारकी एवम् सम्मूर्च्छिन जन्म से पैदा होने वाले सम्मूर्च्छिन जीव नियम से नपुंसक ही होते हैं। नपुंसक वेद रूपी नो कषाय के उदय से और अशुभ नामकर्म के उदय से नारकी एवं सम्मूर्च्छिन जीव स्त्री व पुरुष न होकर नपुंसक होते हैं। इन जीवों के मनोज्ञ शब्द, गंध, रूप, रस और स्पर्श के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुष विषयक थोड़ा भी सुख

नहीं पाया जाता है।

### न देवाः! (१)

The celestial beings never have a common sex. They are always masculine or feminine.

देव नपुंसक नहीं होते हैं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी निरतिशय सुखों का अनुभव करने वाले होने से देवों में नपुंसक वेद का अभाव है। वे देवगण शुभगति नामकर्म उदय की अपेक्षा निरंतर स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सुखों का उपभोग करते हैं, इसलिए उनमें नपुंसक वेद नहीं हैं।

### शेषास्त्रिवेदाः! (52)

The remaining beings i.e; those born of an embryo have 3 sexes i.e; they can be masculine, feminine or common.

शेष सब जीव तीन वेद वाले होते हैं।

नारकी एवं सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव नपुंसक जीव होते हैं, देवगति में पुरुष वेद एवं स्त्रीवेद ही हैं परन्तु नपुंसकवेद नहीं है। इनको छोड़कर शेष बचे हुए संसारी जीव में तीनों वेद अर्थात् पुरुषवेद, स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद होते हैं। अर्थात् बचे हुए मनुष्य और तिर्यच तीनों वेद वाले होते हैं। गोम्मट्टसार में इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार है—

णेरइया खलु संढा, णरतिरिरे तिण्णि होंति सम्मुच्छा।

संढा सुरभोगभुमा, पुरिसिच्छीवेदगा चव॥[93]

पृ.63

नारकीयों का द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है। मनुष्य और तिर्यचों के तीन ही (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) वेद होते हैं, सम्मूर्च्छन मनुष्य और तिर्यच नपुंसक ही होते हैं। देव और भोगभूमियों के पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है।

देव, नारकी, भोगभूमियां और सम्मूर्च्छन जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है, वही भाववेद होता है, किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यचों में यह नियम नहीं

है। उनके द्रव्यवेद और भाववेद में विपरीतता भी पाई जाती है। आंगोपांग नामकर्म के उदय से होनेवाले शरीरगत चिन्ह विशेष को द्रव्यवेद और मोहनीयकर्म की प्रकृति के उदय से होने वाले परिणामविशेषों को भाववेद कहते हैं।

**वेद की परिभाषा -**

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।  
णामोदयेण दब्बे, पाएण समा कहिं विसमा॥(271)

वेदनामक नोकषाय के उदय से जीवों के भाववेद होता है, और निर्माण नामकर्म सहित अंगोपांगनामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है। ये दोनों ही वेद प्रायः करके तो समान होते हैं, अर्थात् जो भाववेद वही द्रव्यवेद और जो द्रव्यवेद वही भाववेद। परन्तु कहीं कहीं विषमता भी हो जाती है, अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा। यह विषमता देवगति और नरकगति में तो सर्वथा नहीं पाई जाती। मनुष्य और तिर्यगति में जो भोगभूमिज हैं उनमें भी नहीं पाई जाती। बाकी के तिर्यग् मनुष्यों में क्वचित् वैषम्य भी पाया जाता है।

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।  
संमोहेण ण जाणदि, जीवो हु गुणं व दोषं वा॥(272)

वेद नोकषाय के उदय तथा उदीरणा होने से जीव के परिणामों में बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है और इस मोह के उत्पन्न होने से यह जीव गुण अथवा दोष का विचार नहीं कर सकता।

**पुरुष-**

पुरुगुणभोगे सेदे, करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।  
पुरुउत्तमो य जम्हा, तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो॥(273)

उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगों का जो स्वामी हो, अथवा जो लोक में उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्म को करे, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं।

स्त्री-

छादयदि सयं दोसे, णयदो छाददि परं वि दोसेण।

छादणसीला जम्हा, तम्हा सा वण्णिथा इत्थी॥[274]

जो मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषों से अपने को आच्छादित करे और मृदुभाषण, तिरछी चितवन आदि व्यापार से जो दूसरे पुरुषों को भी हिंसा, अब्रह्म आदि दोषों से आच्छादित करे, उसको आच्छादन-स्वभावयुक्त होने से स्त्री कहते हैं।

यद्यपि तीर्थंकरों की माता सम्यक्त्वादि गुणों से भूषित दूसरी भी बहुत सी स्त्रियाँ अपने को तथा दूसरों को दोषों से आच्छादित नहीं भी करती हैं-उनमें यह लक्षण नहीं भी घटित होता है तब भी बहुलता की अपेक्षा यह निरूक्ति सिद्ध लक्षण किया है। निरूक्ति के द्वार मुख्यतया प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न अर्थ का बोधमात्र कराया जाता है।

नपुंसक-

णेवित्थी णेव पुमं, णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो।

इद्वावगिसमाणगवेयणगरूओ कलुसचित्तो॥[275]

जो न स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों की लिंगों से रहित जीव को नपुंसक कहते हैं। इसके अवा (भट्ठा) में पकती हुई ईंट की अग्नि के समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है। (पृ.150)

अकालमृत्युकिनकीनहींहोती ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। (53)

Those who are born by instantancous rise i.e. hellish नारका : and Celestial beings देवा : those who are in their last incarnation चरमदेह with the highest kind of physical body and those whose age is innumerable years e.g. in a condition of life where there is all enjoyment and no labour like agriculture etc. these three live the full span of



their life. It can never be cut short by themselves or others.

उपपादजन्मवाले, चरमोत्तम देह वाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अनपवर्त्य आयु वाले होते हैं।

उपपाद जन्म देव-नारकी के होते है। इसलिए देव-नारकियों के अकाल मरण नहीं होता है अर्थात् इनकी आयु अनपवर्त्य आयु नहीं है।

‘चरम’ शब्द अन्तवाची है, इसलिये उसी जन्म में निर्वाण के योग्य हो उसका ग्रहण करना चाहिये। चरम-अन्त का है शरीर जिनका, वे ‘चरम देह’ कहलाते हैं। परित संसारी-उसी भव में निर्वाण प्राप्त करने योग्य को चरम शब्द से ग्रहण किया जाता है।

‘उत्तम’ शब्द उत्कृष्ट वाची है। इससे चक्रवर्ती आदि का ग्रहण होता है। यह उत्तम शब्द उत्कृष्ट वाची है- उत्तम शरीर जिनका हो वे उत्तम देह कहलाते हैं। इस उत्तम शब्द से चक्रवर्ती आदि का ग्रहण करना। पल्यादि के द्वारा गम्य आयु जिसके है वह असंख्येय वर्षायुष वाले कहलाते हैं। वे उत्तर कुरू आदि भोग-भूमि में उत्पन्न होने वाले हैं।

बाह्य कारणों के कारण आयु का हास होना अपवर्त है। बाह्य उपघात के निमित्त विष शस्त्रादि के कारण आयु का हास होता है। वह अपवर्त है अपवर्त आयु जिनके है वे अपवर्त आयु वाले - और जिनकी आयु का अपवर्त नहीं होता वे अनपवर्त आयु वाले देव और नारकी, चरम शरीरी और भोग भूमिया जीव हैं- बाह्य कारणों से उसका अपवर्तन नहीं होता।

‘चरम’ शब्द उत्तम का विशेषण है। चरम ही उत्तम देह जिसका वह चरमोत्तम देह अर्थात् अंतिम उत्तमदेह वाले को चरमोत्तम देह कहते हैं।

चक्रवर्ती आदि को देह उत्तम होते हुए भी जो चक्रवर्ती आदि तद्भव में मोक्ष नहीं जाते हैं उनका अकाल मरण भी शास्त्र में पाया जाता है जैसे- सुभौम चक्रवर्ती, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, नारायण श्रीकृष्ण आदि की अपमृत्यु हुई है। इससे सिद्ध होता है कि उत्तम शरीर धारी के चरम शरीर धारी की अपमृत्यु नहीं होती है।

गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपमृत्यु के बाह्य कारणों का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं ।

उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ (57)

विष भक्षण से अथवा विषवाले जीवों के काटने से, रक्तक्षय अर्थात् लहू (खून) जिसमें सूखता जाता है ऐसे रोग से अथवा धातुक्षय से, (उपचार से- लहू के सम्बन्ध से यहाँ धातुक्षय भी समझना चाहिए) भयंकर वस्तु के दर्शन से या उसके बिना भी उत्पन्न हुए भय से, शस्त्रों (तलवार आदि हथियारों) के घात से, 'संकलेश' अर्थात् शरीर वचन तथा मन द्वारा आत्मा को अधिक पीड़ा पहुँचाने वाली क्रिया होने से, श्वासोच्छ्वास के रूक जाने से, और आहार (खाना-पीना) नहीं करने से इस जीव की आयु कम हो जाती है। इन कारणों से जो मरण से अर्थात् शरीर छुटे उसे कदली घात मरण अथवा अकाल मृत्यु कहते हैं। (पृ. 39, सटीका कर्मकाण्ड)

## अध्याय 2

### अभ्यास प्रश्न

1. जीव के असाधारण भाव कितने हैं, एवं उनकी परिभाषा लिखो ?
2. जीव का लक्षण क्या है ?
3. उपयोग के कितने भेद तथा उसकी परिभाषा भी लिखिये ?
4. जीव के भेद-प्रभेदों का सविस्तार वर्णन करें ?
5. इन्द्रियों के भेद प्रभेद का सविस्तार वर्णन करो ?
6. इन्द्रिय एवं मन का स्वामी कौन-कौन है ?
7. विग्रहगति में गमन कैसे होता है ?
8. सिद्धजीव की गति कौन सी होती है ?
9. जन्म के भेद एवं उसके स्वामी का कथन करो ?
10. शरीर कितने होते हैं और उसके परमाणु (प्रदेशों) का वर्णन करो ?
11. कौन सा शरीर संसारी जीव के सतत् रहता है ?
12. लिंग कितने हैं, तथा उसके स्वामी कौन-कौन हैं ?
13. अकाल मृत्यु किसके नहीं होती है, और किसके होती है ?

## अध्याय: 3

### सात पृथिवियाँ – नरक

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतममहातमः प्रभाः भूमयो  
घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।(1)

There are 7 earths, lying parallel to each other and with an intervening space separating one from the other. Beginning from the earth which we inhabit, these earths are situated, each one lower than the other. Each one is surrounded and supported, by 3 atmospheres of.

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा महातमः प्रभा ये सात भूमियाँ घनाम्बुवात और आकाश के सहारे स्थित हैं तथा क्रम से नीचे नीचे हैं।

मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है। सम्यग्दर्शन और इसके विषय भूत, जीवादि सात तत्त्व है। इसलिए द्वितीय अध्याय से सर्वश्रेष्ठ एवं उपादेय जीव तत्त्व का वर्णन चल रहा है। द्वितीय अध्याय में जीव के कुछ असाधारण भाव का वर्णन है और इस अध्याय में भी जीवों के निवास स्थानों का वर्णन है। जीवों के निवास स्थान को मुख्यतः तीन भाग में विभक्त कर सकते हैं यथा- (1) अधोलोक (2) मध्यलोक (तिर्यग्लोक) (3) उर्ध्वलोक। इनमें से क्रम से प्राप्त अधोलोक और अधोलोक निवासी नारकियों का वर्णन सर्वप्रथम किया है। उन नारकी की शीत-उष्ण, शारीरिक-मानसिक आदि वेदना को सुनकर जीव संसार-शरीर भोगों से विरक्त हो सकता है इसलिए नरक का वर्णन पहले किया है।

- (1) रत्नप्रभा – जिसकी प्रभा चित्र आदि रत्नों की प्रभा के समान है वह रत्नप्रभा भूमि है।
- (2) शर्कराप्रभा – जिसकी प्रभा शर्करा के समान है वह शर्कराप्रभा भूमि है।
- (3) बालुकाप्रभा – जिसकी प्रभा बालुका के समान है वह बालुकाप्रभा भूमि है।

- (4) पंकप्रभा – जिसकी प्रभा कीचड़ के समान है वह पंकप्रभा भूमि है।  
 (5) धूमप्रभा – जिसकी प्रभा धुँआ के समान है वह धूम प्रभा भूमि है।  
 (6) तमप्रभा – जिसकी प्रभा अन्धकार के समान है वह तमप्रभा है।  
 (7) महातमप्रभा – जिसकी प्रभा गाढ अंधकार के समान है वह महातमः प्रभा है।

### नरक की पृथिवीयों की मोटाई—

- (1) पहली पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। (धम्मा)  
 (2) दूसरी पृथिवी बत्तीस हजार योजन मोटी है। (वंशा)  
 (3) तीसरी पृथिवी अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। (मेघा)  
 (4) चौथी पृथिवी चौबीस हजार योजन मोटी है। (अंजना)  
 (5) पाँचवी पृथिवी बीस हजार योजन मोटी है। (अरिष्ठा)  
 (6) छठी पृथिवी सोलह हजार योजन मोटी है। (मघवा)  
 (7) सातवीं पृथिवी आठ हजार योजन मोटी है। (माघवी)

पहली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है तथा खर भाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग इन तीन भागों में विभक्त है। पहला खर भाग सोलह हजार योजन मोटा है, दूसरा पंकभाग चौरासी हजार योजन मोटा है और तीसरा अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। पंक भाग में राक्षस तथा असुर कुमार देव रत्नमयी भवन में रहते हैं। खर भाग में नौ प्रकार के भवनवासी देव निवास करते हैं और अब्बहुल भाग में नारकी निवास करते हैं।

वातवल्लय— घनोदधि, घनवात और तनुवात ये तीनों वातवल्लय इस लोक को सब ओर से घेरकर स्थित है। आदि का घनोदधि वातवल्लय गोमूत्र के वर्ण के समान है, बीच का घनवातवल्लय मूंग के समान वर्णवाला है और अन्त का तनुवात वल्लय परस्पर मिले हुए अनेक वर्णवाला है। ये वातवल्लय दण्ड के आकार लम्बे हैं, घनी भूत है, ऊपर नीचे तथा चारों ओर स्थित है: चंचलाकृति हैं, तथा लोक के अन्त तक वेष्टित हैं। अधोलोकके नीचे तीनों वातवल्लयों में से प्रत्येक का विस्तार बीस-बीस हजार योजन है और लोक के ऊपर तीनों वातवल्लय कुछ कम एक योजन विस्तार वाले हैं।

नारकियों के उत्पत्ति स्थान-प्रारम्भ की तीन पृथिवियों में नारकियों के उत्पत्ति-स्थान कुछ तो ऊँट के आकार हैं, कुछ कुम्भी (घड़िया), कुछ कुस्थली, मुद्गल, मृदंग और नाड़ी के आकार हैं। चौथी और पाँचवी पृथिवी में नारकियों के जन्मस्थान अनेक तो गौ के आकार हैं, अनेक हाथी, घोड़े, आदि जन्तुओं तथा धोंकनी, नाव और कमलपुट के समान है। अन्तिम दो भूमियों में कितने ही खेत के समान, कितने ही झालर और कटोरों के समान और कितने ही मयूरों के आकार वाले हैं। वे जन्मस्थान एक कोश, दो कोश, तीन कोश और एक योजन विस्तार से सहित हैं, उनमें जो उत्कृष्ट स्थान हैं वे सौ योजन तक चौड़े कहे गये हैं। उन समस्त उत्पत्ति स्थानों की ऊँचाई अपने विस्तार से पाँच गुनी है।

### जन्म के पश्चात् नारकियों का उछलना-

- (1) घर्मा नामक पहली पृथिवी के उत्पत्ति स्थानों में उत्पन्न होने वाले नारकी जीव जन्म काल में जब नीचे गिरते हैं तब सात योजन, सवा तीन कोश ऊपर आकाश में उछलकर पुनः नीचे गिरते हैं।
- (2) दूसरी वंशा पृथिवी के नरक में जन्म लेने वाले नारकी पन्द्रह योजन अढ़ाई कोश आकाश में उछलकर नीचे गिरते हैं।
- (3) तीसरी मेघा पृथिवी में जन्म लेने वाले नारकी इकतीस योजन एक कोश आकाश में उछलकर नीचे गिरते हैं।
- (4) चौथी अंजना पृथिवी के नरक में जन्म लेने वाले नारकी अत्यन्त दुःखी हो बासठ योजन दो कोश उछलकर नीचे गिरते हैं।
- (5) पाँचवी पृथिवी में जन्म लेने वाले नारकी एक सौ पच्चीस योजन आकाश में उछलकर नीचे गिरते हैं और तीव्र दुःख से दुःखी होते हैं।
- (6) छठवी पृथिवी में स्थित नरक में जन्म लेने वाले जीव दो सौ पचास योजन आकाश में उछलकर नीचे गिरते हैं।
- (7) सप्तमी पृथिवी में स्थित नरक में उत्पन्न हुए जीव पाँच सौ योजन ऊँचे उछलकर पृथिवी तलपर नीचे गिरते हैं। (त्रिलोकसार गाथा 182)

### नरक में उत्पत्ति का काल:-

प्रथम पृथिवी में नारकियों की उत्पत्ति का अन्तर अड़तालीस घड़ी बतलायी

है और नीचे की छह भूमियों में क्रम से एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास का विरह-अन्तर काल है।

**नरक में उत्पत्ति में कारण:-**

तीव्रमिथ्यात्वसंबद्धा                      बह्वारम्भपरिग्रहाः ।  
पृथिवीस्ताः प्रपद्यन्ते तिर्यचो मानुषास्तथा ॥

पर्व 4 (372)(ह.पु.)

जो तीव्र मिथ्यात्व से युक्त हैं तथा बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के धारक है ऐसे तिर्यच और मनुष्य उन पृथिवियों को प्राप्त होते हैं।

**नरक में लगातार जन्म के बार (क्रम)**

सातवीं पृथिवी से निकला हुआ जीव यदि पुनः अव्यवहित (निरंतर) रूप से सातवीं में जावे तो एक बार, छठवीं से निकला छठवीं में दो बार, पांचवी से निकला हुआ पांचवी में तीन बार, चौथी से निकला हुआ चौथी में चार बार, तीसरी से निकला हुआ तीसरी में पांच बार, दूसरी से निकला हुआ दूसरी में छः बार और पहली से निकला हुआ पहली में सात बार तक उत्पन्न हो सकता है।

**नारकी कहां-कहां उत्पन्न हो सकते हैं-**

सातवीं पृथिवी से निकला हुआ प्राणी नियम से संजी तिर्यच होता है तथा संख्यात वर्ष की आयु का धारक हो फिर से नरक जाता है। छठवीं पृथिवी से निकला हुआ जीव संयम को प्राप्त नहीं होता और पाँचवी पृथिवी से निकला जीव संयम को तो प्राप्त हो सकता है पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। चौथी पृथिवी से निकला हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु तीर्थकर नहीं हो सकता। तीसरी दूसरी और पहली पृथिवी से निकला हुआ जीव सम्यग्दर्शन की शुद्धता से तीर्थकर पद प्राप्त कर सकता है। नरकों से निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती पद छोड़कर ही मनुष्य पर्याय प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् मनुष्य तो होते हैं पर बलभद्र नारायण और चक्रवर्ती नहीं हो सकते।

**नरक में उत्पत्ति के स्वामी-**

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पहली पृथिवी तक जाते हैं, सरकने वाले दूसरी पृथिवी तक, पक्षी तीसरी पृथिवी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पांचवी तक, स्त्रियाँ छठवीं तक और तीव्र पाप करने वाले मत्स्य तथा मनुष्य सातवीं पृथिवी तक जाते हैं।

## सात पृथिवियों में नरकों (बिलों) की संख्या

तासु-त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चो नैकनरकशत

-सहस्राणिपञ्चचैव यथाक्रमम् ॥(2)

In these (earths there are the following) hells respectively:

30 lacs in the 1st;

25 lacs in the 2nd;

15 lacs in the 3rd;

10 lacs in the 4th;

3 lacs in the 5th;

99,995 in the 6th;

5 in the 7th;

Total 84 lacs

उन भूमियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख, और पाँच नरक हैं।

रत्नप्रभा में तीस लाख नरक हैं। शर्कराप्रभा में 25 लाख नरक हैं। बालुकाप्रभा में 15 लाख नरक हैं। पंकप्रभा में 10 लाख नरक हैं। धूमप्रभा में तीन लाख नरक हैं। तमःप्रभा में पाँच कम एक लाख नरक हैं और महातमःप्रभा में पाँच नरक हैं। रत्नप्रभा में तेरह नरक पटल हैं। इससे आगे सातवीं भूमि तक दो-दो नरक पटल कम हैं।

## नारकियों के दुःख का वर्णन

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥(3)

Hellish beings always (have) very bad thought colours, sense, perceptions and their objects, bodies, feeling of pain and transformations.

नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं।

नारकी की परिभाषा—

ण रमन्ति जदो णिच्चं, दव्वे खेत्ते य काल-भावे य।

अण्णोण्णोहिं य जम्हा, तम्हा ते णारया भणिया ॥

(147) जीवकाण्ड

जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव में स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त नहीं होते उनको नारत (नारकी) कहते हैं।

शरीर और इन्द्रियों के विषयों में, उत्पत्ति शयन विहार उठने, बैठने आदि के स्थानमें, भोजन आदि के समय में अथवा और भी अनेक अवस्थाओं में जो स्वयं अथवा परस्पर में प्रीति (सुख) को प्राप्त न हों उनको नारत कहते हैं। इस गाथा में जो 'च' शब्द पड़ा है उससे इसका दूसरा भी निरूक्ति - सिद्ध अर्थ समझना चाहिये। अर्थात् जो नरकगतिनामकर्म के उदय से हों उनको, अथवा नरान् - मनुष्यों को कायन्ति - क्लेश पहुँचावें उनको नारक कहते हैं। क्योंकि नीचे सातों ही भूमियों में रहने वाले नारकी निरन्तर ही स्वाभाविक शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा क्षेत्रजन्य इन पाँच प्रकार के दुःखों से दुःखी रहते हैं।

लेश्या की परिभाषा—

लिंपइ अप्पीकीरइ, एदीए णियअप्पुण्णपुण्णं च।

जीवो त्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥(489)

लेश्या के गुण को- स्वरूप को जानने वाले गणधरादि देवों ने लेश्या का स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे, = पुण्य और पाप के अधीन करे उसको 'लेश्या' कहते हैं।

लेश्या दो प्रकार की है - द्रव्यलेश्या और भावलेश्या।

द्रव्यलेश्या शरीर के वर्णरूप और भावलेश्या जीव के परिणामस्वरूप है।



जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होई।(490)

कषायोदय से अनुरक्त योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

नारकियों की लेश्या—

काऊ काऊ काऊ, णीला णीला य णील किण्हा य।

किण्हा य परमकिण्हा, लेस्सा पढमादिपुढवीणं॥(529)

पहली धम्मा या रत्नप्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का जघन्य अंश है। दूसरी वंशा या शर्कराप्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का मध्यम अंश है। तीसरी मेधा या बालुकाप्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का उत्कृष्ट अंश और नील लेश्या का जघन्य अंश है। चौथी अंजना या पंकप्रभा पृथिवी में नीललेश्या का मध्यम अंश पाँचवी अरिष्टा या घूम प्रभा पृथिवी में नील लेश्या का उत्कृष्ट अंश और कृष्ण लेश्या का जघन्य अंश है। छठी मघवी या तमः प्रभा पृथिवी में कृष्ण लेश्या का मध्यम अंश है। सातवीं माघवी या महातमः प्रभा पृथिवी में कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट अंश है।

इस स्वामी अधिकार में भाव लेश्या की अपेक्षा से ही कथन की मुख्यता है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से यहाँ नरकों में भावलेश्या ही समझना। यद्यपि देवगति के समान नरक गति में भी द्रव्यलेश्या और भावलेश्या सदृश ही हुआ करती है।

अशुभतर लेश्या—

“तरप्” प्रत्यय का प्रयोग व्याकरण शास्त्र के अनुसार एक दूसरे की प्रकर्षता होने पर ही होता है। प्रतियोगी के अन्तर की अपेक्षा प्रकर्ष देखा जाता है। इस न्याय के अनुसार ऊपर के नारकियों की अपेक्षा नीचे के नारकियों की लेश्या आदि अशुभतर है। अथवा प्रथम आदि नारकियों की अपेक्षा द्वितीय आदि नारकियों में अति अधिक अशुभ लेश्या है इसलिए भी अशुभतर है।

अशुभतर लेश्या का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है कि, प्रथम और द्वितीय नरक में कापोतलेश्या, तृतीय नरक में ऊपर कापोत तथा नीचे नील, चौथे नरक में नील, पाँचवें में ऊपर नील और नीचे कृष्ण, छठें में कृष्ण और सातवें

में परम कृष्ण लेश्या है। लेश्या द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार की है। उसमें उन नारकियों की द्रव्यलेश्या तो अपनी अवधृत (निश्चित) आयु प्रमाण है और भाव लेश्या तो छहों ही अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तित हो जाती हैं।

### अशुभतर परिणाम—

उस क्षेत्र के कारण वहां के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द परिणाम अति दुःख के कारण होने से अशुभतर होते हैं। अर्थात् महादुःखदायी नरक क्षेत्र के कारण वहां के पदार्थों का स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णादि का परिणाम महादुःख रूप हो जाता है। जब शीत की वेदना से व्याकुल होकर किसी पदार्थ को उष्ण समझ कर उसका स्पर्श करते हैं तो उसके स्पर्श से शरीर के खंड-2 हो जाते हैं। किसी वस्तु को खाते हैं तो जिब्हा कट कर गिर जाती है।

### अशुभतर शरीर—

उनके शरीर अशुभ नाम कर्म के उदय से अशुभ अंगोपांग, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण स्वर वाले और वीभत्स तथा निर्लून (पंख रहित) अण्डज (पक्षियों) की आकृति वाले होते हैं। उनका संस्थान हुण्डक होता है। वे देह क्रूर, वीभत्स एवं भयंकर दिखते हैं। अर्थात् उन नारकियों के शरीर को देखकर क्रूरता, भय, ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि उन नारकियों का शरीर वैक्रियिक है तथापि उसमें इस औदारिक शरीरगत मल-मूत्रादिक से अधिक खंखार, मूत्र, मल (टट्टी) रूधिर, मज्जा, पीप, वमन, मांस, केश, अस्थि (हड्डी) चर्मादि वीभत्स सामग्री रहती है इसलिये उनकी देह अति अशुभतर है। रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है। आगे के नरकों में दूनी-2 होकर सातवें नरक में 500 धनुष हो जाती है।

### अशुभतर वेदना:—

अभ्यन्तर असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर अनादि स्वाभाविक शीत-उष्ण जन्य बाह्य निमित्त से होने वाली तीव्र वेदना होती है। जैसे ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न काल में बादलरहित आकाश में महातीक्ष्ण सूर्य किरणों से सन्तप्त दिगन्तराल में जहाँ शीत वायु का प्रवेश नहीं है, दावाग्नि के समान अत्यन्त ऊष्ण एवं रूक्ष वायु चल रही है; ऐसे मारवाड़ देश में चारों तरफ से दीप्त अग्निशिखा से व्याप्त प्यास से आकुलित निष्प्रतिकार पित्त ज्वर से

संतापित शरीर वाले मानव को जो ऊष्णताजन्य दुःख होता है उससे भी अनंत गुणा दुःख नारकियों को तज्जन्य ऊष्णता का होता है। हिम (बर्फ) के गिरने से सर्व दिशाएँ शीत से व्याप्त हो गई हैं, आकाश से च्युत जलकणों से पृथ्वी तल भर गया है ऐसे माघ मास में रात्रि के समय शीत वायु के पान से शरीर में रोमांच हो गये हैं तथा दौत कट-2 बज रहे हैं, शरीर शीत ज्वर से अभिभूत है और अग्नि एवं वस्त्र का जिसके साधन नहीं है ऐसे मानव को जो शीतजन्य दुःख होता है उससे अनन्त गुणा दुःख नारकियों को शीतजन्य होता है। अथवा नरकों में इतनी ऊष्णता होती है कि, यदि उन ऊष्ण नरकों में सुदर्शन मेरू बराबर ताँबे का गोला डाल दिया जाय तो वह शीघ्र ही गल जायेगा। वही एक लाख योजन का पिघला हुआ गोला शीत नरक में डाल दिया जाय तो वह क्षण मात्र में घन हो जाएगा ; इससे वहाँ की शीत, ऊष्णता का अनुमान लगाया जाता है।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ नरक में ऊष्ण वेदना है, पाँचवें नरक के ऊपरी दो लाख बिलों में ऊष्ण वेदना है। नीचे के एक लाख बिलों में तथा छठे और सातवें नरक में शीत वेदना है। सर्व समुदाय से 82 लाख बिलों में उष्ण वेदना और दो लाख बिलों में शीत वेदना है।

### अशुभतर विक्रिया:-

अशुभतर विक्रिया है, नारकी जीव विचारते हैं कि शुभ करेंगे परन्तु अशुभतर ही करते हैं। दुःख से अभिभूत मन वाले नारकियों के दुःख को दूर करने की इच्छा होते हुए भी गुरुतर दुःख के कारणों को ही उत्पन्न करते हैं- अतः नीचे-नीचे अशुभतर भाव जानने चाहिये।

छहढाला में कहा भी है-

तहाँ भूमि परसत दुख इसो, बिच्छु सहस इसें नहिं तिसो।

तहाँ राध शोणितवाहिनी, कृमि कुलकलित देहदायिनी॥(10)

सेमरतरू जुत दल असिपत्र, असि ज्यों देह विदारें तत्र।

मेरूसमान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय॥(11)

तिल-2 करें देह के खंड, असुर भिड़ावें दुष्ट प्रचण्ड।  
 सिन्धु नीरतें प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय ॥(12)  
 तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।  
 ये दुख बहुसागरलों सहै, करम जोगतें नरगति लहे ॥

(13)

परस्परोदीरितदुःखाः । (4)

The tortures of hellish beings are produced by them for another.

तथा वे परस्पर उत्पन्न किये गये दुःख वाले होते हैं।

नारकी जीव परस्पर महान् दुःख देते रहते हैं। उनका प्रत्येक क्षण लड़ने-झगड़ने में ही व्यतीत होता है। निर्दय होने से कुत्ते के समान एक दूसरे को देखकर नारकियों के क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे- कुत्ते शाश्वतिक, अकारण, अनादिकाल से होने वाले जातिकृत वैर के कारण निर्दय होकर परस्पर भौंकना, छेदना-भेदना आदि उदीरित (उत्पन्न कराये) दुःख वाले होते हैं, उसी प्रकार नारकी भी मिथ्यादर्शन के उदय से विभंगनाम को प्राप्त भवप्रत्यय अवधिज्ञान के द्वारा दूर से ही दुःख के हेतुओं को जानकर उत्पन्न दुःख की प्रत्यासत्ति (उपस्थिति) से एक-दूसरे को देखने से प्रज्वलित हुई है क्रोध अग्नि जिनकी, ऐसे वे अपने शरीर की विक्रिया से तलवार, वासी, परशु, भिण्डिवाल आदि शस्त्र बनाकर परस्पर देह की घात, छेदन-भेदन-पीड़न आदि के द्वारा उदीरित दुःख वाले होते हैं।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।(5)

Before the 4th earth i.e. in the 1st, 2nd and 3rd earths in the hells, the evil-minded celestial beings called Asura Kumaras also give torture to the hellish beings or incite them to torture one another.

और चौथी भूमि से प्रहले तक वे संक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गये दुःख वाले भी होते हैं।

पूर्वोपार्जित तीव्र पाप कर्म के उदय से नारकियों को केवल क्षेत्रजनित

परस्पर के लड़ने-झगड़ने आदि के ही कष्ट नहीं मिलते परन्तु तीसरे नरक तक के नारकियों को दुष्ट परिणाम वाले अम्बरीष आदि असुर कुमार भवनवासी देव भी दुःख देते हैं।

पूर्व भव के संक्लेश परिणामों से उपार्जित अशुभ कर्म के उदय से निरन्तर क्लिष्ट होने से वे संक्लिष्ट कहलाते हैं। पूर्व जन्म में भावित अतितीव्र संक्लेश परिणाम से उपार्जित जो पाप कर्म हैं, उनके उदय से वे निरन्तर क्लिष्ट रहते हैं इसलिये संक्लिष्ट हैं।

असुर नामकर्म के उदय से असुर होते हैं। असुरत्व संवर्तन देवगति नामकर्म के विकल्प कर्म के उदय से दूसरों को दुःख देते हैं, वे असुर कहलाते हैं।

संक्लिष्ट विशेषण अन्य असुर जाति देवों की निवृत्ति के लिये है। सभी असुर जाति के देव नारकियों को दुःख नहीं देते हैं—अपितु अम्ब, अम्बरीष आदि जाति के कुछ ही असुर नारकियों को परस्पर भिड़ते हैं, उसको दशनि के लिये (अर्थात् सर्व असुरों की निवृत्ति के लिये) संक्लिष्ट विशेषण है।

नारकियों को परस्पर दुःख देने के कारणभूत उन संक्लिष्टपरिणामी असुरकुमारों का गमन तीसरे नरक तक ही है, उसके नीचे के नरकों में जाने की शक्ति उनमें नहीं है। इस बात को बताने के लिये “प्राक्चतुर्थ्याः” यह विशेषण दिया है।

### नरकों में उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमासत्त्वानां-परा  
स्थितिः । (6)

In these seven hells the maximum age of hellish beings of different earths as follows :

- 1 सागरोपमा or सागर Simply in the 1st earth.
- 3सागरोपमा or सागर Simply in the 2nd earth.
- 7सागरोपमा or सागर Simply in the 3rd earth.
- 10सागरोपमा or सागर Simply in the 4th earth.
- 17सागरोपमा or सागर Simply in the 5th earth.

22सागरोपमा or सागर Simply in the 6th earth.

33सागरोपमा or सागर Simply in the 7th earth.

उन नरकों में जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागर हैं।

रत्नप्रभा में एक सागर उत्कृष्ट स्थिति है। शर्कराप्रभा में तीन सागर उत्कृष्ट स्थिति है। बालुकाप्रभा में सात सागर उत्कृष्ट स्थिति है। पंकप्रभा में दस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। धूमप्रभा में सत्रह सागर उत्कृष्ट स्थिति है। तमः प्रभा में बाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। और महातमः प्रभा में तैंतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

## द्वीप समुद्र के नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानोद्वीपसमुद्राः । (7)

Jambudvipa Continent, Lavana samudra ocean etc. are the continents and oceans being pleasant names.

जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप और लवणोद आदि शुभ नाम वाले समुद्र हैं।

इस अध्याय में प्रथम सूत्र से लेकर छठे सूत्र तक अधोलोक में वास करने वाले नारकियों का वर्णन हुआ। इस सूत्र को आदि करके आगे के सूत्रों में मध्यलोक एवम् मध्यलोक के समुद्र, पर्वत और उसमें निवास करने वाले मनुष्यों और तिर्यंचों का वर्णन है। एक रज्जू व्यास वाले मध्यलोक में शुभ नाम वाले असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं। आधुनिक विज्ञान में वर्णित पृथ्वी से यह मध्यलोक अत्यंत विस्तृत एवं विशाल है। इसकी विशेष जानकारी के लिए मेरे (कनकनंदी) द्वारा रचित “विश्व विज्ञान रहस्य” का अध्ययन करें।

इस मध्यलोक में जो पहला द्वीप है उसका नाम “जम्बूद्वीप” है। इस प्रथम द्वीप में अति विशाल पृथ्वीकायिक अकृत्रिम जम्बू वृक्ष है इस कारण इसका नाम जम्बूद्वीप पड़ा। अथवा जम्बूद्वीप यह नाम अनादि काल से प्रचलित है। लवणरस वाले पानी से संयुक्त होने से पहले समुद्र का नाम लवण समुद्र है। इस लोक में जो असंख्यात द्वीप, समुद्र हैं उनके कुछ नाम क्रम से यहाँ

उद्धत कर रहे हैं— (1) जम्बूद्वीप (2) लवण समुद्र (3) धातकीखण्ड द्वीप (4) कालोदं समुद्र (5) पुष्करवर द्वीप (6) पुष्करवर समुद्र (7) वारुणीवर द्वीप (8) वारुणीवर समुद्र (9) क्षीरवर द्वीप (10) क्षीरवर समुद्र (11) घृतवर द्वीप (12) घृतवर समुद्र (13) इक्षुवर द्वीप (14) इक्षुवर समुद्र (15) नन्दीश्वर द्वीप (16) नन्दीश्वर समुद्र (17) अरूणवर द्वीप (18) अरूणवर समुद्र इस प्रकार स्वयंभूमण समुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप, समुद्र जानने चाहिए।

## द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः । (8)

The oceans and continents each one have twice the breadth of the one immediately preceding it.

वे सभी द्वीप और समुद्र दूने-दूने व्यास वाले पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्र को वेष्टित करने वाले और चूड़ी के आकार वाले हैं।

प्रथम द्वीप का जो विस्तार है लवण समुद्र का विस्तार उससे दूना है। तथा दूसरे द्वीप का विस्तार इससे दूना है और दूसरे समुद्र का इससे दूना है। इस प्रकार उत्तरोत्तर दूना-दूना विस्तार है।

इन द्वीपों के आकार वलयाकृति या गोलाकृति है। इनका आकार त्रिकोण, चतुकोण या पंचकोण नहीं है। इन द्वीप, समुद्रों का अवस्थान यत्र-तत्र अवस्थित नहीं है बल्कि एक को आवृत (धरे हुए) करके दूसरे को, दूसरे को आवृत करके तीसरा है। इसी बात को जतलाने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में 'वलयाकृतय' पद दिया है।

## जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तोयोजनशतसहस्रविषकम्भो जम्बूद्वीपः । (9)

In the middle of these concentric oceans and continents, is Jambudvipa which is round like the disc of the sun. In the centre of Jambudvipa like navel in the human body is situated mount meru. Jambudvipa is 1 lac Yojanas in breadth.

उन सबके बीच में गोल और एक लाख योजन विषकम्भ वाला जम्बूद्वीप है। जिसके मध्य में मेरू पर्वत है।

विश्व तीन विभाग में विभक्त है। उसमें से मध्यलोक एक रज्जु व्यास वाला है। तनुवातवलय के अन्त भाग तक तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोक में स्थित है। मेरू पर्वत एक लाख योजन विस्तार (ऊँचाई) वाला है। उसी मेरू पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस तिर्यग्लोक की अवधि निश्चित है।

लोकाकाश, अलोकाकाश के मध्य भाग में स्थित है। अतः अलोकाकाश के मध्य के ४ प्रदेश हैं, वे ही ४ प्रदेश लोकाकाश के भी मध्य प्रदेश बन जाते हैं। सुदर्शन मेरू के नीचे ठीक मध्य में ये ४ प्रदेश स्थित हैं। अतः सुमेरू का मध्य भी इन ४ प्रदेशों पर ही होता है। इसलिए अलोकाकाश का, लोकाकाश का और सुमेरू का, तीन लोक का, तिर्यक् लोक का तथा जम्बु-द्वीप का मध्य प्रदेश वही ४ मध्य प्रदेश हैं, अतः लोक आदि के मध्य प्रदेश एक ही है।

क्षेत्र परिवर्तन का प्रारम्भ, गो स्तनाकार इन ४ मध्य प्रदेशों से होता है। जघन्य अवगाहना वाला सूक्ष्म निगोदिया जीव अपनी ४ मध्य के प्रदेशों को इन ४ मध्य प्रदेशों पर स्थापित कर जन्म लेता है। इसलिए ४ मध्य प्रदेश क्षेत्र परिवर्तन का प्रारम्भ स्थान है। जघन्य अवगाहना वाला सूक्ष्म निगोदिया जीव जब अपने ४ मध्य प्रदेशों में स्थापित कर जन्म लेता है तब आठ मध्य प्रदेश जीव के शरीर के भी ४ मध्य प्रदेश होते हैं।

इन आठ मध्य प्रदेशों के अवलम्बन से लोकाकाश की चार दिशाओं का व्यवहार होता है अर्थात् ४ प्रदेश से नीचे अधोलोक का प्रारम्भ, ४ प्रदेशों के ऊपर एवं सुमेरू के चूलिका पर्यन्त मध्यलोक का व्यवहार है एवं चूलिका के एक बालाग्र के ऊपर से उर्ध्वलोक का प्रारम्भ होता है। इसीलिए इन ४ मध्य प्रदेश, लोक माप का एक केन्द्र स्थल है।

**सुमेरू पर्वत**— विदेहक्षेत्र के मध्य में निन्यानवे हजार योजन ऊँचा, पृथ्वी तल में एक हजार योजन अवगाह वाला मेरू पर्वत है। पाताल तल में इसका विस्तार दस हजार नब्बे (10090) योजन और एक योजन के ग्यारह भागों



में से दस भाग प्रमाण है। अधस्तल में इस पर्वत की परिधि, इकतीस हजार नौ सौ ग्यारह (31911) योजन से कुछ न्यून है। भूतल में इसका विस्तार दस हजार (10,000) योजन है तथा भूतल पर इसकी परिधि इकतीस हजार छह सौ तेईस (31623) योजन से कुछ न्यून है। यह पर्वत चार वन, तीन खण्ड और तीन श्रेणियों वाला है। भद्रशाल वन, नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन ये चार वन हैं। भूमितल पर भद्रशाल वन पूर्व-पश्चिम दिशा में बाईस हजार योजन लम्बा और दक्षिण उत्तर दिशा में ढाई सौ योजन प्रमाण चौड़ा है। यह भद्रशाल वन दो कोस (1/2 योजन) ऊँची, पाँच सौ धनुष चौड़ी, भद्रशाल वन समान लम्बी और बहुतोरण से युक्त एक पद्म वन वेदिका से घिरा हुआ है।

इस मेरु पर्वत के नीचे अधोलोक है। चूलिका की समाप्ति से ऊपर उर्ध्वलोक है। मेरु के मूल से लेकर चूलिका पर्यन्त मध्य में तिर्यग् विस्तृत तिर्यग्लोक (मध्य लोक) है। इसलिये इसका मेरु यह सार्थक नाम इस प्रकार किया जाता है कि, “लोकत्रयं मिनातीति मेरु” तीनों लोकों को मापने वाला होने से मेरु कहलाता है, इति। भूमितल से लेकर शिखर पर्यन्त ग्यारह प्रदेशों के बाद एक प्रदेश की हानि मानी है अर्थात् ग्यारह प्रदेश ऊपर चढ़ जाने पर चौड़ाई में एक प्रदेश हीन होता है। ग्यारह कोस की ऊँचाई में एक कोस संकुचित होता है और ग्यारह योजन में एक योजन संकुचित होता है-शिखर पर्यन्त यह हानि सर्वत्र समझनी चाहिये। इसी प्रकार शिखर से लेकर भूमितल तक एक प्रदेश में एक प्रदेश के ग्यारहवें भाग प्रमाण वृद्धि होती है। इसलिये ग्यारहवें प्रदेश के नीचे एक प्रदेश पड़ता है, ग्यारह कोस पर एक कोस बढ़ता है और ग्यारह योजन स्थान नीचे आने पर एक योजन बढ़ता है। इस प्रकार अधस्थल तक सर्वत्र जानना चाहिये।

जम्बूद्वीप का व्यास एक लाख योजन (40000000 मील) है। गणित सूत्र के अनुसार किसी भी वृत्त की परिधि व्यास से कुछ अधिक तीन गुना होती है। आधुनिक गणित सूत्र के अनुसार परिधि  $2\pi r$  या  $\pi d$  है। इसीलिये जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस (316227) योजन तीन कोश एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल है। विभाग करने पर गणितज्ञ

मनुष्य इस जम्बूद्वीप का घनाकार क्षेत्र सात सौ, नब्बे करोड़, छप्पन लाख, चौरानवें हजार, एक सौ पचास योजन बतलाते हैं। इस जम्बू-द्वीप में सात क्षेत्र, एक मेरू, दो कुरू, जम्बू और शात्मली नामक दो वृक्ष, छह कुलाचल, कुलाचलों पर स्थित छह महासरोवर, चौदह महानदियाँ, बारह विभंगा नदियाँ, बीस वक्षार गिरी, चौतीस राजधानी, चौतीस रूप्याचल, चौतीस वृषभाचल, अड़सठ गुहाएँ, चार गोलाकार नाभिगिरी और तीन हजार सात सौ चालीस विद्याधर राजाओं के नगर हैं। ऊपर कही हुई इन सभी चीजों से यह जम्बू-द्वीप अत्यधिक सुशोभित है।

**सात क्षेत्रों के नाम**

**भरतहैमवत हरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि । (10)**

The divisions Ksettras of Jambudvipa are seven भरत Bharata हैमवत Haimavata हरि Hari विदेह Videha रम्यक Ramyaka हैरण्यवत् Hairanyavata and ऐरावत Airavata

**भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं।**

(1) **भरतवर्ष**— इस क्षेत्र को भरत क्षत्रिय के योग से भरत क्षेत्र कहते हैं। विजयार्ध पर्वत से दक्षिण, लवण समुद्र से उत्तर और गंगा एवं सिन्धु नदी के मध्य भाग में बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी विनीता नामक नगरी है। उसमें सर्व राज लक्षणों से सम्पन्न भरत नाम का षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ है। इस अवसर्पिणी के राज्य विभाग काल में उसने ही सर्व प्रथम इस क्षेत्र का उपभोग किया (अनुशासन किया) था इसीलिए उसके अनुशासन के कारण इस क्षेत्र का नाम 'भरतक्षेत्र' पड़ा।

अथवा 'भरत' यह संज्ञा अनादिकालीन है, अथवा यह संसार अनादि होने से अहेतुक है, इसलिए 'भरत' यह नाम अनादि सम्बन्ध पारिणामिक है अर्थात् बिना किसी कारण के स्वाभाविक है। जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण में कहा है—

तान्नाम्ना भारतं वर्षमिति हासीज्जनास्पदम्।  
हिमाद्रैरासमुद्रा क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥(59)

इतिहास के जानने वालों का कहना है कि, जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवत् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त का चक्रवर्तियों का क्षेत्र उसी ऋषभपुत्र भरत के नाम से “भारतवर्ष” रूप से प्रसिद्ध हुआ है।

हिन्दु धर्म में भी ऋषभपुत्र भरत से इस देश का नाम भारत सर्वत्र पाया जाता है इसका विस्तृत वर्णन ‘ऋषभपुत्रभरत से भारत’ मेरे (कनकनदी) द्वारा रचित पुस्तक में है। वहाँ से विज्ञ जन अवलोकन करें।

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद्भारतोऽभवत्,  
तस्य नाम्नात्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते।

(स्कन्ध पुराण माहेश्वर खण्ड कौमार खण्ड(अ.37)

नाभि के पुत्र ऋषभदेव और ऋषभदेव के पुत्र भरत हुए। उन्हीं भरत के नाम से इस प्रदेश का नाम भारत प्रसिद्ध है।

आसीत्पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः।  
आर्षभोयस्य नाम्नेदं भारत खण्डमुच्यते भूपति ॥

(नारद पुराण)

**भरतक्षेत्र का अवस्थान-** यह भरतक्षेत्र हिमवान् पर्वत और तीन समुद्रों के मध्य में है। हिमवान् पर्वत के और पूर्व-दक्षिण एवं पश्चिम में इन तीन समुद्रों के मध्य में भरतक्षेत्र है। अर्थात् जिसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है तथा पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशा में समुद्र है। इस क्षेत्र के गंगा, सिन्धु और विजयार्ध पर्वत से विभक्त होकर छह खण्ड हो जाते हैं।

**विजयार्ध पर्वत-** पचास योजन चौड़ा, पच्चीस योजन ऊँचा, सवा छह योजन अवगाहन वाला रजताचल इस अन्वयार्ध नाम वाला विजयार्ध पर्वत है। अर्थात् यह पर्वत रजत-चौदी के समान धवल है। अतः यह रजताचल इस सार्धक नाम वाला है। चक्रवर्ती के विजयक्षेत्र की अर्ध सीमा इस पर्वत से निर्धारित होती है अतः इसका नाम विजयार्ध है-1. गुण से यह रजताचल है- अर्थात् चौदी से निर्मित एवं शुभ्र वर्ण है। इसका पचास योजन विस्तार

है, पच्चीस योजन उत्सेध (ऊँचाई) है। एक कोस छह योजन अवगाहन (जड़) है। तथा पूर्व-पश्चिम की तरफ से यह लवण समुद्र का स्पर्श करता है।

2. **हैमवत क्षेत्र**— यह क्षेत्र हिमवान् पर्वत के समीप होने से हैमवत क्षेत्र कहलाता है। हिमवान् पर्वत के निकट है अथवा इस क्षेत्र में हिमवान् पर्वत है इसलिए हैमवत यह इस क्षेत्र का नाम पड़ा है।

**हैमवत क्षेत्र का अवस्थान**— यह क्षेत्र हिमवान् और महाहिमवान् के तथा पूर्वापर समुद्रों के मध्य में है। यह हैमवत क्षेत्र क्षुद्र हिमवान् की उत्तर दिशा में महाहिमवान् के दक्षिण भाग में तथा पूर्वापर लवणसमुद्र के बीच में है।

3. **हरिवर्ष क्षेत्र**— यह क्षेत्र हरि वर्ण के मनुष्य के योग से हरि वर्ष क्षेत्र कहलाता है। 'हरि' का अर्थ सिंह है और सिंह का परिणाम शुक्ल माना गया है। सिंह के समान शुक्ल परिणाम वाले मनुष्य इसमें रहते हैं। अतः इसे हरिवर्ष कहते हैं।

**हरिवर्ष क्षेत्र का अवस्थान**— यह हरिवर्ष क्षेत्र निषध से दक्षिण, महाहिमवान् से उत्तर और पूर्व पश्चिम समुद्र के मध्य में स्थित है।

4. **विदेह क्षेत्र**— विदेह के योग से इस क्षेत्र का नाम विदेह क्षेत्र पड़ा। विगत (नहीं है) देह जिसके वह विदेह कहलाता है। कर्मबंध की संतान का उच्छेद होने से जिनके शरीर नहीं है, इसलिए 'विदेह' यह नाम है। अथवा— जो शरीर सहित होने पर भी शरीर के संस्कार से रहित है - इसलिए 'विदेह' कहलाता है। इस विदेह क्षेत्र में रहने वाले मुनिवर निरन्तर विदेह अर्थात् कर्मबन्ध का उच्छेद करने के लिए वा देह का नाश करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते हैं और विदेहत्व-अशरीरत्व सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं, अतः विदेह मनुष्यों के सम्बन्ध से क्षेत्र का नाम विदेह पड़ गया है।

**शंका**— भरत, ऐरावत क्षेत्र से भी मनुष्य विदेहत्व को प्राप्त करते हैं ?

**समाधान**— यद्यपि भरत, ऐरावत से भी मनुष्य विदेहत्व को प्राप्त कर सकते हैं— परन्तु वह कदाचित्, सर्वकाल नहीं अर्थात् भरत, ऐरावत क्षेत्र में

केवल चतुर्थ काल में ही मानव देहोच्छेद का प्रयत्न करते हैं, विदेह क्षेत्र में सर्वकाल में ही कर्मोच्छेद का प्रयत्न करते हैं। यहां कभी धर्म का उच्छेद नहीं होता इसलिए प्रकर्ष बुहलता की अपेक्षा विदेह है।

**विदेह क्षेत्र का अवस्थान-** निषध और नील के मध्य में विदेह क्षेत्र अवस्थित है। निषध से उत्तर, नील पर्वत से दक्षिण और पूर्वापर समुद्रों के मध्य में विदेह क्षेत्र की रचना है। पूर्वादि के भेद से विदेह चार प्रकार का है (1) पूर्व विदेह (2) अपर विदेह (3) उत्तर कुरू (4) दक्षिण कुरू।

**रम्यक् क्षेत्र-** रमणीय देश के योग से इस क्षेत्र का नाम 'रम्यक् क्षेत्र' पड़ा है। यह रमणीय देश नदी, पर्वत और वन आदि से युक्त होने के कारण इसे रम्यक् कहते हैं।

**रम्यक् क्षेत्र का अवस्थान-** नील और रूकमी पर्वत के अन्तराल में रम्यक् क्षेत्र की रचना है। नील पर्वत से उत्तर और रूकमी पर्वत के दक्षिण की ओर पूर्व-पश्चिम समुद्र के बीच में रम्यक् क्षेत्र की रचना है।

6. **हैरण्यवत् क्षेत्र-** हिरण्य नाले (सुवर्ण वाले) रूकमी पर्वत के समीप होने से इसका नाम हैरण्यवत् क्षेत्र पड़ा है।

**हैरण्यवत् क्षेत्र का अवस्थान-** रूकमी और शिखरी के अन्तराल में इसका स्थान है। रूकमी पर्वत की उत्तर दिशा में और शिखरी पर्वत के दक्षिण की ओर पूर्व-पश्चिम समुद्र के बीच हैरण्यवत् क्षेत्र की रचना है।

7. **ऐरावत क्षेत्र-** यह क्षेत्र ऐरावत क्षेत्र के योग से ऐरावत क्षेत्र कहलाता है। रक्ता और रक्तोदा नदियों के बीच-बीच अयोध्या नामकी नगरी है। इस नगरी का अनुपालक ऐरावत नाम का राजा हुआ है। उसी के सम्बंध से इस क्षेत्र का नाम ऐरावत पड़ा है।

**ऐरावत क्षेत्र का अवस्थान-** शिखरी पर्वत और पूर्व, पश्चिम और उत्तर तीनों समुद्रों के मध्य में ऐरावत क्षेत्र है। शिखरी कुलाचल और पूर्व पश्चिम तथा उत्तर में समुद्र के मध्य में ऐरावत क्षेत्र की अवस्थिति है।

ऐरावत क्षेत्र के मध्य में पूर्व के समान विजयार्ध पर्वत है। इस ऐरावत

क्षेत्र के मध्य में भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत के समान रजतमय विजयार्ध पर्वत समझना चाहिए। भरत क्षेत्र के समान विजयार्ध पर्वत और रक्ता, रक्तोदा नदी के कारण ऐरावत क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। अर्थात् ऐरावत क्षेत्र तथा भरत क्षेत्र में बहुत कुछ रचनार्ये, व्यवस्थार्ये एक समान हैं।

**क्षेत्रों का विभाग करने वाले 6 कुलाचलों के नाम**  
**तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरूक्मि-**  
**शिखरिणो वर्षधरपर्वताः । (11)**

Dividing these 7 क्षेत्र there are 6 mountains they are हिमवन महाहिमवन् निषध नील, रूक्मि and शिखरिन these mountains run east to west.

उन क्षेत्रों को विभाजित करने वाले और पूर्व पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान् महाहिमवान्, निषध, नील, रूक्मि और शिखरिण ये छह वर्षधर पर्वत हैं।

भरत क्षेत्रादि का विभाजन करने वाले होने से ये पर्वत 'तद्विभाजिनः' कहलाते हैं। पूर्व पश्चिम तक लम्बे होने से 'पूर्वापरायताः' कहलाते हैं। ये छहों पर्वत अपने पूर्व और पश्चिम दोनों ओरों के अग्रभाग से लवण जलधि का स्पर्श करते हैं। एक दूसरे से पृथक्-पृथक् भरत आदि क्षेत्रों (वर्षों) को धारण करते हैं, वा इनका विभाग करते हैं-इसलिये ये वर्षधर कहलाते हैं।

**प्रश्न** — हिमवान् पर्वत का हिमवान् नाम क्यों पड़ा ?

**उत्तर** — हिम (बर्फ) के सम्बन्ध से हिमवान् कहलाता है। अर्थात् हिम जिसमें पाया जाता है, वह हिमवान् है।

**शंका** — हिम बर्फ तो अन्य पर्वतों पर भी पाया जाता है ?

**समाधान** — यद्यपि अन्य पर्वतों में भी हिम पाया जाता है तथापि रूढ़ि से ही इसकी हिमवान् संज्ञा है।

**प्रश्न** — हिमवान् पर्वत कहाँ पर हैं ?

**उत्तर** — भरत और हैमवत क्षेत्र की सीमा में स्थित है। भरत और हैमवत क्षेत्र की सीमा में व्यवस्थित (स्थित) क्षुद्र हिमवान् पर्वत है, ऐसा जानना चाहिये।

**प्रश्न** — इसको क्षुद्र हिमवान् क्यों कहते हैं ?

- उत्तर – महाहिमवान् पर्वत की अपेक्षा यह लघु है, इसलिये इसे क्षुद्र हिमवान् कहते हैं।
- प्रश्न – दूसरे कुलाचल का नाम महाहिमवान् क्यों पड़ा है ?
- उत्तर – इसकी व्युत्पत्ति पहले कही है कि हिम के सम्बन्ध से हिमवान् पर्वत है और यह महान् हिम के सम्बन्ध से महाहिमवान् कहलाता है- जैसे- इन्द्र जिसकी रक्षा करें उसे इन्द्रगोप कहते हैं, परन्तु इन्द्र के द्वारा रक्षा नहीं करने पर भी लाल रंग के कीड़े को इन्द्रगोप कहते हैं। यह इसका रूढ़ नाम है, उसी प्रकार महाहिमवान् यह भी अनादिनिधन रूढ़ नाम है।
- प्रश्न – महाहिमवान् पर्वत कहाँ पर है ?
- उत्तर – यह हैमवत और हरिवर्षक्षेत्र का विभाजक है। हैमवत क्षेत्र से उत्तर और हरिक्षेत्र से दक्षिण में स्थित महाहिमवान् पर्वत को हैमवत और हरिक्षेत्र विभाजक समझना चाहिये। यह पर्वत दो सौ योजन ऊँचा, भूमितल के नीचे पचास योजन गहरा (नींव) और चार हजार दो सौ दस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से दस भाग प्रमाण विस्तृत है।
- प्रश्न – तीसरे कुलाचल का नाम निषध क्यों पड़ा है ?
- उत्तर – “निषध” धातु क्रीडा अर्थ में है। जिस पर देव-देवियाँ क्रीडा करते हैं वह ‘निषध’ कहलाता है। जिस पर क्रीडा (आमोद-प्रमोद) के लिये देव-देवियाँ जाते हैं उसे निषध कहते हैं।
- प्रश्न – निषध किस स्थान पर है ?
- उत्तर – हरिक्षेत्र ओर विदेह क्षेत्र की मर्यादा का कारण निषध पर्वत है। हरिक्षेत्र से उत्तर और विदेह क्षेत्र से दक्षिण में इन दोनों की सीमा का कारण भूत निषध नामक कुलाचल है। यह पर्वत चार सौ योजन ऊँचा, भूतल में सौ योजन गहरा तथा सोलह हजार आठ सौ बयालिस योजन एवं एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग अधिक चौड़ा है।
- प्रश्न – चतुर्थ कुलाचल की नील संज्ञा (नाम) क्यों है ?

- उत्तर - नील वर्ण के योग से इसे नील कहते हैं। नील वर्ण का होने से इस पर्वत को नील कहते हैं। जैसे-कृष्णवर्ण का होने से वासुदेव “कृष्ण” नाम से पुकारा जाता है।
- प्रश्न - नील पर्वत कहाँ पर है ?
- उत्तर - विदेह और रम्यक्षेत्र के बीच में नीलपर्वत है। यह नील नामक कुलाचल विदेह और रम्यक्षेत्र की सीमा पर स्थित है वा उनका विभाग करता है। इसकी ऊँचाई, आयाम, विस्तार आदि निषध पर्वत के समान है।
- प्रश्न - पंचम कुलाचल का नाम रूकमी क्यों पड़ा है ?
- उत्तर - रूकम (सुवर्ण) के सद्भाव से इसको रूकमी कहते हैं। रूकम जिसके है वह रूकमी कहलाता है। दूसरे पर्वत भी सुवर्णमय हैं-इसलिये इसका रूकमी यह नाम रूढ़ संज्ञा है-हाथी को “करी” (सूंड) कहना यह रूढ़ि है। क्योंकि “कर” (हाथ) तो मनुष्य के भी होते हैं।
- प्रश्न - इस पर्वत का स्थान कहाँ है ?
- उत्तर - यह रम्यक्षेत्र और हैरण्यवत क्षेत्र का विभाजक है। यह रूकमी कुलाचल रम्यक्षेत्र और हैरण्यवत क्षेत्र का विभाजक है। इसकी ऊँचाई, लम्बाई, आदि का सर्व वर्णन महाहिमवान् कुलाचल के समान है।
- प्रश्न - छठे कुलाचल का नाम शिखरी क्यों है ?
- उत्तर - शिखर का सद्भाव होने से इसकी शिखरी संज्ञा है। शिखर कूट इसके है अतः इसका शिखरी संज्ञा सार्थक है। शिखरी के सिवाय अन्य पर्वतों पर भी शिखर है परन्तु इसकी शिखरी संज्ञा रूढ़िवशात् है जैसे मयूर का नाम शिखण्डी रूढ़ है।
- प्रश्न - शिखरी पर्वत का सन्निवेश कहाँ है ?
- उत्तर - हैरण्यवत और ऐरावत के मध्य सेतुबन्ध के समान शिखरी पर्वत है। यह शिखरी पर्वत हैरण्यवत् और ऐरावत् क्षेत्र के मध्य में स्थित है। जैसे समुद्र के मध्य में सेतुबन्ध (पुल) होता है। इस पर्वत की ऊँचाई, आयाम, विस्तार आदि सर्व क्षुद्र हिमवान पर्वत के तुल्य है।



## कुलाचलों का वर्ण

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः । (12)

The 1st mountain i.e. हिमवन् is golden in colour : the 2nd Silvery white, the 3rd red, like red-hot gold ; the 4th is blue, like the neck of a peacock, the 5th silvery white and the 6th golden माया Maya in this sutra means like.

ये छहों पर्वत क्रम से सोना, चांदी तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चांदी और सोना इनके समान रंग वाले हैं ।

हिमवान् पर्वतका रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशम के समान है। महाहिमवान् का रंग अर्जुनमय अर्थात् सफेद है। निषध पर्वतका रंग तपाये गये सोने के समान अर्थात् उगते हुए सूर्य के समान है। नील पर्वतका रंग वैडूर्यमय अर्थात् मोर के गले की आभावाला है। रूक्मी पर्वतका रंग रजतमय अर्थात् सफेद है और शिखरी पर्वत का रंग हेममय अर्थात् चीनी रेशम के समान है।

## कुलाचलों का आकार

मणिविचित्रपाश्र्वा उपरि मूले च तुल्यविस्तारः । (13)

The sides of these 6 mountains are studded with various, jewels and they are of equal width at the Foot, the top, the middle.

इनके पाश्र्व (बाजूये) मणियों से चित्र विचित्र हैं तथा वे ऊपर मध्य और मूल में समान विस्तार वाले हैं ।

इन पर्वतों के पाश्र्व भाग नाना रंग और नाना प्रकार की प्रभा आदि गुणों से युक्त मणियों से विचित्र हैं इसलिए सूत्र में इन्हें मणियों से विचित्र पाश्र्व वाले कहा है। अनिष्ट आकार के निराकरण करने के लिए सूत्र में 'उपरि' आदि रखे हैं। 'च' शब्द समुच्चयवाची है। तात्पर्य यह है कि इनका मूल में जो विस्तार है वही ऊपर और मध्य में है।

## कुलाचलों पर स्थित सरोवरों के नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हृदास्तेषामुपरि । (14)

On the top of these mountains there are the following 6 lakes respectively: पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरि, महापुण्डरीक, पुण्डरीक।

इन पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये तालाब हैं।

पद्म नामक तालाब पूर्व और पश्चिम एक हजार योजन लम्बा है और पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका तलभाग वज्र से बना हुआ है। तथा इसकी तट भाग नाना प्रकार के मणि और सोने से चित्रविचित्र है।

### प्रथम सरोवर की लम्बाई चौड़ाई

प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदूर्द्ध्विष्कम्भो हृदः। (15)

The first lake has a length of 1000 Yojanas and a breadth of half of that i.e. 500 Yojanas.

पहला तालाब एक हजार योजन लम्बा और इससे आधा चौड़ा है।

पद्म नामक तालाब पूर्व और पश्चिम एक हजार योजन (40,00,000 मील) लम्बा है और पाँच सौ योजन (20,00,000 मील) चौड़ा है। इसका तलभाग वज्र से बना हुआ है। तथा इसका तट भाग नाना प्रकार के मणि और सोने से चित्र विचित्र है। योजन दो प्रकार के हैं:— (1) लघु योजन (2) महायोजन।

लघुयोजन 4 कोस (8 मील) का होता है। दो हजार कोस (4000 मील) का महायोजन होता है। अकृत्रिम द्वीप, समुद्र, कुलाचल (पर्वत) वेदी, नदी कुंड या सरोवर जगति और भरत क्षेत्रादि का माप प्रमाणागुल या महायोजन से होता है। कृत्रिम चीजों का माप आत्मागुल या लघुयोजन से होता है। जैसे-परिवर्तन शील पर्वत, नदी, नाला, देवों के विमान, मनुष्यों के शरीर, झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट, हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुंदुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के निवास स्थान व नगर और उद्यानादिकों का माप।

**प्रथम सरोवर की गहराई  
दशयोजनावगाहः । (16)**

The first lake has a depth of 10 Yojanas.

दस योजन गहरा है।

**उसके मध्य में क्या है ?  
तन्मध्ये योजनं पुष्करम् । (17)**

In the centre of this first lake there is a latus like island one yojana broad.

इसके बीच में एक योजन का कमल है।

प्रथम सरोवर के मध्य में कमल का पत्ता एक कोस लम्बा है। और उसकी कर्णिका का विस्तार दो कोस का है। इसलिए कमल एक योजन लम्बा और एक योजन विस्तार वाला है। इस कमल की नाल जल तल से दो कोस ऊपर उठी है और इसके पत्तों की उतनी ही मोटाई है।

**महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहने वाले कमलों की प्रभा  
तद्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च । (18)**

Each of the three lakes up to तिगिच्छ is twice in length breadth and depth of the lake, and each of the 3 islands also of twice the breadth of the island in the lake immediately preceding it.

आगे के तालाब और कमल दूने: दूने हैं।

पद्म को आदि लेकर आगे तालाब की जो लम्बाई, विस्तार और गहराई है उससे महापद्म तालाब की लम्बाई, विस्तार और गहराई दूनी है। इससे तिगिच्छ तालाब की लम्बाई, विस्तार और गहराई दूनी है।

शंका— कमल क्या है ?

समाधान— वे भी लम्बाई आदि की अपेक्षा दूने-दूने है ऐसा यहां सम्बन्ध करना चाहिए।

## कमलों में रहने वाली छः देवियाँ

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीहीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः  
ससामानिकपरिषत्काः । (19)

The goddesses residing in those 5 islands are respectively श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि and लक्ष्मी each one of the goddesses has a life span of one अर्द्धापल्य, These goddesses live with celestial beings of an equal status with them, called सामानिक and with celestial beings who are members of their courts called परिषद्।

इनमें श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ सामानिक और परिषद् देवियों के साथ निवास करती हैं। तथा इनकी आयु एक पल्य की हैं।

इन कमलों की कर्णिका के मध्य में शरत्कालीन निर्मल पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति को हरने वाले एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और पौन कोस ऊँचे महल हैं। उनमें निवास करने वाली श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम वाली देवियाँ क्रम से पद्म आदि छह कमलों में जानना चाहिये। उनकी स्थिति एक पल्य की है। इस पद के द्वारा उनकी आयु का प्रमाण कहा है। समान स्थान में जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं। सामानिक और परिषद् ये देव हैं। वे देवियाँ इनके साथ रहती हैं। तात्पर्य यह है कि मुख्य कमल के जो परिवार कमल है उनके महलों में सामानिक और परिषद् जाति के देव रहते हैं।

## चौदह महानदियों के नाम

गङ्गासिन्धुरोहित्रोतास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारी-

नरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।(20)

The river गंगा the Ganga, सिन्धु the Sindhu, रोहित the Rohit, रोहितास्या the Rohitasya, हरितकांता the Harikanta, सीता, the Sita, सीतादो the Sitoda, नारी the Nari, नरकांता the Narakanta, सुवर्णकूला the Suvaranakula, रूप्यकूला the Rupyakula, रक्ता the Rakta, रक्तोदा the Raktoda, the

Raktoda, Flow in those seven Ksetras ; 2 in each respectively i.e. Ganga and Sindhu in Bhairta, Rohit and Rohitasya in Haimvata etc; etc.

इन भरत आदि क्षेत्रों में से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियाँ बहती हैं।

ये नदियाँ क्षेत्र के मध्य में बहती है। प्रथम पद्म और छटवें पुण्डरीक क्षेत्र से तीन-तीन नदियाँ निकलती है शेष क्षेत्र से दो-दो नदियाँ निकली है। भरत में गंगा-सिन्धु, हैमवत में-रोहित-रोहितास्या हरि में हरित-हरिकांता, विदेह में-सीता- सीतोदा, रम्यक में-नारी- नरकांता, हैरण्यवत में- सुवर्णकूला-रूप्यकूला और ऐरावत में-रक्ता- रक्तोदा नदियाँ बहती है।

### नदियों के बहने का क्रम द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः । (21)

These 14 rivers must be taken in groups of 2 each. The first of each group as named above flows eastwards and falls into the ocean there.

दो-दो नदियों में से पहली-पहली नदी पूर्व समुद्र को जाती हैं।

इन नदियों में जो प्रथम नदी है, वे पूर्व समुद्र में जाकर मिली हैं। अर्थात् गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्ण और रक्ता ये सात नदियाँ पूर्व के समुद्र में जाकर मिलती है।

### शेषास्त्वपरगाः । (22)

But the others flow westwards and fall into the ocean there.

किन्तु शेष नदियाँ पश्चिम समुद्र को जाती हैं।

दो दो नदियों में से पीछे वाली नदी पश्चिम समुद्र को जाती है। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला, और रक्तोदा ये सात नदियाँ पश्चिम समुद्र में जाकर मिलती है।

### महानदियों की सहायक नदियाँ चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः । (23)

Ganga and Sindhu have 14,000 tributary river each.

गंगा और सिन्धु आदि नदियों की चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं।

गंगा सिन्धु आदि महानदियाँ हैं इसलिए इनकी अनेक उपनदियाँ हैं। जैसे- गंगा-सिन्धु की चौदह-चौदह हजार नदियाँ। इसके आगे सीतोदा नदी तक द्विगुणा-द्विगुणा ग्रहण करना और उसके आगे आधा-आधा कम करना चाहिए। अतः गंगा-सिन्धु की चौदह हजार, रोहित रोहितास्या की अट्ठाईस हजार, हरित् हरिकान्ता की छप्पन हजार और सीता-सीतोदा की एक लाख बारह हजार सहायक नदियाँ हैं। आगे- 'उत्तरादक्षिण तुल्याः' के अनुसार व्यवस्था है।

### भरतक्षेत्र का विस्तार

भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः

षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य । (24)

Bharat Ksetra, in its widest part measure 526 <sup>6</sup>/<sub>19</sub> Yojanas.

भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस (526 <sup>6</sup>/<sub>19</sub>) योजन है।

### आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार

तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ता । (25)

Each mountain and Ksetra in breadth has double the breadth of the mountain or Ksetra preceding it (this is up to) Videha.

विदेह पर्यन्त पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार भरत क्षेत्र के विस्तार से दूना-दूना हैं।

जम्बूद्वीप वृत्ताकार है। इसमें जो अकृत्रिम पर्वत है उसके कारण देशों का विभाग हुआ है। देशों को विभाग करने वाले अकृत्रिम पर्वत पूर्व-पश्चिम रूप से समुद्र तक फैले हुए हैं जिससे देशों का विभाग हुआ है। इसका वर्णन स्वयं ग्रन्थकार ने पहले किया है। यह पर्वत वृत्ताकार जम्बू-द्वीप के ज्या (बाण)

स्वरूप है। जम्बू-द्वीप के दक्षिण से लेकर उत्तर तक जो देश एवम् कुलाचल है उनके विस्तार का वर्णन यहाँ किया है। उनका विस्तार भरत क्षेत्र से विदेह तक द्विगुणित है। 24 वें सूत्र में जम्बूद्वीप का विस्तार 526  $\frac{1}{19}$  कहा गया है। आगे जो द्विगुणित द्विगुणित हुआ है वह इस भरत क्षेत्र को ईकाइ लेकर हुआ है। इसलिए हिमवान् पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दुगना अर्थात् एक हजार बावन योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से बारह भाग प्रमाण है। हैमवत क्षेत्र का विस्तार दो हजार एक सौ पाँच योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से पाँच भाग प्रमाण है। महाहिमवान् कुलाचल का विस्तार चार हजार दो सौ दस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दस प्रमाण है। हरि क्षेत्र का विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से एक भाग प्रमाण है। निषध कुलाचल का विस्तार सोलह हजार आठ सौ बयालीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण है। विदेह क्षेत्र का विस्तार तैतीस हजार छह सौ चौरासी योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से चार भाग प्रमाण है।

### विदेह क्षेत्र के आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार उत्तराः दक्षिणतुल्याः । (26)

To the north Videha the arrangement and extent of Ksetras, mountains, rivers, lakes, islands is exactly corresponding to those in the south of it.

उत्तर के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार दक्षिण के क्षेत्र और पर्वतों के समान हैं।

उत्तर के क्षेत्र और पर्वत अर्थात् ऐरावत से लेकर नील पर्यन्त क्षेत्र को स्वीकार किया गया है।

सारांश यह है कि भरत और ऐरावत, हिमवान् और शिखरी, हैमवत् और हैरण्यवत, महाहिमवान् और रूक्मि, हरिवर्ष और रम्यक तथा निषध और नील का विस्तार, इनके हृदों और कमलों की लम्बाई चौड़ाई वगैरह तथा

नदियों के परिवार की संख्या परस्पर में समान है। इसी प्रकार अनेक विषयों में परस्पर में सदृश्यता है। त्रिलोकसार, त्रिलोकपण्णत्ति से विशेष वर्णन जानना।

**भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल चक्र का परिवर्तन**  
**भरतैरावतोर्वृद्धिहासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्। (27)**

In Bharata and Airavata Ksetras in the extreme south and north of Jambudivpa there is increase and decrease of (bliss, age, height etc of their inhabitants in the 2 aeons), (उत्सर्पिणी) and (अवसर्पिणी) (the aeons of increase and decrease respectivaly). There are 6 ages (in each aeon).

**भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह समयों की अपेक्षा वृद्धि और हास होता रहता है।**

यह वृद्धि और हास क्षेत्र के नहीं होते हैं परन्तु वहां निवास करने वाले मनुष्यों, तिर्यचों के अनुभव, प्राणादि के हैं। उपभोग और परिभोग की सम्पदा का नाम अनुभव है। जीवन का परिमाण आयु है। शरीर के उत्सेध को प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार शरीर की ऊँचाई, आयु, वैभव आदि कृत मनुष्यों की वृद्धि हास जानना चाहिये।

**शंका—** यह वृद्धि हास किस कारण से होता है ?

**समाधान—** यह वृद्धि हास काल के निमित्त से होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार के हैं और उनके प्रत्येक के छह-छह भेद हैं—

(1) **अवसर्पिणी—** अनुभव आदि के द्वारा अवसर्पणशील अवसर्पिणीकाल है। जिसमें आयु, अनुभव, शरीरादि की उत्तरोत्तर अवनति-हानि होती है उत्तरोत्तर आयु आदि का घटना जिसका स्वभाव है वह अवसर्पिणी है।

(2) **उत्सर्पिणी—** इसके विपरीत उत्सर्पिणी है। जिस काल में अनुभव, आयु, शरीरादि की उत्तरोत्तर उन्नति हो वह उत्सर्पिणी काल है। यह अवसर्पिणी काल छह प्रकार का है— (1) सुषमा सुषमा (2) सुषमा (3) सुषमा दुःषमा (4) दुःषमा सुषमा (5) दुःषमा (6) अति दुःषमा।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों का ही काल दस-दस कोड़ाकोड़ी सागर



प्रमाण है। इन्हें कल्पकाल कहते हैं। अर्थात् बीस कोटाकोटि सागर का एक कल्पकाल है।

(1) सुषमा सुषमा— इसका काल 4 कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसके प्रारम्भ में मनुष्य देवकुरु और उत्तरकुरु के समान है अर्थात् प्रथमभोगभूमि की रचना होती है। प्रारंभ में आयु 3 पत्य और शरीर की ऊँचाई 3 कोस।

(2) सुषमा— इसका काल 3 कोड़ाकोड़ी सागर का है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु हरिक्षेत्र के मनुष्यों के समान 2 पत्य प्रमाण और शरीर की ऊँचाई 2 कोस प्रमाण है। अर्थात् हरिक्षेत्र के समान मध्यम भोगभूमि की रचना होती है।

(3) सुषमा दुःषमा— इसका काल 2 कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु हैमवत और हैरण्यवत मनुष्यों के समान 1 पत्य और शरीर की ऊँचाई 1 कोस प्रमाण है। तथा इसमें जघन्य भोगभूमि की रचना होती है।

(4) दुःषमा सुषमा— इसका काल 42 हजार वर्ष कम 1 कोड़ाकोड़ी सागर है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु 1 कोटि पूर्व और शरीर की ऊँचाई 500 धनुष प्रमाण है।

(5) दुःषमा— इसका काल 21 हजार वर्ष प्रमाण है। तथा मनुष्यों की आयु 120 वर्ष प्रमाण और शरीर की ऊँचाई 7 हाथ प्रमाण है।

(6) अति दुःषमा— इसका काल 21 हजार वर्ष प्रमाण है। इस काल के प्रारम्भ में शरीर की ऊँचाई दो हाथ और आयु 16 वर्ष प्रमाण है।

उत्सर्पिणी का प्रारंभ अवसर्पिणी से विपरीत जानना चाहिए अर्थात् उत्सर्पिणी अति दुःषमा से प्रारम्भ होती है और क्रमशः आयु आदि बढ़ते-बढ़ते सुषमा सुषमा तक जाती है।

## अन्य भूमियों की व्यवस्था

ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिताः । (28)

Excepting these two (Bharata and Airavata) the other (five) Earths are constant (there is no increase or decrease in bliss, age, height etc.

## जम्बूद्वीप के पर्वत और क्षेत्र

पर्वतों और क्षेत्रों के नाम	विस्तार (सक्रेण-अर)	विस्तार (पूर्व-पश्चिम)	सम्पत्त	उंचाई	वर्ष	पर्वत की शीव (यो. में)	सूट	उंचाई (यो. में)	चौड़ाई (यो. में.)
भरत क्षेत्र	528 <sup>०</sup> /1०	-	1447 <sup>15</sup> /1०	-	-	-	-	-	-
द्विग्वान् पर्वत	1052 <sup>12</sup> /1०	1447 <sup>15</sup> /1०	2493 <sup>14</sup> /1०	100	सुवर्णस्य	25	11	25	मूल में 25, मध्य में 18 <sup>३</sup> /4 अन्त में 12 <sup>1</sup> /2
देववर्ण क्षेत्र	2905 <sup>१</sup> /1०	24939 <sup>1०</sup> /1०	376 <sup>1०</sup> /1०	-	-	-	-	-	-
महाद्विग्वान् पर्वत	4210 <sup>1०</sup> /1०	37674 <sup>1०</sup> /1०	5393 <sup>1०</sup> /1०	200	रत्नस्य	50	8	50	मूल में 50, मध्य में 37 <sup>1</sup> /2 अन्त में 25
हरिकेश	8421 <sup>1</sup> /1०	5393 <sup>1०</sup> /1०	7390 <sup>17</sup> /1०	-	-	-	-	-	-
निषध पर्वत	16842 <sup>2</sup> /1०	7390 <sup>17</sup> /1०	94156 <sup>०</sup> /1०	400	ताम सुवर्ण	100	9	100	मूल में 100, मध्य में 75 <sup>1</sup> /2 अन्त में 50
विशेष क्षेत्र	33684 <sup>4</sup> /1०	94156 <sup>०</sup> /1०	100000	-	-	-	-	-	-
नील पर्वत	16842 <sup>2</sup> /1०	7390 <sup>17</sup> /1०	94156 <sup>०</sup> /1०	400	वैशुर्वर्णी	100	9	100	मूल में 100, मध्य में 75 <sup>1</sup> /2 अन्त में 50
रम्बक क्षेत्र	8421 <sup>1</sup> /1०	5393 <sup>1०</sup> /1०	7390 <sup>17</sup> /1०	-	-	-	-	-	-
रत्नानी पर्वत	16842 <sup>2</sup> /1०	7390 <sup>17</sup> /1०	94156 <sup>०</sup> /1०	300	रत्नस्य	50	8	50	मूल में 50, मध्य में 37 <sup>1</sup> /2 अन्त में 25
शुष्य क्षेत्र	2905 <sup>१</sup> /1०	24939 <sup>1०</sup> /1०	376 <sup>1०</sup> /1०	-	-	-	-	-	-
शिखरानी पर्वत	4210 <sup>1०</sup> /1०	37674 <sup>1०</sup> /1०	5393 <sup>1०</sup> /1०	100	सुवर्णस्य	25	11	25	मूल में 25, मध्य में 18 <sup>३</sup> /4 अन्त में 12 <sup>1</sup> /2
शेखरा क्षेत्र	528 <sup>०</sup> /1०	-	1447 <sup>15</sup> /1०	-	-	-	-	-	-



there.)

भरत और ऐरावत के सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित हैं।

अर्थात् इन क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप परिवर्तन नहीं है।

### हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेवकुरुवकाः । (29)

(The men and animals) of हैमवत, हरिवर्षक, देवकुरु (Bhoga-bhumi) are respectively of the one, two and three palyas.

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु के प्राणियों की स्थिति क्रम से एक, दो और तीन पल्य प्रमाण है।

हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति एक पल्यकी है हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति दो पल्यकी है और देवकुरु क्षेत्र के मनुष्यों की स्थिति तीन पल्यकी है। ढाई द्वीप में जो पाँच हैमवत क्षेत्र हैं उनमें सदा सुषमा-दुषमा काल है। वहाँ मनुष्यों की आयु एक पल्यकी है, शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष है। उनका आहार एक दिन के अन्तराल में होता है शरीर का रंग नील कमल के समान है। पाँच हरिवर्ष नाम के क्षेत्रों में सदा सुषमा काल रहता है। वहाँ मनुष्यों की आयु दो पल्यकी है, शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष है, उनका आहार दो दिन के अन्तराल से होता है शरीर का रंग शंख के समान सफेद है। पाँच देवकुरु के क्षेत्रों में सदा सुषमासुषमा काल रहता है। वहाँ मनुष्यों की आयु तीन पल्यकी है, शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष है। उनका भोजन तीन दिन के अन्तराल से होता है और शरीर का रंग सोने के समान पीला है।

### हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था

तथोत्तराः । (30)

(The condition of things is) the same in the north (of mount meru देवकुरु, हरि and हिमवत are replaced by उत्तरकुरु, रम्यक and हैरण्यवत्

दक्षिण के समान उत्तर में हैं।

जिस प्रकार दक्षिण के क्षेत्रों का व्याख्यान किया उसी प्रकार उत्तर के क्षेत्रों का जानना चाहिए। हैरण्यवत् क्षेत्रों के मनुष्यों की सब बातें हैमवत के मनुष्यों के समान हैं, रम्यक् क्षेत्र के मनुष्यों की सब बातें हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों के समान हैं और देवकुरु क्षेत्र के मनुष्यों की सब बातें उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों के समान हैं।

## विदेह क्षेत्र में आयु की व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः । (31)

In Videha (men have an age of) numberable years i.e. the highest is 1 crore पूर्व purvas and the least is अन्तर्मुहूर्त Antara Muharta.

विदेहों में संख्यात वर्ष की आयु वाले प्राणी हैं।

सब विदेहों में संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य होते हैं। वहाँ सुषमादुःषमा काल के अन्त के समान काल सदा अवस्थित है। मनुष्यों के शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई पाँच सौ धनुष होती है, वे प्रतिदिन आहार करते हैं। उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं ।

छप्पणं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥

एक पूर्व कोटी का प्रमाण सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जानना चाहिए। अर्थात् पूर्व कोटी - 70,56000,000000 = 70 लाख, 56 हजार करोड़।

## भरत क्षेत्र का अन्य प्रकार से विस्तार

भरतस्य विषकम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः । (32)

The breadth of Bharata Ksetra (is 190th part of the breadth of Jambudvipa (= 100000/190 = 526 <sup>6</sup>/<sub>19</sub> Yojanas.)

भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ भाग है।

एक लाख योजन प्रमाण जम्बूद्वीप के विस्तार के एक सौ नब्बेभाग

करने पर जो एक भाग प्राप्त हो उतना भरतक्षेत्र का विस्तार है जो कि पूर्वोक्त पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस (526 १/१०) योजन होता है।

### धातकीखण्ड का वर्णन द्विधातकीखण्डे। (33)

In the Dhatikihanda (which is the next region after salt oceans लवण समुद्र the number of Ksetras, mountains, rivers, lakes etc. is) double of that in जम्बूद्वीप Jambudvipa.

धातकी खण्ड में क्षेत्र तथा पर्वत आदि जम्बूद्वीप से दूने हैं।

अपने सिरे से लवणोद और कालोदको स्पर्श करनेवाले और दक्षिण से उत्तर तक लम्बे इष्वाकार नामक दो पर्वतों से विभक्त होकर धातकी खण्ड द्वीप के दो भाग हो जाते हैं— पूर्व धात की खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड। इन पूर्व और पश्चिम दोनों खण्डों के मध्य में दो मन्दार अर्थात् मेरु पर्वत हैं। इन दोनों के दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वत हैं। इस प्रकार दो भरत दो हिमवान् इत्यादि रूप से जम्बूद्वीप से धातकीखण्ड द्वीप में दूनी संख्या जाननी चाहिए। जम्बूद्वीप में हिमवान् आदि पर्वतोंका जो विस्तार है धातकीखण्ड द्वीप में हिमवान् आदि पर्वतोंका उससे दूना विस्तार है। यहाँ पर जम्बूद्वीप में अपने परिवार वृक्षों समेत जम्बूवृक्ष होने से इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है। इसी प्रकार धातकी खण्ड द्वीप यह संज्ञा श्री धातकी अर्थात् आँवले के वृक्ष के कारण इस का नाम धात की खंड द्वीप पड़ा है।

### पुष्कर द्वीप का वर्णन पुष्करार्द्धे च। (34)

In the nearest half of puskaradvipa also the number of Ksetras etc. is double of that in Jambudvipa.

पुष्करार्द्ध में उतने ही हैं।

जिस प्रकार धातकीखण्ड द्वीप में हिमवान् आदि का विस्तार कहा है उसी प्रकार पुष्करार्द्ध में हिमवान् आदि का विस्तार दूना बतलाया है। नाम वे ही हैं। दो इष्वाकार और दो मन्दार पर्वत पहले के समान जानना चाहिए।

यहाँ पर जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष है, पुष्कर द्वीप में अपने परिवार वृक्षों के साथ पुष्करवृक्ष हैं। इसीलिए इस द्वीप का पुष्करद्वीप यह नाम रूढ़ हुआ है।

शंका— इस द्वीप को 'पुष्करार्ध' यह संज्ञा कैसे प्राप्त हुई?

समाधान— मानुषोत्तर पर्वत के कारण इस द्वीप के दो विभाग हो गये हैं अतः आधे द्वीप को पुष्करार्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई।

### मनुष्य क्षेत्र

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः । (35)

On this side of Manusottara (alone) there are men.

मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं।

पुष्करद्वीप के ठीक मध्य में चूड़ी के समान गोल मानुषोत्तर नाम का पर्वत है। उससे पहले ही मनुष्य हैं, उनके बाहर नहीं। इसलिए मानुषोत्तर पर्वत के बाहर पूर्वोक्त क्षेत्रों का विभाग नहीं है। इस पर्वत के उस ओर उपपाद जन्मवाले और समुदघात को प्राप्त हुए मनुष्यों को छोड़कर और दूसरे विद्याधर या ऋद्धिप्राप्त मुनि भी कदाचित् नहीं जाते हैं। इसलिए इस पर्वत का मानुषोत्तर यह सार्थक नाम है। इस प्रकार जम्बूद्वीप आदि ढाई द्वीपों में और दो समुद्रों में मनुष्य जानना चाहिए।

### मनुष्यों के भेद

आर्या म्लेच्छाश्च । (36)

The human beings in these 2 1/2 regions अर्द्धद्वीप are of two kinds :-

आर्य Arya and म्लेच्छ Mlechchha (i.e. respectively those who care and do not care or religion) Human beings are of 2 kinds :

आर्य Arya, Noble worthy respectable.

म्लेच्छ Mlechchha, barbarian non-Aryan, Low, Savage.

मनुष्य दो प्रकार के हैं— आर्य और म्लेच्छ ।

आर्य— उत्तम शुद्ध जाति, कुल उत्पन्न, न्याय नीति, सदाचार धर्मानुसार आचरण करने वाले को संक्षिप्ततः से हम आर्य कह सकते हैं।

अनार्य— निन्दनीय, नीच, भ्रष्ट, नीच जातिकुल में उत्पन्न, नीति, नियम, सदाचार,

धर्म से रहित व्यक्तियों को संक्षिप्त से हम अनार्य कह सकते हैं।

अथवा ऋद्धिप्राप्त, के भेद से आर्य दो प्रकार के हैं। गुण और गुणवानों से जो सेवित हैं, वे 'आर्य' कहलाते हैं। वे आर्य दो प्रकार के हैं—एक 'ऋद्धिप्राप्त' और दूसरे 'अनृद्धिप्राप्त'।

क्षेत्र, जाति, कर्म, चारित्र और दर्शन के भेद से अनृद्धि-प्राप्त आर्य पांच प्रकार के हैं। जो ऋद्धि रहित आर्य हैं, वे पाँच प्रकार के हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। काशी, कौशल आदि क्षेत्रों में उत्पन्न मानव क्षेत्रार्य कहलाते हैं। इक्ष्वांकु, भोज आदि जातियों में उत्पन्न मनुष्य जात्यार्य हैं। कर्मार्य तीन प्रकार के हैं—सावद्यकर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य और असावद्य कर्मार्य।

सावद्यकर्मार्य असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्यकर्म के भेद से छह प्रकार के हैं। तलवार, धनुष आदि शस्त्र-विद्या में निपुण असिकर्मार्य हैं। द्रव्य के आय-व्यय आदि के लेखन में कुशल मानव मषिकर्म आर्य हैं। हल, कुलिश, दन्ताल आदि कृषि (खेती) के उपकरण-विधान को जानने वाला-वा कृषिकार्य करने वाला कृषि कर्मार्य कहलाता है। लेखन, गणित, चित्रादि पुरुष की बहत्तर (72) कलाओं में चतुर मानव विद्याकर्मार्य है। धोबी, नापित, (नाई), लुहार, कुम्भकार, सुवर्णकार आदि शिल्प कर्मार्य हैं। चन्दनादि गंध, घृतादिरस, चावल आदि धान्य, कपास आदि आच्छादन (कपड़ा), मोती, माणिक्य, सुवर्ण आदि द्रव्यों का संग्रह करने वाले बहुत प्रकार के वाणिज्य कर्मार्य है। ये छहों प्रकार के मनुष्य अविरति में प्रवण (तत्पर) होने से (व्रत रहित होने से) सावद्य कर्मार्य कहलाते हैं। विरति-अविरति से युक्त होने से पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक श्राविकायें अल्प सावद्य कर्मार्य हैं। कर्म क्षय करने में उद्यत, विरति में रत यतिजन असावद्य कर्मार्य हैं।

चारित्रार्य दो प्रकार के हैं—अधिगत-चारित्रार्य और अनधिगत चारित्रार्य। चारित्रार्य के ये दो भेद बाह्य अनुपदेश और उपदेश की अपेक्षा से हैं। बाह्य उपदेश के बिना स्वयं ही चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से या क्षय से जो चारित्र परिणाम को प्राप्त होकर उपशांत कषाय और क्षीणकषाय को प्राप्त हुए



हैं, वे अधिगत चारित्र्य हैं। तथा अन्तरंग में चारित्र मोह के क्षयोपशम का सद्भाव होने पर बाह्योपदेश का निमित्त पाकर विरति भाव को प्राप्त हुए हैं, वे अनधिगत चारित्र्य हैं। (रा.वा.पृ.556)

कुछ वैदेशिक ऐतिहासिक विद्वान् मानते हैं कि पहले आर्य लोग कास्पियन सागर के निकटस्थ क्षेत्र में वास करते थे। पशुचारण के लिए क्षेत्र के अभाव से वे लोग विभिन्न दलों में विभाजित होकर विभिन्न देश में जाकर स्थायी रूप से वास करने लगे। उसमें से कुछ आर्य पंजाब से होकर भारत में प्रवेश किये। उस समय में भारत में केवल अनार्य (म्लेच्छ) लोग वास करते थे। म्लेच्छ (अनार्य) लोग को कुछ ऐतिहासिक विज्ञ द्राविड भी कहते हैं। अनार्य लोग धर्म-सभ्यता, संस्कृति योग्य आचार विचार से रहित थे। वे लोग पशुपालन, कृषि, शिल्प, आक्षरिक शिक्षा-विद्या आदि से रहित थे। वे लोग वन्य पशुओं का शिकार करके कच्चा मांस खाते थे एवं पशुचर्म परिधान करते थे। जब आर्य लोग पहले-पहले भारतवर्ष में प्रवेश करने लगे तब अनार्य लोग उनके साथ युद्ध करके भारत से हटाने के लिए बहुत पुरुषार्थ किए। परन्तु आर्य लोग कला, कौशल, युद्ध, विद्या, अस्त्र-शस्त्र में निष्णात होने के कारण अनार्यों को परास्त करके यत्र-तत्र फैल गये। अनार्य लोग परास्त होकर विशेष करके उत्तर-भारत को छोड़कर दक्षिण भारत की ओर चले गये एवं जंगल में रहने लगे। वर्तमान भारत में संथाल, शबर, भील आदि लोग अनार्य हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि पूर्व आर्यों के वंशधर हैं।

यह ठीक है कि प्रागैतिहासिक काल (दुःषमा काल) में भारत वर्ष में म्लेच्छ लोग भी रहते थे। द्राविड लोग भारत के आदिम आदिवासी तथा अधिवासी भी हैं, परन्तु 'आर्य लोग कास्पियन सागर निकटस्थ क्षेत्रों से भारत वर्ष में आए' यह कहना सत्य-तथ्य के विपरीत है क्योंकि आप लोग इस ही पुस्तक में पहले पढ़ेंगे कि भारतवर्ष में जिस समय भोग भूमि रहती है, उस समय भारतवर्ष में भोग भूमिज आर्य लोग रहते थे। आर्य लोग अत्यन्त सुन्दर, शक्तिशाली, बहतर कलाओं में निपुण, कल्पवृक्ष से प्राप्त शुद्ध अमृतोपम शाकाहार भोजन करने वाले, दिव्य आभूषण-पोशाक धारण करने वाले, भोग-विलास नृत्य, वादित्त, संगीत आदि से जीवन-यापन करने वाले होते

थे। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के आदि में बहुदीर्घकाल पर्यन्त भारतवर्ष में भोग भूमिज आर्य रहते थे। अतएव कास्पियन सागर से आर्यों का आगमन भारतवर्ष में हुआ, यह कहना ऐतिहासिक सत्य-तथ्य के विरुद्ध है। अतः आर्य तथा अनार्य दोनों जाति भारत के प्राचीन अधिवासी हैं। वैदेशिक विद्वानों का अनुकरण करके कुछ भारतीय लोग भी भारतीय आर्यों को कास्पियन सागर के निकटवर्ती क्षेत्र से आने वाले मानकर स्वयं को विदेशी सिद्ध करते हुए स्वयं को लज्जानुभव नहीं करते हैं।

## कर्मभूमि का वर्णन

**भरतैरवतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तर कुरुभ्यः । (37)**

Bharata, Airavata and Videha Ksetras except Deva Uttara Kurus are the only regions where we find Karma bhumi (i.e. agriculture etc. for sustenance). This is also the region of piety and place from where liberation can be attained.

देवकुरु और उत्तरकुरु के सिवा भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमि हैं।

भरत, ऐरावत और विदेह ये प्रत्येक पाँच-पाँच हैं। ये सब कर्मभूमियाँ कही जाती हैं। इनमें विदेह का ग्रहण किया है इसलिए देवकुरु और उत्तरकुरु का भी ग्रहण प्राप्त होता है अतः उनका निषेध करने के लिए 'अन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः' यह पद रखा है। 'अन्यत्र' शब्द का अर्थ निषेध है। देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत् और अन्तर्द्वीप (लवण समुद्र स्थित द्वीप विशेष) ये भोग भूमियाँ कही जाती हैं।

**शंका—** 'कर्म भूमि' यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

**समाधान—** जो शुभ और अशुभ कर्मों का आश्रय हो उसे 'कर्म भूमि' कहते हैं। यद्यपि तीनों लोक कर्म का आश्रय है फिर भी इससे उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूप से कर्म का आश्रय है। सातवें नरक को प्राप्त करने वाले अशुभ कर्म का भरतादि क्षेत्रों में ही अर्जन किया जाता है इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेष को प्राप्त कराने वाले पुण्य कर्म का उपार्जन भी यहीं पर होता है। तथा पात्रदान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार

के कर्म का आरम्भ यहीं पर होता है इसलिए भरतादिक को कर्म भूमि कहना चाहिए। अथवा मोक्ष प्राप्ति रूपी कर्मकार्य इन क्षेत्रों से होता है इसलिए भी इन्हें कर्म भूमि कहते हैं। अथवा असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि कर्म इन भूमियों में ही पाये जाते हैं इसलिए इन्हें कर्म भूमि कहते हैं। अन्य क्षेत्रों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष प्राप्त भोगों को भोगते हुए वहाँ के जीव असि, मसि आदि कर्म नहीं करते हैं तथा मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य भी वहाँ पूर्ण रूप से नहीं होता है। यद्यपि वहाँ के जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को धारण कर सकते हैं परन्तु चरित्र धारण नहीं कर सकते उनके अविरत रूप परिणाम सदा रहता है और वे भोग में सदा मस्त रहते हैं। वहाँ के जीव न मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, न मुनि बन सकते हैं न विशेष पुण्य प्रकृति का संचय कर सकते हैं और न ही सप्तम नरक जाने योग्य पाप कर्म कर सकते हैं।

अढ़ाई द्वीप रूपी मनुष्य क्षेत्र में कुल पैतालीस क्षेत्र हैं। इनमें से 5 भरत, 5 ऐरावत, 5 विदेह ये 15 कर्म भूमियाँ हैं और शेष 30 भोग भूमियाँ हैं।

### मनुष्यों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते। (38)

The age of human beings (ranges from) a maximum of 3 palyas to a minimum of one Antara-muhurta.

मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

काल की स्थिति को जानने के लिए यहाँ काल गणना दे रहे हैं—

व्यवहार, उद्धार और अद्भापल्य के भेद से पल्य तीन प्रकार का है। व्यवहार पल्य, उद्धारपल्य, अद्भापल्य इस प्रकार पल्य के तीन विभाग किये जाते हैं। ये तीनों पल्य सार्थक नाम के धारक हैं। इनमें उद्धार और अद्भापल्य के व्यवहार में कारण होने से पहले पल्य का नाम व्यवहार पल्य है। इस व्यवहार पल्य से किसी भी चीज का प्रमाण नहीं होता। दूसरे पल्य का नाम उद्धारपल्य है। इस उद्धारपल्य के रोमच्छेदों से द्वीप, समुद्रों की संख्या का निर्णय होता है अर्थात् इस पल्य के द्वारा द्वीप समुद्रों की गणना की जाती है। तीसरा अद्भापल्य है। अद्भा-काल को कहते हैं। अद्भापल्य से आशु की

स्थिति, कर्मों की स्थिति जानी जाती है। खुलासा इस प्रकार है-प्रमाण अंगुल से परिमित एक योजन लम्बे चौड़े गहरे, तीन गड्ढे करने चाहिए और उन गड्ढों को एक दिन से सात दिन रात्रि तक के भेड़ के बच्चे के रोमों के अति सूक्ष्म जिनका दूसरा विभाग न हो ऐसे टुकड़ों से कूट-कूट कर भरना चाहिये। पुनः एक-एक सौ वर्ष बाद एक-एक रोम का टुकड़ा गड्ढे में से निकालना चाहिए। जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा उतना काल 'व्यवहार पत्य' कहलाता है। उन्हीं रोमच्छेदों में से यदि प्रत्येक रोम को असंख्यात कोड़ वर्ष के समयों से छिन्न कर दिया जाए और प्रत्येक समय में एक-एक रोमच्छेद को निकाला जाए तो जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा, वह समय 'उद्धार पत्य' का है। दस कोड़ाकोड़ी उद्धार पत्य का एक उद्धारसागरोपम काल होता है। ढाई उद्धार सागरों के जितने रोमच्छेद हैं, उतने ही द्वीप समुद्र हैं। पुनः उद्धार पत्यों के रोमच्छेदों को सौ वर्ष के समयों से छेद करके एक-एक समय में एक-एक रोमच्छेद के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा उतने समय का एक 'अद्वापत्य' कहलाता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्वापत्यों का एक अद्वासागर होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्वा सागर का एक अवसर्पिणी और उतने काल प्रमाण एक उत्सर्पिणी होती है। इस अद्वापत्य से नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवों की कर्मस्थिति, भवस्थिति आयुस्थिति और कायस्थिति मापी जाती है।

गोमटसार में विभिन्न अन्तर्मुहूर्त की परिभाषा निम्न प्रकार की गई है—

ससमयमावलि अवरं, समऊणमुहुत्तयं तु उक्कस्सं ।

मज्झासंखवियप्यं, वियाण अन्तोमुहुत्तमिणं ॥(1)

(पृ.262)

एक समय सहित आवलीप्रमाण काल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। एक समय कम मुहूर्तको उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। इन दोनों के मध्यके असंख्यात भेद हैं। इन सबको भी अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिये।

## तिर्यचों की स्थिति तिर्यग्योनिजानां च । (39)

The sub-human beings also have the same range of age :

तिर्यचों की स्थिति भी उतनी ही हैं।

तिर्यचों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तत्त्वार्थ सार में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने विभिन्न तिर्यचों तथा मनुष्यों की आयु का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

द्वाविंशतिर्भुवां सप्त पयसां दश शाखिनाम् ।  
नभस्वतां पुनस्त्रीणि वीनां द्वासप्ततिस्तथा ॥

(117) अध्याय 2 (पृ.65)

उरगाणां द्विसंयुक्ता चत्वारिंशत्प्रकर्षतः ।

आयुर्वर्षसहस्राणि सर्वेषां परिभाषितम् ॥(118)

दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्र्यक्षाणां त्रीणि तेजसः ।

षण्मासाश्चतुरक्षाणां भवत्यायुः प्रकर्षतः ॥(119)

नवायुः परिसर्पाणां पूर्वाङ्गानि प्रकर्षतः ।

द्व्यक्षाणां द्वादशाब्दानि जीवितं स्यात्प्रकर्षतः ॥(120)

असंज्ञिनस्तथा मत्स्याः कर्मभूजाश्चतुष्पदाः ।

मनुष्याश्चैव जीवन्ति पूर्वकोटिं प्रकर्षतः ॥(121)

एकं द्वे त्रीणि पल्यानि नृ-तिरश्चां यथाक्रमम् ।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिषु जीवितम् ।

कुभोगभूमिजानां तु पत्यमेकं तु जीवितम् ॥(122)

पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष, जलकायिक जीवों की सात हजार वर्ष, वनस्पतिकायिक जीवों की दश हजार वर्ष, वायुकायिक जीवों की तीन हजार वर्ष, पक्षियों की बहतर हजार वर्ष, सर्पों की ब्यालीस हजार वर्ष, तीन इन्द्रिय जीवों की उनचास दिन, अम्निकायिक की तीन दिन, चौइन्द्रिय जीवों की छह माह, छाती से सरकने वाले अजगर आदि की नौ पूर्वाङ्ग, दो इन्द्रियों की बारह वर्ष, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यच, मच्छ, कर्मभूमिज

चौपाये एक करोड़ पूर्व वर्ष, जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमि के मनुष्य तथा तिर्यचों की क्रम से एक पत्य और तीन पत्य तथा कुभोगभूमिज मनुष्य और तिर्यचों की एक पत्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

### अध्याय 3 अभ्यास प्रश्न—

1. नरक की पृथिवियाँ कौन-कौन सी है तथा उसके अवस्थान कैसे हैं ?
2. नरक में कौन उत्पन्न होते हैं ?
3. नारकियों के विविध प्रकार के कष्टों का सविस्तार वर्णन करो ?
4. जम्बूद्वीप का सविस्तार वर्णन करो ?
5. कुलाचलों का सविस्तार वर्णन करो ?
6. सरोवरों का सविस्तार वर्णन करो ?
7. महानदियाँ कितनी हैं और वें कहां-कहां बहती हैं ?
8. क्षेत्र एवं समुद्रों के आकार, विस्तार एवं अवस्थान का वर्णन करो ?
9. काल परिवर्तन कहाँ-कहाँ पर होता है तथा षट्काल का वर्णन करो ?
10. भरतादि क्षेत्र में आवास करने वाले मनुष्यों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु का वर्णन करो ?
11. मनुष्य क्षेत्र की सीमा कहां तक है ?
12. मनुष्यों के भेदों का वर्णन करो ?
13. कर्मभूमि एवं भोगभूमि कहाँ-कहाँ पर है ?

धातु पाषाण की मूर्ति को भगवान बनाने की अपेक्षा उनकी कृति स्वरूप बच्चों को भगवान बनाना श्रेष्ठ है।

**अध्याय 4**  
**देवों का वर्णन**  
**The Celestial Beings**  
**देवों के भेद**  
**देवाश्चतुर्णिकायाः। (1)**

Celestial beings are of four orders, groups or classes :

भवनवासी Residential.

व्यंतर Peripatetic.

ज्योतिष्क Stellar.

वैमानिक Heavenly.

देव चार निकाय वाले हैं।

गोम्मट्टुसार में देव की परिभाषा निम्न प्रकार दी गई है-

दीव्वंति जदो णिच्चं, गुणेहिं अट्ठेहि दिव्व भावेहिं।

भासंतदिव्वकाया, तम्हा ते वण्णिया देवा॥

‘देव’ शब्द दिव् धातु से बना है जिसके कि क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, ह्युति, स्तुति, मोद, मद आदि अनेक अर्थ होते हैं। अतएव निरूक्ति के अनुसार जो मनुष्यों में न पाये जा सकने वाले प्रभाव से युक्त हैं तथा कुलाचलों परवर्णों में या महासमुद्रों में सपरिवार विहार, क्रीड़ा किया करते हैं। बलवानोंको भी जीतने का सामर्थ्य रखते हैं। पञ्चपरमेष्ठियों तथा अकृत्रिम चैत्य, चैत्यालयोंआदि की स्तुति वन्दना किया करते हैं। सदा पंचेन्द्रियों के सम्बन्धी विषयोंके भोगों से मुदित रहा करते हैं, जो विशिष्ट दीप्ति के धारण करने वाले हैं, जिनका शरीर धातु, मलदोष रहित एवं अविच्छिन्न रूप लावण्य से युक्त सदायौवन अवस्था में रहा करता है और जो अणिमा आदि आठ प्रकार की ऋद्धियों को धारण करने वाले हैं उनको देव कहते हैं। यह देव-पर्याय के स्वरूप मात्र का निदर्शन है। लक्षण के अनुसार जो अपने कारणों से संचित देवायु और देवगति नामकर्म के उदय से प्राप्त पर्याय को धारण करनेवाले संसारी जीव हैं वे सब देव हैं।

स्वधर्म विशेष अपादित सामर्थ्य से निश्चयन किया जाता है, वह निकाय

है। देवगति नामकर्म के उदय से स्वर्गम विशेष के सामर्थ्य से चयन (पुद्गल प्रदेशों का चयन) होता है, संघात होता है। इसे निकाय कहते हैं। चार निकाय जिसके हैं उसको चतुर्णिकाय कहते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक हैं।

### भवनत्रिक देवों में लेश्या का विभाग आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः। (2)

From the first to the third (have 4) Lesyas or Paints up to yellow i.e.

कृष्ण Black नील Indigo कापोत Grey and पीत yellow.

आदि के तीन निकायों में पीत पर्यन्त चार लेश्याएँ हैं।

आदि के - भवनवासी, व्यन्तर, और ज्योतिषी इन तीन निकाय देवों के कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती है।

### चार निकायों के प्रभेद

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः। (3)

भवनवासी Residential celestial beings are of 10 classes.

व्यन्तर Peripatetic celestial beings are of 8 classes.

ज्योतिष्क Stellar celestial beings are of 5 classes.

कल्पवासी Heavenly celestial beings are of 12 classes.

Total beings are of 35 classes.

ये कल्पोपपन्न देव तक के चार निकाय के देव क्रम से दस, आठ, पाँच और बारह भेद वाले हैं।

जिनमें इन्द्र आदि दस प्रकार कल्पे जाते हैं अर्थात् विभाग किये जाते हैं वे कल्प कहलाते हैं। इस प्रकार इन्द्रादिक की कल्पना ही कल्प संज्ञा का कारण है। यद्यपि इन्द्रादिक की कल्पना भवनवासियों में भी सम्भव है फिर भी रूढ़ि से कल्प शब्द का व्यवहार वैमानिकों में ही किया जाता है। जो कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं। तथा जिनके अन्त में कल्पोपपन्न देव हैं उनको कल्पोपपन्न पर्यन्त कहा है। भवनवासी दस प्रकार के हैं, व्यन्तर आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष पाँच प्रकार के हैं और वैमानिक बारह प्रकार के हैं।



## चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः। (4)

Every class (has) grades;

इन्द्र Powerful and of supreme authority, like a king.

सामानिक Powerful but not authoritative like Indra like father, teacher.

त्रायस्त्रिंश Like minister or Priest, so-called they are 33 in number.

पारिषद Like Courtiers.

आत्मरक्ष Like Body-guards.

लोकपाल " The police, the protectors of the people.

अनीक " The army.

प्रकीर्णक " The people.

आभियोग्य " That grade of celestial beings who from themselves into conveyances as horse, lion, swan etc. etc. for the other grades.

किल्बिषिक " That Servile grade.

उक्त दस आदि भेदों में से प्रत्येक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश पारिषद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक रूप हैं।

1. इन्द्र - परम ऐश्वर्य के कारण 'इन्द्र' कहलाता है। अन्य देवों में नहीं पाई जाने वाली अणिमा, महिमा आदि ऋद्धि रूप ऐश्वर्य गुण के योग से जो आनंदित होता है वह 'इन्द्र' कहलाता है।

2. सामानिक - इन्द्र के स्थान के योग्य होने से सामानिक है। इन्द्रों के समान आज्ञा एवं ऐश्वर्य को छोड़कर शेष स्थान, आयु, शक्ति, परिवार, भोगोपभोग आदि में जो इन्द्रों के समान हो वे सामानिक कहे जाते हैं। 'समाने भवाः समानिकाः अर्थात् स्थानादि से जो समान हों वे सामानिक कहे जाते हैं। सामानिक देव इन्द्र के पिता, गुरु, महत्तर, उपाध्याय आदि के समान होते हैं। समान

का भाव सामानिक कहलाता है।

3. **त्रायस्त्रिंश** – मंत्री, पुरोहित स्थानीय 'त्रायस्त्रिंश' कहलाते हैं। जैसे यहाँ पर हिताहित की शिक्षा देने वाले मंत्री, पुरोहित आदि होते हैं; उसी प्रकार देवों में इन्द्रों को हितकारी शिक्षा देने वाले त्रायस्त्रिंश देव होते हैं। ऐसा जानना चाहिए। इनकी त्रायस्त्रिंश यह संज्ञा (नाम) क्यों है? त्रयस्त्रिंशत् में होने वाले त्रायस्त्रिंश होते हैं। 'त्रयस्त्रिंशत् जाताः त्रायस्त्रिंशाः' अर्थात् तैंतीसों में जो उत्पन्न हो वे त्रायस्त्रिंश कहे जाते हैं।

4. **पारिषद्** – मित्र और पीठमर्द सदृश पारिषद् होते हैं। पारिषद् (सभा) में होने वाले पारिषद् कहलाते हैं। अथवा जो मित्र और पीठमर्द अर्थात् नर्तकाचार्य के समान विनोदशील होते हैं वे पारिषद् कहलाते हैं।

5. **आत्मरक्षक** – शिरोरक्ष की उपमा वाले आत्मरक्षक कहलाते हैं। जो आत्मा की रक्षा करता है, वह आत्मरक्ष कहलाता है, जैसे यहाँ पर शिरोरक्ष होते हैं। अंगरक्षकों के समान जो कवच पहिने हुए, सदा मारने के लिए उद्यत, रौद्रमूर्ति, वीर वेष के धारक और इन्द्र की पीठ के पीछे खड़े रहते हैं, वे आत्मरक्ष देव हैं।

शंका – देवों के अपाय का अभाव है – अतः उनमें आत्मरक्ष आदि की कल्पना व्यर्थ है ?

उत्तर – यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार का भय नहीं है फिर भी उसकी विभूति को घोटन करने के लिए तथा प्रीति की प्रकर्षता का कारण होने से दूसरों पर प्रभाव डालने के लिए आत्मरक्ष होते हैं; अर्थात् इस सब परिकर को देखकर इन्द्र को परम प्रीति होती है।

6. **लोकपाल** – अर्थरक्षक के समान लोकपाल होते हैं। लोक का पालन करे वह लोकपाल है। उनको यहाँ के कोटपाल के समान समझना चाहिए। ये लोकपाल कोतवाल के समान नगररक्षक हैं।

7. **अनीक** – दंड स्थानीय अनीक होते हैं। जैसे यहाँ पर हाथी, घोड़ा, पदाति, बैल, गन्धर्व, नर्तकी और रथ यह सात प्रकार की सेना है, उस पदाति आदि

सेना के समान देव होते हैं उनको अनीक कहते हैं।

8. प्रकीर्णक – पुरवासी समान प्रकीर्णक हैं। जैसे यहाँ पर पौरजन तथा देशवासी लोक राजा की प्रीति के कारण होते हैं उसी प्रकार पुरजन, जनपदजन के समान इन्द्र की प्रीति के कारणभूत प्रकीर्णक देव होते हैं।

9. आभियोग्य – दासी-दास के समान आभियोग्य देव होते हैं। जैसे यहाँ पर दास लोग वाहन आदि के द्वारा व्यापार करते हैं उसी प्रकार स्वर्गों में आभियोग्य जाति के देव वाहन (हाथी, विमान) आदि के द्वारा इन्द्र, सामानिक आदि देवों का उपकार करते हैं। अभिमुख्य (सेवा मुख्य) के योग आभियोग्य कहलाते हैं। आभियोग में होने वाले आभियोग्य कहलाते हैं।

किल्बिषिक – अन्त्यवासी (गाँव के बाहर रहने वाले भंगी आदि समान) स्थानीय किल्बिषिक कहलाते हैं। किल्बिष (पाप) जिसके हो वह किल्बिषिक कहलाता है। ये अन्त्यवासियों के समान होते हैं। (ये इन्द्र की बाह्य मध्यम और आन्तरिक तीनों सभाओं में प्रवेश नहीं कर सकते)।

**व्यंतर और ज्योतिषीदेवों में इन्द्र आदि भेदों की विशेषता  
त्रायस्त्रिंशलोकपाल वर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः । (5)**

But the peripatetic and stellar celestial beings the grades of Trayastrinsa like minister or priest, and Lokapala like the police, are denied.

किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदों से रहित हैं।

व्यन्तर और ज्योतिषियों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदों के सिवा शेष आठ भेद जानना चाहिए।

**देवों में इन्द्रों की व्यवस्था**

**पूर्वयोर्द्वीन्द्राः । (6)**

In the first two/i.e. Residential and peripatetic orders; there are) two Indras (or kings in each of them 10 and 8 classes respectively)

**प्रथम दो निकायों में दो-दो इन्द्र हैं।**

पूर्व के दो निकाय अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर में दो-दो इन्द्र होते हैं। यथा-भवनवासियों में असुरकुमारों के चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं। नाग कुमारों के धरण और भूतानन्द ये दो इन्द्र हैं। विद्युतकुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त ये दो इन्द्र हैं। सुपर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं। अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमानव ये दो इन्द्र हैं वातकुमारों के वैलम्ब और प्रभञ्जन ये दो इन्द्र हैं। स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं। उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं। द्वीपकुमारों के पूर्ण और विशिष्ट ये दो इन्द्र हैं। तथा दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं। व्यन्तरों में भी किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र हैं। किम्पुरुषों के सत्पुरुषो और महापुरुष ये दो इन्द्र हैं। महोरगों के अतिकाय और महाकाय ये दो इन्द्र हैं। गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश ये दो इन्द्र हैं। यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र ये दो इन्द्र हैं। राक्षसों के भीम और महाभीम ये दो इन्द्र हैं। भूतो के प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इन्द्र हैं। तथा पिशाचों के काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं।

## **देवों में स्त्री सुख का वर्णन**

### **कायप्रवीचारा आ ऐशानात्। (7)**

Up to Isana (or The 2nd heaven, celestial beings which include all Residential Peripatetic and Stellar celestial beings) have bodily sexual enjoyment (like human beings.)

ऐशान तक के देव काय प्रवीचार अर्थात् शरीर से विषय सुख भोगने वाले होते हैं।

अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, सौधर्म स्वर्ग और ऐशान स्वर्ग के देवों में मानवों के समान शरीर से काम सेवन होता है।

मैथुन-सेवन को प्रवीचार कहते हैं। “प्रवीचार” (मैथुन) स्त्री-पुरुष के संयोग से जायमान सुखरूप कार्य का नाम प्रवीचार मैथुन है। काय में वा काय से प्रवीचार जिसके होता है वे काय प्रवीचार कहलाते हैं।

‘आ’ इस ऐशान स्वर्ग से नीचे जो देव हैं, वे संक्लिष्ट होने से काय (शरीर) से प्रवीचार करते हैं। अर्थात् मानवों के समान स्त्री विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव करते हैं- ऐसा समझना चाहिए।

## शेष स्वर्गों के देवों के विषय

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः। (8)

The others have the sexual enjoyment by means of touch, sight of beauty, sound and mind.

शेष देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से विषय सुख भोगने वाले होते हैं।

सात नम्बर सूत्र में वर्णित देवों के विषय सुख काय प्रविचार सहित है। उसके आगे के देवों के सुख का वर्णन इस सूत्र में किया गया है-

‘वस्तुतः चारों निकाय के देव सच्चे देव नहीं है, क्योंकि वे सर्वकषायों के अधीन है। जिन्होंने सम्पूर्ण कषायों और काम को जीत लिया वह देवाधिदेव जिनेन्द्र ही है। केवल देवगति के उदय के कारण इनको रुद्धि से देव कहते हैं। वे भी कामाम्नि से संतप्त होने के कारण उन को शांत करने के लिए काम सेवन करते हैं। काम सेवन को प्रवीचार कहते हैं। सौधर्म ऐशान कल्पों के देव अपनी देवांगनाओं के साथ मनुष्यों के सदृश काम सेवन करके अपनी इच्छा शांत करते हैं। सानत्कुमार माहेन्द्र कुमार देव स्पर्श मात्र से अपनी पीड़ा शांत करते हैं, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ देवों के काम पीड़ा कम होने के कारण देवांगनाओं के रूपावलोकन मात्र से अपनी काम पीड़ा शांत करते हैं। ऊपर-ऊपर के देवों के पुण्य अधिक होने के कारण एवं उनका सुख अधिक होने पर काम पीड़ा कम-कम होती जाती है। इसीलिए शुक्र-महाशुक्र तथा सतार-सहस्रार कल्पों के देव, देवांगनाओं के गीत सुनकर ही काम पीड़ा से रहित हो जाते हैं। आनतादि चार कल्पों के देव मन में देवांगनाओं का विचार करते ही काम वेदना से रहित हो जाते हैं। इसके आगे नौ ग्रैवेयक से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सभी देव अहमिन्द्र है। इन अहमिन्द्रों में काम वेदना उत्पन्न ही नहीं होती है। ये प्रवीचार से रहित एवं अन्य देवों से महासुखी है।

## सोलह स्वर्गों से ऊपर के देवों के सुख परेऽप्रवीचाराः । (9)

The remaining (Celestial beings are) without sexual desire.  
(There are no Goddesses there. Beyond the 16th heaven there is only the mali sex.

बाकी के सब देव विषय सुख से रहित होते हैं।

बाकी के सब देव अर्थात् पूर्वोक्त सातवें एवं आठवें सूत्र में जितने देवों के विशेष विषय सुख का वर्णन किया है उसको छोड़कर शेष नवग्रैवेयक आदि में विशेष विषय सुख नहीं है। चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जो वेदना होती है उसका प्रतिकार करने के लिए जीव कामवासना का सेवन करता है। परन्तु नवग्रैवेयक, विजय वैजन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि के देव अधिक पुण्यशाली होने के कारण तथा शुभ लेश्या होने के कारण उन्हें विशेष काम विकार की वेदना नहीं होती है। इसके अभाव से उन्हें परमसुख प्राप्त होता है।

### भवनवासियों के दस भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्त-  
नितोदधिद्वीपदिककुमाराः । (10)

(The 10 classes of) Residential celestial beings (are): Asura Kumar, Naga, Vidyuta, Suparna, Agni, Vata, Stanita, Udadhi, Dvipa and Dik Kumara.

भवनवासी देव दस प्रकार के हैं— असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिककुमार।

कौमार, रूप, वय विशेष, विक्रियादि योग होने से वे कुमार कहलाते हैं। सर्व देवों की अवस्था, आयु एवं स्वभाव निश्चित है तथापि उनका विक्रिया करने का स्वभाव कौमार रूप विशेष अवस्था सरीखा होता है। कुमारों के ही समान उनके वेश-भूषा, भाषा, आभूषण, प्रहरण आवरण यानवाहन होते हैं, राजनित क्रीड़ाओं में आसक्त रहने के कारण ये देव कुमार कहलाते हैं।

## व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः । (11)

The (classes of) Peripatetics (are):

1. Kinnara.
2. Kimpurusha.
3. Mahoraga.
4. Gandharva.
5. Yaksha.
6. Rakshasa.
7. Bhuta.
8. Pishacha.

व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष राक्षस, भूत और पिशाच ।

विविध देशों में निवास करनेवाले होने से व्यन्तर कहलाते हैं। विविध देशान्तरों में जिनका निवास है, वें व्यन्तर हैं। यह इनका सार्थक नाम है, किन्नर आदि आठों विकल्पों की सामान्य संज्ञा व्यन्तर है।

ये देव पवित्र वैक्रियिक शरीरधारी होते हैं। ये कभी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदि की कामना नहीं करते हैं और न मांस-मदिरादि के खान-पान में ही प्रवृत्त होते हैं। लोक में जो व्यन्तरों की मांसादि ग्रहण की प्रवृत्ति सुनी जाती है, वह केवल उनकी क्रीड़ा मात्र है। उनके तो मानसिक आहार होता है।

प्रश्न:- उन व्यन्तरों के रहने के स्थान कहाँ हैं ?

उत्तर:- इस जम्बूद्वीप के तिरछे दक्षिण दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बाद नीचे खरपृथ्वी के ऊपरी भाग में दक्षिणाधिपति किन्नेन्द्र का निवास है। वहाँ उसके असंख्यात लाख नगर हैं। इसके चार हजार सामानिक देव, तीन परिषद् (सभा), सात प्रकार की सेना, चार अग्रमहिषियाँ और सोलह हजार आत्मरक्षक देव हैं। उत्तराधिपति किन्नेन्द्र किम्पुरुष का भी उतना ही वैभव और परिवार

है। उसका आवास उत्तरदिशा में है। शेष छह दक्षिणाधिपति-सत्पुरुष, अतिकाय, गैरति, पूर्णभद्र, स्वरूप और काल नामक इन्द्रों के आवास दक्षिण दिशा में हैं तथा उत्तराधिपति महापुरुष, महाकाय गीलथरा, मणिभद्र अप्रतिरूप और महाकाल नामक व्यन्तरेन्द्रों के आवास उत्तरदिशा में हैं और उनके रहने के स्थान नगर असंख्यात लाख हैं। दक्षिण दिशा में पंकबहुल भाग में भीम नामक राक्षसेन्द्र के असंख्यात लाख नगर कहे गये हैं और उत्तराधिपति महाभीम नामक राक्षसेन्द्र के उत्तरदिशा में पंकबहुल भाग में असंख्यात लाख नगर हैं।

इन सोलहों व्यन्तर इन्द्रों के सामानिक आदि विभव-परिवार तुल्य हैं अर्थात् चार हजार सामानिक, तीन परिषद्, सात अनीक, चार अग्रमहिषियाँ और सोलह हजार आत्मरक्षक देव प्रत्येक इन्द्र के हैं। भूमितल पर भी द्वीप, पर्वत, समुन्द्र, देश, ग्राम, नगर, त्रिक (तिराहा), चौराहा, घर, आंगन, गली, जलाशय, उद्यान और देवमन्दिर आदि स्थानों में व्यन्तर देवों के असंख्यात लाख आवास कहे गये हैं।

देश, विदेश में, धर्म में, लोक में, आयुर्वेद, मंत्र-तंत्र यहाँ तक कि वर्तमान विज्ञान एवं मनोविज्ञान में भी भूत की मान्यता एवं समस्याएँ भी हैं। कोई-कोई भूत को पूर्ण रूप से नहीं मानते हैं तो कहीं-कहीं भूत की अतिमान्यता भी है। कुछ आदिवासी (भील, शबर) कुछ धर्मान्ध व्यक्ति भूत को देव मानकर पूजा भी करते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि, मरने के बाद जीव को जब तक अन्य गति नहीं मिलती है तब तक वह भूत बनकर इधर उधर घूमता फिरता है। इस प्रकार लोक में भूत सम्बन्धी अनेक अतिवाद 'कल्पना' हैं। परन्तु इस सूत्र में आचार्यश्री ने भूतादि के सत्य स्वरूप का वर्णन किया है।

इसके पहले-पहले आप लोगों ने अध्ययन किया है कि संसार में जो अनन्तान्त जीव हैं उनके दो भेद हैं:-- (1) संसारी (2) मुक्त। कर्म रहित एवं अनन्त ज्ञान, दर्शन सहित, जीव को मुक्त जीव कहते हैं। कर्म सहित जीव को संसारी जीव कहते हैं। कर्म सहित जीव के चार भेद हैं:-- देव, मनुष्य, तिर्यक एवं नारकी। देव के चार भेद हैं। यथा-- भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। उनमें से जो व्यन्तर देव हैं उनके फिर आठ भेद हो गये हैं:--भूत, पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि। जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप से लिप्त रहते हैं, और थोड़े से निरतिशय पुण्य (पापानुबन्धी पुण्य) से सहित होते



हैं ऐसे जीव मरकरके जन्मान्तर में भूत आदि बन सकते हैं। वैक्रियिक शरीरधारी होने के कारण एवं छोटे से छोटे देव में भी अल्पमात्रा में भी अणिमा, गरिमा आदि कृद्धि होने से वे विभिन्न छोटे बड़े शरीर को धारण करके आश्चर्यकारी कार्य कर सकते हैं। छोटे-बड़े दृश्य अदृश्य शरीर धारण कर सकते हैं। जिन के ऊपर राग होता है उन्हें लाभ पहुँचा सकते हैं और जिन पर द्वेष होता है उन्हें क्षति भी पहुँचा सकते हैं। उनका शरीर वैक्रियिक होने के कारण एवं इच्छानुसार छोटा-बड़ा शरीर धारण करने की शक्ति होने के कारण वे दूसरों के शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। जिसको साधारणतः भूत लग गया मानते हैं वह प्रायः गलत है। परन्तु भूत कदाचित् शरीर में प्रवेश कर सकता है लाभ-हानि पहुँचा सकता है यह भी सत्य है। परन्तु भ्रान्तिवशतः अज्ञानता के कारण वायुविकार, हिस्टेरिया, कामविकार, दमित इच्छा आदि के कारण जो मन में एवं शरीर में विकार उत्पन्न होता है उसे ही भूत प्रविष्ट मान लेते हैं।

### ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद

**ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च । (12)**

The classes of settlers are:

1. Surya the sun.
2. Chandrama, the moon.
3. Graha, the planets.
4. Nakshatra, the constellations.
5. prakirnika taraka, scattered stars.

**ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं— सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारें।**

द्योतन स्वभावत्व होने से ये ज्योतिष्क कहलाते हैं। द्योतन, प्रकाशन ये एकार्थवाची। प्रकाश करने का ही स्वभाव होने से पांचो विकल्पों वाले ज्योतिषी देवों को “ज्योतिष्का”, यह सार्थक सामान्य संज्ञा है।

ज्योतिष्क देवों के अवस्थान कहाँ पर हैं इस का वर्णन त्रिलोकसार में निम्न प्रकार हैं—

णउदुत्तरसत्तसए दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के ।

तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी ॥(332)

(चित्रा पृथ्वी से) सात सौ नब्बे योजन ऊपर, इससे दश, अस्सी दो बार चार अर्थात्, चार, चार और चार बार तीन योजन अर्थात् तीन-तीन तीन और तीन योजन ऊपर क्रम से तारा, सूर्य, चन्द्र, ऋक्ष (नक्षत्र) बुध, शुक्र, गुरु, अंगारक (मंगल) और मन्दगति (शनिश्चर) स्थित हैं।

### चित्रा पृथ्वी से ज्योतिर्विम्बों की ऊँचाई

क्र. सं.	ज्योतिर्विम्बों के नाम	योजनों में ऊँचाई	मीलों में ऊँचाई
1.	तारागण	चित्रा पृथ्वी से 790 योजन ऊपर	3160000 मील ऊपर
2.	सूर्य	$790 + 10 = 800$ योजन ऊपर	3200000 मील ऊपर
3.	चन्द्र	$800 + 80 = 880$ योजन ऊपर	3520000 मील ऊपर
4.	ऋक्ष (नक्षत्र)	$880 + 4 = 884$ योजन ऊपर	3536000 मील ऊपर
5.	बुध	$884 + 4 = 888$ योजन ऊपर	3552000 मील ऊपर
6.	शुक्र	$888 + 3 = 891$ योजन ऊपर	3564000 मील ऊपर
7.	गुरु	$891 + 3 = 894$ योजन ऊपर	3576000 मील ऊपर
8.	अंगारक (मंगल)	$894 + 3 = 897$ योजन ऊपर	3588000 मील ऊपर
9.	मन्दगति (शनि)	$897 + 3 = 900$ योजन ऊपर	3600000 मील ऊपर

इस प्रकार ज्योतिषी देवों की ऊँचाई  $(10+80+4+4+3+3+3+3= 110)$  योजन (440000 मील) है। अर्थात् सम्पूर्ण ज्योतिषी देव पृथ्वी तल से 790 योजन (3160000 मील) की ऊँचाई से प्रारंभ कर 900 योजन (3600000 मील) की ऊँचाई तक स्थित है।

अवसेसाण गहाणं णयरीओ उवरि चित्तभूमीदो ।

गंतूण बुहसणीणं विच्चाले होंति णिच्चाओ ॥(333)

चित्रा पृथ्वी से ऊपर जाकर बुध और शनिश्चर के अन्तराल में अवशिष्ट 83 ग्रहों की नित्य नगरियाँ अवस्थित हैं।

विशेषार्थ :-चित्रा पृथ्वी से ऊपर जाकर बुध और शनिश्चर ग्रहों के अन्तराल अर्थात् 888 योजन और 900 योजन के बीच में अवशेष 83 ग्रहों की 83 नगरियाँ नित्य-अवस्थित हैं।

सम्पूर्ण ग्रह 88 हैं, उनमें से (1) बुध, (2) शुक्र, (3) गुरु, (4) मंगल और (5) शनि इन पाँच ग्रहों को छोड़कर अवशेष, (1) काल विकाल, (2) लोहित, (3) कनक, (4) कनक संस्थान, (5) अन्तरद (6) कचयव, (7) दुन्दभिः, (8) रत्ननिभ, (9) रूपनिर्भास, (10) नील, (11) नीलाभास, (12) अश्व, (13) अश्वथान, (14) कोश, (15) कंसवर्ण, (16) कंस, (17) शङ्ख, परिणाम, (18) शङ्ख वर्ण, (19) उदय, (20) पञ्चवर्ण, (21) तिल, (22) तिलपुच्छ, (23) क्षारराशि, (24) धूम, (25) धूमकेतु, (26) एक संस्थान (27) अक्ष, (28) कलेवर, (29) विकट, (30) अभिन्नसधि, (31) गन्धि, (32) मान, (33) चतुःपाद, (34) विद्युजिह्वा, (35) नभ, (36) सदृश, (37) निलय, (38) काल, (39) कालकेतु, (40) अनय, (41) सिंहायु, (42) विपुल, (43) काल (44) महाकाल (45) रूद्र, (46) महारूद्र, (47) सन्तान, (48) सम्भव, (49) स्वार्थार्थी, (50) दिशा, (51) शान्ति, (52) वस्तुन, (53) निश्चल, (54) प्रलम्भ, (55) निर्मन्त्रो, (56) ज्योतिष्मान्, (57) स्वयंप्रभ, (58) भासुर, (59) विरज, (60) निर्दुःख, (61) वीतशोक, (62) सीमङ्कर, (63) क्षेमङ्कर, (64) अभयङ्कर, (65) विजय, (66) वैजयन्त, (67) जयन्त, (68) अपराजित, (69) विमल, (70) त्रस्त, (71) विजयिष्णु, (72) विक्रस, (73) करिकाष्ट, (74) एकजटि, (75) अग्निज्वाल, (76) जलकेतु, (77) केतु, (78) क्षीरस, (79) अध, (80) श्रवण, (81) राहु, (82) महाग्रह और (83) भावग्रह इन 83 ग्रहों की नगरियाँ बुध और शनि ग्रह के अन्तराल में अवस्थित हैं।

अथइ सणी णवसये चित्तादो तारागावि तावदिह ।

जोइसपडल-बहल्लं दससहिंयं जोयणाण सयं ॥(334)

चित्रा पृथ्वी से शनिश्चर नौ सौ योजन ऊपर स्थित है और तारागण भी नौ सौ योजन पर्यन्त अवस्थित हैं, अतः ज्योतिषी देवों के पटलों का बाहुल्य मात्र 110 योजन ही है।

चित्रा पृथ्वी से 900 योजन (3600000 मील) ऊपर जाकर शनिश्चर ग्रह स्थित है, तथा इसी पृथ्वी से 790 योजन (3160000 मील) ऊपर जाकर अर्थात् 790 योजन से 900 योजन पर्यन्त तारागणों की नगरियाँ स्थित हैं। अतः ज्योतिषी देवों का कुल क्षेत्र 110 योजन (440000 मील ) मात्र प्राप्त होता है।

(त्रिलोक सार पृ.स.280)

विज्ञान की अपेक्षा इस ब्रह्माण्ड में अनेकानेक आकाश गंगा, निहारिका, नक्षत्रपुञ्ज, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, पुच्छलतारा, उल्कापिण्ड आदि हैं। मुख्यतः ज्योतिर्लोक को दो भाग में विभक्त कर सकते हैं। (1) स्वयंप्रभ (2) अन्यप्रभ से प्रकाशित। ज्योतिष्क को जो स्वयंप्रभ हैं, नक्षत्र कहते हैं। जो अन्य के प्रभाव से प्रकाशित हैं, उनको ग्रह एवं उपग्रह कहते हैं। नक्षत्र से ग्रह एवं ग्रह से उपग्रह की सृष्टि होती है।

सूर्य - सूर्य के समान हमारे विश्व में अन्य कोई ज्योतिष्क मूल्यवान नहीं है। सूर्य भी सामान्य नक्षत्र है। पृथ्वी के लिए सूर्य प्रकाश एवं शक्ति का आधार है। सूर्य का व्यास प्रायः  $1.4 \times 10^9$  मीटर है। यह प्रायः पृथ्वी से 109 गुना बड़ा है। सूर्य का वस्तुत्व  $2 \times 10^{30}$  Kg. अथवा, प्रायः पृथ्वी से 3,33,000 गुना वस्तुत्व के समान है। सूर्य का घनत्व  $1.4 \text{ g/cm}^3$  अर्थात् पृथ्वी के घनत्व का चतुर्थांश है। सूर्य हल्के द्रव्य से बना है। सूर्य के स्वयं अक्ष के परिभ्रमण का काल 27 दिन है। सूर्य का मध्य भाग हृदय है जो समस्त शक्तियों का आधार है। यहाँ पर हॉइड्रोजन के नाभिक प्रायः 14 मिलियन सेंटीग्रेड उष्णता से हीलियम नाभिक में परिवर्तित होते रहते हैं। जब यह परिवर्तन होता है, तो गामा किरणों से शक्ति उत्पन्न होती है। दूसरा स्तर, जो कि घन न्यूक्ली गैस गामा किरण से विस्फोट होता है, जिसकी मोटाई 130000 कि. मी. है। इसको फोटोस्फियर कहते हैं। इसके बाह्य भाग में जो कि सूर्य का बाह्य स्तर

है, सूर्य कलंक एवं सूर्य किरणें पाई जाती हैं। चरमोस्फेयर एवं कोरना के भेद से सूर्य के दो मण्डल हैं। चरमोस्फेयर 10000 से लेकर 15000 कि. मी. मोटा है। इसके नीचे भाग की उष्णता प्रायः 6000 सेंटीग्रेड है एवं ऊपर के भाग की प्रायः 100000 सेंटीग्रेड है। कोरना स्तर में संश्लेषित ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, लौह, निकल कैल्शियम आदि अंश हैं। प्रकाशित सूर्य पृष्ठ 800 से लेकर 80000 कि. मी. विस्तृत अंधकार अंश है उसको सूर्य कलंक कहते हैं। फोटोस्फेयर की उष्णता 6000 सेंटीग्रेड एवं प्रकाश की तुलना में इस अंश का प्रकाश एवं उष्णता कम अर्थात् 4500 डिग्री होने के कारण यह अंश काला दिखाई देता है, क्योंकि अधिक प्रकाश की तुलना में कम प्रकाश तिरोहित हो जाता है एवं काला दिखाई देता है। जब सूर्य से अंतर्निहित उत्तप्त पदार्थ निकलते हैं एवं विस्फोट होते हैं तब सूर्य कलंक की सृष्टि होती है। यह कलंक प्रायः 11 वर्ष में कम-अधिक होता है। इस सूर्य कलंक के कारण पृथ्वी पृष्ठ में अनेक प्राकृतिक परिवर्तन होता है। जैसे – अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सशय वृद्धि-हानि, समुद्र के ज्वार में हानि वृद्धि आदि।

सूर्य में अनेक ज्वालाएँ हैं। जब सूर्य में शक्ति का विस्फोट होता है फिर तब यह ज्वालाएँ निकलती हैं। एक-एक ज्वाला लक्षावधि मील लंबी होती है। सूर्य अनेक दिनों से प्रकाश एवं शक्ति वितरण करता है फिर भी उसकी शक्ति एवं प्रकाश की सृष्टि होती रहती है। सौर जगत् के शक्ति एवं प्रकाश का केन्द्रस्थल सूर्य है। सूर्य स्वयं की शक्ति के माध्यम से अपने अन्य ग्रहों को अर्थात् सूर्य परिवार को आकर्षित करके अपने चतुर्पार्श्व में घुमाता है। सूर्य की शक्ति ज्यादा होने से सूर्य परिवार, सूर्य की शक्ति को अतिक्रम करके घुमता हुआ बाहर पलायन नहीं करता है। सूर्य के अभाव से सूर्य परिवार अंधकाराच्छन्न हो जायेगा एवं ग्रहों में अत्यधिक शीत के कारण बर्फ जम जायेगी। सूर्य के अभाव से पृथ्वी में तथा अन्य ग्रहों में जीव-जगत् का अभाव हो जाएगा। भू-पृष्ठ में दिवा-रात्रि, ऋतु परिवर्तन, वृष्टि आदि सूर्य के कारण से होते हैं।

सूर्य के बुध, मंगल, पृथ्वी आदि नवग्रह, कुछ पुच्छलतारा आदि हैं। यह ग्रह सूर्य को केन्द्र करके अण्डाकार-पथ में परिभ्रमण करते हैं। ग्रहादि

सूर्य का परिभ्रमण करते समय स्वयं के कक्ष में भी भ्रमण करते हैं। इनका परिभ्रमण क्षेत्र कम- अधिक होने के कारण परिभ्रमण काल भी कम अधिक होता है। ग्रहों के अक्ष भ्रमण भी पृथक्-पृथक् है। पुच्छल तारों का परिभ्रमण क्षेत्र लंबा एवं अण्डाकृति है।

चन्द्रमा – चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। चन्द्रमा अन्यप्रभ है जो कि सूर्य के द्वारा प्रकाशित होता है। सूर्य की किरण चन्द्रमा पर पड़कर जब प्रतिफलित होती है तब चन्द्रमा प्रकाशित दिखाई देता है, जिस के कारण चन्द्ररश्मि शीतल है। चन्द्रमा का व्यास पृथ्वी के व्यास के एक चतुर्थास = 3476 कि. मी. अर्थात् 2160 मील है। जब कि पृथ्वी का 12745 कि. मी. अर्थात् 7920 मील है इसका क्षेत्रफल  $3.796 \times 10^{13} \text{ m}^2$  है। इसकी सान्द्रता पानी की सान्द्रता से 3.3 गुणा है। जबकि पृथ्वी की सान्द्रता 5.5 गुणा है। इसका वस्तुत्व  $2.199 \times 10^{10} \text{ m}^3$  एवं वस्तु  $7.34910^{20} \text{ Kg}$ . अर्थात् चन्द्र एवं पृथ्वी के वस्तु की तुलना 1/81.4 है। चन्द्र का वस्तुत्व कम होने के कारण उसकी केन्द्राकर्षण शक्ति कम है। इसलिये जो वस्तु पृथ्वी पृष्ठ में जितनी भारी होती है, वही वस्तु चन्द्र में 1/6 भाग (वजन) रह जाती है अर्थात् यहाँ जिस वस्तु का वजन 60 किलो है वहाँ उसका वजन 10 किलो रह जायेगा। जिस व्यक्ति का वजन यहाँ 60 है वहाँ उसका वजन 10 किलो होने के कारण वह स्वयं को हल्का अनुभव करेगा एवं पृथ्वी पृष्ठ में जिस वस्तु को वह कठिनाई से ऊपर उठाता है उसको वह अत्यन्त सरलता से उठा सकेगा। पृथ्वी में जितना दूर मनुष्य उछल सकता है, उससे कहीं अधिक दूरी तक चन्द्रमा में उछल सकता है। पृथ्वी जिस प्रकार सूर्य को केन्द्र करके परिभ्रमण करती है, उसी प्रकार चन्द्र पृथ्वी को केन्द्र कर परिभ्रमण करता है। पृथ्वी को परिभ्रमण करने के लिये प्रायः 27.3 दिवस लगते हैं। एक पूर्णिमा से लेकर अन्य पूर्णिमा का समय प्रायः 29.5 दिवस होता है। चन्द्र को स्वयं के अक्ष में परिभ्रमण के लिए भी 27.3 दिन लगते हैं। चन्द्र के भ्रमण एवं परिभ्रमण का काल समान होने के कारण सर्वदा उसका एक पार्श्व सूर्य की तरफ रहता है जबकि अन्य एक पार्श्व सूर्य के विपरीत पार्श्व में रहता है। जो अंश सूर्य की तरफ रहता है, वह अंश सर्वदा प्रकाशित रहता है एवं उष्ण रहता है। अन्य पार्श्व अन्धकारमय

एवं शीतल रहता है। जो अंश प्रकाशित रहता है, वह अंश हमको दिखाई देता है, अन्य अंश कभी दिखाई नहीं देता है। नित्य सूर्य किरण की प्राप्ति से एवं ज्वालामुखी के कारण चन्द्रपृष्ठ मरूभूमि के समान है। चन्द्रपृष्ठ में अनेक गहवर एवं छोटे-छोटे पहाड़ हैं। गहवर के कारण चन्द्रपृष्ठ हम लोगों को कलंक से सहित दिखाई देता है। ज्वालामुखी के कारण वहाँ की मिट्टी प्रायः भस्म के समान है। वहाँ की परिस्थिति जीव सृष्टि के अनुकूल नहीं है। ऑक्सीजन का परिमाण बहुत ही कम है, जल का अभाव है, इसलिए चन्द्र पर जीव जगत् नहीं है। पहले भी वहाँ जीव जगत् नहीं था तथा आगे भी जीव जगत् की सृष्टि की संभावना नहीं है। सूर्य, चन्द्र से 400 गुना बड़ा है। किंतु हिन्दुओं के मतानुसार, सूर्य की दूरी हमसे चन्द्र की अपेक्षा 400 गुना अधिक होने से दोनों समान दिखाई देते हैं। अमावस्या में दोनों एक साथ उदय एवं अस्त होते हैं। पूर्णिमा के दिन सूर्य के अस्त होने के बाद चन्द्र उदय होता है। अन्य समय में दोनों का उदय एवं अस्त भिन्न-भिन्न समय में होता है। सूर्य एवं चन्द्र के कारण समुद्र में ज्वार-भाटा भी आती है।

चन्द्र में मध्याह्न काल में उष्णता 125 डिग्री सेंटीग्रेड है, सन्ध्या काल में - 10 डिग्री सेंटीग्रेड है और मध्य रात्रि में -80 डिग्री सेंटीग्रेड है।

हिन्दुओं के मतानुसार, सूर्य एवं चन्द्र देव हैं। दोनों देव आकाश में स्वयं रथ के ऊपर बैठकर गमन करते हैं। पुराण के अनुसार, सूर्य, कश्यप और अदिति का पुत्र माने जाते हैं। सूर्य अपने सात घोड़ों वाले रथ में बैठकर भ्रमण करते हैं। अरूण इस रथ के सारथी हैं। सूर्य भगवान् रथ में बैठे हुए सब लोगों को तथा उनके शुभाशुभ कर्मों को देखते हैं। संज्ञा (छाया या अश्विनी) उनकी प्रधान पत्नी का नाम है। इसके यम और यमुना पैदा हुए हैं। दो अश्विनी कुमारों तथा शनिका जन्म भी इनसे ही हुआ है। राजाओं के सूर्य वंश का प्रवर्तक तेजस्वी मनु भी सूर्य के ही पुत्र थे। वर्ष में एक बार सूर्य अपने शत्रु राहु या केतु द्वारा ग्रसित होते हैं। ग्रसने की इस घटना को सूर्यग्रहण कहते हैं।

चन्द्र सूर्य का एक ग्रह है। हिन्दुओं का मत है कि चन्द्र समुद्र से उत्पन्न हुआ है। अपनी माता के शाप के कारण चन्द्र का आकार एक पक्ष में बढ़ता और दूसरे पक्ष में घटता है। आकार का घटना बढ़ना चन्द्रकला के रूप में

जाना जाता है।

## ज्योतिष्क देवों का विशेष वर्णन मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके। (13)

In the human regions (i.e. the 2.5 dvipas, the stellars) always move round (their respective) mount Meru (but their nearest orbit to the

Central Meru in Jambudvipa has a radius of 1121 Yojanas.

ज्योतिष्की देव मनुष्य लोक में मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले और निरन्तर गतिशील हैं।

प्रातः काल सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है एवं सायंकाल में पश्चिम दिशा में अस्त होता है। रात्रि में भी अनेक ज्योतिष्क ध्रुव नक्षत्रों को छोड़कर जो सायंकाल में जिस स्थान में दिखाई देते हैं, मध्यरात्रि में एवं प्रातःकाल में उनका स्थान पश्चिम दिशा की ओर होता है। इसी प्रकार पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर स्थान परिवर्तन का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि 'मेरु प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके', अर्थात् ज्योतिष्कदेव मेरु की प्रदक्षिणा करके नित्य भ्रमण करते हैं। एवं 'तत्कृतः काल विभागः' अर्थात् इनकी गति के अनुसार दिन-रात्रि आदि काल विभाग होता है।

इगिवीसेयारसयं विहाय मेरु चरन्ति जोड़गणा।

चन्दतियं वज्जित्ता सेसा हु चरन्ति एक्कपहे॥

(त्रिलोकसार)(345)

ज्योतिष्क देवों के समूह मेरु पर्वत को 1121 यो. (4484000 मील) छोड़कर प्रदक्षिणा रूप से गमन करते हैं। चन्द्र, सूर्य एवं ग्रह को छोड़कर शेष सभी ज्योतिष्क देव एक ही पथ में गमन करते हैं। इन तीनों के अनेक गति-पथ हैं।

ज्योतिष्क देवों के गमन का कारण-मनुष्य लोक संबन्धी ज्योतिष्क देव नित्य क्यों परिभ्रमण करते हैं? उनके परिभ्रमण का क्या कारण है? उन विमानों को वहन करके कौन ले जाता है? इत्यादि अनेकों प्रश्नों का उत्तर जैनाचार्यों ने निम्नोक्त प्रकार दिया है:-



सिंहंगयवसहजडिलस्सायारसुरा वहंति पुव्वादिं।  
इदुरवीणं सोलससहस्समद्धद्धमिदरतिये ॥

(त्रिलोकसार) (343)

सिंह, हाथी, बैल और जटायुक्त घोड़े के रूप को धारण करने वाले 16-16 हजार आभियोग्य देव चन्द्र और सूर्य के हैं। पूर्व दिशा के वाहन 4 हजार सिंह का रूप धारण करने वाले, दक्षिण दिशा के हाथी का रूप धारण करने वाले 4 हजार, पश्चिम दिशा के वाहन बैल का रूप धारण करने वाले 4 हजार एवं उत्तर दिशा के वाहन घोड़े का रूप धारण करने वाले आभियोग्य देव अपने-अपने विमान को ले जाते हैं। शेष ग्रह-नक्षत्र ताराओं के आधे-आधे परिमाण में विमानवाहन देव हैं, अर्थात् शुक्र, गुरु, बुध, शनि, मंगल ग्रहों के 8-8 हजार देव हैं। उनमें से 2000 सिंह, 2000 हाथी, 2000 बैल एवं 2000 घोड़े के रूप धारण करने वाले देव हैं। नक्षत्रों के 4000 हैं, उनमें से 1000 सिंह 1000 हाथी, 1000 बैल और 1000 घोड़े के रूप धारण करने वाले देव हैं। तारों के 2000 वाहन देव है उनमें से 500 सिंह, 500 हाथी, 500 बैल और 500 घोड़े के रूप धारण करने वाले हैं। भ्रमणशील ज्योतिष्क विमान की स्वाभाविक गति भी होती है। इस गति क्रिया से प्रेरित होकर भ्रमणशील ज्योतिष्क विमान आकाश में भ्रमण करते रहते हैं।

नक्षत्रों में उत्तर दिशा में अभिजित नक्षत्र का दक्षिण में मूला नक्षत्र का ऊर्ध्व में स्वाति का अधो में धरणी का तथा मध्य में कृतिका नक्षत्र का गमन होता है। क्षेत्रान्तर में प्राप्त होने वाले इन पांचों नक्षत्रों की ऐसी ही स्थिति है।

ऐसी कोई दलील कर सकता है कि ज्योतिष्क देव गमन नहीं करते हैं, क्योंकि गमन करने का कोई कारण नहीं है। इसका उत्तर 'राजवार्तिक' ग्रंथ में श्रीमद् भट्टाकलंक देव ने दिया है- 'गतिरताभियोग्य देववहनात् । गतिरताहि आभियोग्य देवा वहन्तीत्युक्तं पुरस्तात् अर्थात् गतिरत आभियोग्य जाति के वाहन देवों के द्वारा ज्योतिष्क देवों का गमन होता है। क्योंकि आभियोग्य देव गतिरत रहते हैं। एवं गतिरत होने के कारण वे ज्योतिष्क देवों के वाहन-वहन करके ले जाते हैं, जिसका पहले ही वर्णन किया गया है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि आभियोग्य जाति के देव इसी प्रकार कार्य सतत् क्यों करते हैं? इसका उत्तर आचार्य ने इस प्रकार दिया है- “कर्मफलविचित्रभावाच्च कर्माणां हि फल वैचित्र्येण पच्यते ततस्तेषां गति परिणतिमुखेनैव कर्मफलमवबोद्धव्यम्”। अर्थात् कर्मों के फल की विचित्रता से अभियोग्य देव विमानों को वहन करके नित्य गमन करते हैं। आभियोग्य देवों के पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय ऐसा ही है, जिससे इन्हें विमानों को वहन करके ही अपने कर्मों को भोगना पड़ता है। सूर्य, चन्द्र आदि विमान अनादिकाल से आकाश में स्वयं अवस्थित हैं। विमान को आकाश में किसी ने धारण नहीं किया है। या किसी केन्द्राकर्षण (gravitation) गुरुत्वाकर्षण शक्ति के द्वारा परस्पर आकर्षण के द्वारा आकाश में स्थित नहीं है। केन्द्राकर्षण शक्ति के द्वारा भी ज्योतिषगण आकाश में भ्रमण एवं परिभ्रमण नहीं करते हैं। यदि केन्द्राकर्षण शक्ति के द्वारा परस्पर आकर्षित होते, तब समस्त आकाशीय पिण्ड (ज्योतिष्क) आकर्षित होकर क्यों एक स्थान में सम्मिलित नहीं हो जाते? जैसे- वृहत् चुम्बक अपने चुम्बकीय क्षेत्र में रहने वाले छोटे-छोटे लोह खण्डों को आकर्षित करके स्वयं के पास खींच लेता है इसी प्रकार, वृहत् आकाशीय पिण्ड भी अपनी केन्द्राकर्षण शक्ति के माध्यम से अन्य आकाशीय पिण्डों को अपने पास खींच लेता और समस्त आकाशीय पिण्ड एक ही विशालकाय आकाशीय पिण्ड बन जाता। यदि वृहत् आकाशीय पिण्ड क्षुद्र आकाशीय पिण्ड को अपनी केन्द्राकर्षण शक्ति के द्वारा आकर्षित करके अपने चतुःपार्श्व में परिभ्रमण कराता, तब क्षुद्र आकाशीय पिण्ड का गति पथ गोलाकृति होना चाहिए था, क्योंकि केन्द्राकर्षण शक्ति समस्त दिशा में समान है, किन्तु विज्ञान की अपेक्षा समस्त आकाशीय पिण्ड का गति पथ दीर्घवृत्ताकार है। पुच्छलतारा का गति पथ अत्यन्त दीर्घवृत्ताकार है। वृहत् आकाशीय पिण्ड छोटे आकाशीय पिण्ड को आकर्षित करता है, किन्तु छोटे आकाशीय पिण्ड दूर अपसरण होने के कारण वृहत् आकाशीय पिण्ड के पास नहीं आते हैं। अन्य आकाशीय पिण्ड के आकर्षणों के कारण उस पिण्ड को एक स्थान में स्थिर होकर रहना चाहिये था। किंतु वह परिभ्रमण क्यों एवं कैसा करता है? पृथ्वी आकार में गेंद के समान गोल है एवं यह घूमती है। इस भ्रमपूर्ण मान्यता का खण्डन आचार्य विद्यान्दी जी ने ‘तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक’ में आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति के

अनेक शताब्दी पहले किया है-

मेरू प्रदक्षिणा नित्यगतयः स्विति निवेदनात्।  
नैव प्रदक्षिणा तेषां कदाचित्कीष्यते न च॥

गत्यभावोति चानिष्टं यथा भूभ्रम वादिनः।  
भ्रमोभ्रमण निर्णीति विरहस्योपपत्तिः॥

सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवों का गमन कभी-कभी होता है, ऐसा नहीं है अर्थात् सदैव होता रहता है। पृथ्वी को घूमती हुई और ज्योतिष्क देवों के भ्रमण को नहीं मानने वाले मतान्तरों का कहना अनिष्ट है। वह सिद्ध नहीं होता है।

नहि प्रत्यक्षतो भूमे भ्रमणनिर्णीतरस्ति स्थिरतयै वानुभवनात्।  
न चायं भ्रान्तः सकलदेशकाल पूरूषाणां तद्भ्रमणाप्रतीतेः॥

(श्लोकवार्तिक)

पृथ्वी घूमती है, ऐसा निर्णय प्रत्यक्ष से होता नहीं है, किन्तु पृथ्वी स्थिर है, ऐसी ही प्रतीति सभी लोगों को होती है। कोई ऐसा हेतु भी नहीं है, जिससे पृथ्वी का घूमना सिद्ध हो सके। उक्त जैनाचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि पृथ्वी को गोल मानेंगे तो पूर्वापर (पूर्व-पश्चिम) समुद्र में जाने वाली नदियों की क्या दशा होगी। वे नदियाँ किस दिशा से किस दिशा में गमन करेंगी? ऐसा निर्णय पृथ्वी को गोल मानने पर कैसे हो सकेगा?

यदि पृथ्वी के भ्रमण से दिन-रात एवं ऋतु परिवर्तन होता है एवं भ्रमणशील पृथ्वी के जीवों को भ्रान्ति से अन्य आकाशीय पिण्ड भ्रमणशील दिखाई देते हैं, तो भी सम दिवा-रात्रि एवं ऋतु परिवर्तन में बाधा आती है। यदि पृथ्वी स्वयं के अक्ष में भ्रमण करने के लिए 23 घंटा 56 मिनट 4 सेकण्ड लेती है, तब उसका भ्रमण एक मिनट में 28 कि. मी. होता है। इतनी बड़ी पृथ्वी का इतनी तीव्र गति से परिभ्रमण करने पर भी, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन क्यों दिखाई नहीं देता है? इतनी अधिक गति के कारण पृथ्वी में अत्यंत हलन-चलन होना चाहिये था। यदि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर भ्रमण करती है तब वायु को उसके विपरीत दिशा में अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर सटः

बहना चाहिये । पृथ्वी के भ्रमण एवं परिभ्रमण से जो परिस्पन्दन होता है, उससे बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं को खण्ड-खण्ड होकर गिर जाना चाहिये। यदि पृथ्वी गोलाकृति परिभ्रमणशील है तब पृथ्वी के नीचे भाग में स्थित समुद्र का पानी उछलकर नीचे गिरना चाहिये, किन्तु उपरोक्त घटनाएँ नहीं होती हैं। इसका कारण वैज्ञानिक, पृथ्वी का विशाल कायत्व एवं केन्द्राकर्षण शक्ति के कारण से नहीं होता है, ऐसा मानते हैं। इसी प्रकार विज्ञान जो मानता है उसको बिना परीक्षा से सब कोई मान लेते हैं, किन्तु जो प्रत्यक्ष, सिद्ध एवं अविरोध सिद्धान्त है उसकी अवहेलना करते हैं। यहाँ एक प्रश्न है कि यदि पृथ्वी गोलाकृति नहीं है एवं परिभ्रमण नहीं करती है तब प्रकृति में जो परिवर्तन होते हैं उनमें क्या किसी भी प्रकार की त्रुटि होती है? क्या इसमें कोई बाधक कारण है? विज्ञान के सिद्धान्त में तो अनेक बाधक कारण होने पर भी उसका अन्धानुकरण करते हैं किन्तु वास्तविक सिद्धान्त को परम्परागत अन्धानुकरण मानकर छोड़ते हैं। भू-भ्रमण के कारण अन्य नक्षत्रादि भ्रमणशील भ्रम से मालूम पड़ता है, ऐसा जो विज्ञान मानता है, वह जगत् माया स्वरूप है, इस सिद्धान्त के समान है। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क विमान गमन करते हैं क्योंकि उनकी एक स्थान से दूसरे स्थान में उपलब्धि होती है।

(विश्व विज्ञान रहस्य) (पृ.सं.166)

## काल का व्यवहार होने का कारण

तत्कृतः कालविभागः । (14)

Divisions of time (are) caused by these (movements of the stars.)

उन गमन करने वाले ज्योतिषियों के द्वारा किया हुआ कालविभाग है।

काल दो प्रकार का है (1) मुख्य काल (द्रव्य काल) (2) व्यवहार काल। काल द्रव्य को मुख्य काल कहते हैं। समय, सैकण्ड, घड़ी, घण्टा, दिन, रात, वर्ष, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि को व्यवहार काल कहते हैं। यह व्यवहार काल सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषविमान की गति से तथा पुद्गल परिणामन से जाना जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि की गति मनुष्य लोक में अर्थात् अढाई द्वीप में होती है अर्थात् व्यवहार काल व्यक्त रूप एवं स्थूल रूप से यहाँ ही पाया जाता है। अन्य क्षेत्र में जो व्यवहार काल का प्रयोग किया

जाता है वह व्यवहार काल यहाँ की अपेक्षा से है। गोम्मटसार में कहा भी है:-

ववहारो पुण कालो, माणुसखेत्तमिह जाणीदव्वो दु।  
जोइसियाणं चारे, ववहारो खलु समाणो त्ति॥  
(577) (गो:सा. जीवकाण्ड)

परन्तु यह व्यवहार काल मनुष्यक्षेत्र में ही समझना चाहिये, क्योंकि मनुष्य क्षेत्र के ही ज्योतिषी देवों के विमान गमन करते हैं और इनके गमन का काल तथा व्यवहार काल दोनों के समान हैं।

ज्योतिर्गतिपतिच्छिन्नो मनुष्यक्षेत्रवर्त्यसौ।  
यतो न ही बहिस्तस्माज्ज्योतिषां गतिरिष्यते॥(49)

(त.सा;)

ज्योतिष्क देवोंकी गति से विभक्त होनेवाला यह व्यवहार काल मनुष्यक्षेत्र में ही होता है क्योंकि उससे बाहर ज्योतिष्क देवों में गति नहीं मानी जाती है।

**मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषीदेवों की स्थिति**  
बहिरवस्थिता :। (15)

(The stellars) outside the 2.5 dvipas i.e. beyond Manusottara mountain in the middle of Puskaravara dvipa are) fixed . (The never move .)

मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

मनुष्य लोक संबन्धी ढाईद्वीप के ज्योतिष्क देव परिभ्रमण करते हैं। मानुषोत्तर पर्वत से 50 हजार योजन आगे चलकर सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क वलय के रूप में स्थित हैं अर्थात् मानुषोत्तर से 50 हजार योजन चलकर ज्योतिष्कों का पहला वलय है। इस वलय में 144 चन्द्र एवं 144 सूर्य हैं। इस वलय के बाद एक-एक लाख योजन जाकर द्वितियादि वलय हैं। द्वितियादि वलय में प्रथमादि वलय से 4-4 चन्द्र, सूर्य की संख्या ज्यादा है। पूर्व द्वीप समुद्र के आदि में चन्द्र, सूर्य की संख्या दूनी है। इसी प्रकार सूर्य-चन्द्र का अवस्थान अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र तक है। एक दूसरे की किरणें निरन्तर परस्पर मिली हुई है। इसी प्रकार मानुषोत्तर पर्वत से लेकर स्वयंभूरमणपर्यन्त असंख्यात ज्योतिषी

विमान अवस्थित हैं जो कभी भी परिभ्रमण नहीं करते हैं। आचार्य उमास्वामी ने “बहिरवस्थिता” सूत्र में इसका प्रतिपादन किया है।

प्रातःकाल सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है एवं सायंकाल में पश्चिम दिशा में अस्त होता है। रात्रि में भी अनेक ज्योतिष्क ध्रुव नक्षत्रों को छोड़कर जो सायंकाल में जिस स्थान में दिखाई देते हैं, मध्यरात्रि में एवं प्रातःकाल में उनका स्थान पश्चिम दिशा की ओर होता है। इसी प्रकार पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर स्थान परिवर्तन का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि ‘मेरु प्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके’ अर्थात् ज्योतिष्क देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हुये नित्य भ्रमण करते हैं। एवं ‘तत्कृतःकाल विभागः’ अर्थात् इनकी गति के अनुसार दिन-रात्रि आदि काल विभाग होता है। (विश्व विज्ञान रहस्य) (पृ.सं.166-167)

## वैमानिक देवों का वर्णन

### वैमानिकाः (16)

Now we go on to the heavenly beings.

चौथे निकाय के देव वैमानिक हैं।

जो विशेषतः अपने में रहनेवाले जीवों को पुण्यात्मा मानते हैं वे “विमान” है और जो उन विमानों में होते हैं वे “वैमानिक” हैं। इन्द्रक, श्रेणिबद्ध है और पुष्पप्रकीर्णक के भेद से विमान अनेक प्रकार के हैं। उनमें से इन्द्रक विमान इन्द्र के समान मध्य में स्थित है। उनके चारों ओर आकाश के प्रदेशों में पंक्ति के समान जो स्थित है वे श्रेणिविमान हैं। तथा बिखरे हुए फूलों के समान विदिशाओं में जो विमान अवस्थित हैं वे पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं।

### वैमानिक देवों के भेद

#### कल्पोपन्नाः कल्पातीताश्च। (17)

These are of 2 kinds :

Kalpopanna born in the 16 heavens and with 10 grades.

These alone have to 10 classes .

Kalpaaita, born beyond the 16 heavens . They have no grades or classes.

They are called Anamindra अहमिन्द्र lit. I am Indra and are all alike.

वे दो प्रकार के हैं कल्पोपपन्न और कल्पातीत।

इन्द्र आदि दस प्रकार की कल्पनाएँ जिसमें पायी जाये वे कल्पोपपन्न। जहाँ पर इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि दस प्रकार की कल्पना है – वह कल्पोपपन्न है। यद्यपि नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, पञ्चानुत्तर आदि में नव आदि संख्याकृत कल्पना है – परन्तु वहाँ पर सभी अहमिन्द्र होने से इन्द्र आदि कल्पना उनमें नहीं है – इसलिए वे कल्पातीत कहलाते हैं। क्योंकि कल्पातीत व्यवहार में इन्द्र आदि दस प्रकार की कल्पना ही मुख्य रूप से विवक्षित है।

### कल्पों का स्थितिक्रम

उपर्युपरि। (18)

The 16 heavens are situated i.e. pairs, one (pair) above the other (the graiveyakas, are also one above the other beyond the 16 heavens.

वे ऊपर-ऊपर रहते हैं।

ये कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिक देव ज्योतिष देवों के समान तिरछे रूप से या व्यन्तरो के समान विषम रूप से नहीं रहते हैं। वे ऊपर-ऊपर रहते हैं जैसे बहु मंजिल इमारत की मंजिल एक के ऊपर एक रहती है।

### वैमानिक देवों के रहने का स्थान

सौधर्मेशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतार  
सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु  
विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च। (19)

(They कल्पवासी live ) in : .

1. सौधर्म 2. ईशान 3. सानतकुमार 4. माहेन्द्र 5. ब्रह्म 6. ब्रह्मोत्तर 7. लान्तव  
8. कापिष्ठ 9. शुक्र 10. महाशुक्र 11. सतार 12. सहस्रार 13. आनत 14.  
प्राणत 15. आरण 16. अच्युत।

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत नौ ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि में वे निवास करते हैं।

सौधर्म आदि कल्प के नामकरण साहचर्य से या स्वभाव से इन्द्र के नाम से भी हुआ है। जैसे सुधर्मासभा जिस कल्प में है उस कल्प का नाम सौधर्म कल्प है। सौधर्म कल्प के साहचर्य से इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए। जो कुछ विशेषता है उसे आगे लिख रहे हैं:-

लोकाकाश को पुरुषाकार माना है। उस लोकपुरुष की ग्रीवा के स्थानीय होने से ग्रीवा और ग्रीवा में होने वाले ग्रैवेयक विमान हैं और उनका साहचर्य होने से वहाँ वे इन्द्र भी ग्रैवेयक कहलाते हैं। ये नवग्रैवेयक एक के ऊपर एक हैं, व्यवस्थित हैं। सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमन, सौमनस और प्रियंकर ये इनके नाम हैं। अभ्युदय के विघ्नों के कारणों को जीत लेने से विजयादि की भी सार्थक संज्ञा है। सर्व अर्थों की सिद्धि हो जाने से सर्वार्थसिद्धि यह भी सार्थक नाम है। अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित वाले दो तीन भव से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करेंगे, ये सभी सम्यग्दृष्टि हैं अतः संसार पर विजय प्राप्त कर लेने से वा कर्मों के द्वारा जीते नहीं जाने से इनका यह नाम सार्थक है। सर्व अर्थों की सिद्धि हो गई, इसमें रहने वाले देव एक भव-अवतारी है, इसलिये इसका नाम सर्वार्थसिद्धि है। इनके साहचर्य से इनके इन्द्रों का नाम भी विजयादि है।

प्रश्न - सर्वार्थसिद्धि को पृथक् ग्रहण क्यों किया? इन सब के साथ द्वन्द्व समास क्यों नहीं किया गया?

उत्तर - स्थिति आदि विशेष का ज्ञान कराने के लिए सर्वार्थसिद्धि का पृथक् ग्रहण किया है। विजयादि चार विमानों में जघन्य स्थिति बत्तीस सागर से कुछ अधिक है और उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति (आयु) तैंतीस सागरोपम है। अतः इस विशेषता को बताने के लिए विजयादि से पृथक् सर्वार्थसिद्धि का ग्रहण किया गया है।

कल्पातीत्व का ज्ञान कराने के लिए ग्रैवेयकादि का पृथक् ग्रहण किया है। सौधर्मादि अच्युत पर्यन्त बारह कल्प हैं, उनसे अन्य स्वर्ग कल्पातीत है।



इस प्रकार इसका ज्ञान कराने के लिए ग्रैवेयक का पृथक् ग्रहण किया गया है।

“उपरि-उपरि” के साथ दो-2 स्वर्ग का सम्बन्ध है। प्रथम सौधर्म और ऐशान स्वर्ग हैं, उन दोनों के ऊपर सानतकुमार और माहेन्द्र हैं, उन दोनों के ऊपर ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर हैं, उन दोनों के ऊपर लान्तव और कापिष्ठ हैं, उन दोनों के ऊपर शुक्र, महाशुक्र, उन दोनों के ऊपर शतार, सहस्रार, उन दोनों के ऊपर आनत, प्राणत और इन दोनों के ऊपर आरण और अच्युत है।

मन्दर (सुदर्शन) मेरू की चूलिका पर ऋजु विमान है। मेरू पर्वत की चूलिका (शिखर) और ऋजुविमान में एक बालाग्र मात्र का अन्तर है।

### वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्या विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः।(20)

Age, power, enjoyment, brilliance, purity of lesya (paint and thought colour) sense-faculties, visual knowledge (all) these go on increasing (as we go from the lower to the highest heavens.

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषय की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव अधिक हैं।

स्थिति:— अपने द्वारा प्राप्त हुई आयु के उदय से उस भव में शरीर के साथ रहना स्थिति कहलाती है।

प्रभाव:— शाप और अनुग्रहरूप शक्ति को प्रभाव कहते हैं।

सुख:— इन्द्रियों के विषयों के अनुभव करने को सुख कहते हैं।

द्युति:— शरीर, वस्त्र, और आभूषण आदि की कान्ति को द्युति कहते हैं।

लेश्या:— कषाय से सहित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। लेश्या की विशुद्धि लेश्याविशुद्धि कहलाती है।

इन्द्रियविषय और अवधिविषय:— इन्द्रिय और अवधिज्ञान का विषय इन्द्रियविषय और अवधिविषय कहलाता है।

इनसे या इनकी अपेक्षा वे सब देव उत्तरोत्तर अधिक-अधिक हैं। तात्पर्य

है कि ऊपर-ऊपर प्रत्येक कल्प में और प्रत्येक प्रस्तार में वैमानिक देव स्थिति आदि की अपेक्षा अधिक-अधिक हैं।

## वैमानिक देवों में उत्तरोत्तरहीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः। (21)

Moving from place to place, height of body attachment to world by objects, pride these (go on) decreasing (as we go up to the higher heavens.)

गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन हैं।

नीचे-नीचे के देव से ऊपर-ऊपर के देवों के पुण्य अधिक होने से नीचे के देवों से ऊपर के देव कुछ विशेषता को लिये होते हैं। 20 नम्बर सूत्र में कुछ विशेषता का वर्णन किया गया है कुछ विशेषता का वर्णन यहाँ किया गया है। ये विशेषताएँ इस प्रकार है—

एक देश से दूसरे देश के प्राप्त करने का जो साधन है उसे गति कहते हैं। यहाँ शरीर से वैक्रियिक शरीर लिया है यह पहले कह आये हैं। लोभ कषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं। मान कषाय के उदय से उत्पन्न हुए अहंकार को अभिमान कहते हैं। इन गति आदि की अपेक्षा वैमानिक देव ऊपर-ऊपर हीन हैं। भिन्न देश में स्थित विषयों में क्रीड़ा विषयक रति का प्रकर्ष नहीं पाया जाता इसलिए ऊपर-ऊपर गमन कम है। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों का शरीर सात अरत्नि प्रमाण है। सानत्कुमार और साहेन्द्र स्वर्ग के देवों का शरीर छह अरत्नि प्रमाण है। ब्रह्म, बहोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ कल्प के देवों का शरीर पाँच अरत्निप्रमाण है। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्प के देवों का शरीर चार अरत्निप्रमाण है। आनत और प्राणत कल्प के देवों का शरीर साढ़े तीन अरत्निप्रमाण है। आरण और अच्युत कल्प के देवों का शरीर तीन अरत्निप्रमाण है। अधोग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का शरीर ढाई अरत्निप्रमाण है। मध्यग्रैवेयक में अहमिन्द्रों का शरीर दो अरत्नि प्रमाण है। उपरिम ग्रैवेयक में और अनुदिशों में अहमिन्द्रों का शरीर डेढ़ अरत्निप्रमाण

है। तथा पाँच अनुत्तर विमानों में अहमिन्द्रों का शरीर एक अरत्निप्रमाण है। विमानों की लम्बाई-चौड़ाई आदि रूप परिग्रह ऊपर-ऊपर कम है। अल्प कषाय होने से अभिमान भी ऊपर-ऊपर कम है।

## वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु । (22)

(There are) पीत, पद्म, शुक्ल Lesya in 2,3 (pairs and) the remaining (heavens).

दो तीन कल्प युगलों में और शेष में क्रम से पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले देव हैं।

दो स्वर्ग तक पीत लेश्या, उसके आगे तीन कल्प तक पद्म लेश्या, और शेष स्वर्ग में शुक्ल लेश्या होती है। यथा—

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों में पीत लेश्या होती है। यह मध्यम है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों में पीत और पद्म लेश्या होती है। अर्थात् उत्कृष्ट पीत लेश्या है और जघन्य पद्म लेश्या है।

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गों के देवों के पद्म लेश्या है। (यह मध्यम पद्म लेश्या है)।

शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन चार स्वर्गों के देवों में पद्म और शुक्ल लेश्या है। (प्रकृष्ट पद्म और जघन्य शुक्ललेश्या है)

आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नवग्रैवेयक और नव अनुदिशों के देवों में शुक्ललेश्या होती है। और अनुत्तर विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि में परम शुक्ललेश्या होती है।

## कल्प संज्ञा कहाँ तक है ?

प्राग्वैवेयकेभ्यः कल्पाः । (23)

(The heavens) before (we reach). The graiveyakas (are called) Kalpas.

ग्रैवेयकों से पहले तक कल्प है।

सौधर्म स्वर्ग से लेकर ग्रैवेयक के पहले-पहले तक इन्द्र, सामानिक आदि के भेद होने-के कारण उसे कल्प कहते हैं परन्तु ग्रैवेयक से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक इन्द्रादि के भेद नहीं होने के कारण कल्पातीत है।

## लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः। (24)

(Having) Brahma-loka (as) abode (are) Laukantikas. The Laukantikas heavenly beings live in the highest parts of the 5th heaven, called Brahmhaloka.

लौकान्तिक देवों का ब्रह्मलोक निवास स्थान हैं।

आकर के उसमें जो लीन होते हैं- वह आलय कहलाता है। जिसमें प्राणी आकर लीन होते हैं, उसे आलय एवं निवास कहते हैं। ब्रह्मलोक जिनका आलय है वे ब्रह्मलोकालया कहलाते हैं।

‘ब्रह्मलोक’ सामान्य पद होने पर भी पाँचवें स्वर्ग के निवासी सभी लौकान्तिक नहीं होते क्योंकि ब्रह्मलोक का अन्त लोकान्त और उसमें रहने वाले लौकान्तिक होते हैं। इस लौकान्तिक का फलितार्थ ब्रह्मलोक के अन्त में रहने वाले लौकान्तिक हैं। अथवा जन्म जरा मरण से व्याप्त लोक (संसार) है, उस लोक का अन्त करना जिनका प्रयोजन है वे लोकान्तिक हैं।

वे लौकान्तिक निकट संसारी है। वहाँ से च्युत होकर गर्भवास (मानव भव) प्राप्त कर नियम से मोक्ष चले जाते हैं।

## लौकान्तिक देवों के नाम

सारस्वतादित्यवह्नयरुणगर्दतोयतुषिताव्यावाधारिष्ठाश्च। (25)

(These Laukantikas are of the following & classes:)

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं।

ये लोकान्तिक देव पंचम ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में निवास करते हैं। इन देवों के पुण्य समान होने से इनमें हीनाधिकता नहीं पाई जाती हैं इसलिए ये स्वतंत्र रूप में रहते हैं।

विषय रति से रहित होने के कारण देवकृषि हैं। दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं। चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं और वैराग्य कल्याणक के समय तीर्थंकर को संबोधन करने में तत्पर हैं।

### अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार का नियम विजयादिषु द्विचरमा । (26)

In the 4 अनुत्तर heavens i.e. Vijaya, etc. i.e. Vijayanta, Jayanta, Aparajita and the 9 अनुदिश those heavenly are born who shall attain liberation at the most after having incarnated as a human beings twice.

विजयादिक में दो चरमवाले देव होते हैं।

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिशों के देव दो चरमवाले होते हैं। देह का चरमपना मनुष्य भव की अपेक्षा लिया है। जिसके दो चरम भव होते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं। जो विजयादिक से व्युत् होकर और सम्यक्त्व को न छोड़कर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं और सयंम की आराधना कर पुनः मनुष्य भव को प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यहाँ मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमपना है।

### तिर्यञ्च कौन है ?

#### औपयादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः । (27)

Other than those born by instantaneous rise (i.e. hellish and celestial beings and human beings, and sub human beings i.e. Triyancha.

उपपाद जन्म वाले और मनुष्यों के सिवा शेष सब जीव तिर्यचयोनि वाले हैं।

सम्पूर्ण संसारी जीवों को चार भागों में विभक्त किया गया है। यथा (1) देव, (2) नारकी, (3) मनुष्य, (4) तिर्यच।

देव एवं नारकी उपपाद जन्म वाले होते हैं। उपपाद जन्म वालों के साथ मनुष्य मिलाने पर तीन गति के जीव हो जाते हैं। इन तीनों गति के अतिरिक्त जो बच जाते हैं वे तिर्यच गति के जीव होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर गाय, भैंस आदि पंचेन्द्रिय जीव तक तिर्यच ही है। दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यच तक के जो त्रस जीव हैं वे केवल त्रस नाली में रहते हैं परन्तु सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोक में रहते हैं। इसलिए तिर्यच का निवास सम्पूर्ण लोक है। तिर्यच की परिभाषा गोम्मट्टसार में निम्न प्रकार की गई है—

तिरियंति कुडिल भावं, सुचिउलसण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा ।

अच्चंतपावबहुला, तम्हा तेरिच्छया भणिग्या ॥(148)

जिनमें कुटिलता की प्रधानता हो, क्योंकि प्रायः करके सब ही तिर्यच जो उनके मन में होता है उसको वचन के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि उनके उस प्रकार की वचन शक्ति ही नहीं है और जो वचन से कहते हैं उसको काय से नहीं करते। तथा जिनकी आहारादि संज्ञा प्रकट हो, और श्रुत का अभ्यास तथा शुभोपयोगादि के न कर सकने से जिनमें अत्यन्त अज्ञानता पाई जाय तथा मनुष्य की तरह महाव्रतादिक को धारण न कर सकने और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि आदि के न हो सकने से जिनमें अत्यन्त पाप का बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यच कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि निरूक्ति के अनुसार तिर्यग् गति का अर्थ माया की प्रधानता को बताया है। यथा- “तिरः— तिर्यभावं- कुटिलपरिणामं अच्चन्ति इति तिर्यच” :। मायाप्रधान परिणामों से संचित कर्म के उदय से यह गति- (पर्याय) प्राप्त होती है। यहाँ पर जो पर्यायाश्रित भाव हुआ करते हैं वे भी मुख्यतया कुटिलता को ही सूचित करते हैं। उनकी भाषा अव्यक्त होने से वे अपने मनोभावों को व्यक्त करने में असमर्थ रहा करते हैं। प्रायः मैथुनसंज्ञा आदि मनुष्यों की तरह उनकी गूढ़ नहीं हुआ करती। मनुष्यों के समान इनमें विवेक-हेयोपादेय का भेदज्ञान, श्रुताभ्यास, शुभोपयोग आदि भी नहीं पाया जाता। प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या आदि की अपेक्षा से भी वे मनुष्यों से निकृष्ट हैं। महाव्रतादि गुणों को वे धारण नहीं कर सकते। इस गति में जिनका प्रमाण सबसे अधिक है उन एकेन्द्रिय जीवों में तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यंत त्रस जीवों

में भी जिससे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है ऐसी विशुद्धि नहीं पाई जाती। अतएव यह पर्याय अत्यन्त पाप बहुल है। सारांश यह है कि, जिसके होने पर ये भाव हुआ करते या पाये जाते हैं जीव की उस द्रव्य पर्याय को ही तिर्यग्गति कहते हैं। मनुष्यों की अपेक्षा यह निकृष्ट पर्याय है, ऐसा समझना चाहिए।

### भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन

स्थितिसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः(28)

The (maximum) age of:

असुर Asura, measures	1 Sagara सागर
नागा Naga, measures	3 palya पल्य
सुपर्ण Suparna measures 1/2 less (i.e. 2 1/2)	2 1/2 palya पल्य
द्वीप Dvipa, measures	2 palya पल्य

And of the other (6 classes 1 1/2) 1 1/2 पल्य

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक सागर, तीन पल्य, ढाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य प्रमाण हैं।

यहाँ 'सागरोपम आदि शब्द के साथ असुर कुमार आदि शब्दों का क्रम से सम्बन्ध जान लेना चाहिए। यह उत्कृष्ट स्थिति है। वह उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है— असुरों की स्थिति एक सागर है। नागकुमारों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है। सुपर्णों की उत्कृष्ट स्थिति ढाई पल्य है। द्वीपों की उत्कृष्ट स्थिति दो पल्य है। और शेष छह कुमारों की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्य है।

### वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु

सौधर्मेशानयोः सागरोपमेऽधिके। (29)

In the Sāudharma and Isana (i.e. 1st and 2nd heavens, the maximum age is) a little over 2 Sagaras.

सौधर्म और ऐशान कल्प में दो सागर से कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है—

“सागरपमे” यह द्वि वचन है अर्थात् दो सागर ग्रहण करना चाहिए। अधिक का अधिकार 12 वें स्वर्ग सहस्रार तक अर्थात् 12 वें स्वर्ग तक उस-उस स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु से कुछ आयु अधिक होती है। साधारणतः सौधर्म ऐशान स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु 2 सागर की है। परन्तु घातायुष्क सम्यक्दृष्टि के 2 सागर से कुछ अधिक अर्थात् आधा सागर आयु अधिक होती है। जब कोई मनुष्य या तिर्यच सम्यग्दर्शन सहित शुभ परिणाम से दानादि पुण्य क्रियायें करके ऊपर के स्वर्ग की आयु को बांधता है पीछे संक्लेश परिणाम से युक्त हो जाता है तब ऊपर के स्वर्ग की आयु घट जाती है तथा निचले वर्ग में जन्म लेता है। ऐसे जीव की आयु उस स्वर्ग की सामान उत्कृष्ट आयु से कुछ अधिक होती है। जैसे कोई जीव सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग की उत्कृष्ट सात सागर की आयु बांधा पुनः संक्लेश परिणाम से मरकर सौधर्म या ऐशान स्वर्ग में जन्म लिया तब उसकी आयु उस स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु 2 सागर से अर्न्तमुहूर्त कम आधा सागर अधिक होगी।

### क्रमशः आगे के स्वर्गों में आयु

सानत्कुमार माहेन्द्रयोः सप्त । (30)

In the Sanatkumar mahendra (i.e. 3rd and 4th heavens, the maximum age is little over) 7 Sagaras.

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में सात सागर से कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

अधिकार से सागर और अधिक का ज्ञान हो जाता है। सागर और अधिक पद का अनुवर्तन पूर्व सूत्र से हो जाता है। इससे यह अर्थ होता है कि सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागर से कुछ अधिक है।

### ब्रह्मलोक से अच्युत पर्यंत स्थिति

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु । (31)

And 3,7,9,11,13 and 15 added to 17 Sagaras make up the maximum age of others.

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, युगल से लेकर प्रत्येक युगल में आरण अच्युत तक क्रम



से अधिक तीन से अधिक सात सागरोपम, साधिक सात से अधिक सात सागरोपम, साधिक नौ से अधिक सात सागरोपम, साधिक ग्यारह से अधिक सात सागरोपम, तेरह से अधिक सात सागरोपम और पन्द्रह से अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति हैं।

‘तु’ शब्द का अर्थ है कि पूर्व सूत्र में कथित ‘अधिके’ शब्द का सम्बन्ध चार युगल (12वें स्वर्ग, सहस्रार) के साथ करना चाहिए। उसके आगे के स्वर्गों में आयु सागरों से कुछ अधिक नहीं है। यथा – ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देवों की आयु कुछ अधिक दस सागर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग में कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र-महाशुक्र स्वर्ग में कुछ अधिक सोलह सागर, शतार सहस्रार में कुछ अधिक अठारह सागर, आनत-प्राणत में बीस सागर और आरण-अच्युत स्वर्ग में बावीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति है।

### कल्पातीत देवों की आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च।

(32)

Above Arana and Achyuta in the 9 Graiveyakas (it is) more and more by one sagara (i.e. it is 23-31 sagaras respectively .) In the 9 Anudisas, (it is 32 sagaras and ) in Vijaya, etc. (in the 5 Anuttaras it is 33 sagaras. But) in (the last Anuttara i.e. ) Sarvarthasiddhi, (it is never less than 33 sagaras .)

आरण अच्युत के ऊपर नौ ग्रैवेयक में से प्रत्येक में नौ अनुदिश में चार विजयादिक में एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट स्थिति हैं। तथा सर्वार्थसिद्धि में पूरी तैंतीस सागर स्थिति हैं।

पूर्व सूत्र से ‘अधिक पद’ की अनुवृत्ति होती है, इसलिए यहाँ इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि एक-एक सागर अधिक है।

प्रत्येक ग्रैवेयक में एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट स्थिति है इस बात का ज्ञान कराने के लिए ‘नव’ पद का अलग से ग्रहण किया है। यदि ऐसा न करते तो सब ग्रैवेयक में एक सागर अधिक स्थिति ही प्राप्त होती। ‘विजयादिषु’

में आदि शब्द प्रकार वाची है जिससे अनुदिशों का ग्रहण हो जाता है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं है यह बतलाने के लिए 'सर्वार्थसिद्धि' पद का अलग से ग्रहण किया है। इससे यह अर्थ प्राप्त हुआ कि, अधोग्रैवेयक में से प्रथम में तेइस सागर, दूसरे में चौबीस सागर और तीसरे में पच्चीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। मध्यम ग्रैवेयक में से प्रथम में छब्बीस सागर, दूसरे में सत्ताईस सागर और तीसरे में अट्ठाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। उपरिम ग्रैवेयक में से पहले में उनतीस सागर, दूसरे में तीस सागर, तीसरे में इकतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। अनुदिश विमानों में बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है और सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर ही स्थिति है। यहाँ उत्कृष्ट और जघन्य का भेद नहीं है।

### स्वर्गों में जघन्य आयु का वर्णन

अपरा पल्चोपमधिकम्। (33)

(In the Saudharma and Isana the) minimum (age is) a little over one palya.

सौधर्म और ऐशान कल्प में जघन्य स्थिति साधिक एक पल्य है।

यहाँ पर 'अपरा' शब्द से जघन्य स्थिति ली गई है। सौधर्म और ऐशान कल्पों के देवों की जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है। अग्रिम सूत्र के अनुसार जाना जाता है जो पूर्व-पूर्व देवों की उत्कृष्ट स्थिति है वह अगले-अगले देवों की जघन्य स्थिति है इससे जाना जाता है कि सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की स्थिति साधिक एक पल्य है।

### उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु के नियम

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तराः।(34)

Further (and) further (on) the former (or maximum age becomes the minimum age for the next.

आगे-आगे पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर-अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

'अधिक' पद की यहाँ अनुवृत्ति होती है। इसलिए इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिए कि सौधर्म और ऐशान कल्प में जो साधिक दो सागर उत्कृष्ट स्थिति

कही है उसमें एक समय मिला देने पर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में जघन्य स्थिति होती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र में जो साधिक सात सागर उत्कृष्ट स्थिति कही हैं उसमें एक समय मिला देने पर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में जघन्य स्थिति होती है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए।

## नारकियों की जघन्य आयु का वर्णन

नारकाणां च द्वितीयादिषु।(35)

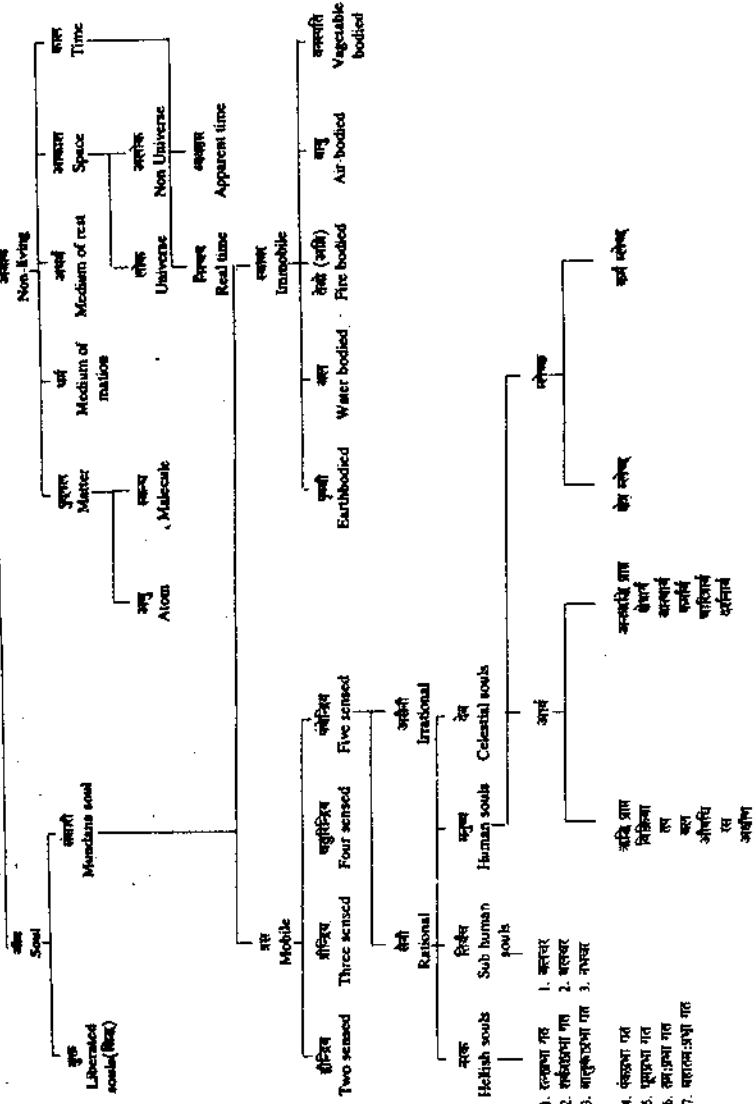
The same rule applies to the ages of hellish beings i.e. the maximum age of 1st is the minimum of the 2nd and so on.

दूसरी आदि भूमियों में नारकियों की पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर-अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग पूर्व सूत्र में कथित क्रम के सम्बन्ध के लिए है। इस 'च' शब्द से "परतः परतः पूर्वा-पूर्वानन्तराः" इत्यादि सूचित क्रम का सम्बन्ध हो जाता है। इसका यह अर्थ है कि, रत्नप्रभा नामक नारक में नारकियों की जो एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है वही शर्करा प्रभा में नारकियों की जघन्य स्थिति एक सागरोपम प्रमाण है। जो शर्कराप्रभा की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर से कुछ अधिक है, वही स्थिति बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरक में जघन्य है; बालुकाप्रभा की उत्कृष्ट स्थिति जो सात सागर है वही पंकप्रभा की जघन्य स्थिति सात सागर है। पंकप्रभा की जो 10 सागर की उत्कृष्ट स्थिति है वही धूमप्रभा की जघन्य स्थिति है। धूमप्रभा की जो 17 सागर है वही तमः-प्रभा की जघन्य स्थिति है। तमःप्रभा की जो 22 सागर उत्कृष्ट स्थिति है वही महातमप्रभा की जघन्य स्थिति है। प्राथमिक स्वाध्याय रत जनों के लिये सरल करने के लिये सातों पृथिवियों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु यहाँ दे रहे हैं।

- (1) रत्नप्रभा की उत्कृष्ट आयु 1 सागर, जघन्य 10 हजार वर्ष है।
- (2) शर्कराप्रभा की उत्कृष्ट आयु 3 सागर, जघन्य 1 सागर है।
- (3) बालुकाप्रभा की उत्कृष्ट आयु 7 सागर, जघन्य 3 सागर है।
- (4) पङ्कप्रभा की उत्कृष्ट आयु 10 सागर, जघन्य 7 सागर है।
- (5) धूमप्रभा की उत्कृष्ट आयु 17 सागर, जघन्य 10 सागर है।

વિવિધ સ્વભાવના  
Varities of substances





- (6) तम प्रभा की उत्कृष्ट आयु 22 सागर, जघन्य आयु 17 सागर है।  
 (7) महातमप्रभा की उत्कृष्ट आयु 33 सागर, जघन्य आयु 22 सागर है।

**प्रथम नरक की जघन्य आयु  
 दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् । (36)**

The minimum age of beings in the first hell is 10,000 years.  
 प्रथम भूमि में दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है।

**भवन वासियों की जघन्य आयु  
 भवनेषु च । (37)**

The minimum age of Residentials भवनवासी is also the same i.e. 10,000 years.

भवनवासियों में भी दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति हैं।

**व्यन्तरो की जघन्य आयु  
 व्यन्तराणां च । (38)**

The same for Peripatetics. i.e. minimum is 10,000 years.

व्यन्तरो की दस हजार वर्ष जघन्य स्थिति है।

**व्यन्तरो की उत्कृष्ट आयु  
 परा पल्योपममधिकम् । (39)**

The maximum age for Peripatetics is a little over one palya.

और उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्य है।

**ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु  
 ज्योतिष्काणाम् च । (40)**

ज्योतिष्क देवों की भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की है।

The stellars also have a maximum of a little over one palya.

**ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु  
 तदष्टभागोऽपरा । (41)**

The minimum (for the stellars) is 1/8 of that (i.e.-a palya.)  
ज्योतिषियों की जघन्य स्थिति उत्कृष्ट स्थिति का आठवाँ भाग है।

सूर्य देव की उत्कृष्ट स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है। शुक्र की उत्कृष्ट स्थिति सौ वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है। बृहस्पति की उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण पल्य (एक पल्य) प्रमाण है, अधिक नहीं। बुध सोम और मंगल की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्य प्रमाण है। नक्षत्रों (कृतिका, अश्विनी आदि) की उत्कृष्ट स्थिति आधे पल्य प्रमाण है। तारागणों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य के चतुर्थ भाग प्रमाण है। तारा और नक्षत्रों की जघन्य स्थिति पल्य के आठवें भाग प्रमाण है। शेष सूर्य, चन्द्रमा, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि इनकी जघन्य आयु पल्य के चतुर्थ भाग प्रमाण जाननी चाहिए।

### लौकान्तिक देवों की आयु

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्। (42)

(The age) of the Laukantikas (is) 8 Sagaras, (it is the same) for all.  
सब लौकान्तिकों की स्थिति आठ सागर है।

### अभ्यास प्रश्न

1. सामान्यतः देवों के कितने भेद हैं ?
2. चार प्रकार देवों के सामान्य भेद कितने हैं ?
3. किस-किस स्वर्ग के देवों के सुख किस प्रकार हैं ?
4. ज्योतिष्क देवों का सविस्तार वर्णन करो ?
5. अढ़ाई द्वीपस्थ ज्योतिष्क देव किसकी प्रदक्षिणा देते हैं ?
6. दिन-रात आदि काल विभाग किसके कारण होता है ?
7. कहाँ के ज्योतिषी देव गति नहीं करते हैं ?
8. वैमानिक देवों का सविस्तार वर्णन करो ?
9. नीचे-नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देवों की क्या विशेषता है ?
10. लौकान्तिक देवों का विशेष वर्णन करो ?
11. तिर्यंच किसे कहते हैं, उसकी परिभाषा लिखें ?
12. देवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु का वर्णन करो ?

## अध्याय-5

### अजीवतत्त्व का वर्णन

#### अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । (1)

The Substances of the universe may be divided into two chief categories: Living and Non-Living; or Soul and Non-Soul.

The Non-Living-Continuum comprises:

Dharma	– Medium of Motion for Soul and Matter,
Adharma	– Medium of rest for Soul and matter,
Akasa	– Space
Pudgala	– Matter and Energy, and
Kala	– Time

**धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीवकाय हैं।**

सम्यग्दर्शन के कारणभूत अर्थात् श्रद्धेय (श्रद्धा करने योग्य) द्रव्यों में से जीव द्रव्य का वर्णन प्रथम अध्याय से चतुर्थ अध्याय तक सविस्तार से किया गया है। इस अध्याय में अजीव द्रव्यों का वर्णन सूत्रबद्ध सारगर्भित वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया गया है। स्वजीव द्रव्य को जानने के लिये पर अजीव द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि जब तक स्व एवं पर का ज्ञान नहीं होगा तब तक स्व का ग्रहण एवं पर का त्याग नहीं हो सकता। छहढाला में कहा है—“बिन जाने ते दोष गुणन को, कैसे तजिये गहिये।” अनादि काल से जीव एवं अजीव (पुद्गल कर्म परमाणु) का संश्लेष सम्बंध हुआ है जिसके कारण जीव, पुद्गल से प्रभावित होकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचास्त्रि रूप में परिणत होकर स्व-पर ज्ञान के भेद से रहित होकर स्व द्रव्य को पर द्रव्य एवं पर द्रव्य को स्व द्रव्य मान बैठा है। इसके कारण भी जीव अनादिकाल से भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःख को भोग रहा है। इसलिए स्व द्रव्य को जानने के लिये पर द्रव्य को जानना अनिवार्य है। स्व-द्रव्य को जानकर, स्वद्रव्य को अन्य द्रव्य से अलग करना मोक्षमार्ग का, मोक्ष प्राप्ति का प्रधान एवं प्रथम कारण है।



जैसे वैज्ञानिक प्रयोगशाला में अनेक तत्त्व से मिले हुए मिश्रण को वैज्ञानिक प्रणाली से पृथक् करते हैं वैसे आध्यात्मिक प्रयोगशाला में जीव एवम् अजीव रूप मिश्रण से स्व द्रव्य को अलग करना है। जैसे भौतिक मिश्रण को अलग करने के लिए उस मौलिक भौतिक तत्त्व का ज्ञान करना आवश्यक है जिससे हम पृथक् कर सकते हैं वैसे ही वीतराग रूपी प्रयोगशाला में जीव के साथ अजीव द्रव्य का ज्ञान करना आवश्यक है। यही जैनगम का सारभूत एवं सत्य-तथ्य है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है :-

**जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।  
यदन्यदुच्यते किञ्चित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥(50)**

‘जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है’ बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है, इसीमें सब कुछ आ गया है। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसी का विस्तार है।

इस सूत्र में अजीव द्रव्यों का वर्णन होते हुए भी काल द्रव्य का वर्णन नहीं किया गया है क्योंकि यहाँ बहुप्रदेशी (कायवान) द्रव्यों का वर्णन होने के कारण काल को ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि काल द्रव्य एक प्रदेशी होने के कारण अनस्तिकाय है।

द्रव्यसंग्रह में कहा भी है :-

**एवं छब्धेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दवं ।  
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥(23)**

इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पाँच अजीव द्रव्य ऐसे छः प्रकार के द्रव्य का निरूपण किया। इन छहों द्रव्यों में से एक काल के बिना शेष पाँच अस्तिकाय जानने चाहिये।

**संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति भणंति जिणवरा जम्हा ।  
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥(24)**

पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाँचों द्रव्य विद्यमान हैं इसलिये जिनेश्वर इनको ‘अस्ति’ (है) ऐसा कहते हैं और ये कायके समान

बहुप्रदेशों को धारण करते हैं इसलिये इनको 'काय' कहते हैं। अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से ये पाँचों 'अस्तिकाय' होते हैं।

**ह्येति असंखा जीवे धम्माधम्मो अणंत आयासे।**

**मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥(25)**

जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं। मूर्त (पुद्गल) में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और काल के एक ही प्रदेश है इसलिये काल काय नहीं है।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि विश्व में, जीव तत्त्व या केवल अजीव तत्त्व ही नहीं है, परन्तु जीव तत्त्व के साथ-साथ अजीव तत्त्वभी है। इसलिये विश्व को केवल शून्य स्वरूप या केवल ब्रह्मस्वरूप, केवल भौतिकस्वरूप मानना सत्य-तथ्य से रहित है।

## द्रव्यों की गणना

द्रव्याणि । (2)

Dharma Adharma, Akasa, and pudgala are the Dravyas.

वे धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल द्रव्य हैं।

इस सूत्र में बताया गया है कि प्रथम सूत्र में जो धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल का वर्णन किया है वे केवल गुण अथवा केवल पर्याय ही नहीं बल्कि गुण, पर्यायों का समूह स्वरूप है।

'द्रव्य' शब्द में 'द्रु' धातु है। जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है। इससे द्रव्य शब्द का व्युत्पत्तिरूप अर्थ इस प्रकार हुआ है कि जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायों को प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं।

स्व (उपादान) और पर (निमित्त) प्रत्ययों (कारणों) से होने वाले उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को जो प्राप्त होते हैं वा पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किये जाते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। स्व और पर कारणों से उत्पाद और व्यय जिनमें इच्छा है वे पर्याय कहलाते हैं और जिसमें ये होती हैं, वे द्रव्य हैं। द्रव्य, क्षेत्र,

काल और भाव रूप बाह्य कारण 'पर प्रत्यय' कहलाते हैं तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व प्रत्यय है। बाह्य कारणों के रहने पर भी यदि द्रव्य में स्वयं उस पर्याय की योग्यता न हो तो वह पर्यायान्तर को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः स्व प्रत्यय ही समर्थ (मुख्य) कारण है। स्व और पर दोनों कारण मिलकर ही पदार्थों के उत्पाद और व्यय में कारण होते हैं। एक के भी (निमित्त या उपादान) अभाव में उत्पाद व्यय नहीं हो सकते। जैसे-पकने योग्य उड़द यदि बॉरे में पड़ा हुआ है तो भी पाक नहीं हो सकता और यदि घोटक (नहीं पकने योग्य) उड़द बटलोई में उबलते हुए पानी में भी डाला जाए तो भी वह नहीं पक सकता। अतः उभय (निमित्त-उपादान) हेतुक उत्पाद व्यय है; उन उत्पाद व्यय रूप स्वकीय पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वा स्वयं पर्यायों को जो प्राप्त होता है उसको द्रव्य कहते हैं। यद्यपि उत्पाद-व्यय रूप पर्यायों द्रव्य से अभिन्न हैं, तथापि भेदनय के वश से कर्तृ और कर्म में भेदविवक्षा करके 'द्रवति गच्छति' यह निर्देश किया जाता है क्योंकि स्वजाति का त्याग न करके अवस्थित तथा अन्वय रूप से स्वरूप वाले पदार्थों का बार-बार उत्पाद और विगम (व्यय) होने के कारण भेद उत्पन्न होता है।

### जीवाश्च । (3)

Souls are also included in the category of substances.

**जीव भी द्रव्य है।**

इस अध्याय के प्रथम सूत्र में चार अजीव अस्तिकाय का वर्णन किया गया है। दूसरे सूत्र में बताया कि, ये चारों द्रव्य हैं। पुनः इस सूत्र में बताया गया कि जीव भी द्रव्य है तथा द्रव्य के साथ अस्तिकाय द्रव्य भी है। सूत्र में जो बहवचन (जीवाः) दिया गया है। वह जीव के भेद-प्रभेदों का सूचक स्वरूप है। 'च' शब्द द्रव्य संज्ञा के खींचने के लिये दिया गया है। जिससे 'जीव भी द्रव्य है' यह अर्थ फलित हो जाता है। इस प्रकार ये पाँच आँ कहे जाने वाले काल के साथ छह द्रव्य होते हैं।

कोई-कोई दार्शनिक एवम् वैज्ञानिक यह मानते हैं कि यह जीव एक पृथक् द्रव्य नहीं है। कुछ मानते हैं कि रसायनिक मिश्रण रसायनिक परिवर्त

से जीव को सृष्टि हुई है- जैसे डार्विन आदि वैज्ञानिक और चार्वाक आदि दार्शनिक। चार्वाक का मत है पृथ्वी जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के समिश्रण से जीव की सृष्टि होती है। जैसे- चावल, गुड़ आदि के मिश्रण से मद्य में मादकता की सृष्टि होती है। परन्तु उपरोक्त धारणा कपोल कल्पित एवं सत्य-तथ्य से रहित है क्योंकि जीव अमूर्तिक, चेतन द्रव्य होने से मूर्तिक अचेतन द्रव्यों से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जीव द्रव्य का वर्णन प्रवचन सार में कुंद-कुंद देव ने निम्न प्रकार से किया है।

द्वयं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।

पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं॥(127)॥

द्रव्य जीव और अजीव ऐसे दो भेद रूप है और उसमें चेतन और उपयोगमयी जीव है और पुद्गल आदिक अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जोहि जीविदो पुव्वं।

सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता॥(147)॥

जो चार प्राणों से जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, वह जीव है और प्राण पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न है।

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।

सुरणरणारथतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा॥(16)॥

(पं.का)

जीवादि के “भाव” है। जीव के गुण चेतना तथा उपयोग हैं और जीव की पर्यायें देव-मनुष्य-नारक-तिर्यञ्चरूप अनेक हैं।

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।

भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥(27)॥

आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोगलक्षित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देह प्रमाण है, अमूर्त है और कर्मसंयुक्त है।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।  
सो जीवो पाणा पुण वलमिदिधमाउ उस्सासो ॥(30)॥

जो चार प्राणों से जीता है, जियेगा, और पूर्वकाल में जीता था वह जीव है, और वह प्राण इन्द्रिय, बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास है।

जीवा अणाइणिहणा संताणंता य जीवभावादो ।  
सब्भावदो अणंता पंचगगुणप्पधाणा य ॥(53)॥

जीव (पारिणामिक भाव से) अनादि अनंत हैं, (औपशमिक आदि तीन भावों से) सांत (अर्थात् सादि-सांत) हैं और जीव भाव से अनंत है। (अर्थात् जीव सद्भावरूप क्षायिक भाव से सादि अनंत है) क्योंकि सद्भाव से जीव अनंत ही होते हैं। वे पाँच मुख्य गुणों से प्रधानता वाले हैं।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होई उप्पादो ।  
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥(54)

इस प्रकार जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है-  
ऐसा जिनवरों ने कहा है, जो कि अन्योन्य विरुद्ध है तथापि अविरुद्ध है।

जाणादि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो ।  
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥(122)

जीव सब जानता है और देखता है, सुख की इच्छा करता है, दुःख से डरता है, हित अहित को करता है और उनके (शुभ-अशुभ भाव के) फल को भोगता है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में भी आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने कहा है-

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णः ।  
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥(9)

स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित (वियुक्त) गुण-पर्यायों से विशिष्ट उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से सहित (संयुक्त) चैतन्यमय आत्मा पुरुष है।

## द्रव्यों की विशेषता नित्यावस्थितान्यरूपाणि । (4)

धर्मादीनि, कालः, जीवाश्च द्रव्याणि नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।

The Six Substances Jiva, Ajiva, Dharma, Adharma, Akasa, and Kala are permanent in their nature, fixed in number as the sole constituents of the universe and (with the exception of pudgala Dravya) are all without form, i.e., they are devoid of the characteristics of Matter, viz. touch, taste, smell and colour.

उक्त द्रव्य नित्य है, अवस्थित और अरूपी है।

धर्म, अधर्म, आकाश, एवं जीव द्रव्य नित्य (शाश्वतिक, अविनाशी, ध्रुव) अवस्थित (अपनी संख्या एवं प्रदेश को नहीं त्यागने वाला) एवं अरूपी है।

नित्य— वस्तु के स्वभाव का नाश नहीं होना ही 'नित्यत्व' है। जिस भाव से पदार्थ उपलक्षित है उसका उसी रूप से रहना नित्य है। इस द्रव्य के भाव का नाश नहीं होना ही नित्यत्व है, धर्मादि द्रव्य जिन-जिन गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, आदि विशेष लक्षणों से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण से युक्त है उन-उन स्वभावों का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कभी नाश नहीं होता। इसी तद्भावाव्यय को नित्य कहते हैं।

2. अवस्थित— ये द्रव्य इयत्ता (संख्या) का उल्लंघन नहीं करते अतः अवस्थित हैं। ये धर्म, अधर्म आदि छहों द्रव्य कभी अपनी छह संख्या का उल्लंघन नहीं करते। (छह संख्या को नहीं छोड़ते), न तो कभी सात होते हैं और न कभी पाँच, अतः अवस्थित हैं। अथवा धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव में तुल्य असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश के अनन्त और पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश बताये गये हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती, वैसे ही अवस्थित रहते हैं इसलिए अवस्थित कहे जाते हैं।

3. अरूपी- 'अरूप' पद का ग्रहण द्रव्य के स्वतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए है। 'अरूप' पद, रूप और स्पर्श, रस, गंधादि का निषेध करके धर्मादिक का जो 'अमूर्तत्व' स्वभाव है, उसकी सूचना करता है। नहीं है रूप जिसके वह अरूप कहलाता है। रूप के निषेध से रूप के अविनाभावी रस, गन्ध, स्पर्शादि का भी निषेध जानना चाहिए। अरूपी का अर्थ अमूर्तिक है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव अमूर्तिक हैं।

पुद्गल द्रव्य अरूपी नहीं है

रूपिणः पुद्गलाः । (5)

Matter is Rupi, in other words, it has got touch, taste, smell and colour.

पुद्गल रूपी है।

चतुर्थ नम्बर सूत्र में कहा गया है कि, उक्त द्रव्य नित्य, अवस्थित एवं अरूपी है। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है क्या पुद्गल अरूपी है? इसके उत्तर में कहा गया है कि पुद्गल अरूपी द्रव्य नहीं किन्तु रूपी है। यहाँ रूपी शब्द से केवल रूप का ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु रूप के अविनाभावी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, तथा गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बा, चौड़ा, आदि आकार को भी ग्रहण करना चाहिए।

'पुद्गला': यह बहुवचन पुद्गल के विभिन्न भेद प्रभेदों को सूचित करता है। अतः परमाणु और विभिन्न स्कन्धों का ग्रहण करना चाहिए। वर्तमान भौतिक विज्ञान एवं रासायनिक विज्ञान में जो कुछ वर्णन है वह सब पुद्गल से ही सम्बन्धित है। पुद्गल (Matter) भौतिक द्रव्य का वर्णन जितना वैज्ञानिक और व्यापक ढंग से जैन धर्म में पाया जाता है इतना किसी भारतीय और वैदेशिक दर्शन में नहीं पाया जाता है। तथापि इसका वर्णन भारतीय दार्शनिक कणाद तथा ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रेटिस् आदि ने थोड़ा बहुत वर्णन किया है। आधुनिक वैज्ञानिक डाल्टन रदर फोर्ड, आदि ने इसका विशेष शोध-बोध किया है। कुन्द-कुन्द देव ने पंचास्तिकाय में पुद्गल का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।

मुत्तं पुगलदब्बं जीवो खलु चेदणो तेसु ॥(97)

(पृ.253)

स्पर्श, रस-गंध-वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त है, स्पर्श-रस-गंध वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है वह अमूर्त है; चैतन्य का सद्भाव जिसका स्वभाव है वह चेतन है, चैतन्य का अभाव जिसका स्वभाव है वह अचेतन है। वहाँ, आकाश अमूर्त है, काल अमूर्त है, जीव स्वरूप से अमूर्त है, पर-रूप में प्रवेश द्वारा (मूर्त द्रव्य के संयोग की अपेक्षा से) मूर्त भी है, धर्म अमूर्त है, अधर्म अमूर्त है, पुद्गल ही एक मूर्त है। आकाश अचेतन है, काल अचेतन है, धर्म अचेतन है, पुद्गल अचेतन है, जीव ही एक चेतन है।

जे खलु इन्द्रियगेज्जा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता।

सेसं हबदि अमुत्तं

॥(99)

इस लोक में जीवों द्वारा स्पर्शनिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उनके विषयभूत, स्पर्श रस गंध वर्ण स्वभाव वाले पदार्थ ग्रहण होते हैं और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा वही पदार्थ उसके (श्रोत्रेन्द्रिय) के विषय हेतु भूत शब्दाकार परिणमित हुए ग्रहण होते हैं। वे (पदार्थ), कदाचित् स्थूल स्कन्धपने को प्राप्त होते हुए, कदाचित् सूक्ष्मत्व को प्राप्त होते हुए और कदाचित् परमाणुपने को प्राप्त होते हुए, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते हैं या न होते हैं, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता का (सदैव) सद्भाव होने से मूर्त कहलाते हैं।

स्पर्श-रस-गंध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है ऐसा शेष अन्य समस्त पदार्थ समूह, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता के अभाव के कारण 'अमूर्त' कहलाता है।

**द्रव्यों के स्वभेद की गणना**

**आ-आकाशदेकद्रव्याणि। (6)**

**आ-आकाशात् एकद्रव्याणि भवन्ति।**

Dravyas enumerated there up to Akāsa (i.e. Dharma, Adharma, and



Akasa) are one continuum each i.e., Indivisible wholes.

**आकाश तक एक-एक द्रव्य है।**

इस अध्याय के प्रथम सूत्र में वर्णित धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल में से आकाश पर्यन्त अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य है। धर्म द्रव्य लोकाकाश व्यापी होते हुए भी असंख्यात प्रदेशी एक ही द्रव्य है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी लोकाकाश व्यापी असंख्यात प्रदेश वाला एक अखण्ड द्रव्य है। लोक-अलोकव्यापी आकाश असंख्यात प्रदेश वाला एक अखंड द्रव्य है।

गति, स्थिति आदि परिणामवाले विविध जीव-पुद्गलों की गति आदि में निमित्त होने से भाव की अपेक्षा, प्रदेश भेद से क्षेत्र की अपेक्षा तथा काल भेद से काल की अपेक्षा धर्म और अधर्मद्रव्य में अनेकत्व होने पर भी धर्मादि द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा अखण्ड एक एक ही द्रव्य हैं। अवगाह्य अनेक द्रव्यों की अनेक प्रकार की अवगाहना के निमित्त से भाव की अपेक्षा आकाश में अनन्तता होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा आकाश एक ही है। जीव और पुद्गल की तरह धर्म, अधर्म और आकाश अनेक नहीं है और न जीव एवं पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश की तरह एक हैं। यदि जीव और पुद्गल को धर्म, अधर्म और आकाश के समान एक-एक द्रव्य माना जाएगा तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले क्रिया कारक का और इष्ट अनुमान सिद्ध संसार-मोक्ष की क्रिया के विस्तार का विरोध आयेगा। अर्थात् अखण्ड एक द्रव्य के न तो क्रिया कारक का भेद होगा अर्थात् सबकी क्रिया एक सी होगी। यह चटाई पर बैठा है, वृक्ष से पत्ते गिर रहे हैं, इत्यादि भेद नहीं होगा और न संसार और मोक्ष की क्रिया का विस्तार होगा। (रा.वा.पृ. 48)

**जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु दत्तो दु।**

**धम्मतिथं एक्केक्कं, लोगपदेसप्पमा कालो ॥**

(588 गो.जी.पृ.266)

जीव द्रव्य अनन्त हैं। उससे अनन्ते गुणे पुद्गल द्रव्य हैं। धर्म अधर्म आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं, क्योंकि ये प्रत्येक अखण्ड एक-एक हैं। तथा लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही काल द्रव्य हैं।

## निष्क्रियाणि च । (१)

आ-आकाशात् निष्क्रियाणि च भवन्ति ।

Dharma, Adharma, Akasa, these three are not capable of moving from one place to another.

तथा निष्क्रिय है ।

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य निष्क्रिय हैं। अंतरंग और बहिरंग निमित्त से उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य के एक क्षेत्र से, दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने का कारण है वह 'क्रिया' कहलाती है और जो इस प्रकार की क्रिया से रहित है वह 'निष्क्रिय' कहलाते हैं। अर्थात् इन तीनों द्रव्य के प्रदेश अनादि काल से जहाँ पर थे अभी भी वहाँ है और अनन्त भविष्यत् में भी वहीं रहेंगे उनसे किसी प्रकार स्थानान्तरण नहीं होगा। गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में कहा भी है—

सर्व्वमरूवी द्रव्वं, अवद्विदं अचलिआ पदेसा वि ।

रूवी जीवा चलिया, तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥(592)

(पृ.267)

सम्पूर्ण अरूपी द्रव्य अवस्थित हैं। जहाँ स्थित हैं वहाँ ही सदा स्थित रहते हैं, तथा इनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते। किन्तु रूपी (संसारी) जीव द्रव्य चल हैं, सदा एक ही स्थान पर नहीं रहा करते तथा इनके प्रदेश भी तीन प्रकार के होते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और मुक्त जीव ये अपने स्थान से कभी चलायमान नहीं होते तथा एक स्थान पर ही रहते हुए भी इनके प्रदेश भी तीन प्रकार के होते हैं। चल भी होते हैं, अचल भी होते हैं तथा चलाचल भी होते हैं। विग्रहगतिवाले जीवों के प्रदेश चल ही होते हैं। और शेष जीवों के प्रदेश चलाचल होते हैं। आठ मध्य प्रदेश अचल होते हैं और शेष प्रदेश चलित हैं। मुक्त जीव के सर्व प्रदेश अचल होते हैं।

पुगलद्रव्यमिह अणु, संखेज्जादी हवंति चलिदा हु।  
चरिममहक्खंधमि य, चलाचला होंति हु पदेसा ॥(593)

पुद्गल द्रव्य में परमाणु तथा संख्यात, असंख्यात आदि अणु के जितने स्कन्ध हैं वे सभी चल हैं, किन्तु एक अन्तिम महास्कन्ध चलाचल है, क्योंकि उसमें कोई भाग चल है और कोई भाग अचल है।

### द्रव्यों के स्वप्रदेशों की गणना

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम् । (8)

धर्म-अधर्म-एकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशा भवन्ति ।

There are countless space-points in the medium of motion, medium of rest and in each individual soul.

धर्म अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं।

धर्म, अधर्म और जीव स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूप से एक-एक अखण्ड द्रव्य होते हुए भी उनके प्रदेश असंख्यात-असंख्यात हैं। धर्म द्रव्य के असंख्यात, अधर्म द्रव्य के असंख्यात और एक जीव के भी असंख्यात प्रदेश हैं।

संख्या को जो गणना अतिक्रान्त कर लिया है उसे असंख्यात कहते हैं अर्थात् जो गिनती की सीमा को पार कर गये हैं अथवा जो किसी सामान्य असर्वज्ञ के द्वारा गिने नहीं जाते हैं उनको असंख्यात कहते हैं। यहाँ सर्वप्रथम जान लेना चाहिए प्रदेश किसे कहते हैं क्योंकि यहाँ प्रदेश गणना के लिए इकाई है। प्रदेश की परिभाषा निम्न प्रकार की है—

“जावदियं आयासं अविभागी पुगलाणुवद्धदं तं खु पदेसं”

जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से रोका जाता है उसको प्रदेश कहते हैं। राजवार्तिक में कहा है—

“प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः ।”

जो क्षेत्र के परिमाण को बताते हैं उसे प्रदेश कहते हैं।

“द्रव्यपरमाणुः स यावति क्षेत्रेऽवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवहियते” ।

द्रव्य परमाणु जितने क्षेत्र में रहता है उसको प्रदेश कहते हैं। कुन्दकुन्द देव ने प्रवचन सार में कहा भी है—

जथ ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।

अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो॥(137)

जिस प्रकार आकाश के प्रदेश हैं उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं। इस प्रकार प्रदेश के लक्षण की एक-प्रकारता कही जाती है। इसीलिये, एकाणुव्याप्य (जो एक परमाणु से व्याप्य हो ऐसे) अंश के द्वारा गिने जाने पर जैसे आकाश के अनन्त अंश होने आकाश अनन्त प्रदेशी जीव के असंख्यात अंश होने से वे प्रत्येक असंख्यात प्रदेशी हैं। जैसे (संकोच-विस्तार-रहित होने की अपेक्षा) अवस्थित प्रमाण वाले धर्म तथा अधर्म असंख्यात प्रदेशी हैं। उसी प्रकार संकोच विस्तार के कारण (संकोच-विस्तार होने की अपेक्षा) अनवस्थित प्रमाण वाले जीव के सूखे गीले चमड़े की भांति-निज अंशों का अल्पबहुत्व नहीं होता (संख्या में प्रदेशों की हानि-वृद्धि नहीं होती) इसलिए असंख्यात प्रदेशित्व ही है।

धर्म, अधर्म और एक जीव तुल्य असंख्यात प्रदेशी हैं। उनमें धर्म और अधर्म द्रव्य निष्क्रिय हैं और लोक को व्याप्त करके स्थित हैं। जीव असंख्यात प्रदेशी होने पर भी संकोच विस्तार शील होने से कर्म के अनुसार प्राप्त छोटे या बड़े शरीर में तत्प्रमाण होकर रहता है। जब समुद्घात काल में इसकी लोकपूरण अवस्था होती है, तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरू पर्वत के नीचे चित्र और वज्रपटल के मध्य के आठ प्रदेशों पर स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर नीचे तिरछे चारों ओर लोकाकाश को व्याप्त कर लेते हैं अर्थात् सारे लोकाकाश में फैल जाते हैं।

जैसे आकाश अखण्ड, अभेद होते हुए भी लोकाकाश एवं अलोकाकाश रूप से इसके दो भेद हो जाते हैं। लोकाकाश के भी अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं जैसे उर्ध्व लोक के आकाश, मध्य लोक के आकाश, अधोलोक के आकाश इसके भी अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे-विभिन्न घट, विभिन्न पात्र के आकाश। इसी प्रकार अखण्ड द्रव्य में भी प्रदेश भेद हो जाता है।

आकाशस्यानन्ताः । (9)  
आकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः सन्ति ।

The number of Pradesas in space is infinite.

आकाश के अनन्त प्रदेश हैं ।

छहों द्रव्य में सबसे विशालतम द्रव्य आकाश है। यह द्रव्य सर्वव्यापी है। इसके प्रदेश अनन्त हैं। जिसका अन्त (अवसान) नहीं है उसको अनन्त कहते हैं। लोकाकाश, आकाश का एक बहुत छोटा भाग है और इसके असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश सम्पूर्ण दिशाओं में अनन्त तक फैला हुआ है।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् । (10)

संख्येया अंखंख्येयाश्च (अनन्ताः अनन्तानन्ताः) पुद्गलानाम् प्रदेशाः  
भवन्ति ।

Matter consists of numerable, innumerable and infinite parts according as we consider the different molecular combinations.

पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं ।

मुख्य रूप से पुद्गल के दो भेद हैं (1) अणु (2) स्कंध। अणु सर्वदा एक प्रदेशी होता है। परन्तु स्कंध संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रदेशी भी होता है। द्रव्य संग्रह में कहा भी है—

होति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।

मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ (25)

जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त हैं। मूर्त (पुद्गल) में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और काल के एक ही प्रदेश है। इसलिये काल काय नहीं है। यहाँ शंका होना स्वाभाविक है कि असंख्यात प्रदेशी वाले लोकाकाश में अनन्त प्रदेश वाले स्कंध कैसे रह सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि परमाणु एवं स्कन्ध में सूक्ष्म परिणमन होने के कारण तथा आकाश में अवगाहन शक्ति होने के कारण अनन्त प्रदेश वाले पुद्गल स्कन्ध आकाश में रह सकते हैं। एक आकाश प्रदेश में

एक परमाणु रहता है व ठहरता है व स्थान प्राप्त करता है। उसी आकाश प्रदेश में स्कंध को प्राप्त हुए तथा सूक्ष्म परिणत दो परमाणु रह सकते हैं। इसी प्रकार एक ही आकाश प्रदेश में तीन, चार, दस, बीस, सौ, हजार, लाख, करोड़, संख्यात, असंख्यात, अनंतानंत परमाणु रह सकते हैं। आकाश प्रदेश में भी इसी प्रकार अवगाहन शक्ति है जिसके कारण उपरोक्त स्कंध रह सकते हैं।

### नाणोः । (11)

नाणोः प्रदेशा भवन्ति ।

There are no numberable pradesas of an indivisible elementary particle of matter (an atom.)

परमाणु के प्रदेश नहीं होते ।

दसवें सूत्र में कहा गया कि पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। यह सामान्य कथन है। परन्तु यहाँ पर विशेष कथन किया गया है कि अणु, पुद्गल होते हुए भी अणु के प्रदेश नहीं होते हैं। प्रदेश नहीं होते इसका मतलब ये नहीं कि अणु पूर्ण रूप से प्रदेश से रहित है। परन्तु परमाणु एक प्रदेश मात्र है तथा द्वि आदि प्रदेश से रहित हैं। जैसे रेखागणित में बिन्दु सत्तावान होते हुए भी उसकी लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं है; उसी प्रकार परमाणु स्वयं एक प्रदेशी सत्तावान (अस्तित्ववान) होते हुए भी इसकी लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं है।

जिस प्रकार एक आकाश प्रदेश में भेद नहीं होने से वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेश रूप है इसलिए उसमें प्रदेश भेद नहीं होता। दूसरे अणु से अल्प परिणाम नहीं पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं जो परमाणु से छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेद को प्राप्त होवें।

इस परमाणु को किसी भी कृत्रिम प्रक्रिया से या स्वयं किसी प्राकृतिक प्रक्रिया से खण्डित नहीं किया जा सकता है अथवा खंडित नहीं होता है। एक शक्तिशाली बम पहाड़ को भी विध्वंस कर सकता है। परन्तु ऐसे कई शक्तिशाली बम भी अणु को खण्डित नहीं कर सकते हैं। यह परमाणु न अग्नि से जलता है न पानी से गीला होता है न वायु से उड़ता है, न चक्षु से दिखाई

देता है और न ही सूक्ष्मदर्शी यंत्र से दिखाई देता है।

परमाणु जब मंद गति में गमन करता है तब एक समय में एक प्रदेश गमन करता है और जब तीव्र गति से गमन करता है, तब एक समय में चौदह राजू गमन कर सकता है। मध्यम गति में अनेक विकल्प हैं। अणु जब गमन करता है तब उसकी गति को कोई भी वस्तु या यंत्रादि भी नहीं रोक सकता है।

विज्ञान जिसको वर्तमान में अणु मानता है वह जैन सिद्धान्त की अपेक्षा स्थूल स्कन्ध ही है, जिसमें अनन्तान्त परमाणु मिले हुए हैं। वैज्ञानिक लोग परमाणु को अविभाज्य मानते हुए भी उनके द्वारा माना हुआ परमाणु पुनः पुनः अनेक विभाग में विभाजित होता जा रहा है। पहले न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन के समूह को अणु मानते थे। परन्तु यह भी नहीं हो सकता क्योंकि स्पष्ट रूप से ये तीनों अलग-अलग है इसकी लम्बाई भी है और इसका वजन भी है। इतना ही नहीं आगे जाकर वह खण्डित भी हो गया और उस खण्डित भाग को क्वार्क कहते हैं। यह क्वार्क भी अणु नहीं है। यह क्वार्क भी अनेक परमाणु के समूह से बना स्कन्ध है। परमाणु का विशेष वर्णन प्राचीन जैनाचार्यों ने निम्न प्रकार किया है—

आदिमध्यान्तनिर्मुक्तं      निर्विभागमतीन्द्रियम् ।  
मूर्त्तमप्यप्रदेशं      च      परमाणुं      प्रचक्षते ॥32॥  
हंरिवंशपुराणपर्व, 7

जो आदि, मध्य और अन्त से रहित है, निर्विभाग है, अतीन्द्रिय है और मूर्त्त होने पर भी अप्रदेश-द्वितीयादिक प्रदेशों से रहित है उसे परमाणु कहते हैं।

एकदैकं रसं वर्णं गन्धं स्पर्शावबाधकौ ।  
दधत् स वर्ततेऽभेद्यः      शब्दहेतुरशब्दकः ॥(33)

वह परमाणु एक काल में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और परस्पर में बाधा नहीं करने वाले दो स्पर्शों को धारण करता है, अभेद्य है, शब्द का कारण है और स्वयं शब्द से रहित है।

आशङ्क्या नार्थतत्त्वज्ञैर्नर्भोऽशानां समन्ततः ।  
षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता ॥(34)

परदार्थ के स्वरूप को जानने वाले लोगों को ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये कि सब ओर से एक समय आकाश के छह अंशों के साथ सम्बन्ध होने से परमाणु में षडंशता है।

स्वल्पाकाशषडंशाश्च परमाणुश्च संहताः ।  
सप्तांशाः स्थुः कुतस्तु स्यात्परमाणोः षडंशता ॥(35)

क्योंकि ऐसा मानने पर आकाश के छोटे-छोटे छह अंश और एक परमाणु सब मिलकर सप्तमांश हो जाते हैं। अब परमाणु में षडंशता कैसे हो सकती है।

वर्णगन्धरसस्पर्शैः पूरणं गलनं च यत् ।  
कुर्वन्ति स्कन्धवत्तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः ॥(36)

क्योंकि परमाणु रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के द्वारा पूरण तथा गलन करते रहते हैं इसलिए स्कन्ध के समान परमाणु पुद्गल द्रव्य है।

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान  
लोकाकाशेऽवगाहः । (12)

धर्मादीनाम् द्रव्याणाम् लोकाकाशे अवगाहः

These substances Dharma, Adharma, Jiva, Ajiva, etc. exist only in Lokakasa.

इन धर्मादिक द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में है।

आकाश एक सर्वव्यापी अखण्ड द्रव्य होते हुए भी जिस आकाश प्रदेश में जीव आदि द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। उसको छोड़कर अन्य अवशेष आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। द्रव्य संग्रह में कहा भी है—



धम्माऽधम्मा कालो पुग्गल जीवा य संति जावदिये ।

आयासे सो लोको ततो परदो अलोकोत्तो ॥(20)

धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पाँचों द्रव्य जितने आकाश में है वह तो लोकाकाश है। उसके आगे अलोकाकाश है।

प्रश्न— असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में अनन्तानंत जीव हैं उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल हैं। लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण भिन्न-भिन्न कालाणु हैं तथा एक धर्म और एक अधर्मद्रव्य है ये सब किस तरह इस लोकाकाश में अवकाश पा लेते हैं ?

उत्तर— जैसे एक कोठरी में अनेक दीपों का प्रकाश व एक गूढनाग रस के गुटके से बहुत-सा सुवर्ण व एक ऊँटनी के दूध के भरे घट में मधु का भरा घट व एक तहखाने में जय-जयकार शब्द व घंटा आदि का शब्द विशेष अवगाहना गुण के कारण अवकाश पाते हैं वैसे असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्तानंत जीवादि भी अवकाश पा सकते हैं।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य तथा जीव द्रव्य अमूर्तिक द्रव्य होने के कारण उसकी अवगाहना की कोई समस्या नहीं है। शेष रहा पुद्गल द्रव्य। पुद्गल द्रव्य में भी सूक्ष्मत्व परिणामन शक्ति होने के कारण एवं आकाश में अवगाहन शक्ति होने के कारण अनन्त पुद्गल द्रव्य, असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में समावेश होकर रह जाते हैं। जैसे एक अगरबत्ती को जलाने से उस अगरबत्ती के धुँआ से एक कमरा भर जाता है। इस धुँआ के परमाणु (स्कंध) उस छोटी सी अगरबत्ती में ही समाहित थे। अभी आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुआ कि कुछ नक्षत्र में ऐसी धातु है जिसका माचिस के बराबर टुकड़ा का वजन 60 से लेकर 250 टन तक हो सकता है। इतना अधिक वजन होने का कारण वहाँ के परमाणु का बंधन अधिक घनस्वरूप से हुआ है। वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध किया की एक हाथी को पूर्ण रूप से दबा दिया जायेगा तब वह हाथी सूई के छेद से निकल जायेगा। इसका कारण यह है कि उस में मौजूद समस्त परमाणु समूह एक ही आकाश प्रदेश में अथवा एक परमाणु में (एक परमाणु के आकार) में अनंतानंत बंध विशेष से बंधकर इकट्ठे हो

जाते हैं। इसलिए एक आकाश प्रदेश में एक से लेकर तीन व संख्यात, असंख्यात अनंत परमाणु समाहित हो सकते हैं। जब एक ही आकाश प्रदेश में अनंत परमाणु भी रह सकते हैं तो असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में अनंतानंत परमाणु क्यों नहीं रह सकते ? अर्थात् रह सकते हैं।

जीवायुगलकाया धम्मा धम्मा य लोणदोणणा ।

तत्तो अणणमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥(91)

(पंचास्तिकाय पृ.246)

अनंत जीव, अनंत पुद्गल स्कंध, अणु, धर्म, अधर्मद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य इस लोक से बाहर नहीं हैं। इस लोकाकाश से जुदा नहीं हैं। लोकाकाश से बाहर शेष आकाश अंतरहित-अनंत है।

आगासं अवगासं गमणद्धिदिकारणेहिं देदि जदि ।

उङ्गदिप्पधाणा सिद्धा चिद्धंति किध तत्थ ॥(92)

जो मात्र अवकाश का ही हेतु है ऐसा जो आकाश उसमें गति स्थिति हेतुत्व (भी) होने की शंका की जाये तो दोष आता है उसका यह कथन है।

यदि आकाश जिस प्रकार वह अवगाहना वालों को अवगाह हेतु है उसी प्रकार, गति स्थिति वालों को गति, स्थिति हेतु भी हो, तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक उर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवन्त, बहिरंग-अंतरंग साधन रूप सामग्री होने पर भी क्यों (किस कारण) उसमें आकाश में स्थिर हों।

सिद्ध भगवान् स्वभाव से ऊपर को गमन करते हैं। वे यदि आकाश के ही निमित्त-कारण से जावें तो वे अनंत आकाश में जा सकते हैं, क्योंकि आकाश लोक से बाहर भी है। परन्तु वे बाहर नहीं जाते हैं कारण यही है कि वहाँ धर्म द्रव्य नहीं हैं। जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहीं तक गमन में सहकारीपना है।

जम्हा उवरिद्धाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।  
तद्दहा गमणद्धाणं आयासे जाण णत्थित्ति ॥(93)

क्योंकि श्री जिनेन्द्रों ने सिद्धों का लोक के अग्रभाग में तिष्ठना कहा है इसलिये आकाश में गमन और स्थिति में सहकारीपना नहीं है ऐसा जानो।

इसी से ही जाना जाता है कि, आकाश में गति और स्थिति का कारण पता नहीं है, किन्तु धर्म और अधर्म ही गति और स्थिति का कारण है, यह अभिप्राय है।

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।  
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी ॥(94)

यदि आकाश गति व स्थिति में कारण हो तो लोकाकाश के बाहर भी आकाश की सत्ता है तब जीव और पुद्गलों का गमन अनंत आकाश में भी हो जावे इससे अलोकाकाश न रहे और लोक की सीमा बढ़ जावे लेकिन ऐसा नहीं है। इसी कारण से यह सिद्ध है कि आकाश गति और स्थिति के लिए कारण नहीं है।

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।  
पुधगुवलद्धविसेसा करित्ति एगत्तमण्णत्तं ॥(96)

व्यवहार से धर्म, अधर्म व लोकाकाश एक समान असंख्यात प्रदेश को रखने वाले हैं इसलिये इनमें एकता है परन्तु निश्चय से ये तीनों अपने-अपने स्वभाव में है, इससे अनेकता या भिन्नता है। जैसे- यह जीव पुद्गल आदि पांच द्रव्यों के साथ व अन्य जीवों के साथ एक क्षेत्र में अवगाहरूप रहने से व्यवहार से एकपने को बताता है, परन्तु निश्चयनय से भिन्नपने को प्रगट करता है, क्योंकि यह जीव एक समय में सर्व पदार्थों में प्राप्त अनन्त स्वभावों को प्रकाश करने वाले परम चैतन्य के विलास रूप अपने ज्ञान गुण से शोभायमान है। वैसे ही धर्म, अधर्म और लोकाकाश द्रव्य एक क्षेत्र में अवगाहरूप होने से अभिन्न है तथा समान प्रदेशों का परिमाण रखते हैं। इसलिये उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से परस्पर एकता करते हैं, परन्तु निश्चय नय से अपने-अपने गति स्थिति व अवगाह लक्षण को रखने से नानापना या भिन्नपना करते हैं।

## धर्माधर्मयोः कृत्स्ने। (13)

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशे अवगाहो भवति।

The whole Universe or Loka is the place of Dharma and Adharma Dravyas.

**धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह समग्र लोकाकाश में है।**

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं। उस सम्पूर्ण लोकाकाश के प्रदेश में धर्म तथा अधर्म द्रव्य के प्रदेश व्याप्त होकर रहते हैं अर्थात् लोकाकाश के एक प्रदेश में धर्म द्रव्य के एक प्रदेश तथा अधर्म द्रव्य के एक प्रदेश रहते हैं। लोकाकाश में धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्य का अवस्थान जैसे चौकी के ऊपर पुस्तक है उस प्रकार नहीं है। परन्तु जैसे दूध में घी, तिल में तेल; ईंधन में अग्नि रहती है उसी प्रकार धर्म एवं अधर्म द्रव्य के प्रदेश लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेश में व्याप्त रहते हैं। आधुनिक विज्ञान में भी माना गया है कि 'ईथर' तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति आकाश में व्याप्त होकर रहती है। इसलिये निरवशेष व्याप्ति का प्रदर्शन कराने के लिये सूत्र में 'कृत्स्न' वचन का प्रयोग किया है क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य निरन्तर सारे लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं।

प्रश्न— धर्म, अधर्म आदि के प्रदेश परस्पर अविरोध रूप से एक स्थान में कैसे रहते हैं ?

उत्तर— अमूर्तिक होने से धर्म, अधर्म और आकाश के प्रदेशों में परस्पर विरोध नहीं है। जब मूर्त्तिमान् जल, भस्म, रेत आदि पदार्थ बिना विरोध के एक स्थान में रह सकते हैं तब इन अमूर्तिक द्रव्यों की एकत्र स्थिति में तो कहना ही क्या ? अर्थात्— जैसे पानी से भरे हुए घट में चीनी-रेत-भस्म, लोहे के कण्ट आदि प्रवेश कर जाते हैं वैसे ही परस्पर विरोधरहित जीवादि अनन्त पदार्थ लोकाकाश में रह जाते हैं। इसलिये अमूर्तिक होने से इन धर्मादि के प्रदेशों का परस्पर एक स्थान में रहने में कोई विरोध नहीं है; ऐसा जानना चाहिए।

इनका अनादि सम्बन्ध पारिणामिक स्वरूप होने से भी कोई विरोध नहीं है। भेद, संघात, गति, परिणाम पूर्वक आदिमान् सम्बन्ध वाले किसी स्थूल

स्कन्धों के प्रदेशों में परस्पर विरोध हो भी सकता है— अर्थात् बहुत से प्रदेश वाले पदार्थ थोड़े स्थान में नहीं रह सकते; परन्तु भेद-संघात वाले पदार्थों के समान धर्मादि पदार्थों का आकाश प्रदेशों के साथ आदि सम्बन्ध नहीं है अपितु इनका पारिणामिक सम्बन्ध है अतः इनमें परस्पर प्रदेशों का अवरोध सिद्ध है अर्थात् अभूर्तिक पूर्वापरभावरहित अनादिसम्बन्धी धर्मादिक का परस्पर विरोध नहीं है।

**एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् । (14)**

**लोकाकाशे एकप्रदेशादिषु भाज्यः एकप्रदेशसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां पुद्गलानामवगाहः ।**

In one pradesa, i.e., in one unitary cell of space only one atom of matter will find place if it is in a free state but in an aggregate form any number of atoms can occupy one or more cells of space.

**पुद्गलों का अवगाहन लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से होता है।**

एक परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरता है उसे एक प्रदेश कहते हैं अर्थात् एक आकाश प्रदेश में स्वतन्त्र रूप में एक परमाणु रहता है। दो परमाणु यदि पृथक्-पृथक् रूप में रहते हैं तो आकाश के दो प्रदेश में रहते हैं। यदि दो परमाणु आपस में बंध जाते हैं तो आकाश के एक प्रदेश में उनका अवगाह होता है। उसी प्रकार तीन परमाणु यदि स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप में रहते हैं तो आकाश के तीन प्रदेश में रहते हैं परन्तु जब परस्पर बंध जाते हैं तो एक प्रदेश, दो प्रदेश और तीन प्रदेश में भी रह सकते हैं। इसी प्रकार बंधविशेष के कारण संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्धों का लोकाकाश के एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशों में अवस्थान जानना चाहिए।

एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु से लेकर अनन्तानन्त परमाणु समावेश होकर रहने का कारण यह है कि, पुद्गल के प्रचय विशेष सूक्ष्म परिणामन और आकाश की अवगाहन शक्ति के कारण होता है।

एक कोठे (कमरे) में अवरोध रूप से अनेक प्रकाशों का अवस्थान

देखा जाता है। जैसे एक कमरे में बहुत से दीपकों का प्रकाश रह जाता है, न तो उससे क्षेत्र विभाग (भिन्न-भिन्न क्षेत्र) होता है और न एक प्रदेश में रहने से उन सब प्रकाशों का एकत्व होता है अर्थात् उनकी पृथक् सत्ता नष्ट नहीं होती है; उसी प्रकार एक प्रदेश में अनन्त स्कन्ध अतिसूक्ष्म परिणमन के कारण स्वभाव में साङ्कर्य हुए बिना ही रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है।

अथवा, द्रव्य का स्वभाव तर्कणा के योग्य नहीं है क्योंकि द्रव्यों के स्वभाव प्रतिनियम होते हैं। उनके स्वभाव में ऐसा हो, ऐसा न हो; ऐसा तर्क नहीं चलता। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाने पकाने आदि का है और तृण आदि का स्वभाव जलने पकने आदि का है। इनके स्वभाव में कोई तर्क नहीं चलता, उसी प्रकार पुद्गलादि के मूर्तिमान द्रव्य होने पर भी अनेक स्कन्धों का एक आकाश प्रदेश में अवगाहन स्वभाव के कारण अवस्थान होने में कोई विरोध नहीं है अर्थात् एक प्रदेश में अनेक स्कन्ध रह सकते हैं।

अथवा आर्षप्रणीत आगम होने से सूक्ष्म निगोदिया जीवों के अवस्थान के समान एक प्रदेश में अनेक स्कन्ध रह जाते हैं। सर्वज्ञ ज्ञान के द्वारा जिसके अर्थ का सार प्रकट किया गया है, गणधरों ने जिसके वचनों का अनुसरण करके जिसकी रचना की है अर्थात् अज्ञों में विभक्त किया है तथा आरातीय (प्राचीन) आचार्यों के शिष्यों-प्रतिशिष्यों के प्रबन्ध से विच्छेद के बिना अविच्छिन्न रूप से जिसकी सन्तान-परम्परा चली आ रही है, उन निर्दोष ग्रन्थों को आर्ष कहते हैं। उन आर्ष (ऋषिप्रणीत) ग्रन्थों में लिखा है कि सारा लोक-अनन्तानन्त विविध प्रकार के बादर एवं सूक्ष्म पुद्गलकाय के द्वारा ठसा-ठस भरा हुआ है; आदि। अतः आर्ष वाक्यों की प्रमाणता से भी उक्त स्कन्धों का एकादि प्रदेशों में अवगाह जानना चाहिये। जैसे सर्वज्ञप्रणीत आगम के अनुसार एक निगोद शरीर में साधारण आहार, जीवन-मरण और श्वासोच्छ्वास होने से साधारण संज्ञा वाले अनन्त निगोदियों का अवस्थान बताया है, इसलिये साधारण यह अन्वर्थ संज्ञा आगम प्रमाण से जानी जाती है, उसी प्रकार आगम में यह भी बताया है कि 'यह सारा लोकाकाश सर्वतः अनन्तानन्त विविध सूक्ष्म और बादर पुद्गलकार्यों से ठसाठस भरा हुआ है।' अतः आगम प्रमाण से इनका

भी अवस्थान समझना चाहिये।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है—

लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः ।  
पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञशासनम् ॥(25)

अध्याय 3 पृ.95

अवगाहनसामर्थ्यात्सूक्ष्मत्वपरिणामिनः ।

तिष्ठन्त्येकप्रदेशेऽपि बहवोऽपि हि पुद्गलाः ॥(26)

एकापवरकेऽनेकप्रकाशस्थितिदर्शनात् ।

न च क्षेत्रविभागः स्यान्न चैक्यमवगाहिनाम् ॥(27)

अल्पेधिकरणे द्रव्यं महीयो नावतिष्ठते ।

इदं न क्षमते युक्तिं दुःशिक्षितकृतं वचः ॥(28)

अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा प्रचयस्य विशेषतः ।

पुद्गलानां बहूनां हि करीषपटलादिषु ॥(29)

पुद्गल द्रव्य लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर समस्त लोकाकाश में स्थित हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान् का कथन है। दूसरे प्रदेशों के लिये स्थान देने की सामर्थ्य होने से सूक्ष्म परिणामन करने वाले बहुत पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में रह जाते हैं। एक घर में अनेक दीपकों के प्रकाश की स्थिति देखी जाती है, इसलिये अवगाहन करने वाले द्रव्यों का क्षेत्र जुदा-जुदा नहीं होता और न उन द्रव्यों में एकरूपता आती है। “छोटे अधिकरण में बहुत बड़ा द्रव्य नहीं रह सकता” ऐसा अज्ञानी जनों का कहना युक्ति को प्राप्त नहीं है क्योंकि छोटे क्षेत्र में भी सन्निवेशकी विशेषता से बहुत से पुद्गलों की स्थिति देखी जाती है। जैसे गोबर के उपला आदि में धूम के बहुत से प्रदेशों की स्थिति देखी जाती है।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् । (15)

लोकाकाशे असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति ।

The place of souls is in one or more of (these) innumerable parts.

जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग आदि में है।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं उसके असंख्यातवें भाग करने पर जो एक भाग प्राप्त होगा उसे असंख्यातवां भाग कहते हैं। उस असंख्यातवें भाग में भी असंख्यात प्रदेश होते हैं क्योंकि असंख्यात को असंख्यात से भाग करने पर भागफल भी असंख्यात ही आता है; परन्तु भागफल भाज्य से छोटा होगा। ऐसे लोकाकाश में एक जीव रह सकता है। इसका स्पष्टीकरण इसी प्रकार है :-

एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है। इस प्रकार दो, तीन और चार आदि असंख्यातवें भागों को लेकर सब लोकपर्यन्त एक जीव का अवगाह जानना चाहिए। किन्तु नाना जीवों का अवगाह सब लोक में ही होता है।

यदि लोक के एक असंख्यातवें भाग में एक जीव रहता है तो संख्या की अपेक्षा अनन्तानन्त सशरीर जीवराशि लोकाकाश में कैसे रह सकती हैं ?

समाधान-जीव दो प्रकार के हैं सूक्ष्म और बादर, अतः उनका लोकाकाश में अवस्थान बन जाता है। जो बादर जीव है उनका शरीर तो प्रतिघात सहित होता है। किन्तु जो सूक्ष्म हैं वे यद्यपि सशरीर हैं तो भी सूक्ष्म होने के कारण एक निगोद जीव आकाश के जितने प्रदेशों को अवगाहन करता है उतने में साधारण शरीर वाले अनन्तानन्त जीव रह जाते हैं। वे परस्पर में और बादरों के साथ व्याघात को नहीं प्राप्त होते इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों के अवगाह में कोई विरोध नहीं आता।

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगो त्ति ।

अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥(584)

एक जीव अपने प्रदेशों के संहार विसर्प की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक में व्याप्त होकर रहता है। (गोम्मट्टुसार जीवकाण्ड पृ. 264)

**जीव प्रदेशों का संकोच विस्तार स्वभाव**

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् प्रदीपवत् । (16)

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् लोकाकाशे असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति ।



By the contraction and expansion of the pradesas, the soul although it has a countless number of paradesas, occupies space like the light from a lamp. It can occupy the smallest possible body, viz., that of a bacterium or the biggest body of a Mahamaccha, with a length of 1,000 yojanas.

**क्योंकि प्रदीप के समान जीव के प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है।**

लोकाकाश में जितने प्रदेश होते हैं उतने ही प्रदेश एक जीव द्रव्य में होते हैं। यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि दोनों के प्रदेश समान हैं तो एक लोकाकाश में एक जीव रह सकता है, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात अनंत नहीं। इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

कार्माण शरीर के वश से ग्रहण किये गये सूक्ष्म एवं बादर शरीर के अनुसार अनुवर्तन होना संहार और विसर्प है। अमूर्त स्वभाव वाला भी आत्मा अनादि सम्बन्ध के प्रति एकत्व होने से कथञ्चित् मूर्तता को धारण किये हुये है और लोकाकाश के बराबर इसके प्रदेश हैं फिर भी जब यह कार्माण शरीर के कारण ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर में रहता है तब इसके प्रदेशों का शुष्क चर्म के समान संकोचित होकर प्रदेशों का संहार हो जाता है। जब कार्माण शरीर के कारण बादर शरीर में रहता है तब जल में तेल के समान प्रदेशों का फैलाव होकर विसर्पण हो जाता है।

उस संकोच-विस्तार के कारण प्रदीप के समान लोक के असंख्येयादि भागों में जीव रहता है। जैसे-निरावरण आकाश प्रदेश में रखे हुए प्रदीप का आकाश बहुदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा, मानिका और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिमाण वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाश प्रदेश में बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला भी दीपक का प्रकाश सिकोरा आदि आवरण में संकुचित होकर जहाँ रखा गया है, उसी प्रमाण हो जाता है अर्थात् उतने में ही सीमित हो जाता है, उसी प्रकार संहार और विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के भी असंख्येय एक भागादि में परिच्छिन्न वृत्ति जाननी चाहिए।

पञ्चास्तिकाय में कुन्द कुन्द देव ने भी कहा है—

जह पउमरायरयणं खित्त खीरे ऽभासयदि खीरं।

तह देही देहत्थो संहमेत्तं पभासयदि ॥(33)

पृ.123

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर दूध को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार देही-देह में रहता हुआ स्वदेह प्रमाण प्रकाशित होता है।

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर अपने से अभिन्न प्रभासमूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अनादिकाल से कषाय द्वारा मलिनता के कारण प्राप्त शरीर में रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त होता है और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्मरागरत्न के प्रभा समूह में उफान आता है। (अर्थात् वह विस्तार को प्राप्त होता है) और दूध बैठ जाने पर प्रभा समूह भी बैठ जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहारादि के वश उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनः जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्वप्रभासमूह के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अन्य छोटे शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि, अमूर्त जीव का संकोच विस्तार कैसे संभव है? उसका समाधान किया जाता है—

अमूर्त के संकोच-विस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योंकि सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि जीव स्थूल तथा कृश शरीर में तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है। जीव के जो प्रदेश मोटे शरीर में फैले हुए थे, वे ही शरीर के पतले हो जाने पर सिकुड़ गये तथा बालक के शरीर में जो जीव के प्रदेश सिकुड़े हुये थे, वे ही कुमार अवस्था के शरीर में फैल जाते हैं। इस प्रकार से जीव के प्रदेशों का संकोच तथा

विस्तार सिद्ध होता है। पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा से एक प्रदेश मात्र होने से यथोक्त (पूर्व कथित) प्रकार के अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेश आदि (द्वयणुक आदि) स्कंधों के हेतुभूत तथाविध (उस प्रकार के) स्निग्ध और रूक्षगुणरूप परिणमित होने की शक्ति रूप स्वभाव के कारण उस पुद्गल के प्रदेशों का (बहु प्रदेशत्व का) उद्भव है। इसलिये पर्यायतः अनेक प्रदेशित्व की भी संभावना होने से पुद्गल द्विप्रदेशत्व से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशत्व भी न्याय युक्त है।

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति ।

अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥(584)

(गोम्मटसार जीवकाण्ड पृ. 264)

एक जीव अपने प्रदेशों के संहार-विसर्प की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक में व्याप्त होकर रहता है।

आत्मा में प्रदेश संहार-विसर्पत्व गुण है। इसके निमित्त से उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं, इसलिये एक क्षेत्र शरीर प्रमाण की अपेक्षा अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर हजार योजन तक का होता है। इसके आगे समुद्रात की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग, संख्यातवें भाग, तथा सम्पूर्ण लोक प्रमाण भी होता है।

**धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार व लक्षण**

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः । (17)

जीवानाम् पुद्गलानाम् च गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारो भवति ।

The function of Dharma and Adharma is to support respectively the motion and rest of souls and matter.

गति और स्थिति में निमित्त होना यह क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।

इस विश्व में जीव एवं पुद्गल गति-शक्ति युक्त हैं अर्थात् ये दोनों ही द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करते हैं। इन दोनों की गति सहित स्थिति भी होती है। गति सहित स्थिति करने के लिए दोनों समर्थ होते हुए

भी गति-स्थिति के लिए बाह्य निमित्त की आवश्यकता पड़ती है। गति के लिए धर्म द्रव्य उदासीन कारण है एवं स्थिति के लिए अधर्म द्रव्य उदासीन कारण है। यहां पर धर्म द्रव्य एक अमूर्तिक गति माध्यम द्रव्य है, न कि पुण्य या धर्म है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्थिति माध्यम अमूर्तिक द्रव्य है न कि पाप है।

जिस प्रकार स्व शक्ति से गमन करती हुई रेल के लिए रेल की पटरी की परम आवश्यकता होती है, रेल की पटरी के बिना रेल नहीं चल सकती है, उसी प्रकार, धर्म द्रव्य क्रिया के लिए नितांत आवश्यक है। विश्व की समस्त स्थानांतरित रूप क्रिया (एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए गमन) बिना धर्म द्रव्य की सहायता से नहीं हो सकती है, यहाँ तक कि श्वासोच्छ्वास के लिए रक्त संचालन के लिये, पलक झपकने के लिये, अंग-प्रत्यंग संकोच-विस्तार के लिये, तार, बेतार के माध्यम से शब्द भेजने के लिये, रेडियो, टी.वी., सिनेमा आदि में संवाद एवं चित्र भेजने के लिये, देखने के लिए एवं सुनने के लिये, ग्रह से ग्रहान्तर तक संवाद, चित्र भेजने के लिये, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि के गमनागमन के लिये धर्म द्रव्य की सहायता नितांत आवश्यक है। धर्म द्रव्य के अभाव में ये क्रियायें नहीं हो सकती हैं।

जैसे गमन करते हुए पथिक वृक्ष की छाया में बैठा है तब छाया ठहरने के लिये उदासीन कारण बनती है। जैसे-रेल को ठहराने के लिए स्टेशन की रेलपटरी सहायक होती है, बैठने के लिये कुर्सी, पाटा, चटाई आदि सहायक होती है, किन्तु कुर्सी आदि जबरदस्ती मनुष्य को पकड़कर नहीं बैठाती। वैसे ही धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल को गति में सहायक होता है। इसलिये उदासीन शब्द कहा है जो कि महत्त्व का है।

अधर्म द्रव्य के अभाव से स्थिर रहने रूप क्रिया नहीं हो सकती है। इसके अभाव से विश्व के सम्पूर्ण जीव एवं पुद्गल अनिश्चित एवं अव्यवस्थित रूप से सर्वदा चलायमान ही रहेंगे। टेबल के ऊपर पुस्तक रखने पर दूसरे समय में पुस्तक वहाँ पर नहीं रहेगी। गाड़ी को रोकने पर भी गाड़ी नहीं रुकेगी, कोई भी व्यक्ति कुछ निश्चित समय के लिए एक ही स्थान में खड़ा या बैठा नहीं रह सकता है। यहाँ तक की सम्पूर्ण विश्व यदृच्छाभाव से यत्र तत्र फैल

कर अव्यवस्थित हो जायेगा और वर्तमान में जो विश्व की संगठन (संरचना) है, वह नहीं रह सकती है। शरीर का भी जो संगठन है, वह भी फैलकर के विस्फोट होकर यत्र-तत्र बिछुड़ जावेगा।

धर्म द्रव्य के साथ वैज्ञानिक जगत् के ईश्वर कुछ हद तक समान मान सकते हैं परन्तु जैन धर्म में जो तथ्य पूर्ण वर्णन है वह वर्णन वैज्ञानिक जगत् के ईश्वर में नहीं पाया जाता है। ईश्वर का शोध अभी हुआ है किन्तु धर्म द्रव्य का वर्णन जैन धर्म में प्राचीन काल से है।

आधुनिक विज्ञान की अपेक्षा जो केन्द्राकर्षण शक्ति Gravitational Force है उसके साथ अधर्म द्रव्य की कुछ सदृश्यता पायी जाती है। परन्तु अधर्मद्रव्य की जो सटीक वैज्ञानिक सूक्ष्म परिभाषा है, वह केन्द्राकर्षण शक्ति में नहीं है। पंचास्तिकाय में कुन्द-कुन्द देव ने धर्म तथा अधर्म का सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार किया है—

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णागंधं असद्दम्पकासं।  
 लोगागाढं पुढं पिहलमसंखादियपदेसं ॥(83)

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण का अत्यन्त अभाव होने से धर्मास्तिकाय वास्तव में अमूर्त स्वभाव वाला है, और इसीलिये अशब्द है, समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से लोकव्यापक है, अयुतसिद्ध (असंयोगी) प्रदेश वाला होने से अखण्ड है, स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से विशाल है, निश्चयनय से एक प्रदेशी (अखण्ड) होने पर भी व्यवहारनय से असंख्यात प्रदेशी है।

अगुरुगलधुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।  
 गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥(84)

धर्म (धर्मास्तिकाय) अगुरुलघु गुणों रूप से अर्थात् अगुरुलघुत्व नाम का जो स्वरूपप्रतिष्ठत्व के कारणभूत स्वभाव उसके अविभाग प्रतिच्छेदों रूप से - जो किं प्रतिसमय होने वाली षट्स्थानपतित वृद्धिहानि वाले अनंत हैं उनके रूप से - सदैव परिणमित होने से उत्पाद व्यय वाला है, तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता इसीलिये नित्य है, गतिक्रियारूप से परिणमित होने में (जीव पुद्गलों को) उदासीन अविनाभावी सहायमात्र होने से गति क्रियापरिणाम को

कारणभूत है, अपने अस्तित्वमात्र से निष्पन्न होने के कारण स्वयं अकार्य है।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।  
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि॥(85)

जिस प्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करती हुई मछलियों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप से कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्म (धर्मास्तिकाय) भी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करते हुए जीव पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप से कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है (सहायक होता है)।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।  
ठिट्ठिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव॥(86)

जैसे पहले धर्म द्रव्य के सम्बन्ध में कहा था कि, वह रस आदि से रहित अमूर्तिक है, नित्य है, अकृत्रिम है, परिणमनशील है व लोकव्यापी है जैसे ही अधर्म द्रव्य को जानना चाहिये। विशेष यह है कि धर्मद्रव्य तो मछलियों के लिये जल की तरह जीव पुद्गलों के गमन में बाहरी सहकारी कारण है। यह अधर्म द्रव्य जैसे-पृथिवी स्वयं पहले से ठहरी हुई दूसरों को न ठहराती हुई घोड़े आदि के ठहरने में बाहरी सहकारी कारण है वैसे स्वयं पहले से ही ठहरा हुआ व जीव पुद्गलों को न ठहराता हुआ उनके स्वयं ठहरते हुए उनके ठहरने में सहकारी कारण है।

जादो अलोगलोगो जेसिं सन्भावदो य गमणठिदि।  
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य॥(87)

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य विद्यमान हैं क्योंकि लोक और अलोक का विभाग अन्यथा नहीं बन सकता। जीवादि सर्व पदार्थों के एकत्र अस्तित्वरूप लोक है, शुद्ध एक आकाश से अस्तित्व रूप अलोक है। वहाँ जीव और पुद्गल स्वरस से ही (स्वभाव से ही) गतिपरिणाम को तथा गतिपूर्वक स्थितीपरिणाम को प्राप्त होते हैं। यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का स्वयं अनुभव (परिणमन) करने वाले उन जीव पुद्गल को बहिरंगहेतु धर्म और अधर्म

न हों, तो जीव पुद्गल के निरंतर गति परिणाम और स्थितिपरिणाम होने से अलोक में भी उनका (जीव-पुद्गल का) होना किससे निवारा जा सकता है? (किसी से नहीं निवारा जा सकता) इसलिये लोक और अलोक का विभाग सिद्ध नहीं होगा किन्तु यदि जीव-पुद्गल की गति के और गतिपूर्वकस्थिति के बहिरंग हेतुओं के रूप में धर्म और अधर्म का सद्भाव स्वीकार किया जाये तो लोक और अलोक का विभाग (सिद्ध) होता है। (इसीलिये धर्म और अधर्म विद्यमान हैं) धर्म और अधर्म दोनों परस्पर पृथग्भूत अस्तित्व से निष्पन्न होने से विभक्त (भिन्न) हैं, एक क्षेत्रावगाही होने से अविभक्त (अभिन्न) हैं, समस्त लोक में प्रवर्तमान जीव-पुद्गलों को गति-स्थिति में निष्क्रिय रूप से अनुग्रह करते हैं इसलिये लोकप्रमाण हैं।

**ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।**

**ह्वदि गदिस्स प्पसरो जीवाणं पुगलाणं च॥(88)**

जैसे घोड़ा स्वयं चलता हुआ अपने ऊपर चढ़े हुए सवार के गमन का कारण होता है ऐसा धर्मास्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह क्रियारहित है, किन्तु जैसे जल स्वयं ठहरा हुआ है तो भी स्वयं अपनी इच्छा से चलती हुई मछलियों के गमन में उदासीनपने से निमित्त हो जाता है, वैसे धर्म द्रव्य भी स्वयं ठहरा हुआ अपने ही उपादान कारण से चलते हुए जीव और पुद्गलों को बिना प्रेरणा किये हुए उनके गमन में बाहरी निमित्त हो जाता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय उदासीन है तो भी जीव पुद्गलों की गति में हेतु होता है। जैसे-जल उदासीन है तो भी वह मछलियों के अपने ही उपादान बल से गमन में सहकारी होता है। जैसे स्वयं ठहरते हुए घोड़ों को पृथ्वी व पथिकों को छाया सहायक है वैसे ही अधर्मास्तिकाय स्वयं ठहरा हुआ है तो भी अपने उपादान कारण से ठहरे हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति में बाहरी कारण होता है।

**विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।**

**ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति॥(89)**

धर्मद्रव्य कभी अपने गमनहेतुपने को छोड़ता नहीं है तैसे ही अधर्म कभी स्थितिहेतुपने को छोड़ता नहीं है। यदि ये ही गमन और स्थिति कराने में मुख्य

प्रेरक कारण हो जावें तो गति और स्थिति में परस्पर ईर्ष्या हो जावे। जिन द्रव्यों की गति हो वे सदा ही चलते रहें और जिनकी स्थिति हो वे सदा ही ठहरे रहे उनकी कभी गति न हो। ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता है किन्तु यह देखा जाता है कि, जो गमन करते हैं वे ही ठहरते हैं या जो ठहरे हुए हैं वे ही गमन करते हैं। इसी से सिद्ध है कि ये धर्म और अधर्म मुख्य हेतु नहीं हैं। यदि ये मुख्य हेतु नहीं है तो जीव और पुद्गलों की कैसे गति और स्थिति होती है। इसलिये कहते हैं कि, वे निश्चय से अपनी ही परिणमन शक्तियों से गति या स्थिति करते हैं। धर्म, अधर्म द्रव्य मात्र उदासीन सहायक है।

### आकाश का उपकार या लक्षण

आकाशस्यावगाहः। (18)

जीवानामजीवानाम् च आकाशस्य उपकारः अवगाहः।

The function of space, i.e. Akasa is to give place to all other substances.

अवकाश देना आकाश का उपकार है।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य एवं काल द्रव्य को अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य है। आकाश सबसे विशालतम द्रव्य है एवं सर्वव्यापी के साथ-साथ अवगाहनत्व शक्तियुक्त होने के कारण आकाश द्रव्य अन्य द्रव्यों को अवकाश देता है। द्रव्यसंग्रह में कहा भी है—

अवगासदाणं जोगं जीवादीणं विद्याणं आयासं।

जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसे आकाश द्रव्य जानना चाहिए। पंचास्तिकाय में भी कहा है—

सर्व्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।

जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं॥(90)

लोक में जीवों को और पुद्गलों को वैसे ही शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है, वह आकाश है।



## पुद्गल द्रव्य का उपकार

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् । (19)

शरीर वाङ्मनसूत्राण-अपानाः जीवानां पुद्गलानां उपकारः ।

The function of matter forms the physical basis of the bodies, speech mind the respiration of the souls.

शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है।

इस सूत्र में संसारी जीवों के लिए पुद्गल का क्या-क्या उपकार है उसका वर्णन किया गया है। संसारी जीवों के पांचों शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास पुद्गल से बनते हैं अर्थात् शरीर आदि पुद्गल स्वरूप हैं। गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में विश्व में स्थित 23 पौद्गलिक वर्गणाओं में से किन-किन वर्गणाओं से उपरोक्त शरीर आदि बनते हैं उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है--

आहारवर्गणादो तिष्णि सरीराणि ह्येति उस्सासो ।

णिस्सासो वि य तेजोवर्गणखंधादु तेजंगं ॥(607)

(गो.सा.पृ.272)

तेईस जाति की वर्गणाओं में से आहारवर्गणा के द्वारा औदारिक, वैक्रियक, आहारक, ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा तेजोवर्गणा रूप स्कन्ध के द्वारा तैजस शरीर बनता है।

भासमणवर्गणादो कमेण भासा मणं च कम्पादो ।

अदृठविहकम्मदब्बं होदि ति जिणेहिं णिद्धिट्ठं ॥(608)

भाषा वर्गणा के द्वारा चार प्रकार का वचन, मनोवर्गणा के द्वारा हृदय स्थान में अष्ट दल कमल के आकार का द्रव्यमन तथा कार्माण वर्गणा के द्वारा आठ प्रकार के कर्म बनते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

“शरीर आदि पौद्गलिक हैं” इसको सिद्ध करने के लिए तार्किक शिरोमणि भट्टअकलंक देव ने राजवार्तिक में तार्किक एवं वैज्ञानिक प्रणाली से बहुत सुन्दर वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार है--

1. शरीर पौद्गलिक- औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण

इन पाँचों शरीर कर्म मूलतः सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष हैं और जो स्थूल है वह प्रत्यक्ष है। मन अप्रत्यक्ष ही है। वचन और श्वासोच्छ्वास कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष हैं-क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय नहीं हैं अतः इन्द्रियों से अतीत हैं। अतः शरीर पुद्गल है।

**2. कार्माण शरीर पौद्गलिक-** यद्यपि कार्माण शरीर आकार रहित है तथापि मूर्तिमान् पुद्गलों के सम्बन्ध से अपना फल देता है, जैसे ब्रीहि (चावल) आदि धान्य, पानी, धूप आदि मूर्तिमान् पुद्गलों के सम्बन्ध से पकता है। इसलिए पौद्गलिक है, उसी प्रकार कार्माण शरीर भी गुड़ कंटक आदि मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से पकता है, अर्थात् इष्टानिष्ट बाह्य सामग्री के निमित्त से कार्माण शरीर अपना फल देता है, अतः कार्माण शरीर पौद्गलिक है, क्योंकि कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थ के सम्बन्ध से नहीं पकता तथा अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थ से विपच्यमान दृष्टिगोचर नहीं होता।

**वचन पौद्गलिक-** पुद्गल के निमित्त से होने से दोनों प्रकार के वचन पौद्गलिक हैं। वचन दो प्रकार के हैं-द्रव्यवचन और भाववचन। दोनों ही पौद्गलिक हैं क्योंकि दोनों ही पुद्गल के कार्य हैं अर्थात् पुद्गल के निमित्त से ही होते हैं। भाववचन, वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय के निमित्त से होते हैं। अतः भावमन पुद्गल का कार्य होने से पौद्गलिक है; यदि वीर्यान्तराय और मति-श्रुत-ज्ञानावरण रूप पौद्गलिक कर्मों का क्षयोपशम नहीं हो तो भाववचन हो ही नहीं सकता। भाववचन के सामर्थ्य वाले आत्मा के द्वारा प्रेर्यमाण पुद्गल वचनरूप से परिणत होते हैं अर्थात् आत्मा के द्वारा तालु आदि क्रिया से जो पुद्गल वर्गणाएं वचनरूप परिणत होती हैं उसे द्रव्यवचन कहते हैं। श्रोतेन्द्रिय का विषय होने से द्रव्य वचन भी पौद्गलिक है।

**प्रश्न** - यदि शब्द पौद्गलिक है तो एक बार ग्रहण होने के बाद उनका पुनः ग्रहण क्यों नहीं होता? अर्थात् एक बार उच्चारण करने के बाद वही शब्द पुनः सुनाई क्यों नहीं देता?

उत्तर – बिजली के समान असंहतत्व होने से पुनः गृहीत नहीं होते हैं। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध बिजली द्रव्य एक बार चमक कर फिर शीघ्र ही विशीर्ण; (नष्ट) हो जाता है अतः पुनः आँखों से दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार श्रोतेन्द्रिय के द्वारा एक बार उपलब्ध (सुने गये) वचन सम्पूर्ण से शीघ्र ही विशीर्ण हो जाने से पुनः दुबारा नहीं सुनाई देते।

प्रश्न – यदि शब्द पौद्गलिक हैं तो चक्षु आदि के द्वारा शब्दों का ग्रहण क्यों नहीं होता ?

उत्तर – घ्राण के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने पर गन्धद्रव्य रसादि की अनुपलब्धि के समान चक्षु आदि के द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। जैसे घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गन्धद्रव्य के साथ अविनाभावी रूप, रस, स्पर्श आदि विद्यमान रहकर के भी सूक्ष्म होने से घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध नहीं होते अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होते हैं, उसी प्रकार श्रोतेन्द्रिय के विषयभूत शब्द सूक्ष्म होने से चक्षु आदि शेष इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं होते।

शब्द को अमूर्तिक कहना उचित नहीं है क्योंकि शब्द का मूर्तिमान पदार्थ के द्वारा ग्रहण, प्रेरणा और अवरोध देखा जाता है। शब्द अमूर्तिक है 'अमूर्त आकाश का गुण होने से' यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि मूर्तिमान, पौद्गलिक पदार्थों के द्वारा ग्रहण होता है। कर्णेन्द्रिय का विषय होने से मूर्तिमान श्रोतेन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण होता है जो अमूर्त होता है वह किसी मूर्तिमान इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होता। वायु के द्वारा प्रेरित रूई की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित किया जाता है क्योंकि विरुद्ध दिशा में स्थित व्यक्ति को वह शब्द सुनाई देता है, अर्थात् जिस तरफ की वायु होती है उधर ही अधिक सुनाई देता है, वायु के प्रतिकूल होने से समीपस्थ को भी सुनाई नहीं देता है। इससे अनुमान होता है कि शब्द प्रेरित है और यंत्र के द्वारा प्रेरित कर दूसरे देशों में भिजवाया भी जाता है। अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान पदार्थों के द्वारा प्रेरित नहीं होता। नल, बिल, रिकार्ड आदि में नदी के जल की तरह शब्द रोका भी जाता है, परन्तु अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिमान किसी पदार्थ के द्वारा

अवरूद्ध हुआ नहीं देखा जाता है।

मूर्तिमान् पदार्थों के द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत होने से भी शब्द को मूर्तिमान् जानना चाहिए। जैसे सूर्य के प्रकाश से अभिभूत (तिरोभूत) होने वाले, होने से तारा आदि मूर्तिक हैं, उसी प्रकार सिंह की दहाड़, हाथी की चिंघाड़ और भेरी का घोष आदि महान् शब्द के द्वारा शकुनि (पक्षियों) के मन्द शब्द तिरोभूत होते हैं तथा कांसी आदि के बर्तन गिरने पर उत्पन्न ध्वनि, ध्वनि अन्तर के आरंभ में हेतु होती है। अथवा गिरि-गह्वर-कूप आदि में शब्द करने पर प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है। पर्वत की गुफाओं आदि से टकराकर प्रतिध्वनि होती है। अतः शब्द मूर्तिक है।

प्रश्न - अमूर्तिक पदार्थों का भी मूर्तिमान् पदार्थों के द्वारा तिरोभाव देखा जाता है, जैसे मूर्तिमान् मदिरा के द्वारा अमूर्तिक विज्ञान (इन्द्रियज्ञान) का तिरोभाव देखा जाता है, इसलिए मूर्तिमान् पदार्थों से मूर्तिमान् पदार्थों का ही अभिभव होता है, यह निश्चित हेतु नहीं है।

उत्तर - मूर्तिक मदिरा के द्वारा इन्द्रियज्ञान का जो अभिभव देखा जाता है वह भी मूर्त्त से मूर्तिक का ही अभिभव है, क्योंकि क्षयोपशमिक ज्ञान इन्द्रियादि पुद्गलों के आधीन होने से पौद्गलिक है, अन्यथा (यदि विज्ञान पौद्गलिक नहीं है तो) आकाश के समान विज्ञान का भी मदिरा आदि के द्वारा अभिभव नहीं हो सकता था। अतः उपर्युक्त हेतुओं से शब्द पौद्गलिक पदार्थ सिद्ध होता है।

4. प्राणापान पौद्गलिक- कोष्ठ (उदर) की वायु को उच्छ्वासलक्षण प्राण कहते हैं। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा शरीर कोष्ठ से जो वायु बाहर निकाली जाती है, उसको उच्छ्वासलक्षण प्राण कहते हैं।

बाह्य वायु को अभ्यन्तर करना अपान है। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम और अंगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा जो बाह्य वायु भीतर ली जाती है, उस निःश्वास को अपान कहते हैं। ये सोच्छ्वास (प्राणापान) आत्मा के जीवन में कारण होते हैं अतः इनके

द्वयस पुद्गल आत्मा का उपकार करता है।

इन सब का प्रतिघात देखा जाता है अतः ये सब मूर्तिक हैं। उन प्राणापान और वाङ् (वचन), मन, श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात आदि होने से इन को मूर्तिमान् (पौद्गलिक) समझना चाहिए। जैसे-भय के कारणों से तथा वज्रपात आदि के शब्दों के द्वारा मन का प्रतिघात और मदिरा आदि के द्वारा मन का अभिभव देखा जाता है। हाथ से मुख और नाक को बन्द कर देने पर श्वासोच्छ्वास का प्रतिघात और कण्ठ में कफ आदि के आजाने से श्वासोच्छ्वास का अभिभव देखा जाता है। अतः मन और श्वासोच्छ्वास पौद्गलिक हैं क्योंकि मूर्तिक पदार्थों के द्वारा अमूर्तिक पदार्थ के अभिघात और अभिभव (रूकावट) नहीं हो सकते।

श्वासोच्छ्वास रूपी कार्य से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इनके द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है; क्योंकि प्राणापानादि कर्म आत्मा के कार्य हैं अतः आत्मा रूपी कारण के बिना श्वासोच्छ्वास रूपी कार्य नहीं हो सकता, जैसे किसी यन्त्रमूर्ति की चेष्टाएँ उसके प्रयोक्ता का अस्ति बताती हैं उसी प्रकार प्राणापानादि क्रियाएँ क्रियावान् आत्मा की सिद्धि करती हैं।

**सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च । (20)**

जीवानां सुख-दुःख-जीवित-मरण-उपग्रहाश्च पुद्गलानामुपकारो भवति ।

Soul experiences pain, pleasure, life and death through the agency of matter.

**सुख, दुख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं।**

19 नम्बर सूत्र में बताया गया कि, परिमाण विशेष से गृहीत पुद्गल जैसे-शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय क्रम से गमन, व्यवहरण, चिन्तवन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते हैं वैसे सुख आदि भी पुद्गलकृत उपकार हैं उसको बताने के लिए इस सूत्र में कहते हैं कि सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्गल कृत उपकार हैं।

**(1) सुख :-** बाह्य कारणों के कारण और साता वेदनीय के उदय से

जो प्रसन्नता होती है, उसे सुख कहते हैं। जब आत्मा से बद्ध साता वेदनीय कर्मद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होता है।

(2) दुःख :- असाता वेदनीय कर्म के उदय से आत्म परिणामों में संक्लेश होता है वह दुःख है। जब आत्मा से बद्ध असाता वेदनीय कर्म द्रव्य, क्षेत्रादि बाह्य कारणों से परिपाक को प्राप्त होते हैं, तब आत्मा के जो संक्लेश परिणाम होते हैं, उसे दुःख कहा जाता है अर्थात् सातावेदनीय के उदय में सुख और असाता वेदनीय के उदय को दुःख कहते हैं।

(3) जीवित :- भवस्थिति में कारणभूत आयुर्कर्म द्रव्य से सम्बन्धित जीव के प्राणापान लक्षण क्रिया का उपरम नहीं होना ही जीवित है। भवधारण में कारण आयु नाम का कर्म है। उस आयु कर्म के उदय से प्राप्त भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) क्रिया का चालू रहना उसका उच्छेद नहीं होना ही जीवित है।

(4) मरण :- उस श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही मरण है। जीव के जीवित में कारण भूत श्वासोच्छ्वास का उच्छेद ही जीव का मरण है।

## जीवों का उपकार

परस्परोग्रहो जीवानाम्। (21)

परस्परोग्रहो जीवानां उपकारः भवति।

The mundane souls help the support each other.

परस्पर सहायता में निमित्त होना यह जीवों का उपकार है।

स्वामिसेवक आदि कर्म से वृत्ति (व्यापार) को परस्परोग्रह कहते हैं। स्वामी, नौकर, आचार्य (गुरु) शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैं, जैसे-स्वामी अपने धन का त्याग करके (रूपयादि प्रदान करके) सेवक का उपकार करते हैं और सेवक स्वामी के हितप्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध द्वारा उसका उपकार करता है। आचार्य (गुरु) उभय लोक का हितकारी मार्ग दिखाकर तथा हितकारी क्रिया का अनुष्ठान कराकर शिष्यों का उपकार करते हैं और शिष्य गुरु के अनुकूल वृत्ति से उपकार करते हैं।

यद्यपि 'उपग्रह' का प्रकरण है, फिर भी इस सूत्र में 'उपग्रह' शब्द के द्वारा पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट सुख-दुःख, जीवित और मरण इन चारों का ही प्रतिनिर्देश किया है। इन चारों के सिवाय जीवों का अन्य कोई परस्पर उपग्रह नहीं है, किन्तु पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट ही उपकार है।

स्त्री-पुरुष की रति के समान परस्पर उपकार का अनियम प्रदर्शित करने के लिए पुनः 'उपग्रह' वचन का प्रयोग सुखादि में सर्वथा नियम परस्पर उपकार का नहीं है, यह बताने के लिए पुनः उपग्रह वचन का प्रयोग किया है; क्योंकि कोई जीव अपने लिए सुख उत्पन्न करता हुआ कदाचित् दूसरे एक जीव को वा दो जीवों को वा बहुत से जीवों को सुखी करता है और कोई जीव अपने को दुःखी करता हुआ एक जीव को, दो जीवों को वा बहुत से जीवों को दुःखी करता है अथवा कभी एक, दो, बहुत जीवों तथा अपने आपके लिए सुख या दुःख करता हुआ दूसरे एक वा दो वा बहुत से जीवों के लिए सुख दुःख उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। स्वयं दुःखी भी दूसरे को सुखी और स्वयं सुखी भी दूसरे को दुःखी कर सकता है। अतः कोई निश्चित नियम नहीं है कि सुखी सुख पहुँचाये और दुःखी दुःख ही करें।

### काल का उपकार

**वर्तना परिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य। (22)**

**वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च जीवानाम् पुद्गलानाम् कालस्य उपकारो भवति।**

The function of time is to assist substances in their continuing to exist (vartana) in their modifications (parinama) in their movements (kriya) and in their priority (paratva) and non-priority or Juniority in time (aparatva).

**वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं।**

विश्व में जड़-चेतन में मूर्तिक-अमूर्तिक में जो सूक्ष्म-स्थूल, शुद्ध-अशुद्ध परिणामन (परिवर्तन) होता है वह परिणामन दो कारण से होता है (1) उपादान कारण (2) निमित्त कारण। उपादान कारण को मुख्य कारण (स्व कारण) एवं

निमित्त कारण को गौण कारण (बाह्य कारण) कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में परिणमन शक्ति (अगुरुलघुत्व गुण) होती है जो कि परिणमन के लिए मुख्य कारण है। इस मुख्य कारण को सहायता पहुँचाने वाला गौण कारण है। जैसे-कुम्हार का चक्र नीचे के पत्थर के आधार पर परिभ्रमण करता है इस परिभ्रमण में चक्र की स्वयोग्यता मुख्य कारण है और नीचे का पत्थर गौण कारण है। इसी प्रकार द्रव्य परिणमन में स्वयोग्यता मुख्य कारण और कालद्रव्य गौण कारण है। इसलिये इस सूत्र में वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल द्रव्य के उपकार हैं।

(1) वर्तना :- धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी वह बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती इसलिये उसे प्रवृत्ति वाला काल है। यही 'वर्तना लक्षण' काल द्रव्य का उपकार है।

(2) परिणाम :- एक धर्म की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के पैदा करने रूप और परिस्पन्द से रहित द्रव्य की जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं।

(3) क्रिया :- द्रव्य में जो परिस्पन्द रूप परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं। इसके दो भेद हैं (1) प्रायोगिक (2) वैज्ञानिक। उनमें से गाड़ी आदि की प्रायोगिकी क्रिया है और मेवादिक की वैज्ञानिकी।

(4) परत्वापरत्व :- परत्व और अपरत्व दो प्रकार का है- (1) क्षेत्रकृत (2) कालकृत। प्रकृत (यहां पर) में कालकृत उपकार का प्रकरण है इसलिये कालकृत परत्व और अपरत्व को यहां ग्रहण किया गया है। ये सब वर्तनादिक काल के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है।-

कालद्रव्य का लक्षण :-

स कालो यन्निमित्ताः स्युः परिणामादिवृत्तयः।

वर्तनालक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः ॥(40)

(तत्त्वार्थसार, पृ.98 तृतियाधिकार)

काल वह कहलाता है जिसके निमित्त से परिणाम, क्रिया, परत्व तथा



अपरत्व होते हैं। विद्वान लोग वर्तना को काल का लक्षण कहते हैं।

**वर्तना का लक्षण :-**

अन्तर्नीतिकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम्।  
अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना॥(41)

प्रत्येक द्रव्य के एक-एक समयवर्ती परिणमनमें जो स्वसत्ता की अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते हैं।

**कालद्रव्य की हेतुकर्तृता का वर्णन :-**

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः।  
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम्॥(42)

सब द्रव्य, अपनी-अपनी पर्यायोरूप परिणमन स्वयं करता है फिर भी वर्तना का कारण होने से कालद्रव्य हेतुकर्तृता को प्राप्त होता है।

**कालद्रव्य की हेतुकर्तृता का समर्थन :-**

न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते।  
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते॥(43)

यद्यपि कालद्रव्य स्वयं निष्क्रिय है तथापि इसकी हेतुकर्तृता विरुद्ध नहीं हैं क्योंकि निमित्तमात्र में भी हेतुकर्तृता मानी जाती है।

**कालाणु किस प्रकार कहाँ स्थित है ?**

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः।  
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थिताः॥(44)

उस काल द्रव्य के क्रियारहित प्रत्येक अणु रत्नों की राशि के समान लोकाकाश के प्रदेशों पर एक-एक स्थित है।

**व्यवहारकाल के परिचायक लिङ्ग :-**

व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया।  
परत्वं चापरत्वं च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः॥(45)

परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व को महर्षियों ने व्यावहारिक कालका

लिङ्ग परिचायक चिन्ह कहा है।

**परिणाम का लक्षण :-**

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः।

परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः ॥(46)

अपनी जाति का विरोध न करते हुए वस्तु का जो विकार है- परिणामन है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने परिणाम कहा है। यह परिणाम हलन चलनरूप नहीं होता।

**क्रिया का लक्षण :-**

प्रयोगविस्त्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते।

द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया ॥(47)

प्रेरणा और स्वभाव इन दो निमित्तों से द्रव्य में जो हलन-चलनरूप परिणति होती है उसे क्रिया जानना चाहिये।

**परत्व और अपरत्व का लक्षण :-**

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत्सन्निकृष्टता।

ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणादिह ॥(48)

दूरी को परत्व और निकटता को अपरत्व कहते हैं। यहाँ काल द्रव्य का प्रकरण होने से दूरी और निकटता ही ग्रहण करना चाहिए।

उन्हों द्रव्य में से विश्व संरचना के लिए जीव का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। जीव ज्ञाता है, दृष्टा है, कर्ता है, भोक्ता है, प्रभू है, विभु है। जीव बिना समस्त विश्व श्मशान के समान सन्नाटामय चैतन्य रहित है। द्वितीय महत्वपूर्ण भूमिका पुद्गल द्रव्य की है। विश्व के संचालन में जितना जीव का हाथ है उतना ही हाथ पुद्गल का भी है। विश्व की समस्त भौतिक-संरचना पुद्गल से होती है। विश्व को गृह मानने पर गृह का मालिक जीव है एवं गृह का निर्माण पुद्गल से होता है। धर्म द्रव्य, आने वाले पथिक के लिए मार्ग का काम करता है, तो अधर्म द्रव्य पथिक के लिए स्टेशन है। काल पुरातन को मिटाकर नवीनीकरण के लिये सूत्रधार है तो आकाश सबको विश्राम देने के

लिये सहायता करता है। इस प्रकार विश्व के लिये छह द्रव्य परस्पर सहयोग देकर अनादि से सह-अवस्थान कर रहे हैं एवं करते रहेंगे।

### पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । (23)

Pudgalal or matter has four chief characteristics associated with it, viz; touch, taste, smell and colour.

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

19 एवं 20 नम्बर सूत्र में पुद्गल द्रव्य के उपकार का वर्णन किया गया पर अभी तक पुद्गल द्रव्य के लक्षण का वर्णन नहीं किया गया था। इस सूत्र में पुद्गल द्रव्य के लक्षण का वर्णन किया गया है।

जो स्पर्श किया जाता है, उसे या स्पर्शन मात्र को स्पर्श कहते हैं। कोमल, कठोर, भारी, हलका, ठंडा, गरम, स्निग्ध और रुक्ष के भेद से वह आठ प्रकार का है। जो स्वाद रूप होता है या स्वादमात्र को रस कहते हैं। तीता, खट्टा, कडुवा, मीठा, और कसैला के भेद से वह पाँच प्रकार का है। जो सूँघा जाता है या सूँघने मात्र को गंध कहते हैं। उपरोक्त सुगन्ध-दुर्गन्ध ऐसे दो भेद है। दृश्यमान श्वेत आदि वर्ण है। वह पाँच प्रकार है। ये स्पर्श आदि के मूल भेद हैं। वैसे, प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। जैसे रस में मधुर रस को लें— चावल भी मधुर है, केला भी मधुर है, गन्नारस भी मधुर है, गुड, शक्कर और चीनी भी मधुर है। प्रत्येक की मधुरता में हीनाधिकता है क्योंकि मधुर रस में जो अनुभागप्रतिच्छेद (शक्त्यंश) है उसमें हीनाधिकता है। इसी प्रकार उपरोक्त प्रत्येक द्रव्य के शक्ति-अंश में भी हीनाधिकता है। इसी प्रकार स्पर्श, गन्ध और वर्ण वाले कहे जाते हैं। इनका पुद्गल द्रव्य से सदा सम्बन्ध है।

### पुद्गल की पर्याय

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च । (24)

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमः

छाया-आतप-उद्योत-वन्तश्च पुद्गला भवन्ति ।

Manifestations of pudgala (matter) take the form of sound, union, fineness, grossness, figure, divisibility, darkness, shade or image, sunshine and moonlight.

तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले होते हैं।

इस सूत्र में आधुनिक विज्ञान की, भौतिक विज्ञान की विभिन्न शाखायें तथा रासायनिक विज्ञान की शाखाओं का वर्णन किया गया है पाँचों इन्द्रियों के विषय अर्थात् पाँचों इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य सम्पूर्ण पदार्थ पुद्गल की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जैसे— कान से सुनने योग्य शब्द, आँखों से देखने योग्य वर्ण एवं संस्थान, प्रकाश-अन्धकार, छोटा-बड़ा आकार आदि। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।

उज्जोदादवसहिया पुगलदव्वस्स पज्जाया ॥(16)

द्रव्य संग्रह

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इस से सहित जो हैं वे सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं।

(1) शब्द— शब्द के दो भेद हैं (1) भाषात्मक शब्द (2) अभाषारूप। भाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं:— (1) साक्षर (2) अनक्षर। जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं और जिससे आर्य और म्लेच्छों का व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं। जिससे उनके सातिशय ज्ञान के स्वरूप का पता लगता है ऐसे दो इन्द्रिय आदि जीवों के शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। ये दोनों प्रकार के शब्द प्रायोगिक हैं। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं— (1) प्रायोगिक (2) वैमलसिक। मेघ आदि के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे वैमलसिक शब्द है। तथा तत, वितत, घन और सौषिर के भेद से प्रायोगिक शब्द चार प्रकार के हैं। चमड़े से मढ़े हुए पुष्कर, भेरी और दुर्द से जो शब्द उत्पन्न होता है वह तत् शब्द है। तांत वाले वीणा और सुघोष आदि के ताडन से जो शब्द उत्पन्न होता है वह वितत् शब्द है। ताल, घण्टा

आदि के ताड़न से जो शब्द उत्पन्न होता है वह घन शब्द है। तथा बाँसुरी और शंख आदि के फूँकने से जो शब्द उत्पन्न होता है वह सौषिर शब्द है।

(2) बन्ध— बन्ध के दो भेद हैं— वैज्ञानिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है वह वैज्ञानिक बन्ध है। जैसे-स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होने वाला बिजली, उल्का, मेघ, अग्नि और इन्द्रधनुष आदि का विषयभूत बन्ध वैज्ञानिक बन्ध है। और जो बन्ध पुरुष के प्रयोग के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। इसके दो भेद हैं— अजीव सम्बन्धी और जीवाजीवसम्बन्धी। लाख और लकड़ी आदि का अजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है। तथा कर्म और नोकर्म का जो जीव से बन्ध होता है वह जीवाजीवसम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है।

(3) सूक्ष्मत्व— सूक्ष्मत्व के दो भेद हैं— (1) अन्त्य (2) आपेक्षिक। परमाणुओं में अन्त्य सूक्ष्मत्व है तथा बेल, आँवला और बेर आदि में आपेक्षिक सूक्ष्मत्व है।

(4) स्थूलत्व— स्थूलत्व भी दो प्रकार का है— (1) अन्त्य (2) आपेक्षिक। जगव्यापी महास्कन्ध में अन्त्य स्थूलत्व है तथा बेर, आँवला और बेल आदि में आपेक्षिक स्थूलत्व है।

(5) संस्थान— संस्थान का अर्थ आकृति (आकार) है। इसके दो भेद हैं— (1) इत्थंलक्षण (2) अनित्थंलक्षण। जिसके विषय में यह संस्थान इस प्रकार का है यह निर्देश किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान हैं। तथा इसके अतिरिक्त मेघ आदि के आकार जो कि अनेक प्रकार के हैं और जिनके विषय में यह इस प्रकार का है यह नहीं कहा जा सकता वह अनित्थंलक्षण संस्थान है।

(6) भेद— भेद के छह भेद हैं— (1) उत्कर (2) चूर्ण (3) खण्ड (4) चूर्णिका (5) प्रतर (6) अणुचटन। करोंत आदि से जो लकड़ी को चीरा जाता है वह उत्कर नामका भेद है। जौ और गेहूँ आदि का जो सत्तू और कनक आदि बनता है वह चूर्ण नामका भेद है। घट आदि के जो कपील और शर्करा

आदि टुकड़े होते हैं वह खण्ड नामका भेद है। उड़द और मूंग आदि का जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नाम का भेद है। मेघ के जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं वह प्रतर नामका भेद है। तपाये हुए लोहेके गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो स्फुलिंगें निकलते हैं वह अणुचटन नामका भेद है।

(7) **अन्धकार**— जिससे दृष्टि में प्रतिबन्ध होता है और जो प्रकाश का विरोधी है वह तम कहलाता है।

(8) **छाया**— प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से जो पैदा होती हैं वह छाया कहलाती है। उसके दो भेद हैं— एक तो वर्णादि के विकार रूप से परिणत हुई और दूसरी प्रतिबिम्बरूप।

(9) **आतप**— जो सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं।

**उद्योत**— चन्द्रमणि और जुगुनू आदि के निमित्त से जो प्रकाश पैदा होता है उसे उद्योत कहते हैं।

## पुद्गल के भेद

अणवः स्कन्धाश्च । (25)

Matter exists in the form of indivisible elementary particles (atom) and their combinations (molecule)

**पुद्गल के दो भेद हैं— अणु और स्कन्ध ।**

जो पूरण, गलन धर्म वाला हो उसे 'पुद्गल' कहते हैं। पूरण अर्थात् मिलना गलन अर्थात् अलग होता है। जैसे-जल को ठंडा करने से जल के कण परस्पर मिलकर बर्फ बन जाते हैं एवं जल को गर्म करने से जल के कण अलग-अलग होकर वाष्प बन जाते हैं। विश्व में दृश्यमान तथा अन्य चारों इन्द्रियों से जानने योग्य पदार्थ पुद्गल ही हैं। मुख्यतः इस पुद्गल के दो भेद हैं— (1) अणु (2) स्कन्ध ।

एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य

रूप से जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे 'अणु' कहलाते हैं। यह इतना सूक्ष्म होता है जिससे वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। कहा भी है—

“अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।  
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु विआणाहि।”

जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है, और जिसे इन्द्रियों ग्रहण नहीं कर सकती ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु समझो।

जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है वे स्कन्ध कहे जाते हैं। पुद्गलों के अनन्त भेद हैं तो भी वे सब अणु जाति और स्कन्ध जाति के भेद से दो प्रकार के हैं। इस प्रकार पुद्गलों की इन दोनों जातियों के आधार भूत अनन्त भेदों के सूचन करने के लिए सूत्र में बहुवचन का निर्देश किया है। यद्यपि सूत्र में अणु और स्कन्ध इन दोनों पदों को समसित रखा जा सकता था तब भी ऐसा न करके 'अणवः स्कन्धाः' इस प्रकार भेद रूप से जो कथन किया है वह इस सूत्र से पहले कहे गये दो सूत्रों के साथ अलग-अलग सम्बन्ध बतलाने के लिए किया है जिससे यह ज्ञान हो कि अणु, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले हैं परन्तु स्कन्ध शब्द, बन्ध सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, छाया, आतप और उद्योत वाले हैं तथा स्पर्शादि वाले भी हैं।

कुन्दकुन्द देव ने पुद्गल द्रव्य के भेद प्रभेदों का सविस्तार वर्णन पंचास्तिकाय में निम्न प्रकार से किया है—

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणु।  
इदि ते चदुव्वियप्पा पुगलकाया मुणेयव्वा ॥(74)  
(पंचास्तिकाय पृ.211)

पुद्गल द्रव्य कदाचित् स्कंधपर्याय से, कदाचित् स्कंधदेशरूप पर्याय से कदाचित् स्कंधप्रदेश रूप पर्याय और कदाचित् परमाणुरूप से यहां (लोक में) होते हैं, इस प्रकार उनके चार भेद हैं।

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति ।

अद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥(75)

अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होने पर भी जो एक हो वह स्कंध नाम की पर्याय है, उसकी आधी स्कंधदेश नामक पर्याय हैं, आधी की आधी स्कंध प्रदेश नाम की पर्याय हैं। इस प्रकार भेद के कारण द्वि अणुक स्कंध पर्यंत अनन्त स्कंधप्रदेशरूप पर्यायें होती हैं। निर्विभाग एक प्रदेशवाला, स्कंध का अन्तिम अंश वह एक परमाणु है।

पुनश्च-दो परमाणुओं के संघात से (मिलने से) एक द्वि अणुक स्कन्धरूप पर्याय होती है। इस प्रकार संघात के कारण (द्वि-अणुक-स्कन्ध की भांति त्रिअणुक-स्कन्ध-चतुरणुक स्कन्ध इत्यादि) अनन्त-स्कन्ध-रूप पर्यायें होती हैं।

विभिन्न प्रकार के स्कन्ध-

बादर सुहुमगदाणं खंधाणं पुगगलो त्ति ववहारो ।

ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पणं ॥(76)

पुढवी जलं च छाया-चउरिदियविसयकम्मपाओग्गा ।

कम्मातीदा येवं छब्भेया पोगगला होंति ॥(77)

बादर और सूक्ष्म रूप से परिणत स्कन्धों का “पुद्गल” ऐसा व्यवहार है। वे छह प्रकार के हैं, जिनसे तीन लोक निष्पन्न हैं।

(1) जिनमें षट्स्थानपतित वृद्धिहानि होती है ऐसे स्पर्श-रस-गंध, वर्णरूप गुण विशेषों के कारण (परमाणु) पूरण-गलन-धर्म वाले होने से तथा (2) स्कन्ध व्यक्ति के (स्कन्ध पर्याय के) अविर्भाव और तिरोभाव की अपेक्षा से भी (परमाणुओं में) पूरण-गलन घटित होने से परमाणु पुद्गल हैं ऐसा निश्चय किया जाता है। स्कन्ध तो अनेक पुद्गलमय एक पर्यायपने के कारण पुद्गलों से अनन्य होने से पुद्गल हैं ऐसा व्यवहार किया जाता है तथा (वे) बादरत्व और सूक्ष्मत्वरूप परिणामों के भेदों द्वारा छह प्रकारों को प्राप्त करके तीन लोक रूप होकर रहे हैं। वे छह प्रकार के स्कन्ध इस प्रकार हैं- (1) बादर बादर, (2) बादर, (3) बादर सूक्ष्म (4) सूक्ष्म बादर, (5) सूक्ष्म (6) सूक्ष्म सूक्ष्म ।

(1) बादर बादर- काष्ठपाषाणादिक (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं



नहीं जुड़ सकते, बादर बादर हैं।

(2) बादर— दूध, घी, तेल, जल, रस आदि (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं, बादर हैं।

(3) बादर सूक्ष्म— छाया, धूप, अंधकार चाँदनी आदि (स्कन्ध) स्थूल होने पर भी जिनका छेदन, भेदन अथवा (हस्तादि द्वारा) ग्रहण नहीं किया जा सकता बादर सूक्ष्म हैं।

(4) सूक्ष्म बादर— स्पर्श-रस-गंध शब्द, जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं, सूक्ष्म बादर हैं।

जो आँखों से नहीं दिखाई पड़ें वे सूक्ष्म स्थूल हैं। जैसे आँख के सिवाय अन्य चार इन्द्रियों के विषय वायु, रस, गंध, शब्द आदि।

(5) सूक्ष्म— कर्मवर्गणादि (स्कन्ध) जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियों से ज्ञात न हों ऐसे हैं, वे सूक्ष्म हैं।

(6) सूक्ष्म सूक्ष्म— कर्मवर्गणा से नीचे के द्विअणुक-स्कन्ध तक के (स्कन्ध) जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे सूक्ष्म सूक्ष्म हैं।

परमाणु का वर्णन—

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।

सो सस्सदो असदो एक्को अविभागी मुक्तिभवो ॥(77)

सर्व स्कन्धों का जो अंतिम भाग उसे परमाणु जानो वह अविभागी एक (एक प्रदेशी) शाश्वत, मूर्तिप्रभव (मूर्त रूप से उत्पन्न होने वाला) और अशब्द है।

आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।

सो णेओ परमाणू परिणाम्गुणो सयमसदो ॥(78)

मूर्तत्व के कारणभूत स्पर्श-रस-गंध-वर्ण का परमाणु से आदेश मात्र द्वारा (कथन मात्र में) ही भेद किया जाता है, वस्तुतः जो जिस प्रकार परमाणु का वही प्रदेश आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है उसी प्रकार द्रव्य और गुण के अभिन्न प्रदेश होने से, जो परमाणु का प्रदेश है वही स्पर्श का

है, वही गंध का है, वही रस का है, वही रूप का है इसलिए किसी परमाणु में गंधगुण, कम हो, (निकाल लिया जाय) किसी परमाणु में गंधगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणु में गंधगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुण से अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जायेगा। इसलिए किसी भी गुण की न्यूनता युक्त (उचित) नहीं है। इसलिए पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप चार धातुओं का, परिणाम के कारण एक ही परमाणु कारण है क्योंकि विचित्र ऐसा परमाणु का परिणाम गुण कहीं किसी गुण की व्यक्ताव्यक्त द्वारा विचित्र परिणति को धारण करता है।

और जिस प्रकार परमाणु में परिणाम के कारण अव्यक्त गंधादि गुण हैं ऐसा ज्ञात होता है उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एक-प्रदेशी परमाणु को अनेकप्रदेशात्मक शब्द के साथ एकत्व होने से विरोध है।

अनादिकर्मों के उदय के वश से जो उन जीवों ने पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु नाम के शरीर ग्रहण कर रखे हैं उन शरीरों के तथा उन जीवों ने ग्रहण किये हुए पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकाय के स्कंधों के उपादान कारण परमाणु हैं इससे ये परमाणु चार धातुओं के कारण हैं।

**णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पेदसदो भेदा।**

**खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंक्खाणं॥(80)**

जो परमाणु है वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा जो कि रूपादिगुण सामान्यवाला है उसके द्वारा सदैव अविनाशी होने से नित्य है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा उससे (प्रदेश से) अभिन्न अस्तित्व वाले स्पर्शादि गुणों को अवकाश देता है इसलिए अनवकाश नहीं है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा (उसमें) द्वि-आदि प्रदेशों का अभाव होने से, स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त होने के कारण (अर्थात् निरंश होने के कारण) सावकाश नहीं है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्धों के भेद का निमित्त होने से स्कन्धों का भेदन करने वाला है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्ध के संघात का निमित्त होने से स्कन्धों का भेद न करने वाला है, वह वास्तव में एक

प्रदेश द्वारा स्कन्ध के संघात का निमित्त होने से स्कन्धों का कर्ता है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा जो कि एक आकाश प्रदेश का अतिक्रमण करने वाले (लांघने वाले) अपने गति परिणाम को प्राप्त होता है उसके द्वारा 'समय' नामक काल का विभाग करता है इसलिये काल का विभाजक है। वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा संख्या का भी विभाजक है, क्योंकि (1) वह एक प्रदेश द्वारा, उससे, रचे जाने वाले दो आदि भेदों पूर्वक द्रव्य संख्या का विभाग स्कन्धों में करता है (2) वह एक प्रदेश द्वारा, उसके जितनी मर्यादा वाले एक आकाश प्रदेश पूर्वक क्षेत्र संख्या के विभाग करता है, (3) वह एक प्रदेश द्वारा एक आकाश प्रदेश का अतिक्रमण करने वाले उस गति-परिणाम जितनी मर्यादा वाले समय पूर्वक का काल संख्या का विभाग करता है, (4) वह एक प्रदेश द्वारा, उसमें विवर्तन पाने वाले (परिवर्तित, परिणमित) जघन्य वर्णादिक भाव को जानने वाला ज्ञान पूर्वक भाव संख्या का विभाग करता है इस कारण वह संख्या का विभाजन करने वाला भी है।

(1) **विभाजक**— विभाग करने वाला मापने वाला। स्कन्धों में द्रव्य संख्या का माप (अर्थात् वे कितने अणुओं-परमाणुओं से बने हैं ऐसा माप) करने में अणुओं की परमाणुओं की अपेक्षा आती है, अर्थात् वैसा माप परमाणु द्वारा होता है। क्षेत्र के माप का एकक (एकम्) 'आकाश प्रदेश' है और आकाश प्रदेश की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिये क्षेत्र का माप भी परमाणु द्वारा होता है। काल के माप का एकक 'समय' है और समय की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आता है, इसलिए काल का माप भी परमाणु द्वारा होता है। ज्ञान भाव के (ज्ञान पर्याय के) माप का एकक "परमाणु में परिणमित जघन्य वर्णादि भाव को जाने उतना ज्ञान" है और उसमें परमाणु की अपेक्षा आती है, इसलिये भाव का (ज्ञान भाव का) माप भी परमाणु द्वारा होता है। इस प्रकार परमाणु द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव का माप करने के लिए गज समान है।)

(2) एक परमाणु प्रदेश बराबर आकाश के भाग को (क्षेत्र को) 'आकाश प्रदेश' कहा जाता है। वह 'आकाश प्रदेश' क्षेत्र का 'एकक' है। गिनती के लिए, किसी वस्तु के जितने परिमाण को एक माप माना जाये, उतने परिणाम

को उस वस्तु का एकक कहा जाता है।

(3) परमाणु को एक आकाश प्रदेश से दूसरे अनन्तर (उत्तरवर्ती) आकाश प्रदेश में (मंद गति से) जाते हुए जो काल लगता है उसे 'समय' कहा जाता है।

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्वकारणमसहं।  
खंधतरिदं दब्बं परमाणुं तं वियाणाहि ॥(81)

परमाणु में तीखा, चरपरा, कसायला, खट्टा, मीठा इन पांच रसों में से एक काल में एक रस रहता है। शुक्ल, पीत, रक्त, काला, नीला इन पांच वर्णों में से एक वर्ण एक काल में रहता है। सुगन्ध, दुर्गंध दो प्रकार गन्ध पर्यायों में से एक कोई गन्ध एक काल में रहती है। शीत व उष्ण स्पर्शों में एक कोई स्पर्श तथा स्निग्ध रूक्ष स्पर्शों में एक कोई स्पर्श ऐसे दो स्पर्श एक काल में रहते हैं। 'परमाणु' शब्द का कारण रूप होकर भी एक प्रदेशी होने से शब्द की प्रगटता नहीं करने से अशब्द है व जो ऊपर कहे हुए वर्णादि गुण व शब्द आदि पर्याय सहित स्कन्ध हैं उससे भिन्न द्रव्यरूप परमाणु है। जैसे-परमात्मा व्यवहार से द्रव्य कर्म और भावकर्म के भीतर रहता हुआ भी निश्चय से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप ही है तैसे परमाणु भी व्यवहार से स्कन्धों के भीतर रहता हुआ भी निश्चय से स्कन्ध से बाहर शुद्ध द्रव्य रूप ही है। अथवा स्कंधांतरितका अर्थ है कि स्कन्ध से पहले से ही भिन्न है।

**स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण**  
**भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते। (26)**

Molecules are formed in three different ways-

(1) By Bheda (division)

(2) By Sanghata (union or sharing), and

(3) By the combined process of division and union taking place simultaneously.

भेद से, संघात से तथा भेद और संघात दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

भेद = संघातों (मिले हुए पदार्थों) का दो कारणों से विदारण होना भेद है। बाह्य (निमित्त) अभ्यन्तर (उपादान) कारणों के कारण संघटित स्कन्धों

का विदारण करना पृथक्-पृथक् करना भेद कहा जाता है। संघात विविक्त (अलग-अलग) स्कन्धों को संघटित करना संघात है। पृथक्-पृथक् पदार्थों का बंध होकर एक हो जाना संघात कहलाता है।

प्रश्न — भेद और संघात ये दो होने से इस सूत्र में (भेद संघाताभ्यां) दो वचन होना चाहिए, बहुवचन नहीं ?

उत्तर — ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है- क्योंकि सूत्र में बहुवचन देने से ज्ञात होता है कि भेदपूर्वक संघात अर्थात् भेद-संघात भी स्कन्ध की उत्पत्ति का स्वतंत्र कारण है, इसलिए बहुवचन से भेद के साथ संघात का ग्रहण होता है।

अतः भेदसंघात रूप कारणों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ फलित हो जाता है। जैसे दो परमाणुओं के संघात से दो प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध तथा एक परमाणु के संघात से या तीनों परमाणुओं से संघात से त्रिप्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु, या चार अणुओं के सम्बन्ध से एक चतुष्प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशों के संघात से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार दो आदि प्रदेशों के संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार भेद से भी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं- जैसे तीन प्रदेश वाले स्कन्ध से एक अणु निकल जाने पर दो प्रदेश वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है, पाँच प्रदेशी या चार प्रदेशी स्कन्ध से दो प्रदेश या एक अणु का भेद हो जाने से तीन प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार एक ही समय में भेद और संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, जैसे चार प्रदेशी में से दो प्रदेश का भेद हो गया और उसी समय एक परमाणु का संघात हो गया तो त्रिप्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार किसी के संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

## अणु की उत्पत्ति का कारण

भेदादणुः । (27)

भेदात् अणुरुत्पद्यन्ते ।

The ultimate elementary particles (atom) are produced only by division of matter.

भेद से अणु उत्पन्न होता है।

‘भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते’ इस सूत्र के सामर्थ्य से स्कन्ध की उत्पत्ति सूचित होने से यह ज्ञात हो जाता है कि अणु भेद से उत्पन्न होता है, फिर भी इस सूत्र (भेदादणुः) की रचना से यह अवधारणा किया जाता है कि अणु भेद से ही उत्पन्न होता है, भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्ध उत्पन्न होता है, ऐसा कहने पर अणु भेद से उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हो जाता है तथापि पुनः ‘भेदादणुः’ यह इस अवधारणा के लिए बनाया गया है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है, न संघात से होती है और न भेद-संघात से।

**चाक्षुष (देखने योग्य-स्थूल) स्कन्ध की उत्पत्ति**  
**भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः। (28)**

Molecules are sometimes produced by the combined action of division and union which can be seen with the eyes.

भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

संघात से ही स्कन्धों की उत्पत्ति की सिद्धि हो जाने पर भेदसंघात का ग्रहण करना निष्प्रयोजन है, ऐसा कहने पर भेदसंघात के ग्रहण के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए कहा।

अनन्तानन्त परमाणुओं से उत्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है तथा कोई अचाक्षुष।

जो उनमें अचाक्षुष (चक्षु-इन्द्रिय का विषय नहीं) है वह स्कन्ध चाक्षुष (चक्षु इन्द्रिय का विषय) कैसे हो सकता है।?

भेद और संघात से अचाक्षुष स्कन्ध चक्षु इन्द्रिय का विषय बनता है, केवल भेद से स्कन्ध चाक्षुष नहीं बनता।

प्रश्न- इसकी उत्पत्ति कैसे होती है?

समाधान— सूक्ष्म स्कन्ध से कुछ अंश का भेद होने पर भी यदि उसने सूक्ष्मता का परित्याग नहीं किया है तो वह स्कन्ध अचाक्षुष का अचाक्षुष ही बना रहता है। सूक्ष्म परिणत पुनः दुसरा स्कन्ध उसका भेद होने पर भी अन्य के संघात से सूक्ष्मता का परित्याग करके स्थूलता को प्राप्त हो जाता है तब चाक्षुष हो जाता है अर्थात् आँखों से दिखने लग जाता है।

## द्रव्य का लक्षण सद्द्रव्य लक्षणम्। (29)

The differentia of a substance or Reality is sat, isness or being. . .

द्रव्य का लक्षण सत् है—

यह विश्व शाश्वतिक है। क्योंकि इस विश्व में स्थित समस्त द्रव्य भी शाश्वतिक हैं। आधुनिक विज्ञान में भी सिद्ध हो गया कि, शक्ति या मात्रा कभी भी नष्ट नहीं होती है परन्तु परिवर्तन होकर अन्य रूप हो जाती है। विज्ञान में कहा भी है—

Matter and energy neither be created nor destroyed. Each can be completely changed into another form or into one another.

विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त हैं कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती। केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है।

द्वियदि गच्छति ताइं ताइं सब्भाव पञ्जयाइं जं।

द्वियं तं भण्णंते अण्णभूदं तु सत्तादो॥(9)

पंचास्तिकाय

What flows or maintains its identity through its several qualities and modifications, and what is not different from satta or substance, that is called dravya by the all knowing.

उन-उन सद्भावपर्यायों को जो द्रवित होता है-प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं-जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

द्वं सल्लखणयं उत्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं ।  
 .गुणंपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सब्वण्हू॥(10)

Whatever has substantiality, has the dialectical triad of birth, death and permanence, and is the substratum of qualities and modes, is Dravya. So say the all-knowing.

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पादव्यय ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुणपर्यायों को आश्रय-आधार है, उसे सर्वज्ञ भगवान् द्रव्य कहते हैं।

प्रवचन सार में भी कुन्दकुन्द देव ने कहा है-

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।  
 दव्वस्स सब्बकालं उत्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥(96)

(प्रवचनसार, पृ. 227)

अनेक प्रकार के गुण तथा अनेक प्रकार की अपनी पर्यायों से और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सर्वकाल में द्रव्य का जो अस्तित्व है वह वास्तव में स्वभाव है।

अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है, और वह (अस्तित्व)

- (1) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण से-
- (2) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवृत्त होने के कारण से,
- (3) विभाव धर्म से विलक्षण होने से,
- (4) भाव और भाववानता के भाव से अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त नहीं हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य गुण और पर्याय एक-दूसरे से परस्पर सिद्ध होते हैं,- यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते, (इसलिए) उनका अस्तित्व एक ही है।



इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं ।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥(97)

धर्म का उपदेश करने वाले जिनवर वृषभ के द्वारा इस विश्व में विविध लक्षण वाले द्रव्यों का वास्तव में 'सत्' ऐसा सर्वगत (सब में व्यापने वाले) एक लक्षण कहा गया है।

वास्तव में इस विश्व में, विचित्रता को विस्तारित करते हुए (विविधता अनेकत्व को दिखाते हुए), अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त (भिन्न) रहकर वर्तमान, और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बाँधते हुए, ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित भी सर्व द्रव्यों की, विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहने वाला, और प्रत्येक द्रव्य की बंधी हुई सीमा को भेदता (तोड़ता) हुआ, 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षणभूत एक सादृश्यास्तित्व है, वह ही वास्तव में एक ही जानने योग्य है। इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का परामर्श (स्पर्श ग्रहण) करने वाला है। यदि वह ऐसा (सर्व पदार्थ परामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, और कोई अवाच्य होना चाहिए, किन्तु वह तो निषिद्ध ही है, और यह (सत्, ऐसा कथन और ज्ञान के सर्व पदार्थ परामर्शी होने की बात) तो सिद्ध हो सकती है।

द्व्वं सहावसिद्धं सदित्ति जिणा तच्चदो समक्खादा ॥(98)

द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध और स्वभाव से ही 'सत्' है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने यथार्थतः कहा है, इस प्रकार आगम से सिद्ध है।

वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्यों के स्वभावसिद्धपना है (सर्व द्रव्य, पर-द्रव्य की अपेक्षा बिना, अपने स्वभाव से ही सिद्ध है) उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता है, क्योंकि अनादिनिधन अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। वह (द्रव्य) गुणपर्यायात्मक अपने स्वभाव को ही जो कि मूलसाधन है, धारण करके स्वयमेव सिद्ध और सिद्धि वाला हुआ वर्तता है। जो द्रव्यों में उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, (किन्तु) कदाचित् अर्थात् कथंचित् (अनित्यता) के होने से वह पर्याय

है, जैसे-द्विअणुक इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि : द्रव्य तो अनवधि (मर्यादा रहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकालस्थायी) है, (इसलिये) वैसा (कादाचित्क-क्षणिक-अनित्य) नहीं है।

**ण हवदि जदि सद्व्वं असदधुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।**

**हवदि गुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥(105)**

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो निश्चित असत् होगा, जो असत् होगा वह द्रव्य कैसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता) अथवा यदि असत् न हो तो वह सत्ता से अन्य पृथक् होगा? सो भी कैसे हो सकता है? इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्ता रूप है।

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होगी कि वह (1) असत् होगा अथवा (2) सत्ता से पृथक् होगा। उनमें से यदि असत् होगा तो ध्रौव्य के असम्भव होने से स्वयं को स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जायेगा, और यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी अपनी सत्ता रखता हुआ, इतने द्रव्य की सत्ता रखने मात्र प्रयोजन वाली सत्ता का लोप कर देगा।

स्वरूप से ही सत् होता हुआ (1) ध्रौव्य के सदभाव के कारण स्वयं को स्थिर रखता हुआ, द्रव्य उदित होता है (अर्थात् सिद्ध होता है), और (2) सत्ता से पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयं को स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है।

इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) रूप से स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि भाव और भाववान (द्रव्य) का अपृथक्त्व द्वारा अन्यत्व है प्रदेश भेद न होते हुए संज्ञा-संख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है।

**पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।**

**अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥(106)**

जिसमें प्रदेशों की अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो वह पृथक्त्व है। ऐसे श्री महावीर भगवान् की आज्ञा है। स्वरूप की एकता का न होना अन्यत्व है। ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं हैं तब किस तरह दोनों एक हो सकते

हैं? जहाँ प्रदेशों की अपेक्षा एक दूसरे से अत्यन्त पृथक्पना हो अर्थात् प्रदेश भिन्न भिन्न हो जैसे दण्ड और दण्डी में भिन्नता है। इसको पृथक्त्व नाम का भेद कहते हैं। इस तरह पृथक्त्व या भिन्नपना शुद्ध आत्मद्रव्य की शुद्ध-सत्ता गुण के साथ नहीं सिद्ध होता है क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही सत्ता के प्रदेश हैं-जैसे शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुण का स्वरूप भेद है परन्तु प्रदेश भेद नहीं है ऐसे गुणी और गुण के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं होते। ऐसे श्री वीर नाम के अंतिम तीर्थङ्कर परमदेव की आज्ञा है। जहाँ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि से परस्पर स्वरूप की एकता नहीं है वहाँ अन्यत्व नाम का भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुण में है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्य में प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है वैसे संज्ञादि लक्षण रूप से भी अभेद हो ऐसा मानने से क्या दोष होगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुण के साथ प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदि के द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मयी नहीं है। तन्मय होना ही निश्चय से एकता का लक्षण है किन्तु संज्ञादि रूप से एकता का अभाव है। सत्ता और द्रव्य में नानापना है। जैसे यहाँ मुक्तात्मा द्रव्य में प्रदेश के अभेद होने पर भी संज्ञादिरूप से नानापना कहा गया है, तैसे ही सर्व द्रव्यों का अपने-अपने स्वरूप सत्ता गुण के साथ नानापना जानना चाहिये, ऐसा अर्थ है।

## सत् का लक्षण

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। (30)

Sat (is a) simultaneous possession (of) उत्पाद- Coming into existence birth.

व्यय- Going out of existence, decay, and

ध्रौव्य- continuous sameness of existence, permanence.

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् है।

द्रव्य सत् स्वरूप है सत् स्वरूप होने के कारण द्रव्य अनादि से है तथा अन्त तक रहेगा। तथापि यह सत् अपरिवर्तन नहीं है, बल्कि नित्य परिवर्तनशील

है। नित्य परिवर्तनशील होते हुए भी इसका नाश नहीं होता है इसलिये उत्पाद, व्यय ध्रौव्य का सदा सद्भाव होता है इसलिये ये सदा सत् स्वरूप ही रहते हैं।

**उत्पाद-** स्वजाति को न छोड़ते हुए भवान्तर (पर्यायान्तर) की प्राप्ति उत्पाद है। चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति है वह उत्पाद है। जैसे- मृत्पिण्ड में घट पर्याय अर्थात् मिट्टी जैसे- अपने मिट्टी स्वभाव को छोड़कर घट पर्याय से उत्पन्न होती है। वह घट उसका उत्पाद है। उसी प्रकार जीव या पुद्गलादि अजीव पदार्थ अपने स्वभाव को न छोड़कर पर्यायान्तर से परिणामन करते हैं।

**व्यय-** उसी प्रकार स्वजाति को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है, वह 'व्यय' है। जैसे-कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है।

**ध्रौव्य-** ध्रुव-स्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि परिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है। अर्थात् अनादि परिणामिक स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता है, द्रव्य ध्रुव रूप से रहता है। अर्थात् स्थिर रहता है। उसको ध्रुव कहते हैं। और ध्रुव का जो भी भाव या कर्म है, वह ध्रौव्य कहलाता है। जैसे कि, पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृदुपना का अन्वय रहता है।

**णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।**

**दव्वगुण पज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥(10)॥**

**प्रवचनसार**

लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है। द्रव्य, गुण व पर्याय में रहने वाला पदार्थ अस्तित्व से बना हुआ है।

**उत्पादो य विणासो विज्जदि सब्बस्स अट्टजादस्स ।**

**पज्जाएण दु केणवि अट्टो खलु होदि सब्भूदो ॥18॥**

जैसे इस लोक में शुद्ध स्वर्ण के, बाजूवन्द (रूप) पर्याय से उत्पाद देखा जाता है, पूर्व अवस्था रूप से वर्तनेवाली अंगूठी इत्यादि पर्याय से विनाश देखा जाता है और पीलापना आदि पर्याय से तो दोनों में (बाजूवन्द और अंगूठी में) उत्पत्ति विनाश को प्राप्त न होने वाले (सुवर्ण) ध्रौव्यत्व दिखाई देता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के किसी पर्याय से उत्पाद, किसी (पर्याय) से विनाश (और) किसी पर्याय से ध्रौव्य होता है। ऐसा जगना चाहिए।

अपरिच्छत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।

गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति॥१९॥

स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित है 'द्रव्य' ऐसा कहते हैं।

यहाँ (इस विश्व में) वास्तव में जो, स्वभाव भेद किये बिना उत्पाद व्यय ध्रौव्य त्रय से और गुण, पर्याय द्वय से लक्षित होता है। इनमें से (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्याय में से) वास्तव में द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व सामान्यरूप अन्वय है, अस्तित्व को तो दो प्रकार का आगे कहेंगे—1. स्वरूप अस्तित्व, 2. सादृश्य अस्तित्व। उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना-उत्पन्न होना) है, व्यय प्रच्युति (नष्ट होना) है, ध्रौव्य, अवस्थिति (टिकना) है। गुण, विस्तार विशेष हैं। वे सामान्य-विशेषात्मक होने से दो प्रकार के हैं। इनमें, अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, भोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं। अवगाह-हेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयत, विशेष है। द्रव्य का उन उत्पादादि के साथ अथवा गुण पर्यायों के साथ लक्ष्य लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है (सत्ता भेद नहीं है) स्वरूप से ही द्रव्य वैसा होने से (अर्थात् द्रव्य ही स्वयं उत्पादादिरूप तथा गुणपर्याय रूप परिणामन करता है, इस कारण स्वरूप भेद नहीं है।)

सदवड्ढिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।

अन्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो॥१९॥

स्वभाव में अवस्थित सत् द्रव्य है, द्रव्य का गुण-पर्यायों में जो उत्पादव्यय

ध्रौव्य सहित परिणाम है वह उसका स्वभाव है।

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।

उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥100॥

वास्तव में उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता और व्यय, उत्पाद के बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय, स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते, और ध्रौव्य, उत्पाद तथा व्यय के बिना नहीं होता।

### नित्य का नियम

तद्भावाव्ययं नित्यम्। (31)

Parmanence means indestructibility of the essence or the quality of the substance.

उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न होना नित्य है।

जो प्रत्यभिज्ञान का कारण है वह तद्भाव है, 'वही यह है' इस प्रकार के स्मरण को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है। इसकी निरूक्ति 'भवनं भावः, तस्य भावः तद्भावः' इस प्रकार होती है। तात्पर्य यह है कि, पहले जिसरूप वस्तु को देखा है उसी रूप उसके पुनः होने से 'वही यह है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्व वस्तु का सर्वथा नाश हो जाय या सर्वथा नयी वस्तु का उत्पाद माना जाय तो इससे स्मरण की उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरण की उत्पत्ति न हो सकने से स्मरण के आधीन जितना लोकसंव्यवहार चालू है वह सब विरोध को प्राप्त होता है, इसलिए जिस वस्तु का जो भाव है उस रूप से च्युत न होना तद्भावव्यय अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है। परन्तु इसे कथंचित् जानना चाहिए। यदि सर्वथा नित्यता मान ली जाय तो परिणामनका सर्वथा अभाव प्राप्त होता है और ऐसा होने से पर संसार और इसकी निवृत्ति के कारणरूप प्रक्रिया का निषेध (अभाव) प्राप्त होता है।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है—

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावाच्च व्ययन्ति यत्।

प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते ॥(14)

ये द्रव्य नित्य हैं क्योंकि अपने स्वभाव से नष्ट नहीं होते। अपना स्वभाव ही प्रत्यभिज्ञान का कारण कहा जाता है।

**भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।**

**गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुब्बन्ति ॥(15)**

**(पंचास्तिकाय)**

सत् द्रव्य का-द्रव्यरूप से विनाश नहीं है, अभावका-असत् अन्य द्रव्य का द्रव्यरूपसे उत्पाद नहीं है, परन्तु भाव सत् द्रव्ये, सत् के विनाश और असत् के उत्पाद बिना ही, गुणपर्यायों में विनाश और उत्पाद करते हैं। जिस प्रकार घी की उत्पत्ति में गोरसका-सत्का-विनाश नहीं है तथा गोरस से भिन्न पदार्थान्तर का असत्का-उत्पाद नहीं है, किन्तु गोरस को ही सत्का विनाश और असत् का उत्पाद किये बिना ही, पूर्व अवस्थासे विनाश को प्राप्त होने वाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होने वाले स्पर्श-रस-गंध-वर्णादिक परिणामी गुणों में मक्खनपर्याय विनाश को प्राप्त होती है तथा घीपर्याय उत्पन्न होती है, सर्वभावों का भी उसी प्रकार वैसा ही है (अर्थात् समस्त द्रव्यों का नवीन पर्याय की उत्पत्ति में सत्का विनाश नहीं है तथा असत्का उत्पाद नहीं है, किन्तु सत् का विनाश और असत्का उत्पाद किये बिना ही, पहले की (पुरानी) अवस्था से विनाश को प्राप्त होने वाले और बादकी (नवीन) अवस्था से उत्पन्न होने वाले परिणामी गुणों में पहले की पर्याय का विनाश और बादकी पर्याय की उत्पत्ति होती है।)

**छद्दव्वावट्ठाणं, सरिसं तियकाल अत्थपज्जाये।**

**वैजणपज्जाये वा, मिलिदे ताणं ठिदितादो ॥(581)**

अवस्थान = स्थिति छहों द्रव्यों की समान है। क्योंकि त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय वा व्यञ्जनपर्याय के मिलने से ही उनकी स्थिति होती है।

**एयदवियम्मि जे, अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।**

**तीदाणागदभूदा, तावदियं तं हवदि दव्वं ॥(582)**

एक द्रव्य में जितनी त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्याय हैं उतना ही द्रव्य है। (गोम्मटसार जीवकाण्डम्, पृ.265)

## वस्तु स्वरूप की सिद्धि

अर्पितानर्पितसिद्धेः । (32)

The Contradictory characteristics are established from different points of view.

मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।

द्रव्य में अनंत गुण एवं पर्याय होती हैं उन अनंत गुण एवं पर्यायों का कथन एक साथ नहीं हो सकता है परन्तु उस द्रव्य को जानना अनिवार्य है क्योंकि द्रव्य के यथार्थ ज्ञान बिना रत्नत्रय की उपलब्धि नहीं हो सकती एवं रत्नत्रय के बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता, मोक्ष मार्ग के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, और मोक्ष के बिना शाश्वतिक सुख नहीं मिल सकता है। इसलिये यहां पर वस्तु-स्वरूप के यथार्थ परिज्ञान की सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणाली का वर्णन किया गया है।

धर्मान्तर को विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्पित कहलाता है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रयोजन वश जिस धर्म की विवक्षा की जाती है या विवक्षित जिस धर्म को प्रधानता मिलती है, उसे-अर्थरूप को अर्पित (मुख्य) कहते हैं।

अर्पित से विपरीत अनर्पित (गौण) है। प्रयोजक के प्रयोजन का (वक्ता की इच्छा का) अभाव होने से सत् (विद्यमान) पदार्थ की भी अविवक्षा हो जाती है, अतः उपसर्जनीभूत (गौण) पदार्थ अनर्पित (अविवक्षित) कहलाता है। वस्तु स्वरूप को जानने की जो गौण-मुख्य व्यवस्था है उसका व्यावहारिक सटीक वर्णन अमृतचंद्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्धी. ग्रन्थ में वर्णन किया है। यथा—

एकेनाकर्षती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण ।  
अंतेन जयति जैनी नीतिर्मथाननेत्रमिव गोपी ॥(225)

जिस प्रकार ग्वालिन दही को बिलोती हुई एक रस्सी को अपनी और खींचती है दूसरी रस्सी को ढीली करती है। यद्यपि रस्सी एक होने पर भी रई में लिपटी हुई रहने के कारण दो भागों में बंट जाती है, उसे गोपिका दोनों



हाथों में पकड़कर दही बिलोती है। जिस समय वह एक हाथ से एक ओर की रस्सी को अपनी ओर खींचती है, उसी समय दूसरी हाथ की रस्सी को ढीली कर देती है अर्थात् उसे आगे बंधा देती है, इस प्रकार परस्पर एक को खींचने से दूसरी को ढीली करने से वह (मक्खन (लोनी) निकाल देती है। यदि ग्वालनी एक साथ दोनों छोर को समान बल से खींचती एवं छोड़ती तो मधनी गतिशील नहीं बनती और मक्खन भी नहीं निकलता। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के लिए विवक्षित विषय को मुख्य कर दिया जाता है एवं अविवक्षित विषय को गौण किया जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि विवक्षित गुण, धर्म वस्तु में है एवं अविवक्षित गुण, धर्म वस्तु से पृथक् होकर लोप हो गये हों। इसको ही जैन धर्म में नयवाद या स्याद्वाद कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक युग के महामेधावी वैज्ञानिक आइंस्टीन ने भी इस अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वे भी मानते हैं प्रत्येक वस्तु का कथन सापेक्ष दृष्टि से होना चाहिये। आइंस्टीन यहां तक मानते हैं कि, जब तक जीव असर्वज्ञ रहेगा तब तक वह सम्पूर्ण सत्य को नहीं जान सकता, केवल आंशिक सत्य को जान सकता है। इस आंशिक सत्य को आंशिक सत्य मानना सम्यक् है एवं आंशिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मान लेना मिथ्या है। यथा—

Einstain says, "we can only know the realative truth the real truth is know only to the universal observer." -

आइंस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार हम सब जो जानते हैं, वह सम्पूर्ण सत्य (Absolute truth) नहीं है, किन्तु सापेक्षिक सत्य है (Relative truth) - है, सम्पूर्ण सत्य सर्वदर्शी सर्वज्ञ के द्वारा ही जाना जा सकता है।

सन्मति सूत्र में सिद्धसेन दिवाकर ने बताया कि, अनेकान्त केवल वस्तु स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली दार्शनिक प्रणाली नहीं है परन्तु लोक व्यवहार को सुचारू रूप से व्यवस्थित करने के लिए लौकिक प्रणाली भी है।

जेण विणाः लोगस्स वि व्यवहारो सव्वहा ण णिव्वडई ।

तस्स भुवणेक्कगुरूणो णमो अणेगंतवायस्स । (69)

जिस अनेकान्तवाद के बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चलता है उस जगत् का एकमेव गुरु अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार हो।

जैसे रामचन्द्र एक मर्यादा पुरुषोत्तम थे। वे लव, कुश की अपेक्षा पिता, दशरथ की अपेक्षा पुत्र, लक्ष्मण की अपेक्षा बड़े भाई, सीता की अपेक्षा पति, जनक की अपेक्षा दामाद (जमाई), सुग्रीव की अपेक्षा मित्र, रावण की अपेक्षा शत्रु, हनुमान की अपेक्षा प्रभु आदि अनेक धर्म से युक्त थे। राम एक होते हुए भी दशरथ की अपेक्षा पुत्र होते हुये भी लव कुश की अपेक्षा पिता रूप विरोधी गुण से युक्त थे। तो भी अपेक्षा की दृष्टि से कोई प्रकार का विरोध नहीं है। इसी प्रकार अन्यान्य गुण अपने अपने स्थान पर अविरुद्ध एवं उपयुक्त है। - विशेष ज्ञान के लिये मेरा 'अनेकान्त दर्शन' का अध्ययन करें।

100 संख्या 10 संख्या की अपेक्षा अधिक होते हुए भी 1000 संख्या की अपेक्षा कम है। जैसे-सेव फल नारियल से छोटा होते हुये भी आंवले की अपेक्षा बड़ा है। आवंला सेव फल से छोटा होने पर भी इलायची की अपेक्षा बड़ा है। घी निरोगी के लिये शक्ति दायक होते हुए भी ज्वर रोगी के लिए हानिकारक है। अग्नि चिमनी में रहते हुये उपकारक है परन्तु पेट्रोल-टंकी में डालने पर अपकारक है। अग्नि एक होते हुए भी पाचकत्व, दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि गुणों के कारण अनेक भी हैं।

यह अनेकान्त मानसिक अहिंसा है क्योंकि इसमें एकान्तवाद, हठाग्रह, पूर्वाग्रह नहीं है। अनेकान्त सिद्धांत दूसरो के सत्यांश को भी स्वीकार करता है। अनेकान्त का सिद्धांत है Right is mine अर्थात् जो सत्य है वह मेरा है। उसका दावा यह नहीं की Mine is Right अर्थात् मेरा जो है वह सत्य है। अनेकान्त वस्तु स्वरूप तथा भावात्मक अहिंसा है तथा स्याद्वाद कथन श्रणाली या वचनात्मक अहिंसा है। इस अनेकान्त का स्पष्टीकरण करने के लिए और कुछ सरल उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। जैसे-दो इंच लम्बी वाली रेखा, एक इंच वाली रेखा से लम्बी है तथा तीन इंच लम्बी रेखा से छोटी भी है। अनामिका अंगुली कनिष्ठा से बड़ी है परन्तु मध्यमा से छोटी भी है। इसी प्रकार दिशा आदि में भी जान लेना चाहिये जैसे एक व्यक्ति के लिए दूसरा व्यक्ति पूर्व में है तो पहला व्यक्ति उसके लिए पश्चिम में होगा।

## परमाणुओं के बन्ध होने के कारण

स्निग्धरूक्षत्वादबन्धः । (33)

पुद्गलानां स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धो भवति ।

The pudgalas unite by virtue of the properties of Snigdha (smoothness or positive) and Ruksa (roughness or negative) associated with them.

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है।

विश्व में दृश्यमान एवं पाँचों इन्द्रियों के जितने द्रव्य हैं वे सब पुद्गल की विभिन्न स्थूल पर्यायें हैं। इन स्थूल पर्यायों का मूलभूत तत्त्व परमाणु है। परमाणु अत्यंत सूक्ष्म और इन्द्रिय के अग्राह्य है। तब प्रश्न होता है कि पुद्गल की स्थूल पर्यायें, अवस्थायें कैसे बनी है? उत्तर है-अनंत परमाणुओं के मिलने से ये अवस्थायें बनी है। पुनः प्रश्न हुआ ये परमाणु कैसे मिलते हैं? इन प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया कि, परमाणुओं के मिलन का कारण स्निग्धत्व (स्नेहपना, चिकनाई, धन आवेश) तथा रूक्षत्व (रूखापन, ऋण आवेश) है।

बाह्य और आभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उससे पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति 'स्निह्यते स्मेति स्निग्ध' होगी। तथा रूखापन के कारण पुद्गल रूक्ष कहा जाता है। स्निग्ध पुद्गल का धर्म स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गल का धर्म रूक्षत्व है। पुद्गल की चिकने गुणरूप जो पर्याय है वह स्निग्धत्व है और इससे विपरीत परिणामन है वह रूक्षत्व है।

स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले दो परमाणुओं का परस्पर संश्लेषलक्षण बन्ध होने पर द्विअणुक नाम का स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। स्निग्ध गुण के एक, दो, तीन चार संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हैं। और इन गुण वाले परमाणु हों हैं। जिस प्रकार जल तथा बकरी, गाय, भैंस और ऊंट के दूध और घी में उत्तरोत्तर अधिक अधिक रूप से स्नेह गुण रहता है तथा पांशु, कणिका और शर्करा आदि में उत्तरोत्तर न्यूनरूप से रूक्ष गुण रहता है उसी प्रकार परमाणुओं में भी न्यूनाधिक रूप से स्निग्ध और रूक्ष गुण का अनुमान होता है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मतसार में कहा है-

अविभागी पुद्गल परमाणु स्कन्ध रूप में किस तरह परिणत होते हैं,  
इसका-कारण—

णिद्धत्तं लुक्खत्तं बंधस्य य कारणं तु एयादि।  
संखेज्जासखेज्जाणंतविहा णिद्धगुणक्खगुणा ॥(609)

बन्ध का कारण स्निग्धत्व और रूक्षत्व है। इस स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुण के एक से लेकर संख्यात, असंख्यात अनन्त भेद हैं।

एक किसी गुणविशेष की स्निग्धत्व और रूक्षत्व ये दो पर्याय हैं। ये ही बन्ध के कारण हैं। इन पर्यायोंके अविभागप्रतिच्छेदों की (शक्ति के निरंश अंश) अपेक्षा एक से लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद हैं। जैसे स्निग्ध पर्याय के एक अंश दो अंश तीन अंश इत्यादि एक से लेकर संख्यात, असंख्यात अनंत अंश होते हैं और इन्हीं की अपेक्षा एक से लेकर अनंत तक भेद होते हैं उस ही तरह रूक्षत्व पर्याय के एक से लेकर संख्यात, असंख्यात, अनंत अंशों की अपेक्षा एक से लेकर अनन्त तक भेद होते हैं अथवा बन्ध कम से कम दो परमाणुओं में होता है। सो ये दोनों परमाणु स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों या एक स्निग्ध एक रूक्ष हो परन्तु बन्ध हो सकता है। जिस तरह दो परमाणुओं में बन्ध होता है उस ही तरह संख्यात असंख्यात अनन्त परमाणुओं में भी बन्ध हो सकता है, क्योंकि बन्ध का कारण स्निग्धरूक्षत्व है।

एयागुणं तु जहण्णां णिद्धत्तं विगुणतिगुणसंखेज्जाऽ  
संखेज्जाणंतगुणं, होदि तहा रूक्खभावं च ॥(610)

स्निग्धत्व का जो एक निरंश अंश है उसको ही जघन्य कहते हैं। इसके आगे स्निग्धत्व के दो तीन आदि संख्यात, असंख्यात, अनन्त अंशरूप भेद होते हैं। इस ही तरह रूक्षत्व के भी एक अंश को जघन्य कहते हैं और इसके आगे भी, दो तीन आदि संख्यात, असंख्यात, अनन्त अंशरूप भेद होते हैं।

एवं गुणसंजुत्ता, परमाणू आदिवग्गणम्मि ठिया।  
जोगादुगाणं बंधे, दोण्हं बंधो हवे णियमा ॥(611)

इस प्रकार के स्निग्ध या रूक्ष गुण से युक्त परमाणु अणुवर्गणा में ही

हैं। इसके आगे दो आदि परमाणुओं का बन्ध होता है, परन्तु यह दो का बन्ध भी तब ही होता है जबकि दोनों नियम से बन्ध के योग्य हो।

### न जघन्यगुणानाम्। (34)

न जघन्य गुणानां परमाणूनां बन्धो भवति।

(There is no (Union of Atoms) with an atom with the minimum degree (of smoothness or roughness to form a molecule.

जघन्य गुण वाले पुद्गलों का बन्ध नहीं होता।

यहाँ 'जघन्य' शब्द का अर्थ निकृष्ट है और गुण शब्द का अर्थ भाग है। जिनमें जघन्य गुण होता है अर्थात् जिनका शक्त्यंश निकृष्ट होता है वे जघन्य गुणवाले कहलाते हैं। उन जघन्य गुणवालों का बन्ध नहीं होता। यथा-एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले का एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले के साथ या दो से लेकर संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त शक्त्यंशवालों के साथ बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार एक स्निग्ध शक्त्यंशवाले का एक रूक्ष शक्त्यंशवाले के साथ दो से लेकर संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त रूक्षशक्त्यंशवालों के साथ बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार एक रूक्ष शक्त्यंशवाले की भी योजना करनी चाहिए।

### गुणसाम्ये सदृशानाम्। (35)

न गुणसाम्ये स्निग्धरूक्षत्वानाम् सदृशानां परमाणूनां बन्धो भवति।

(Atoms) with equal degree (of smoothness or roughness) of the (condition i.e., smoothness or roughness, cannot unite with an atom of their own or the opposite condition.)

समान शक्त्यंश होने पर तुल्य जाति वालों का बन्ध नहीं होता।

तुल्य (समान) जाति वालों का ज्ञान कराने के लिए सदृश पद को ग्रहण किया है। जैसे-स्निग्ध-स्निग्ध तुल्य जाति हैं। तुल्य शक्त्यंशों का ज्ञान कराने के लिए 'गुणसाम्य' पद को ग्रहण किया है। जैसे-2 गुण शक्त्यंश-2 गुण शक्त्यंश गुणसाम्य है। तात्पर्य यह है कि, दो स्निग्ध शक्त्यंशवालों का दो रूक्ष शक्त्यंशवालों के साथ, तीन स्निग्ध शक्त्यंशवालों का तीन रूक्ष शक्त्यंश वालों के साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंश वालों का दो स्निग्ध शक्त्यंश वालों के

साथ, दो रूक्ष शक्त्यंश वालों का दो स्निग्ध शक्त्यंश वालों के साथ, दो रूक्ष शक्त्यंश वालों का दो रूक्ष शक्त्यंश वालों के साथ बंध नहीं होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो सूत्र में 'सदृश' पद किसलिए ग्रहण किया है ?

उत्तर – गुणों की विषमता होने पर सदृशों (स्निग्ध-स्निग्ध या रूक्ष-रूक्षों) का बन्ध हो सकता है, इस बात को बताने के लिये सदृश शब्द का ग्रहण किया गया है। अर्थात् सदृश ग्रहण का यह प्रयोजन है कि, गुण वैषम्य होने पर विसदृशों का बन्ध तो होता ही है पर सदृशों का भी बन्ध होता है।

णिध्दस्स णिध्देण दुराहिण्ण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिण्ण।

णिध्दस्य लुक्खेण हवेज्ज बंधो, जहण्णवज्जे विसमे समे, वा ॥(615)

जीवकाण्ड

“स्नेह (स्निग्ध) का दो गुण अधिक वाले स्नेह से या रूक्ष से, रूक्ष का दो अधिक गुण वाले रूक्ष या स्निग्ध से बंध होता है। जघन्य गुण वाले का किसी भी तरह बंध नहीं हो सकता। दो गुण अधिक वाले सम (दो, चार, छह आदि का) और विषय गुण वाले (तीन, पांच, सात आदि) का बंध होता है।”

**बन्ध किनका होता है**

द्वयधिकादिगुणानां तु। (36)

द्वि अधिक आदिगुणानां सदृशानाम् बिसदृशानाम् परमाणूनां परस्परेण बन्धस्तु भवति।

A positive or a negative elementary particle combines with another of a similar or a dissimilar type if they differ in their degrees of Snigahatva or Ruksatva by two units.

दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों का तो बन्ध होता है।

इस अध्याय के 33 वें सूत्र से बंध प्रकरण चल रहा है। बंध के लिए

स्निग्ध और रूक्षत्व गुण चाहिये। परन्तु प्रत्येक स्निग्धत्व एवं रूक्षत्व अंश में बंध नहीं होता है उसके लिए कुछ विशेष नियम है। वह नियम यह है कि, किसी भी जघन्य गुण का बंध नहीं होता है समान गुणों का समान जाति के साथ भी बंध नहीं होता है। तब प्रश्न होता है कि किस अंश वाले परमाणु के साथ किसका बंध होता है? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है, यथा-कम से कम दो गुण वाले स्निग्ध या रूक्ष के साथ दो अधिक अर्थात् चार गुण वाले स्निग्ध रूक्ष के साथ बंध होता है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है-

जिसमें दो शक्त्यंश अधिक हो उसे द्व्यधिक कहते हैं।

शंका - वह द्व्यधिक कौन हुआ ?

समाधान - चार शक्त्यंशवाला। सूत्र में आदि शब्द प्रकार वाची है।

शंका - वह प्रकार रूप अर्थ क्या है ?

समाधान - द्व्यधिकपना। इससे पाँच शक्त्यंश आदि का ज्ञान नहीं होता। तथा इसमें यह भी तात्पर्य निकल आता है कि समानजातीय या असमान जातीय दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों का बन्ध होता है, दूसरों का नहीं। जैसे दो स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु का एक स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ, दो स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ और तीन स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। हाँ, चार स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ अवश्य बन्ध होता है। तथा उसी दो स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु का पाँच स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु का पाँच स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है। किन्तु आगे-पीछे के शेष स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। चार स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु का छह स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है किन्तु आगे-पीछे के शेष स्निग्ध शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार यह क्रम आगे भी जानना चाहिये। तथा दो रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु का एक, दो और तीन रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।

नो॥

हाँ, चार रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ अवश्य बन्ध होता है। उसी दो रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु का आगे के पाँच आदि रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन आदि रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणुओं का भी दो अधिक शक्त्यंश वाले परमाणुओं के साथ बन्ध जान लेना चाहिये। समानजातीय परमाणुओं में बन्ध का जो क्रम बतलाया है विजातीय परमाणुओं में भी बन्ध का वही क्रम जानना चाहिये। कहा भी है—

“णिद्धस्य णिद्धेण दुराहिणं लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिणं ।  
णिद्धस्य लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा” ॥

(जीवकाण्ड गा. 615)

स्निग्ध का दो अधिक शक्त्यंश वाले स्निग्ध के साथ बन्ध होता है। रूक्ष का दो अधिक शक्त्यंश वाले रूक्ष के साथ बन्ध होता है। तथा स्निग्ध का रूक्ष के साथ सम या विषम गुणों के होने पर इसी नियम से बन्ध होता है। किन्तु जघन्य शक्त्यंश वाले का बन्ध सर्वथा वर्जनीय है।

बन्धेऽधिकौ परिणामिकौ च । (37)

बन्धे अधिकगुणौ पुद्गलौ परमाणू वा स्कन्धौ परिणामिकौ च भवतः ।

In the process of union an elementary particle, an atom or a molecule with a higher degree of Snigdhatva or Ruksatva absorbs the one with a lower degree into itself.

बन्ध के समय दो अधिक गुण वाला परिणामन कराने वाला होता है।

बंध होने पर अधिक गुण वाला न्यून गुण वाले को अपने रूप में परिणामन करा लेता है।

गीले गुड़ की तरह अवस्थान्तर (पर्यायान्तर) उत्पन्न करना परिणामकत्व है। जैसे अधिक मधुर रस वाला गीला गुड़ अपने में गिरी हुई धूलि आदि को मधुर रस वाला बनाने में धूलि का परिणामक है, उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाले परमाणु न्यून गुण वाले परमाणुओं के परिणामक होते हैं। अर्थात् दो गुण स्निग्ध वा रूक्ष वाले परमाणुओं को चार गुण वाले स्निग्ध वा रूक्ष



गुण वाले परमाणु परिणामक होते हैं (अपने स्वरूप अर्थात् अपने रूप करने वाले होते हैं) अतः पूर्व अवस्था के नाशपूर्वक एक तृतीय अवस्थान्तर की उत्पत्ति होती है तब एक स्कन्ध उत्पन्न होता है। अर्थात् दो गुण वाली और चार गुण वाली जो दो अवस्थाएँ थीं उनका व्यय होकर तीसरी छह गुण अवस्था वाला स्कन्ध उत्पन्न हो जाता है। अन्यथा श्वेत और कृष्ण धागे का संयोग होने पर अपरिणामकता होने से जैसे वे धागे जुड़े-जुड़े रहते हैं, वैसे परमाणु पृथक्-पृथक् रखे रहेंगे। परन्तु जहाँ परिणामकता है वहाँ परस्पर संश्लेष होने पर स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि में परिवर्तन हो जाता है, अवस्थान्तर भाव हो जाता है। जैसे-शुक्ल और पीत रंग के मिलने पर हरा रंग उत्पन्न होता है। ...

### द्रव्य का लक्षण गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। (38)

Substance is possessed of attributes and modifications.

गुण और पर्याय वाला द्रव्य है।

द्रव्य, गुण और पर्यायों का एक अखण्ड पिण्ड स्वरूप है। गुण को सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय भी कहते हैं पर्याय को विशेष भेद भी कहते हैं। ऐसे सामान्य और विशेष से सहित द्रव्य होता है। पंचास्तिकाय में कहा भी है—

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्त य पज्जया णत्थि।

दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविति॥(12)

पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायों नहीं होती है। दोनों का अनन्यभाव श्रमण प्ररूपित करते हैं।

जिस प्रकार दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि से रहित गोरस नहीं होता उसी प्रकार पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता, जिस प्रकार गोरस से रहित दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य से रहित पर्यायों नहीं होती। इसलिये, यद्यपि द्रव्य और पर्यायों का आदेशवशात्-विवक्षा वश कथंचित् भेद है तथापि, वे एक अस्तित्व में नियत (द्रुढरूप से स्थित) होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ती इसलिये वस्तुरूप से उनका अभेद है।

द्वेषेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।

अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणां हवदि तम्हा ॥(13)

द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता है, इसलिये द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्त भाव अनन्यभाव है।

जिस प्रकार पुद्गल से पृथक् स्पर्श-रस-गंध-वर्ण नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, जिस प्रकार स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से पृथक् पुद्गल नहीं होता उसी प्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिये, यद्यपि द्रव्य और गुणों का आदेशवशात् कथंचित् भेद है तथापि, वे एक अव्यतिरिक्तत्व में नियत होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ते इसलिये वस्तुरूप से उनका भी अभेद है।

द्रव्य के बिना गुण नहीं हो सकते तथा गुणों के बिना द्रव्य नहीं संभव है इसलिये द्रव्य और गुणों का अभिन्न भाव होता है।

जैसे पुद्गल द्रव्य की सत्ता के बिना उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं पाए जा सकते वैसे द्रव्य के बिना गुण नहीं होते हैं तथा जैसे वर्णादि गुणों को छोड़कर पुद्गल द्रव्य नहीं मिलता है वैसे गुणों के बिना द्रव्य नहीं प्राप्त हो सकता है। द्रव्य और गुणों की सत्ता अभिन्न हैं-एक हैं क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा वे अभिन्न हैं। द्रव्य और गुणों के प्रदेश अभिन्न हैं-एक हैं क्योंकि क्षेत्र की अपेक्षा एकता है। द्रव्य और गुणों का एक ही काल उत्पाद-व्यय का अविनाभाव है क्योंकि काल की अपेक्षा दोनों एक हैं। द्रव्य और गुण दोनों एक स्वरूप हैं क्योंकि उनका स्वभाव एक है। अतः द्रव्य और गुणों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा अभेद है इसलिये द्रव्य और गुण अभिन्न हैं-एक हैं। अथवा दूसरा व्याख्यान करते हैं कि, भाव जो पदार्थ वह द्रव्य और गुणों से अभिन्न हैं अर्थात् द्रव्य गुणरूप ही पदार्थ कहा गया है।

समुत्पादव्ययधौव्यलक्षणं

क्षीणकल्मषाः ।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं

वदन्ति

जिनपुङ्गवाः ॥(5)

(तत्त्वार्थ. अध्याय 3)

वीतराग जिनेन्द्र भगवान् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त अथवा गुण और पर्यायों से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।

**गुण और पर्याय का लक्षण**

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया ॥(9)

द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्वयोः ।

द्रव्य की जो विशेषता है उसे गुण कहते हैं और द्रव्य का जो विकार है-वह पर्याय कहलाता है। द्रव्य उन दोनों-गुणपर्यायों का अपृथक् सिद्ध समुदाय है।

**गुण और पर्याय का पर्यायवाचक शब्द**

सामान्यमन्वयोत्सर्गो शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः ।

व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः ॥(10)

सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं तथा व्यतिरेक, विशेष और भेद ये पर्याय शब्द कहे गये हैं।

**गुण और द्रव्य में अभेद है**

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः ।

द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तताः ॥(11)

गुणों के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुणों में अभेदता है।

**द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता**

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः ।

वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः ॥(12)

पर्याय के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, इसलिये महर्षि दोनों में अभिन्नता कहते हैं।

पर्याय ही उत्पाद और व्यय के करने वाले हैं

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य सम्भवः ।

भावाः कुर्यर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ॥ (13)

सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये पर्याय ही पर्यायों और गुणों में व्यय और उत्पाद को करते हैं।

द्रव्यदृष्टि से किसी पदार्थ का न नाश होता है और न किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है, सिर्फ पर्याय ही नष्ट होती तथा उत्पन्न होती है, इस तरह उत्पाद और व्यय का कर्ता पर्याय ही है।

**काल भी द्रव्य हैं**

**कालश्च । (39)**

Time is also a substance.

काल भी द्रव्य हैं ।

जिस प्रकार जीव धर्म, अधर्म एवं आकाश द्रव्य हैं, उसी प्रकार काल भी द्रव्य है। क्योंकि जैसे जीवादि में गुण एवं पर्याय तथा उत्पादव्यय ध्रौव्य होते हैं उसी प्रकार काल में भी गुण एवं पर्याय तथा उत्पादव्यय ध्रौव्य होते हैं। मुख्यतः काल के दो भेद हैं (1) निश्चयकाल (2) व्यवहार काल ।

प्रत्येक लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक अमूर्तिक कालाणु स्थित है उसे निश्चयकाल कहते हैं। समय, घड़ी, घंटा, दिवस, ऋतु तथा भूत, वर्तमान, भविष्यत् को भी व्यवहार काल कहते हैं। व्यवहार काल को अन्य दार्शनिक मानते हैं परन्तु निश्चयकाल का वर्णन जिस वैज्ञानिक एवं तार्किक प्रणाली से जैन धर्म में पाया जाता है वैसा वर्णन अन्य दर्शन में नहीं पाया जाता है। भले आधुनिक विज्ञान में 'चतुः आयामसिद्धान्त' में काल को स्वीकार किया है। जैन धर्म में जो काल का अद्वितीय वर्णन है उसका कुछ प्रस्तुतिकरण नीचे कर रहा हूँ—

कालो ति य ववएसो, सन्भावपरूवओ हवदि णिच्चो ।  
 उप्पण्णप्पद्धंसी, अवरो दीहंतरट्ठाई ॥(580)  
 (गो.पृ. 263)

काल यह व्यपदेश (संज्ञा) मुख्यकाल का बोधक है; निश्चय काल द्रव्य के अस्तित्व को सूचित करता है क्योंकि बिना मुख्य के गौण अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह मुख्य काल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है तथा व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भूत भविष्यत की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है।

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।  
 रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदब्बाणि ॥(22)  
 (द्रव्य, पृ.49)

जो लोकाकाश के एक-2 प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-2 स्थित हैं वे कालाणु है और असंख्यात द्रव्य है।

ववगदपणवण्णारसो ववगददोगंधअट्टफासा य ।  
 अगुरूलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो ति ॥(24)  
 (पंचा, पृ.87)

जो पांच वर्ण, पांच रस से रहित है व जो दो गंध व आठ स्पर्श से रहित है, अगुरूलघु गुण के द्वारा षट् गुणी-हानि वृद्धिसहित है, अमूर्तिक ऐसा यह कालद्रव्य है।

कालो परिणामभवो परिणामो दब्बकालसंभूदो ।  
 दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥(100)

समय, निमिष, घड़ी, दिन आदि को व्यवहार काल कहते हैं। जब एक पुद्गल का परमाणु एक कालाणु से निकटवर्ती कालाणुपर मंदगति से उल्लंघ कर जाता है तब समय नाम का सबसे सूक्ष्म व्यवहारकाल प्रकट होता है अर्थात् इतनी देर को समय कहते हैं। आंखों की पलक लगाने से निमिष, जल के

वर्तन, हाथ के विज्ञान आदि पुरुष की चेष्टा से एक घड़ी, तथा सूर्य के बिम्ब के आने से दिन प्रगट होता है। इत्यादि रूप से पुद्गल द्रव्य की हलन-चलन रूप पर्याय को 'परिणाम' कहते हैं। उससे जो प्रगट होता है इसलिये इस व्यवहारकाल को व्यवहार में पुद्गलपरिणाम से उत्पन्न हुआ कहते हैं। निश्चय से यह व्यवहारकाल कालाणुरूप निश्चय काल की पर्याय है। एक अणु का दूसरे अणु को उल्लंघनकर मंदगति से जाना आदि पूर्वोक्त पुद्गल का परिणाम है- जैसे शीतकाल में विद्यार्थी को अग्नि पढ़ने में सहकारी है तथा जैसे- कुम्हार के चाक के भ्रमण में नीचे की शिला सहकारी है वैसे बाहरी सहकारी कारण कालाणुरूप द्रव्यकाल के द्वारा उत्पन्न होता है इसलिये परिणामन को द्रव्यकाल से उत्पन्न हुआ कहते हैं। व्यवहारकाल पुद्गलों के परिणामन से उत्पन्न होता है इसलिये परिणामजन्य है तथा निश्चयकाल परिणामों को उत्पन्न करने वाला है इसलिये परिणामजनक है। तथा समय रूप सबसे सूक्ष्म व्यवहारकाल क्षणभंगुर है तथा अपने ही गुण और पर्यायों का आधार रूप होने से निश्चय कालद्रव्य नित्य हैं।

**कालो न्ति य ववदेसो सम्भावपरूवगो हवदि णिच्चो ।**

**उप्परणणप्पद्धंसी**

**अवरो**

**दीहंतरद्दाई ॥(101)**

'काल' जो शब्द जगत् में दो अक्षरों का प्रसिद्ध है सो अपने 'वाच्य' को जो निश्चय काल सत्तारूप, उसको बताता है, जैसे 'सिंह' शब्द 'सिंह' के रूप को तथा 'सर्वज्ञ' शब्द सर्वज्ञ के स्वरूप को बताता है। ऐसा अपने स्वरूप को बताने वाला निश्चय कालद्रव्य यद्यपि दो अक्षररूप से तो नित्य नहीं है तथापि काल शब्द से कहने योग्य होने से नित्य है, ऐसा निश्चयकाल जानने योग्य है। व्यवहारकाल वर्तमान एक समय की अपेक्षा उत्पन्न होकर नाश होने वाला है, क्षण-2 में विनाशीक है तो भी पूर्व और आगे के समयों की संतान की अपेक्षा से व्यवहार नय से आवली, पत्य, सागर आदि रूप से दीर्घ काल तक रहने वाला भी है। इसमें कोई दोष नहीं है। इस तरह निश्चयकाल नित्य है, व्यवहारकाल अनित्य है ऐसा जानने योग्य है। अथवा दूसरे प्रकार से निश्चय और व्यवहार काल का स्वरूप कहते हैं - जो अनादि अनंत है, समय आदि की कल्पना या भेद से रहित है, वर्णादि रहित अमूर्तिक है व कालाणु द्रव्यरूप से आकाश में स्थित है सो निश्चयकाल है, वह ही कालाणुद्रव्य

की पर्यायरूप, सादिसांत समयरूप सूक्ष्मपर्याय व समयों के समुदाय की अपेक्षा निमिष, घडी आदि कोई भी माना हुआ भेदरूप काल का नाम सो व्यवहार काल है।

एदे कालागासा धम्मा-धम्मा पुग्गला जीवा।  
लब्धन्ति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं॥(102)

जिस प्रकार वास्तव में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार काल भी (द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से) 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार छह द्रव्य हैं। किन्तु जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को द्वि-आदि प्रदेश जिसका लक्षण है ऐसा अस्तिकायपना है, उसी प्रकार कालाणुओं का यद्यपि उनकी संख्या लोकाकाश के प्रदेशों जितनी है तथापि एक प्रदेशीपने के कारण अस्तिकायपना नहीं है। इसी ही कारण यहाँ पंचास्तिकाय के प्रकरण में मुख्यतः काल का कथन नहीं किया गया है, (परंतु) जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा ज्ञात होती है, ऐसी उसकी पर्याय होने से तथा जीव पुद्गलों के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा जिसका अनुमान होता है ऐसा वह (काल) द्रव्य होने से, उसे यहाँ अन्तर्भूत किया गया है।

**काल द्रव्य की विशेषता**  
**सोऽनन्तसमयः । (40)**

That time has infinite Samayas.

**वह अनन्त समय वाला है।**

यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय हैं ऐसा मानकर कालको अनन्त समयवाला कहा है। अथवा मुख्य कालका निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा है। तात्पर्य यह है कि अनन्त पर्यायों वर्तना गुणके निमित्त से होती हैं इसलिए एक कालाणुको भी उपचार से अनन्त कहा है। परन्तु समय अत्यन्त सूक्ष्म कालांश है और उसके समुदाय को आवलि मुहूर्त, घड़ी, घण्टा, दिन, रात जानना चाहिए।

ववहारो पुण तिविहो, तीदो वडुंतगो भविस्सो दु।

तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु ॥(578)

(गो.जी.)

व्यवहारकाल के तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान, भविष्यत्। इनमें से सिद्धराशिका संख्यात आवलि के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत अर्थात् भूतकालका प्रमाण है।

समओ हु वडुमाणो, जीवादो सव्वपुग्गलादो वि।

भावी अणंतगुणियो, इदि ववहारो हवे कालो ॥(579)

वर्तमान कालका प्रमाण एक समय है। सम्पूर्ण जीवराशि तथा समस्त पुद्गलद्रव्यराशिसे भी अनंतगुणा भविष्यत् कालका प्रमाण है। इस प्रकार व्यवहार कालके तीन भेद होते हैं।

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।

मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥(25)

(पंचास्तिकाय)

समय, निमेष, काष्ठा, कला (नाली), घड़ी, अहोरात्र (दिवस, रात) मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल (अर्थात् व्यवहारकाल) वह पराश्रित है।

## गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। (41)

Gunas or attributes depend upon substance and are never without it. An attribute as such cannot be the substratum of another attribute, although of course, many attributes can co-exist in one and the same substance at one and the same time and place. There can not be an attribute of an attribute.

जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और गुणरहित हैं वे गुण हैं।

जिसमें गुण आश्रय लेते हैं अर्थात् जिसमें गुण रहते हैं वह आश्रय है।



गुणों को कोई न कोई आश्रय चाहिए, गुण आश्रय के बिना नहीं रह सकते और द्रव्य को छोड़कर अन्य आधार हो नहीं सकता।

जो नित्य द्रव्य के आश्रय से रहता है वह गुण है। यद्यपि पर्यायों भी द्रव्य में रहती हैं, परन्तु पर्यायों कादाचित्क हैं अतः 'द्रव्याश्रयाः' इस पद से पर्यायों का ग्रहण नहीं होता है। अतः 'द्रव्याश्रयाः' इस पद से अन्वयी धर्म गुण है ऐसा सिद्ध होता है, जैसे कि, जीव के अस्तित्वादि और ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं और पुद्गल के अचेतनत्व आदि रूप-रसादि गुण हैं।

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।

दव्वाणांतियमधवा दव्वाभावं पकुळ्वंति ॥(44)

(पंचास्तिकाय पृ.152)

प्रदेशों की अपेक्षा भी यदि द्रव्य से गुण अलग-अलग हों तो जो अनंतगुण द्रव्य में एक साथ रहते हैं वे अलग-अलग होकर अनंत द्रव्य हो जावेंगे और द्रव्य से जब सब गुण भिन्न हो गए तब द्रव्य का नाश हो जावेगा। यहाँ पूछते हैं कि गुण किसी के आश्रय या आधार से रहते या वे आश्रय बिना होते हैं? यदि वे आश्रय से रहते हैं ऐसा कोई माने और उसको और कोई दोष दे तो यह कहना होगा कि, जो अनंत ज्ञान आदि गुण जिस किसी एक शुद्ध आत्म द्रव्य में आश्रयरूप हैं उस आत्म-द्रव्य से यदि वे गुण भिन्न-भिन्न हो जावें, इसी तरह दूसरे शुद्ध जीव द्रव्य में भी जो अनंत गुण हैं वे भी जुदे-2 हो जावें तब यह फल होगा कि शुद्धात्म द्रव्यों से अनंतगुणों के जुदा होने पर शुद्ध आत्मद्रव्य अनंत हो जावेंगे। जैसे ग्रहण करने योग्य परमात्म द्रव्य में गुण और गुणीका भेद होने पर द्रव्य की अनंतता कही गई वैसी ही त्यागने योग्य अशुद्ध जीव द्रव्य में तथा पुद्गलादि द्रव्यों में भी समझ लेनी चाहिये अर्थात् गुण और गुणीका भेद होते हुए मुख्य या गौणरूप एक-एक गुण का मुख्य या गौण एक-2 द्रव्य आधार होते हुये द्रव्य अनंत हो जावेगा तथा द्रव्य के पास से जब गुण चले जायेंगे तब द्रव्य का अभाव हो जायेगा जबकि यह कहा है कि गुणों का समुदाय द्रव्य है। यदि ऐसे गुणसमुदाय रूप द्रव्य से गुणों का एकांत से सर्वथा; भेद माना जायेगा तो गुण समुदाय स्वरूप का अस्तित्व द्रव्य कहाँ रहेगा? किसी भी तरह नहीं रह सकता है।

अविभक्तमणणत्तं दव्वगुणाणं विभक्तमणणत्तं।  
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हिं वा तेसिं॥(45)

जैसे-परमाणुका वर्णादि गुणों के साथ अभिन्नपना है अर्थात् उनमें परस्पर प्रदेशों का भेद नहीं है तैसे शुद्ध जीव द्रव्य का केवलज्ञानादि प्रगटरूप स्वाभाविक गुणों के साथ और अशुद्ध जीवका मतिज्ञान आदि प्रगट रूप विभाव गुणों के साथ तथा शेष द्रव्यों का अपने-2 गुणों के साथ यथासंभव एकपना है अर्थात् द्रव्य और गुणों के भिन्न-2 प्रदेशों का अभाव जानना चाहिये। निश्चय स्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जैसे-हिमाचल और विंध्याचल पर्वत में भिन्नपना है अथवा एक क्षेत्र में रहते हुए जल और दूध का भिन्न प्रदेशपना है ऐसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों का नहीं मानते हैं तो भी एकांत से द्रव्य और गुणों का अन्यपने से विपरीत एकपना भी नहीं मानते हैं अर्थात् जैसे द्रव्य और गुणों में प्रदेशों की अपेक्षा अभिन्नपना है तैसे संज्ञा आदि की अपेक्षा से भी एकपना है ऐसा नहीं मानते हैं अर्थात् एकांत से द्रव्य और गुणों का न एकपना मानते हैं न भिन्नपना मानते हैं। बिना अपेक्षा के एकत्व व अन्यत्व दोनों को नहीं मानते हैं, किंतु भिन्न-2 अपेक्षा से भेदाभेद दोनों स्वभावों को मानते हैं। प्रदेशों की एकता से एकपना है। संज्ञादिकी अपेक्षा द्रव्य और गुणों का अन्यपना है ऐसा आचार्य मानते हैं।

वधदेसा संठाणा संखा विसया य होति ते बहुगा।  
ते तेसिमणणत्ते अणत्ते चावि विज्जंते॥(46)

कथन या संज्ञा के भेद आकार के भेद संख्या या गणना और विषय या आधार ये बहुत प्रकार के होते हैं। ये चारों उन द्रव्य और गुणों की एकता में तैसे ही उसकी भिन्नपना में होते हैं।

णाणं धणं कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।  
भण्णांति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू॥(47)

जैसे धनका अस्तित्व भिन्न है और धनी पुरुष का अस्तित्व भिन्न है इसलिये धन और धनी का नाम भिन्न है, धन का आकार भिन्न है, धनी पुरुष का आकार भिन्न है, धनकी संख्या भिन्न है, धनी पुरुष की संख्या भिन्न है,

धन का आधार भिन्न है धनी का आधार भिन्न है तो भी धन को रखने वाला धनी है ऐसा जो कहना है सो भेद या पृथक्त्व व्यवहार है। तैसे ही ज्ञान का अस्तित्व ज्ञानी से अभिन्न है ऐसे ज्ञान का अभिन्न अस्तित्व रखने वाले ज्ञानी आत्मा के साथ अभेद कथन है। ज्ञान का नाम ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञानी का नाम ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञान का संस्थान ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञान का आधार ज्ञानी से अभिन्न है, ज्ञानी का आधार ज्ञान से अभिन्न है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानी में अपृथक्त्व या अभेद कथन है। इन दोनों दृष्टान्तों के अनुसार द्राष्टान्त विचार लेना चाहिये जहां भिन्न-2 द्रव्य हों उनके नामादि भिन्न जानना चाहिये।

**णाणी णाणं च सदा अत्यन्तरिदा दु अण्णमण्णस्स ॥(48)**  
**दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं।**

जैसे यदि अग्नि गुणी अपने गुण उष्णपने से अत्यन्त भिन्न हो जावे तो अग्नि दग्ध करने के कार्य को न कर सकने से निश्चय से शीतल हो जावे। उसी प्रकार जीव गुणी अपने ज्ञान गुण से भिन्न हो जावे तो पदार्थ को जानने में असमर्थ होने से जड़ हो जावे। जैसे उष्ण गुण से अग्नि अत्यन्त भिन्न यदि मानी जावे तो दहन क्रिया के प्रति असमर्थ होने से शीतल हो जावे तैसे ही ज्ञान गुण से अत्यन्त भिन्न यदि ज्ञानी जीव माना जावे तो वह पदार्थ के जानने को असमर्थता को होता हुआ अचेतन जड़ हो जावे तब ऐसा हो जावे जैसे देवदत्त घसियारे से उसका घास काटने का दतीला भिन्न है वैसे ज्ञान से ज्ञानी भिन्न हो जावे तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। दतीला तो छेदने के कार्य में मात्र बाहरी उपकरण है परन्तु भीतरी उपकरण तो वीर्यातराय के क्षयोपशम से उत्पन्न पुरुष का वीर्य विशेष है। यदि भीतर शक्ति न हो तो दतीला हाथ में होते हुए भी छेदने का काम नहीं हो सकता है। तैसे ही प्रकाश, गुरु आदि बाहरी सहकारी कारणों के होते हुए यदि पुरुष में भीतर ज्ञान का उपकरण न हो तो वह पदार्थ को जानने रूप कार्य नहीं कर सकता है।

**समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य।**  
**तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धिन्ति णिदिट्ठा ॥(50)**

जैन मत में समवाय उसी को कहते हैं जो साथ-साथ रहते हों अर्थात्

जो किसी अपेक्षा एकरूप से अनादिकाल से तादात्म्य सम्बन्ध या न छूटने वाला सम्बन्ध रखते हों ऐसा साथ वर्तन गुण और गुणी का होता है इससे दूसरा कोई अन्य से कल्पित समवाय नहीं है। यद्यपि गुण और गुणी में संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद है तथापि प्रदेशों का भेद नहीं है इसके वे अभिन्न हैं। तथा जैसे दंड और दंडी पुरुष का भिन्न-2 प्रदेशपनारूप भेद है तथा वे दोनों मिल जाते हैं ऐसा भेद गुण और गुणी में नहीं है। इससे इनमें अयुतसिद्धापना (अभेदपना) या एकपना कहा जाता है। इस कारण द्रव्य और गुणों का अभिन्नपना सदा से सिद्ध है। इस व्याख्यान में यह अभिप्राय है कि जैसे जीव के साथ ज्ञान गुणका अनादि तादात्म्य सम्बन्ध कहा गया है तथा वह श्रद्धान करने योग्य है वैसे ही जो अव्याबाध, अप्रमाण, अविनाशी, व स्वाभाविक रागादि दोष रहित परमानंदमई एक स्वभाव रूप पारमार्थिक सुख है इसको आदि लेकर जो अनंत गुण केवलज्ञान में अंतर्भूत है उनके साथ ही जीव का तादात्म्य सम्बन्ध जानना योग्य है तथा उसी ही जीव को रागादि विकल्पों को त्यागकर निरंतर ध्याना चाहिये।

**घण्णरसगंधफासा परमाणुरूविदा विसेसेहिं।**

**दब्बादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति॥(51)**

**दसंणणाणाणि तहा जीवणिबध्दाणि णण्णभूदाणि।**

**ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो॥(52)**

निश्चयसे वर्ण, रस, गंध, स्पर्श परमाणु में कहे हुए गुण पुद्गल द्रव्य से अभिन्न हैं तो भी व्यवहार से संज्ञादि की अपेक्षा भेदपने के प्रकाशक है तैसे जीव से तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले दर्शन और ज्ञान गुण जीव से अभिन्न हैं सो संज्ञा आदि से परस्पर भिन्नपना करते हैं। निश्चय से स्वभाव से पृथकपना नहीं करते हैं। क्योंकि द्रव्य और गुणों का अभिन्न अन्वय रूप से सम्बन्ध हैं।

**पर्याय का लक्षण**

**तद्भावः परिणामः। (42)**

The becoming of that is modification parinama or modification of a substance is the change in the character of its attributes.

उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम हैं।

धर्मादिक द्रव्य जिस रूप से होते हैं। वह तद्भाव या तत्त्व हैं। धर्मादि द्रव्यों का जो निज स्वरूप है वह उसका भाव तद्भाव कहलाता हैं। द्रव्यों के उस भाव को परिणाम कहते हैं अर्थात् द्रव्य जिस रूप में है उसके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं।

वह परिणाम सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का हैं। धर्मादि द्रव्यों के गति उपग्रह, स्थिति उपग्रह, अवकाश दान, वर्तना आदि परिणाम अनादि हैं, क्योंकि जब से धर्मादि द्रव्य हैं तभी से इनके परिणाम हैं। धर्मादि द्रव्य पहले हों और गति उपग्रह, स्थिति उपग्रह बाद में किसी समय में हुए हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि धर्मादि के साथ इनका सम्बन्ध अनादि है। धर्मादि अनादि हैं अतः गति उपग्रह आदि परिणाम अनादि हैं। बाह्य कारणों/निमित्त से जो उत्पाद होता है, जो द्रव्यों के परिणाम (पर्याय) उत्पन्न होते हैं, वे परिणाम आदिमान् (सादि) हैं।

दोनों नयों के कारण सब द्रव्यों में सादि एवं अनादि दोनों परिणामों की सिद्धि होती है अर्थात् पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सर्व धर्मादि द्रव्यों में परिणाम सादि है और द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से सभी द्रव्यों के परिणाम अनादि है। यह विशेषता है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यों का आदि और अनादिमान् परिणाम आगम से जाना जाता है और जीव तथा पुद्गलों का परिणाम कथंचित् प्रत्यक्षगम्य भी होता है।

## अध्याय 5

### अभ्यास प्रश्न-

1. कौन-कौन सा द्रव्य अजीव काय (अस्तिकाय) है ?
2. जीव भी द्रव्य क्यों है ?
3. धर्म, अधर्म, आकाश एवं जीव द्रव्य की विशेषता का वर्णन करो ?
4. पुद्गल अरूपी क्यों नहीं है ?
5. विश्व में एक-एक द्रव्य कौन से है तथा अनेक द्रव्य कौन-कौन से है ?
6. कौन-कौन से द्रव्य निष्क्रिय हैं तथा कौन-कौन से सक्रिय हैं ?

7. कौन-कौन से द्रव्य में कितने-कितने प्रदेश होते हैं ?
8. अणु का विशेष वर्णन करो ?
9. सम्पूर्ण द्रव्य कहाँ पर रहते हैं ?
10. एक आकाश प्रदेश में कितने अणु रह सकते हैं और क्यों ?
11. एक जीव द्रव्य कितने-कितने प्रदेश में रह सकता है ?
12. एक ही जीव कम प्रदेश में और अधिक प्रदेश में कैसे रह सकता है ?
13. धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य का उपकार क्या-क्या है ?
14. आकाश द्रव्य का क्या उपकार है ?
15. पुद्गल द्रव्य के उपकार का सविस्तार वर्णन करो ?
16. जीव का उपकार क्या-क्या है ?
17. काल का उपकार क्या है ?
18. पुद्गल का लक्षण क्या है ?
19. पुद्गल की विभिन्न पर्यायों का वर्णन करो ?
20. पुद्गल के मुख्य भेद का सविस्तार वर्णन करो ?
21. स्कन्धों की उत्पत्ति कैसे होती है ?
22. अणु की उत्पत्ति कैसे होती है ?
23. अचाक्षुष स्कन्ध कब चक्षु इन्द्रिय का विषय बनता है ?
24. द्रव्य का लक्षण क्या-क्या है ?
25. उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य किसमें होते हैं ?
26. उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की परिभाषा सविस्तार लिखो ?
27. द्रव्य नित्य कैसे है ?
28. वस्तु की सिद्धि किस प्रणाली से होती है ?
29. पुद्गल परस्पर कैसे बंधते हैं ?
30. किस-किस अवस्था में बन्ध नहीं होता है ?
31. बन्ध के अनन्तर (बाद) उत्पन्न स्कन्ध किस रूप में परिणाम करता है ?
32. काल भी द्रव्य क्यों है ?
33. काल के कितने भेद हैं ?
34. व्यवहार काल का विशेष वर्णन करो ?
35. निश्चय काल का विशेष वर्णन करो ?

36. गुणों की परिभाषा लिखो ?
37. पर्याय की परिभाषा क्या है ?
38. इस अध्याय के बारे में आपका विशेष अभिप्राय क्या है ?
39. इस अध्याय से सिद्ध करो कि प्राचीन भारत में उन्नत विज्ञान था ।

स्व-पर, ज्ञाता-ज्ञेय, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, अणु-महत, हेय-उपादेय-श्रेय को जानने के कारण मनुष्य एक प्रज्ञाधनी, मननशील, सत्यशोधक, जिज्ञासु और विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

भगवान् के निर्वाण महोत्सव मनाना तब सार्थक होगा, जब बच्चों का निर्माण करते हो।

निन्दा नहीं करना चाहिए, परन्तु समीक्षा करने में भयभीत नहीं होना चाहिए।

दूसरों का उपकार नहीं कर सकते तो इसकी विशेष चिन्ता नहीं परन्तु अपकार नहीं करना चाहिए।

दूसरों को पानी नहीं पिला सके तो मत पिलाओ, परन्तु विष तो मत पिलाओ।

## अध्याय 6

### आम्रवतत्त्व का वर्णन

Influx of KARMA

कायवाङ्मनः कर्मयोगः । (1)

Yoga is the name of vibrations set in the soul by the activity of body, speech or mind.

**काय, वचन और मन की क्रिया योग है।**

इस शास्त्र का नाम मोक्ष शास्त्र है क्योंकि इसमें मोक्षमार्ग का वर्णन है; मोक्ष मार्ग के कारण भूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का वर्णन किया गया है। सम्यग्दर्शन के विषय भूत सप्ततत्त्व में से पंचम अध्याय तक जीव एवं अजीव तत्त्व का वर्णन सम्पूर्ण हुआ। क्रम प्राप्त आम्रव तत्त्व का वर्णन यहाँ से प्रारम्भ हो रहा है।

इस विश्व में कार्माण वर्णना ठसाठस भरी हुई है। उसमें कर्मरूप परिणामन करने की योग्यता भी है। परन्तु जब तक जीव के योग एवं उपयोग का निमित्त नहीं मिलता है तब तक कर्म वर्णना आकर्षित होकर जीव में आकर नहीं मिलती है। इसलिये आम्रव तत्त्व का वर्णन करने के पहले ही योग का वर्णन किया गया है क्योंकि योग से आम्रव होता है।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। इस क्रिया से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन हलन-चलन ही योग है। वह निमित्तों के भेद से तीन प्रकार का है— काययोग, वचनयोग और मनयोग।

(1) **काययोगः**— वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की कायवर्णनाओं में से किसी एक प्रकार की वर्णनाओं के आवलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है।

(2) **वचनयोगः**— शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन वर्णनाओं का आवलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धि के मिलने पर वचनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है।



(3) मनोयोगः— वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्त भूत मनो वर्गणाओं का आवलम्बन मिलने पर मनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है।

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोग केवली के जो तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्म-प्रदेश परिस्पन्द होता है वह भी योग है ऐसा जानना चाहिये।

गोम्मटसार में कहा भी है—

पुद्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।  
जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो ॥(216)

गो.जी.

पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं ।  
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं ॥(3)  
गो.क.पृ. (2)

यह जीव औदारिक आदि शरीरनाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली कर्मवर्गणाओं को, तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियिक (3) आहारक (4) तैजस रूप होने वाली नोकर्मवर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ सम्बद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

यह जीव कर्म तथा नोकर्मरूप होने वाले कितने पुद्गलपरमाणुओं को प्रतिसमय ग्रहण करता है, सो बताते हैं,

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव । ।

समयप्रबद्धं बंधदि जोगवसादे दु विसरित्थं ॥(4)

यह आत्मा, सिद्ध जीवराशि के जो कि अनन्तानन्त प्रमाण कही है उसके अनंत वे भाग और अभव्वजीवराशि जो जघन्ययुक्तानंत प्रमाण है उससे अनंतगुणे समयप्रबद्ध को अर्थात् एक समय में बंधने वाले परमाणु समूह को बांधता है;— अपने साथ संबद्ध करता है। परन्तु मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप योगों की विशेषता से (कमती बढ़ती होने से) कभी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओं का भी बंध करता है। अर्थात् परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मन्दता होने पर आत्मा के प्रदेश जब अधिक वा कम सकंप (चलायमान) होते हैं तब कर्म परमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं। जैसे अधिक चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी पर कम।

### आस्रव का स्वरूप

सः आस्रवः । (2)

This yoga is the channel of Asrava or inflow of karmic matter in to the soul.

वही आस्रव है।

काययोग, वचनयोग एवं मनोयोग से आस्रव होने के कारण इन योगों को ही आस्रव कहा है। कर्म परमाणु का योग के द्वारा आकर्षित होकर आने को आस्रव कहते हैं। योग आस्रव होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर योग को ही आस्रव कहा है। जैसे अन्न प्राण नहीं है तो भी प्राण की स्थिति में अन्न कारण होने से अन्न को ही प्राण कह देते हैं।

जैसे— नौका में छिद्र होने पर छिद्र से पानी नौका में प्रवेश कर लेता है उसी प्रकार मन, वचन, काय के परिस्पन्दन रूपी छिद्र से कर्म का आगमन होता है, उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं। (1) द्रव्य आस्रव (2) भाव आस्रव।

द्रव्य संग्रह में द्रव्य आस्रव एवं भाव आस्रव का वर्णन निम्न प्रकार

किया है—

(1) भाव आस्रव—

आस्रवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।  
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि॥(29)  
(पृ.69)

जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है उसको श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए। और भावास्रव से भिन्न ज्ञानावरणादिरूप कर्मों का जो आस्रव है सो द्रव्यास्रव है।

(2) द्रव्य आस्रव—

णाणावरणादीणं जोगं जं पुगलं समासवदि।  
दव्वासवो स णेओ अणयभेओ जिणक्खादो॥(31)  
(पृ.71)

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वह अनेक भेदों सहित है, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

योग के निमित्त से आस्रव का भेद

शुभः पुण्यास्थाशुभः पापस्य। (3)

Asrava is of 2 kinds: शुभ or good which is the inlet of virtue or meritorious karms अशुभ or bad which is the inlet of vice or demeritorious karmas.

शुभयोग पुण्य का और अशुभयोग पाप का आस्रव है।

शुभयोग पुण्य और अशुभ योग पापास्रव का कारण है। हिंसा, असत्य भाषण, वध आदि की चिन्ता रूप अपध्यान अशुभ योग है। हिंसा, दूसरे की बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण (चोरी), मैथुन-प्रयोग आदि अशुभ काययोग है। असत्य भाषण, कठोर मर्मभेदी वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है। हिंसक परिणाम, ईर्ष्या, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग है।

अशुभ योग से भिन्न अनन्त विकल्प वाला शुभ योग है। जैसे- अहिंसा,

अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ-काययोग है। अर्हन्त भक्ति, तप की रूचि-श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है। सत्य, हित-मित वचन बोलना शुभ वाययोग है।

शुभ परिणाम- पूर्वक होने वाला योग शुभयोग है और अशुभ परिणामों से होने वाला योग अशुभ योग कहलाता है। “पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। कर्मणः स्वातन्त्र्य विवक्षाया पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्। पारतन्त्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्तेः पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् तत्सद्वेद्यादि।

(तत्त्वार्थवार्तिके)

जो आत्मा को पवित्र करे या जिससे आत्मा पवित्र की जाती है, वह पुण्य कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुखसाता का अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि कर्म पुण्य हैं। स्वतन्त्र विवक्षा में जो आत्मा को पवित्र करता है, प्रसन्न करता है वह पुण्य है एवं कर्तृवाच्य से निष्पन्न पुण्य शब्द है। पारतन्त्र्य विवक्षा में करण साधन से पुण्य शब्द निष्पन्न होता है, जैसे जिसके द्वारा आत्मा पवित्र एवं प्रसन्न किया जाता है, वह पुण्य है। “तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम्। तस्य पुण्यस्य प्रतिद्वन्द्विरूपं पापमिति विज्ञायते। पाति रक्षत्यात्मानम् अस्माच्छुभपरिणामादिति पापभिधानम्। तदसद्वेद्यादि।” (तत्त्वार्थवार्तिके)

पुण्य का प्रतिद्वन्दी (विपरीत) पाप है। जो आत्मा की शुभ से रक्षा करे अर्थात् आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे वह पाप कहलाता है, वह असाता वेदनीय आदि पापकर्म है।

प्रश्न - जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी दोनों ही का अविशेषता से तुल्य (समान) फल है प्राणी को परतन्त्र करना, वैसे ही पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा को परतन्त्र करने में निमित्त कारण है। इन पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, यह पुण्य (शुभ) है, यह अशुभ है, पाप है, यह तो केवल संकल्प मात्र भेद है।

उत्तर - पुण्य-पाप को सर्वथा एक रूप कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतन्त्रता में कारण हैं तथापि इष्ट फल और अनिष्ट फल के निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो

इष्ट गति, जाति, शरीर इन्द्रिय विषय आदि का निवर्तक (हेतु) है, वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर इन्द्रियों के विषय आदि का कारण है वह पाप है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पापकर्म में भेद है। इनमें शुभ योग पुण्यास्त्रव का कारण है और अशुभ योग पापास्त्रव का कारण है।

कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहोअसुहो।

सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥(9)

(प्रवचनसार पृ.सं. 19)

जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणत होता है, तब जपा कुसुम या तमालपुष्प के लाल या काले रंगरूप परिणत स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होता हुआ स्वयं शुभ या अशुभ होता है और जब यह शुद्ध अराग (वीतराग) भाव से परिणत होता है शुद्ध होता है तब शुद्ध अराग वीतराग स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होता हुआ शुद्ध होता है (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है।)

इस प्रकार जीव के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह अपरिणमन स्वभाव, कूटस्थ नहीं है।

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।

उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥(69)

(पृ.158)

देव, यति और गुरु की पूजा में तथा दान में तथा सुशील में और उपवासादिकों में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचय जादि।

असुहो वा तथ पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥(156)

(पृ. 352)

उपयोग यदि शुभ हो तो जीव के पुण्य संचय को प्राप्त होता है और यदि अशुभ हो तो पाप संचय होता है। उन दोनों के अभाव में संचय नहीं

होता।

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।

जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहोतस्स॥(157)

जो अर्हन्तों, सिद्धों तथा अनगारों को जानता है और श्रद्धा करता है, और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, उसका वह उपयोग शुभ है।

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चितदुदठगोद्विठजुदो।

उगो उम्मगपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥(158)

जिसका उपयोग विषय कषाय में अवगाढ़ (मम) है, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, कषायों की तीव्रता में अथवा पापों में उद्यत है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है, उसका वह उपयोग अशुभ है।

**स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद**

**सकषायकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः। (4)**

Souls affected with the passions have साम्परायिक or mundane inflow, i.e. inflow of karmic matter which causes the cycle of births and rebirths. Those without the passions have ईर्यापथ transient or fleeting inflow

कषायरहित और कषायसहित आत्मा का योग क्रम से साम्परायिक और ईर्यापथ कर्म के आस्रव रूप हैं।

सामान्य रूप से आस्रव एक प्रकार होते हुए भी स्वामी एवं कारणों के भेद से आस्रवों के भेद-प्रभेद हो जाते हैं। यहाँ पर मुख्यतः स्वामियों की अपेक्षा दो भेद किया गया है— (1) कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव (2) कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव है।

जो आत्मा को कसे, दुःख दे, वह कषाय है। क्रोधादि परिणाम कषाय हैं क्योंकि ये क्रोधादि परिणाम आत्मा को दुर्गति में ले जाने के कारण होने से आत्मा को कसते हैं, आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं।

अथवा, कषायले पदार्थ के समान कर्मरज के संश्लेषण में कारण होने से क्रोधादि परिणाम कषाय हैं। जैसे- वटवृक्ष आदि का चेप चिपकने में कारण होता है, वैसे ही आत्मा के क्रोधादि परिणाम भी कर्मबन्धन के कारण होने से कषाय कहे जाते हैं। जो जीव कषायसहित है, वह सकषाय है और जो कषायरहित जीव है वह अकषाय कहलाता है। सकषाय और अकषाय परिणामों को सकषायाकषाय परिणाम कहते हैं।

चारों तरफ से आत्मा का पराभव करने वाला सम्पराय है। कर्मों के द्वारा चारों ओर से आत्मा का (आत्मा के स्वरूप का) अभिभव- पराभव, तिरस्कार होना सम्पराय कहलाता है।

सम्पराय (संसार) जिसका प्रयोजन है, वह साम्परायिक है।

ईर्या जिसका द्वार है वह ईर्यापथ है। ईर्या (योग) है पन्था (द्वार) जिसका वह ईर्यापथ कहलाता है, अर्थात् जो कर्म मात्र योग से ही आते हैं, आना मात्र ही जिनका कार्य है, वे ईर्यापथाम्नाव कहलाते हैं। सकषाय आत्मा के साम्परायिक कर्मों का आस्रव होता है और अकषाय आत्मा के ईर्यापथ आस्रव होता है, ऐसा यथासंख्या लगाना चाहिये। जैसे- साम्पराय कषाय का वाची है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान तक कषाय के उदय से आर्द्र परिणाम वाले जीवों के योग के द्वारा आये हुए कर्म भाव से उपश्लिष्यमाण वर्णार्थों गीले चमड़े पर आश्रित धूलि की तरह चिपक जाती हैं, उनमें स्थिति बंध हो जाता है, वह साम्परायिक आस्रव कहलाता है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के योगक्रिया से आये हुए कर्म कषाय का चेप न होने से (कषाय के अभाव में बंध का अभाव होने से) सूखी दीवाल पर पड़ी हुई धूलि के समान द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, बन्धस्थान को प्राप्त नहीं होते हैं, यह ईर्यापथ आस्रव है।

### साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुः पञ्चविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः । (5)

The Kinds of the first i.e. mundance inflow are 39 in number. 5 caused by the activity of the 5 senses इन्द्रिय 4 cause by the activity of the

4 passions कषाय, 5 caused by the activity of the 5 kinds of vowlessness  
अव्रत; 25 caused by the 25 kinds of Activity क्रिया।

पूर्व के अर्थात् साम्परायिक कर्मास्रव के इन्द्रिय कषाय, अव्रत और क्रियारूप  
भेद हैं जो क्रम से पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं।

स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रिय क्रोध आदि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत और  
25 सम्यक्त्व क्रिया आदि से साम्परायिक आस्रव होता है। द्रव्य संग्रह में आस्रव  
का वर्णन प्रकारान्तर से निम्न प्रकार भी पाया जाता है-

मिच्छात्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णोया।

पण-पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥ (30)

अब प्रथम जो भावास्रव है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग  
और क्रोध आदि कषाय ऐसे पाँच, भेद जानने चाहिये, और मिथ्यात्व आदि  
के क्रम से पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद समझने चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्व  
के पाँच भेद, अविरति के पाँच भेद, प्रमाद के पन्द्रह भेद, योग के तीन भेद  
और क्रोध आदि कषायों के चार भेद जानने चाहिये।

(1) पंचेन्द्रिय - (1) स्पर्शन (2) रसना (3) घ्राण (4) चक्षु (5) कर्ण।  
चक्षु आदि इन्द्रिय के द्वारा जो विषय में प्रवृत्ति होती है उससे साम्परायिक  
आस्रव होता है।

(2) चतुः कषाय - (1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ से भी साम्परायिक  
आस्रव होता है।

(3) पाँच अव्रत - (1) हिंसा (2) झूठ (3) कुशील (4) चोरी (5) परिग्रह  
से भी साम्परायिक आस्रव होता है।

(4) 25 क्रियाओं - 25 क्रियाओं से भी साम्परायिक आस्रव होता है। उसका  
वर्णन निम्न प्रकार है-

(1) सम्यक्त्व - चैत्य (जिन प्रतिमा) गुरू और शास्त्र की पूजा, स्तवन  
आदि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व क्रिया है।

(2) मिथ्यात्व - मिथ्यात्व के उदय से जो अन्य देवता के स्तवन आदि



रूप क्रिया होता है वह मिथ्यात्व क्रिया है।

- (3) प्रयोग – शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदिरूप प्रवृत्ति प्रयोगक्रिया है।
- (4) समादान – संयत का अविरतिके सम्मुख होना समादान क्रिया है।
- (5) ईर्यापथ – ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है।
- (6) प्रादोषिकी – क्रोध के आवेश से प्रादोषिकी क्रिया होती है।
- (7) कायिकी – दुष्ट भाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है।
- (8) आधिकारणिकी – हिंसा के साधनों को ग्रहण करना आधिकारणिकी क्रिया है।
- (9) पारितापिकी – जो दुःख की उत्पत्ति का कारण है वह पारितापिकी क्रिया है।
- (10) प्राणातिपातिकी – आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करने वाली प्राणातिपातिकी क्रिया है।
- (11) दर्शन – रागवश प्रमादी का रमणीय रूप के देखने का अभिप्राय दर्शन-क्रिया है।
- (12) स्पर्शन – प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थ का अनुबन्ध स्पर्शनक्रिया है।
- (13) प्रात्ययिकी – नये अधिकरणों को उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।
- (14) समन्तानुपात – स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने, आने, उठने और बैठने के स्थान में मल का त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है।
- (15) अनाभोग – प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयी भूमिपर शरीर आदि का रखना अनाभोग क्रिया है।
- (16) स्वहस्त – जो क्रिया दूसरों द्वारा करने की हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्त क्रिया है।
- (17) निसर्ग – पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेष के लिए सम्पत्ति देना निस

क्रिया है।

(18) विदारण – दूसरे ने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

(19) आज्ञा व्यापादिकी – चारित्रमोहनीय के उदयसे आवश्यक आदि के विषय में शास्त्रोक्त आज्ञाको न पाल सकने के कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है।

(20) अनाकांक्षक्रिया – धूर्तता और आलस्य के कारण शास्त्र में उपदेशी गयी विधि करने का अनादर अनाकांक्ष क्रिया है।

(21) प्रारम्भ – छेदना, भेदना और रचना आदि क्रिया में स्वयं तत्पर रहना और दूसरे के करने पर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।

(22) पारिग्राहिकी – पसिग्रह का नाश न हो इसलिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी क्रिया है।

(23) माया – ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में छल करना मायाक्रिया है।

(24) मिथ्यादर्शन – मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा आदि के द्वारा वृद्ध करना कि 'तू ठीक करता है' मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(25) अप्रत्याख्यान – संयम का घात करनेवाले कर्म के उदय से त्यागरूप परिणामों का न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

ये सब मिलकर पच्चीस क्रियाएँ होती हैं। कार्य-कारण के भेद से अलग-अलग भेद को प्राप्त होकर ये इन्द्रियादिक साम्प्रायिक कर्म के आस्रव के द्वार हैं।

## आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः। (6)

The differences in flow in different souls caused by the same activity arise from differences in the following :

1. तीव्रभाव Intensity of desire or thought-activity.

2. मन्दभाव Mildness.
3. ज्ञातभाव Intentional character of the act.
4. अज्ञातभाव Unintentional character of the act.
5. अधिकरण Dependence.
6. वीर्य One's own position and power to do the act.

तीव्रभाव मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य विशेष के भेद से आस्रव की विशेषता होती है।

योग प्रत्येक संसारी जीव के होता है। योग होने पर भी सम्पूर्ण जीवों के आस्रव समान नहीं होता है। क्योंकि जीवों के परिणामों के अनन्त भेद हैं। कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है—

“गाणाजीव गाणाकम्म गाणाविह हवे लब्धि”

अर्थात् संसार में अनेक जीव (अनंत) हैं उनके कर्म (अनंत कर्म) हैं। इसलिए उनकी लब्धियाँ भी नाना (अनंत) प्रकार की हैं। इसलिए उनके योग, उपयोग विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसके अनुसार कर्म और बंध भी अनेक प्रकार के होते हैं।

(1) तीव्र भाव – अति प्रवृद्ध क्रोध, मान, माया और लोभादि के कारण परिणामों की तीव्रता को तीव्र कहते हैं वा बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से कषायों की उदीरणा होने पर अत्यन्त संक्लिष्ट भाव होते हैं, अत्यन्त उग्र परिणाम होते हैं, उन परिणामों को तीव्र कहते हैं।

(2) मन्द भाव – तीव्र से विपरीत परिणाम मन्द होते हैं। बाह्य आभ्यन्तर कारणों से कषायों की अनुदीरणा के कारण से उत्पद्यमान अनुद्रिक परिणाम मन्द होने से मन्द कहलाते हैं। अर्थात् कषायों की उदीरणा में परिणाम तीव्र होते हैं और कषाय की अनुदीरणा में परिणाम मन्द होते हैं।

(3) ज्ञात भाव – ज्ञात मात्र वा जानकर के प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। मारने के परिणाम न होने पर भी हिंसा हो जाने पर ‘मैंने मारा’ यह जान लेना ज्ञात है। अथवा ‘यह प्राणी मारने योग्य है’ ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है।

(4) अज्ञात भाव – मद या प्रमाद से गमनादि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है। जैसे – सुरापान करने वाले की इन्द्रियाँ विकल हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों को मोहित करने वाले परिणाम मद कहलाते हैं। उस मद से तथा कुशल (आत्महितकारक) क्रियाओं के प्रति अनादर भाव रूप प्रमाद के कारण गमनादि क्रियाओं में बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव कहलाता है।

(5) अधिकरण भाव – जिसमें पदार्थ अधिकृत किये जाते हैं वह अधिकरण है। आत्मा के प्रयोजन को अर्थ कहते हैं। जहाँ-जहाँ जिसमें प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं, प्रस्तुत किये जाते हैं वह अधिकरण है, द्रव्य है। अर्थात् क्रिया का आधारभूत द्रव्य अधिकरण है।

(6) वीर्य भाव – द्रव्य का स्वसामर्थ्य वीर्य है। द्रव्य की शक्ति विशेष वा सामर्थ्य विशेष को वीर्य कहते हैं।

## अधिकरण के भेद

### अधिकरणं जीवाजीवाः।।(7)

The Dependence relates to the souls and the non-souls.

अधिकरण जीव और अजीवरूप है।

जीव और अजीव ये जो आस्त्रव के अधिकरण और आधार हैं। यद्यपि सम्पूर्ण आस्त्रव जीव के ही होता है तथापि आस्त्रव के निमित्त जीव और अजीव दोनों के होते हैं। क्योंकि हिंसा आदि के उपकरण रूप से जीव और अजीव ही अधिकरण होते हैं। ये दोनों अधिकरण दस प्रकार के हैं- विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और खोटे रूप से प्रयुक्त मन-वचन और काय।

## जीवाधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारिता-

नुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः। (8)

The first जीवाधिकरण i.e. dependence on the souls in of 108 kinds due to differences in the following:

1. **संरम्भ** Determination to do a thing.
2. **समारम्भ** Preparation for it i.e. collecting materials for it.
3. **आरम्भ** Commencement of it.

These three can be done by the three yogas i.e. activity of mind, body and speech, thus there are  $3 \times 3 = 9$  kinds. Each one of the 9 kinds can be done in three ways i.e. by doing oneself or having it done by others or by approval or acquiescence. Thus we get 27 kinds. Each one of the 27 may be due to the 4 possions. That gives us  $27 \times 4 = 108$  kinds.

पहला जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के भेद से 3 प्रकार का योगों के भेद से तीन प्रकार का कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन प्रकार का तथा कषायों के भेद से चार प्रकार का होता हुआ परस्पर मिलाने से 108 प्रकार का है।

इस सूत्र में जीव के निमित्त से होने वाले आस्रव के भेद का वर्णन किया गया है। उस आस्रव के भेद 108 प्रकार के हैं। 108 प्रकार के आस्रव के प्रायश्चित्त स्वरूप या उसको दूर करने के लिए माला में 108 मणियाँ होती हैं। संरम्भ आदि का वर्णन निम्न प्रकार है :-

- (1) **संरम्भ** – प्रयत्न विशेष को संरम्भ कहते हैं। प्रमादी पुरुष का प्राणघात आदि के लिए प्रयत्न करने का संकल्प संरम्भ है।
- (2) **समारम्भ** – हिंसादि साधनों को एकत्र करना समारम्भ है। साध्य क्रिया के साधनों को इकट्ठा करना समारम्भ है।
- (3) **आरम्भ** – तत्त्व का कथन करने से सर्व ही (ये तीनों शब्द) भाव साधन हैं। अर्थात् संरम्भण संरम्भ, समारम्भण समारम्भ और आरम्भण आरम्भ हैं।
- (4 से 6) **मन, वचन, काय योग** – 'कायवाङ्मनस्कर्मयोगः' इस सूत्र में योग शब्द का व्याख्यान कर चुके हैं।
- (7) **कृत** – कृत वचन स्वातंत्र्य प्रतिपत्ति के लिए है। स्वतंत्ररूप से जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कृत है।

(8) कारित – पर प्रयोग की अपेक्षा कारित का अभिधान है। जो दूसरे के द्वारा कराया जाता है, वह कारित कहलाता है।

(9) अनुमोदना – अनुमत शब्द से प्रयोजक के मानसिक परिणामों की स्वीकृति दर्शायी गई है। अर्थात् करने वाले के मानस परिणामों की स्वीकृति अनुमत है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति किये जाने वाले कार्य का यदि निषेध नहीं करता है तो वह उसका अनुमोदक माना जाता है, उसी प्रकार कराने वाला प्रयोक्ता होने से और उन परिणामों का समर्थक होने से अनुमोदक है।

(10 से 13) क्रोध, मान, माया और लोभविशेष – क्रोधादि कषायों का लक्षण कह चुके हैं कि जो आत्मा को कसती हैं, दुःख देती है, वे कषाय हैं।

अर्थ का अर्थान्तर से जाना जाना विशेष है। विशेष किया जाता है वा विशेष करना, वह विशेष है। अथवा विशिष्ट को विशेष कहते हैं।

विशेष का सम्बन्ध सबके साथ लगाना चाहिये। वह विशेष शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है। जैसे- संरम्भविशेष, समारम्भविशेष, आरम्भविशेष, कृतविशेष, कारितविशेष, अनुमोदितविशेष, योगविशेष और कषायविशेष।

संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमोदित तथा कषायविशेष के द्वारा आस्रव का भेद होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोधादि चार और कृत आदि तीन के भेद से कायादि योगों के संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से विशिष्ट (सम्बन्ध) करने पर प्रत्येक के छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं।

संरम्भो द्वादशधा क्रोधादिकृतादिकायसंयोगात्।

आरम्भोसमारम्भौ तथैव भेदास्तु षट्त्रिंशत्।

कहा भी है - क्रोधादि और कृतादि के द्वारा कायसंरम्भ बारह प्रकार का है। इसी प्रकार समारम्भ और आरम्भ के साथ कृत, कारित, अनुमोदना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ का काययोग के साथ संयोग करने से बारह-बारह भेद होते हैं। काय के साथ आस्रव के ये छत्तीस भेद हैं, वैसे ही वचनयोग और मनोयोग के साथ छत्तीस-छत्तीस भेद करने चाहिए। इन सबका जोड़ करने पर जीवाधिकरण आस्रव के कुल एक सौ आठ भेद होते हैं।

सूत्र में 'च' शब्द क्रोधादि कषायों के विशेषों का संग्रह करने के लिए है। अर्थात् 'च' शब्द से कषायों के भेद और उपभेदों का भी ग्रहण हो जाता है। अतः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के सोलह भेदों से गुणा करने पर जीवाधिकरण आस्रव के चार सौ बत्तीस भेद भी होते हैं।

प्रश्न- संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ आदि के आस्रवत्व कैसे हैं ?

उत्तर- क्रोधादि से आविष्ट पुरुष के द्वारा कृत संरम्भ आदि क्रियाएँ कषायों से अनुरंजित होने से, नीले वस्त्र के समान अधिकरण भाव को प्राप्त होती हैं। जैसे नीले रंग में डाला गया वस्त्र नीले रंग से अनुरंजित होने से नीला हो जाता है, उसी प्रकार संरम्भ आदि क्रियाएँ अनन्तानुबन्धी आदि कषायों से अनुरंजित होती हैं, अतः इन संरम्भादि में भी जीवाधिकरणत्व सिद्ध होता है।

### अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्। (9)

The other अजीवाधिकरण i.e. dependence on the non-soul is of the following 11 kinds :

2 (kinds of) निर्वर्तना production 1 मूलगुण of the body, speech mind and respiration 2 उत्तरगुण of books, pictures, statues etc. 4 (kinds of) निक्षेप Putting down a thing (1) अप्रत्यवेक्षित without seeing (2) दुःप्रमृष्ट petulantly, peevishly (3) सहसा hurriedly and (4) अनाभोग where it ought not to be put.

2 (kinds of) संयोग mixing up 1 भक्तपान food and drink (2) उपकरण mixing up of things necessary for doing any act.

3 (kinds of) निसर्ग movement by 1 काय Body (2) वाङ् speech and (3) मन mind.

पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रम से दो, चार, दो और तीन भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग रूप हैं।

निर्वर्तना दो प्रकार की है। निक्षेप चार प्रकारका है। संयोग दो प्रकारका है। निसर्ग तीन प्रकारका है। ये सब अजीवाधिकरण के भेद हैं।

मूल और उत्तर गुण के भेद से निर्वर्तना लक्षण अजीवाधिकरण दो प्रकार का है- मूलगुण निर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण। पाँच प्रकार के शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, पुस्त, चित्रकर्मादि उत्तरगुणनिर्वर्तना है। अर्थात् पाँच प्रकार के शरीर, मन, वचन, काय और श्वासोच्छ्वास इनकी रचना करना मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, पाषाण, वस्त्र आदि के चित्राम बनाना, जीव के खिलौने बनाना, लिखना आदि उत्तरगुणनिर्वर्तना है।

किसी वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं – अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, सहसा निक्षेपाधिकरण और अनाभोग निक्षेपाधिकरण। (1) बिना देखे हुए किसी वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है। (2) ठीक तरह से न शोधी हुई भूमि पर किसी वस्तु को रखना दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण है। (3) शीघ्रतापूर्वक किसी वस्तु को रखना सहसा निक्षेपाधिकरण है। (4) किसी वस्तु को बिना देखे अयोग्य स्थान में चाहे जहाँ रखना अनाभोग निक्षेपाधिकरण है।

भक्तपान और उपकरण के भेद से संयोग दो प्रकार का है। मिलाने का नाम संयोग है, वह संयोग दो प्रकारका है। भक्तपान संयोगाधिकरण और उपकरण संयोगाधिकरण। (1) किसी अन्नपान को दूसरे अन्नपान में मिलाना भक्तपान संयोगाधिकरण है। (2) कमण्डलु, पुस्तक आदि उपकरणों को दूसरे उपकरणों के साथ मिलाना उपकरण संयोगाधिकरण है।

प्रवृत्ति करने को निसर्ग कहते हैं। कायादि के भेद से निसर्ग तीन प्रकार का है- कायनिसर्गाधिकरण, वाक्निसर्गाधिकरण और मनोनिर्साधिकरण।

काय की स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करना कायनिसर्ग है। वचन की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना वाक्निसर्गाधिकरण है और स्वेच्छानुसार मानसिक प्रवृत्ति मनोनिर्साधिकरण है।



## ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव

तत्प्रदोषनिह्वयमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः । (10)

1. प्रदोष Depreciation of the learned scriptures.
2. निह्वय Concealment of knowledge.
3. मात्सर्य Envy, Jealousy. Refusal to impart knowledge out of envy.
4. अन्तराय Obstruction. Hindering the progress of knowledge.
5. आसादना Denying the truth proclaimed by another by body and speech.
6. उपघात Refuting the truth, although it is known to be such.

ज्ञान और दर्शन के विषय में प्रदोष, निह्वय, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव हैं।

1. प्रदोष:- किसी के ज्ञानकीर्तन (महिमा सुनने) के अनन्तर मुख से कुछ न कहकर अन्तरंग में पिशुनभाव होना, ताप होना प्रदोष है। मोक्ष की प्राप्ति के साधनभूत मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानों की वा ज्ञान के धारी की प्रशंसा करने पर वा उसकी प्रशंसा सुनने पर मुख से कुछ नहीं कह कर के मानसिक परिणामों में पैशून्य होता है वा अन्तकरण में उसके प्रति जो ईर्ष्या का भाव होता है, वह प्रदोष कहलाता है।

निह्वय:- दूसरे के अभिसन्धान से ज्ञान का व्यपलाप करना निह्वय है। यत् किञ्चित् परनिमित्त को लेकर किसी बहाने से किसी बात को जानने पर भी मैं इस बात को नहीं जानता हूँ, पुस्तक आदि के होने पर भी 'मेरे पास पुस्तक आदि नहीं है' इस प्रकार ज्ञान को छिपाना ज्ञान का व्यपलपन करना, ज्ञान के विषय में वञ्चन करना निह्वय है।

3. मात्सर्य:- देय ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है। किसी कारण से आत्मा के द्वारा भावित, देने योग्य ज्ञान को भी योग्य पात्र के लिए नहीं देना मात्सर्य है।

4. अन्तराय:- ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। कलुषता के कारण ज्ञान का व्यवच्छेद करना, कलुषित भावों के वशीभूत होकर ज्ञान के साथ पुस्तक

आदि का व्यवच्छेद करना, नाश करना, किसी के ज्ञान में विघ्न डालना अन्तराय है।

5. आसादना:— वचन और काय से वर्जन आसादना है। दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय एवं वचन से वर्जन (गुण-कीर्तन, विनय आदि नहीं करना) आसादना है।

6. उपघात:— प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है। स्वकीय बुद्धि और हृदय की कलुषता के कारण प्रशस्त ज्ञान भी अप्रशस्त, युक्त भी अयुक्त प्रतीत होता है अतः समीचीन ज्ञान में भी दोषों का उद्भावन करना, झूठा दोषारोपण करना उपघात कहलाता है, उसको उपघात जानना चाहिये।

आसादाना और उपघात में एकत्व नहीं है क्योंकि आसादाना में विद्यमान ज्ञान का विनय-प्रकाशन, गुणकीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात में ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान का ही नाश किया जाता है। अथवा ज्ञान के नाश करने का अभिप्राय रहता है; अतः आसादाना और उपघात में भेद स्पष्ट है।

‘तत्’ शब्द से ज्ञान-दर्शन ग्रहण किये जाते हैं। ‘तत्’ शब्द से ज्ञान-दर्शन के प्रति निर्देश किया गया है। अर्थात् ज्ञान और दर्शन के प्रति प्रदोष, निह्वन, मात्सर्य, अन्तराय, आसादाना और उपघात, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

प्रदोषादि के विषयभेद से भेद सिद्ध होने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव पृथक्-पृथक् हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव भिन्न-भिन्न समझने चाहिये, क्योंकि विषय-भेद से प्रदोषादि भिन्न हो जाते हैं। ज्ञानविषयक प्रदोषादि ज्ञानावरण के और दर्शन विषयक प्रदोषादि दर्शनावरण के आस्रव के कारण होते हैं। आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, अकाल में अध्ययन करना, अश्रद्धा, शास्त्राभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ का श्रवण, तीर्थोपरोध (दिव्यध्वनि) के काल में स्वयं व्यख्यान करने लगना, स्वकीय बहुश्रुत का गर्व करना, मिथ्योपदेश देना, बहुश्रुतवान् का अपमान वा अनादर करना, अपने पक्ष का दुराग्रह, स्वपक्ष के दुश्मनों के वागण असेवक प्रस्ताप करना, सूत्रविरुद्ध बोलना, असिद्ध से ज्ञानाधिगम (असिद्ध से ज्ञान-प्राप्ति) शास्त्रविक्रय

और हिंसादि कार्य ज्ञानावरण कर्म के आम्रव के कारण हैं। दर्शनमात्सर्य, दर्शनान्तराय, आँखें फोड़ना, इन्द्रियों के विपरीत प्रवृत्ति, अपनी दृष्टि का गर्व, बहुत देर तक सोये रहना, दिन में सोना, आलस्य, नास्तिक्य, सम्यग्दृष्टियों में दूषण लगाना, कुतीर्थ प्रशंसा, जीवहिंसा और मुनिगणों के प्रति ग्लानि के भाव आदि भी दर्शनावरणकर्म के आम्रव के कारण हैं।

महाभारत में कहा भी है:-

ये पुरा मनुजा देवि ज्ञानदर्पसमन्विताः ।

श्लाघमानाश्च तत् प्राप्य ज्ञानाहङ्कारमोहिताः ॥

वदन्ति ये परान् नित्यं ज्ञानाधिक्येनदर्पिताः ।

ज्ञानादसूयां कुर्वन्ति न सहन्ते हि चापरान् ॥

तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।

मानुष्यं सुचिरात् प्राप्य तत्र बोधविवर्जिताः ॥

भवन्ति सततं देवि यतत्रो हीनमेधसः ॥

जो मनुष्य ज्ञान के घमंड में आकर अपनी झूठी प्रशंसा करते हैं और ज्ञान पाकर अहंकार से मोहित हो दूसरों पर आक्षेप करते हैं, जिन्हें सदा अपने अधिक ज्ञान का गर्व रहता है, जो ज्ञान से दूसरों के दोष प्रकट किया करते हैं, और दूसरे ज्ञानियों को नहीं सहन कर पाते हैं, शोभने! ऐसे मनुष्य मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म लेने पर चिरकाल के बाद मनुष्य योनि पाते हैं। देवि! उस जन्म में वे सदा यत्न करने पर भी बोधहीन और बुद्धि रहित होते हैं।

### असाता वेदनीय के आम्रव

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्वसद्वेद्यस्य । (11)

The inflow of pain bringing feeling असातावेदनीय Karmic matter is due to the following:

1. दुःख pain 2. शोक Sorrow 3. ताप repentence, remorse. 4. आक्रन्दन weeping 5. वध depriving of vitality 6. परिवेदना piteous or pathetic moaning to attract compassion.

अपने में, दूसरे में या दोनों में विद्यमान, दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन वध और परिदेवना ये असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

**दुःख--**

(1) पीड़ालक्षण परिणाम को दुःख कहते हैं। विरोधी पदार्थों का मिलना, अभिलषित (इष्ट) वस्तु का वियोग, अनिष्ट संयोग एवं निष्ठुर वचन श्रवण आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा से तथा असातावेदनीय के उदय से उत्पद्यमान पीड़ालक्षण परिणाम दुःख कहा जाता है।

(2) **शोक**— अनुग्राहक के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर वैकल्पविशेष शोक कहलाता है। अनुग्रह एवं उपकार करने वाले जो बन्धु आदि हैं उनका विच्छेद वा वियोग हो जाने पर उसका बार-बार विचार करके जो चिन्ता, खेद और विकलता आदि मोहकर्म विशेष शोक के उदय से मानसिक ताप होता है, वह शोक कहलाता है।

(3) **ताप**— परिवादादि निमित्त के कारण कलुष अन्तःकरण का तीव्र अनुशय ताप है। परिभवकारी कठोर वचन के सुनने आदि से कलुष चित्त वाले व्यक्ति के जो भीतर-ही-भीतर तीव्र जलन या अनुशय पश्चात्ताप के परिणाम होते हैं, उसे ताप कहते हैं।

(4) **आक्रन्दन**— परिताप से उत्पन्न अश्रुपात, प्रचुर विलाप आदि से अभिव्यक्त होने वाला क्रन्दन ही आक्रन्दन है। मानसिक परिताप के कारण अश्रुपात, अङ्गविकार-माथा फोड़ना, छाती कूटना आदि पूर्वक विलाप करना, रूदन करना आदि क्रियायें होती हैं, वह आक्रन्दन है वा उसे आक्रन्दन समझना चाहिये।

(5) **वध**— आयु, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास आदि का वियोग करना वध है। भवधारण का कारण आयु है। रूप-रसादि, ग्रहण करने का साधन वा निमित्त इन्द्रियाँ हैं। कायादि वर्गणा का अवलम्बन श्वासोच्छ्वास लक्षण प्राण है। इन प्राणों का परस्पर विघात करना, वध कहा जाता है।

**परिदेवन**— अतिसंक्लेशपूर्वक स्व पर अनुग्राहक, अभिलषित विषय के प्रति अनुकम्पा, उत्पादक रूदन परिदेवन है। अतिसंक्लेश परिणामों के अवलम्बन

पूर्वक ऐसा रूदन करना, विलाप करना जिसे सुनकर अपने तथा दूसरे को अनुकम्पा उत्पन्न हो जाय, उसे परिदेवन कहते हैं।

यद्यपि दुःख की ही अनन्त जातियाँ होने से ये सभी दुःख रूप हैं तथापि कुछ मुख्य-मुख्य जातियों का निर्देश किया है। जैसे 'गौ' अनेक प्रकार की होती है और केवल 'गौ' कहने से सबका ज्ञान नहीं हो पाता अतः खण्डी, मुण्डी, शाबलेय, श्वेत काली आदि विशेषों को ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार दुःख विषयक आस्रव के असंख्येय लोकप्रमाण भेद संभव होने से दुःख ऐसा कहने पर विशेष ज्ञान न होने से कुछ विशेष निदर्शन से उसके विभेक (भेद) की प्रतिपत्ति किस प्रकार हो सके, इसलिये शोकादि को पृथक् ग्रहण किया है; जिससे ये सर्व भिन्न-भिन्न सुगृहीत होते हैं, इनमें दुःख का लक्षण और उसी का विस्तार है, वह सुष्ठु रीति से दुःख के पर्यायवाची शब्दों को जानने के लिये हैं।

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन का ग्रहण दुःख के विकल्पों का उपलक्षण रूप है। जो उपलक्षण होता है, वह अपने सदृश का ग्राही होता है अतः शोकादि के ग्रहण से असाता वेदनीय के आस्रव के कारणभूत अन्य सर्व विकल्पों का संग्रह हो जाता है। अशुभ प्रयोग, परपरिवाद, पैशून्य, अनुकम्पा का अभाव (अदया), परपरिताप, आंगोपाङ्गच्छेद, भेद, ताड़न, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन तक्षण, विशंसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, वाहन, विहेडन, ह्येपण, शरीर को रूखा कर देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, संक्लेशप्रादुर्भावन, अपनी आयु यदि अधिक हो तो उसका अभिमान, निर्दयता, हिंसा, महारंभ, महापरिग्रह का अर्जन, विश्वासघात, कुटिलता, पापकर्म जीवित्व, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण, जाल, पाश, रस्सी, पिञ्जरा, यन्त्र आदि हिंसा के साधनों का उत्पादन, बलाभियोग शस्त्र देना, और पापमिश्रित भाव इत्यादि भी दुःख शोकादि से गृहीत होते हैं। आत्मा में, पर में और उभय में रहने वाले ये दुःखादि परिणाम असाता वेदनीय के आस्रव के कारण होते हैं।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है—

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम् ।  
परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम् ॥20॥

छेदन भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा ।  
तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विशंसनं तथा ॥21॥

पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च ।  
शस्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम् ॥22॥

शृङ्खलावागुरापाशरज्जुजालादिसर्जनम् ।  
धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा ॥23॥

तपस्विगर्हणं शीलव्रतप्रच्यवनं तथा ।  
इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥24॥

(तत्त्वार्थसार)

पराये, अपने तथा दोनों में स्थित दुःख, शोक, वध, ताप, क्रन्दन और परिदेवन तथा दूसरे की चुगली, छेदना, भेदना ताड़ना, दमन करना, डाँटना, झिड़कना, शीघ्रता से (अपराध का विचार किये बिना ही) घात करना, पापकार्यों से जीविका करना, कुटिल स्वभाव रखना, शस्त्र देना, विश्वासघात करना, विष मिलाना, सांकल, जाल, पाश, रस्सी तथा जाल आदि का बनाना, धर्म का विध्वंस करना, धर्म के कार्यों में विघ्न करना, तपस्विजनों की निन्दा करना और शीलव्रत से च्युत करना ये सब असाता वेदनीय के आस्रव के हेतु हैं।

### साता वेदनीय का आस्रव

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य । (12)

1. भूतानुकम्पा Compassion for all living beings,
2. व्रत्यानुकम्पा Compassion for the vowers.
3. दान Charity.
4. सरागसंयम Selfcontrol with slight attachment etc. i.e.
5. संयमासंयम Restrain by vows of some but not of other passions.
6. अकामनिर्जरा Equanimous submission to the fruition of karma.

7. बालतप Austerities not based upon right knowledge.
8. योग Contemplation.
9. क्षान्ति Forgiveness and
10. शौच Contentment. These are the cause of inflow of pleasure bearing feeling karmic matter, सातावेदनीय !

**भूतअनुकम्पा, व्रतअनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदि का योग तथा क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय के आस्रव हैं।**

**भूत-** आयुर्कर्म के उदयविशेष से होने वाले भूत कहलाते हैं। आयुर्कर्म के उदय से उन-उन योनियों में होने वाले प्राणियों को भूत कहते हैं अर्थात् सर्वप्राणी भूत कहलाते हैं।

**व्रती-** अहिंसादि व्रतों को धारण करने वाले व्रती कहलाते हैं। वे व्रती दो प्रकार के हैं- श्रावक और मुनि। आगार (घर) के प्रति अनुत्सुक संयतीजन अनगार है और संयतासंयत गृहस्थ एकदेश व्रती है।

**अनुकम्पा-** अनुकम्पन को अनुकम्पा कहते हैं। दयार्द्र व्यक्ति का हृदय दूसरे की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझकर काँप जाता है, वह अनुकम्पा है। भूत (प्राणी) और दोनों प्रकार के व्रतियों में अनुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा है।

**दान-** पर की अनुग्रह बुद्धि से अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। आत्मीय धन आदि वस्तु का दूसरों का उपकार करने की बुद्धि से त्याग करना दान कहा जाता है।

**सराग-** कषायों को निवारण करने में तत्पर अक्षीणकषायी सराग कहलाता है। पूर्वोषार्जित कर्म के उदय से जिसकी कषायें शांत नहीं हुई है परन्तु जो कषायों का निवारण (शांत) करने के लिए तैयार है, वह सराग कहलाता है।

**सरागसंयम-** प्राणियों और इन्द्रियों में अशुभ प्रवृत्ति की विरति का नाम संयम है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि प्राणियों में और चक्षु आदि पंचेन्द्रियों के विषयों में अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना वा अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना संयम है। अर्थात् प्राणियों की रक्षा करना और इन्द्रियों की विषय- प्रवृत्ति को रोकना

संयम है। सराग (राग सहित प्राणी) का संयम सरागसंयम है अथवा सराग (राग के साथ) संयम राग संयम है।

आदि शब्द से संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप आदि का भी ग्रहण है। संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप का भी आदि शब्द से ग्रहण किया गया है। एकदेश विरति को संयमासंयम कहते हैं अर्थात् 'जो त्रस हिंसा का त्याग करने से संयम और स्थावर हिंसा का त्याग न करने से असंयम तथा दोनों संयम और असंयम एक साथ होने से संयमासंयम कहलाता है। विषयों के अनर्थ की निवृत्ति को आत्म-अभिप्राय से नहीं करते हुए परतन्त्रता के कारण भोगोपभोग का निरोध होने पर शांतिपूर्वक सहन करना अकामनिर्जरा है। यथार्थ प्रतिपत्ति (ज्ञान) अभाव होने से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बाल कहलाते हैं। उन अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों का अग्नि में प्रवेश, पंचाग्नि तप आदि बालतप है।

**योगः**— निरवद्य क्रियाविशेष के अनुष्ठान को योग कहते हैं। योग अर्थात् पूर्ण उपयोग से जुट जाना। योग, समाधि, सम्यक् प्रणिधान ये सब एकार्थवाची है। दूषण की निवृत्ति के लिए योग शब्द का ग्रहण किया गया है। अथवा, भूतब्रत्यनुकम्पा, दान और सरागसंयम आदि का योग भूतब्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोग कहलाता है।

**क्षान्तिः**— धर्मप्रणिधान (धार्मिक भावनाओं) से क्रोधादि की निवृत्ति करना क्षान्ति है। क्रोधादिकषायों को शुभ परिणाम— भावनापूर्वक निवृत्ति करना क्षान्ति कहलाती है। अर्थात् क्रोध के कारण मिलने पर भी सहनशील रहना, उत्तेजित नहीं होना, क्षान्ति है।

**शौच**— लोग के प्रकारों के उपरम को शौच कहते हैं। लोभ के अनेक भेद हैं उनका उपरम करना, त्याग करना शुचि कहलाता है और शुचि का भाव शौच कहलाता है। स्वद्रव्य का ममत्व नहीं छोड़ना, दूसरे के द्रव्य का अपहरण करना, धरोहर को हड़पना आदि लोभ के प्रकार हैं। यहाँ पर इति शब्द प्रकारार्थक है। इस प्रकार भूतब्रत्यनुकम्पा आदि साता वेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

तत्त्वार्थसार में कहा भी गया हैः—



दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा ।  
वैयावृत्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा ॥(25)॥

(अ.4)

सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा ।  
भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्देद्यास्रवहेतवः ॥(26)

दया, दान, शील, तप, सत्य, शौच, इन्द्रियदमन, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिन पूजा, सरलता, सरागसंयम, संयमासंयम, भूतानुकम्पा और व्रत्यनुकम्पा ये सातावेदनीय के आस्रवके हेतु है।

### दर्शनमोहनीय का आस्रव

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । (13)

The inflow of दर्शनमोहनीय right-belief-deluding-karmic matter is caused by अवर्णवाद defaming the Omniscient Lord अरहत् i.e. केवलि, the scriptures श्रुत, the saint's brother hoods संघ, the true religion धर्म and the celestial beings देवा e.g. saying that the celestial beings take meat or wine, etc. and to offer these as sacrifices to them.

केवली श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।

जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे केवली कहलाते हैं। अतिशय बुद्धि वाले गणधर देव उनके उपदेशों का स्मरण करके जो ग्रन्थों की रचना करते हैं वह श्रुत कहलाता है। रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का समुदाय संघ कहलाता है। सर्वज्ञ-द्वारा प्रतिपादित आगम में उपदिष्ट अहिंसा ही धर्म है। चार निकाय वाले देवों का कथन पहले कर आये हैं। गुणवाले बड़े पुरुषों में जो दोष नहीं है उनका उनमें उद्भावन करना अवर्णवाद है। इन केवली आदि के विषय में किया गया अवर्णवाद दर्शनमोहनीय के आस्रव का कारण है। यथा केवली कवलाहार से जीते हैं इत्यादि रूप से कथन करना केवलियों का अवर्णवाद है। शास्त्रों में मांस भक्षण आदि को निर्दोष कहा है इत्यादि रूप से कथन करना श्रुत का अवर्णवाद है। ये शूद्र हैं, अशुचि हैं, इत्यादि रूप से अपवाद

करना संघ का अवर्णवाद है। जिन देव के द्वारा उपदिष्ट धर्म में कोई सार नहीं जो इसका सेवन करते हैं वे असुर होंगे इस प्रकार कथन करना धर्म का अवर्णवाद है। देव सुरा और मांस आदि का सेवन करते हैं इस प्रकार का कथन देवों का अवर्णवाद है।

## चारित्र मोहनीय का आस्रव

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्र मोहस्य । (14)

The inflow of चारित्र मोहनीय right-conduct-deluding-karmic matter is caused by the intense thought activity produced by the rise of the passions and of the quasi-passions no-kasaya.

कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण है।

कषायों के उदय से जो आत्मा का तीव्र परिणाम होता है वह चारित्र मोहनीय का आस्रव जानना चाहिए।

**कषायवेदनीय के आस्रव**— स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिंग (वेष) और व्रत को धारण करना, धर्म का विध्वंस करना, किसी को शीलगुण, देशसंयम और सकलसंयम से च्युत करना, मद्य-मांस आदि से विरक्त जीवों को उनसे बिचकाना धार्मिक कार्यों में अन्तराय करना, आदि क्रियाएँ एवं भाव, कषाय वेदनीय के आस्रव के कारण।

(2) **हास्य वेदनीय के आस्रव**— सत्य धर्म का उपहास करना, दीन मनुष्य की दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित राग को बढ़ाने वाला हँसी मजाक करना, बहुत बकने और हँसने की आदत रखना आदि हास्य वेदनीय के आस्रव हैं।

3. **रति वेदनीय के आस्रव**— नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में लगे रहना, व्रत और शील के पालन में रूचि न रखना, आदि रति वेदनीय के आस्रव हैं।

4. **अरति वेदनीय के आस्रव**— दूसरों में अरति उत्पन्न हो और रति का विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगों की संगति करना आदि अरति

वेदनीय के आस्रव हैं।

5. शोक वेदनीय के आस्रवः— स्वयं शोकातुर होना, दूसरों के शोक को बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्यों का अभिनन्दन करना शोक वेदनीय के आस्रव हैं।
6. भय वेदनीय के आस्रवः— भयरूप परिणाम और दूसरों को भय पैदा करना आदि भय वेदनीय के कारण हैं।
7. जुगुप्सा वेदनीय के आस्रवः— सुखकर क्रिया और सुखकर आचार से घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सा वेदनीय के आस्रव हैं।
8. स्त्री वेदनीय के आस्रवः— असत्य बोलने की आदत, अतिसन्धानपरता (दूसरों का भेद खोलना), दूसरों के छिद्र ढूढ़ना और बढ़ा हुआ राग आदि हैं।

येऽत्रमायाविनो मर्त्या अतृप्ताः कामसेवने।

विकारकारिणोऽङ्गादौ योषिट्वेषादिधारिणः ॥(96)

(श्री वीर वर्धमान चरिते)

मिथ्यादृशश्च रागान्धा निःशीला मूढ चेतसः।

नार्यो भवन्ति ते लोके मृत्वा स्त्रीवेदपाकतः ॥

जो मनुष्य यहाँ पर मायावी होते हैं, काम सेवन करने पर भी जिनकी तृप्ति नहीं होती शरीरादि में विकारी कार्य करते हैं, स्त्री आदि के वेष को धारण करते हैं, मिथ्यादृष्टि है, रागान्ध है, शील रहित हैं और मूढ चित्त है, ऐसे मनुष्य मरकर स्त्री वेद के परिपाक से इस लोक में स्त्री होते हैं। अधिक श्रृंगार प्रिय होना (कैशन करना) स्व-पर श्रृंगार में रुचि रखना आदि कार्य सभी स्त्री वेदनीय के आस्रव हैं।

पुरुष वेदनीय के आस्रव— क्रोध का अल्प होना, ईर्ष्या नहीं करना, अपनी स्त्री में संतोष करना आदि पुरुष वेदनीय के आस्रव हैं।

शुद्धाचरणशीला या मायाकौटिल्यवर्जिताः ।  
विचारचतुरा दक्षा दानपूजादितत्पराः ॥१९८॥

स्वल्पाक्षशर्मसंतोषान्विता वृज्जानभूषिताः ।  
नार्यः पुंवेदपाकेन जायन्तेऽत्र च मानवाः ॥१९९॥

(श्री- वीरवर्धमानचरिते)

जो शुद्धाचरणशाली है, माया-कुटिलता से रहित हैं, हेय-उपादेय के विचार में चतुर हैं, दक्ष है, दान-पूजादि में तत्पर हैं, अल्प इन्द्रिय सुख से जिनका चित्त सन्तोष-युक्त है, और सम्यग्दर्शन ज्ञान से विभूषित हैं, ऐसी स्त्रियाँ पुरुष वेद के परिपाक से यहाँ पर मनुष्य होती हैं।

नपुंसक वेदनीय के आस्रवः-- प्रचुर मात्रा में कषाय करना, गुप्त इन्द्रियों का विनाश करना और परस्त्री से बलात्कार करना आदि नपुंसक वेदनीय के आस्रव हैं।

अतीवकामसेवान्धाः परदारादिलम्पटाः ।  
अनङ्गक्रीडानासक्ता निःशीला व्रतवर्जिताः ॥१००॥

नीचधर्मरता नीचा नीचमार्गप्रवर्तिनः ।  
ये ते नपुंसकाः स्युश्च क्लीबवेदवशाज्जडाः ॥१०१॥

(श्री-वीरवर्धमान चारिते)

जो पुरुष काम-सेवन में अत्यन्त अन्ध (आसक्त) होते हैं, पर स्त्री, पुत्री आदि में लम्पट हैं, हस्तमैथुनादि अनङ्गक्रीडा में आसक्त रहते हैं, शील-रहित है, व्रत रहित है, नीच धर्म में संलग्न हैं, नीच है, और नीच मार्ग के प्रवर्तक हैं, ऐसे जड़-जीव नपुंसक वेद के वश से नपुंसक होते हैं।

**नरक आयु का आस्रवः**

**बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकास्यायुषः । (१५)**

As to the age karma the inflow of नरकायुक्कर्म hellish age karma is caused by too much wordly activity and by attachment to too many worldly objects or by too much attachment.

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है।

प्राणियों को दुख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है। यह वस्तु मेरी है इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है। जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बह्णारम्भ परिग्रहत्व है। हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति तथा मरने के समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदि का होना नरकायु के आस्रव हैं।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है—

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता ।  
मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ॥(30)

अज्रसं जीवघातित्वं सततानृतवादिता ।  
परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ॥(31)

कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता ।  
जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ॥(32)

मार्जारताम्रचूडादिपापीयःप्राणिपोषणम् ।  
नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह ॥(33)

कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ।  
आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥(34)

तीव्र मान करना, पाषाणरेखा के समान तीव्र क्रोध करना, मिथ्यात्व धारण करना, तीव्र लोभ करना, निरन्तर निर्दयता के भाव रखना, सदा जीवघात करना, निरन्तर झूठ बोलना, सदा परधनहरण करना, निरन्तर मैथुन सेवन करना, हमेशा काम भोग सम्बन्धी अभिलाषाओं को अत्यधिक बढ़ाना, जिनेन्द्र भगवान् में दोष लगाना, जिनागम का खण्डन करना, विलाव, मुर्गा आदि पापी जीवों का पोषण करना, शील रहित होना, बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना, कृष्णलेश्यारूप परिणति करना तथा चार प्रकार का (हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द, परिग्रहानन्द) रौद्रध्यान करना ये सब नरकायु के आस्रव के हेतु हैं।



शीलरहित होना, व्रतरहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना, मिथ्यात्व से सहित अधर्मोंका उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर का बनाना, झूठे नापतौल के बाँट तराजू तथा कूट आदि का चलाना, नकली सुवर्ण तथा मोती आदि का बनाना, वर्ण, गन्ध रस आदि को बदलकर अन्यरूप देना, छछ, दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों का मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरों की विषय अभिलाषा को उत्पन्न करना, कापोत और नील लेश्या से युक्त होना, तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यच आयु के आस्रव के हेतु जानना चाहिये।

### मनुष्य आयु का आस्रव

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य। (17)

The inflow of मनुष्यायु human-age-karma is caused by slight wordly activity and by attachment to a few wordly objects of by slight attachment.

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह वाले का भाव मनुष्यायु का आस्रव है।

नरक आयु के आस्रव के कारणों से विपरीत भाव मनुष्य आस्रव के कारण हैं। नरक आयु के आस्रवों के कारण बहु आरम्भादि का वर्णन कर दिया है। उससे विपरीत अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रहत्वं, संक्षेप में मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं। विस्तार से मिथ्यादर्शन सहित बुद्धि, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव-आर्जव परिणाम, अच्छे आचरणों में सुख मानना, रेत की रेखा के समान क्रोधदि, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, संतोष में रति, हिंसा से विरक्ति, दुष्ट कार्यो से निवृत्ति, स्वागत तत्परता, कम बोलना, प्रकृति मधुरता, सब के साथ उपकार-बुद्धि रखना, औदासीन्यवृत्ति, ईर्षारहित परिणाम, अल्प संक्लेशता, गुरु, देवता, अतिथि की पूजा-सत्कार में रुचि, दानशीलता, कापोत, पीत लेश्या के परिणाम, मरण समय में धर्मध्यान परिणित आदि लक्षण वाले परिणाम मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

स्वभावमार्दवोपेता आर्जवाङ्कितविग्रहाः ।  
सन्तोषिणः सदाचारा नित्यं मन्दकषायिणः ॥(92)  
शुद्धाशया विनीताश्च जिनेन्द्रगुरुधर्मिणाम् ।  
इत्याद्यन्यामलाचारैर्मण्डिता येऽत्र जन्तवः ॥(93)  
ते लभन्तेऽन्यपाकेन चार्यखण्डे शुभाश्रिते ।  
नृगति सत्कुलोपेता राज्यादिश्रीसुखान्विताम् ॥(94)

जो स्वभाव से मृदुता-युक्त हैं, जिनका शरीर सरलता से संयुक्त है, सन्तोषी हैं, सदाचारी हैं, सदा जिनकी कषाय मन्द रहती है, शुभ अभिप्राय रखते हैं, विनीत हैं, जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनधर्म का विनय करते हैं, इन तथा ऐसे ही अन्य निर्मल आचरणों से जो जीव यहां पर विभूषित होते हैं, वे पुण्य के परिपाक से शुभ के आश्रयभूत आर्यखण्ड में सत्कुल से युक्त, राज्यादि लक्ष्मी के सुख से भरी हुई मनुष्यगति को प्राप्त करते हैं।

(श्री वीरवर्धमानचरिते)

ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह ।  
स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता ॥(40)  
अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः ।  
आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥(41)

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह के साथ परिणामों में सरलता रखना, स्वभाव से कोमल होना, गुरुपूजन का स्वभाव होना, अल्प संक्लेश का होना, दान देना और प्राणिघात से दूर रहना ये मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

(तत्त्वार्थसार-चतुर्थाधिकार पृ.120)

स्वभाव मार्दवं च । (18)

Natural humble disposition is also the cause of human-age-karma.

स्वभाव की मृदुता भी मनुष्यायु का आस्रव है।

उपदेश की अपेक्षा के बिना होने वाली कोमलता स्वाभाविक कहलाती है। मृदु का भाव या कर्म मार्दवं है, स्वभाव से होने वाला अर्थात् परोपदेश के



बिना होने वाला मार्दव स्वाभाविक मृदुता है। जो जीव स्वाभाविक मृदुता से सहित होते हैं वे भी मनुष्य आयु का आस्रव करते हैं। 17 वें सूत्र में मनुष्य आयु के आस्रव का कारण बताने के बाद भी इस सूत्र में अलग से मनुष्य आयु के आस्रव का वर्णन इसलिये किया गया कि स्वाभाविक सरलता से मनुष्य आयु का आस्रव जैसे होता है वैसे ही देव आयु का आस्रव का भी कारण बनता है।

### सब आयुओं का आस्रव निःशील व्रतत्वं च सर्वेषाम्। (19)

Vowlessness and sub vowlessness with slight wordly activity and slight attachment, is cause of inflow of all kinds of age-karmas  
शीलरहित और व्रत रहित होना सब आयुओं का आस्रव है।

सूत्र में जो 'च' शब्द है वह अधिकार प्राप्त आस्रवों के समुच्चय करने के लिए है। इससे यह अर्थ निकलता है कि अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहरूप भाव तथा शील और व्रतरहित होना सब आयुओं के आस्रव हैं।

दिग्ब्रत आदि सात शील और अहिंसादि पाँच व्रतों के अभाव से भी यदि कषाय मंद है और लेश्यायें शुभ हैं तब देव और मनुष्य आदि शुभ आयु का आस्रव होता है। और जब कषाय तीव्र है और लेश्यायें अशुभ रहती हैं तब तिर्यच और नरक आदि अशुभ आयु का आस्रव होता है। इसलिए इस सूत्र में कहा है कि शीलरहितता एवं व्रतरहितता से सम्पूर्ण आयु का आस्रव होता है।

### देव आयु का आस्रव सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य।(20)

The inflow of देवायु Celestial age karma is caused by

- (1) सरागसंयम Selfcontrol with slight attachment found in monks only.
- (2) संयमासंयमा Restraint of vows of some but not of other passions found in laymen only.

(3) अकामनिर्जरा Equanimous submission : the fruition of karma.

(4) बालतप Austerities not based upon right knowledge

सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप ये देवायु के आस्रव हैं।

सरागसंयमादि शुभ परिणाम देवायु के आस्रव के कारण हैं। विस्तार से तो कल्याणकारी धार्मिक मित्रों की संगति, आयतनसेवा, सद्धर्म श्रवण, स्वअगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तप की भावना, बहुश्रुतत्व, आगमपरता, कषायों का निग्रह, पात्रदान, पीत पद्मालेश्या के परिणाम और मरण समय में धर्मध्यान रूप परिणाम आदि शुभ परिणाम सौधर्मादि कल्पवासी देव-आयु के आस्रव के कारण हैं। अव्यक्त सामायिक और सम्यग्दर्शन की विराधना आदि भवनवासी आदि देवों की आयु के और महर्धिक मनुष्यों की आयु के आस्रव के कारण हैं। पाँच-अणुव्रतधारी, सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च, सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। यदि पंचाणुव्रत धारक मानव और तिर्यञ्च सम्यग्दर्शन की विराधना कर देते हैं तो वे भवनवासी आदि देवों में उत्पन्न होते हैं। नहीं जाना है जीव-अजीव के स्वरूप को जिन्होंने ऐसे तत्त्वज्ञानशून्य बालतप तपने वाले, अज्ञानी, तत्त्व-कुतत्त्व को नहीं जानने वाले, अज्ञान पूर्वक संयम का पालन करने वाले, क्लेश के अभाव विशेष यानी (मन्द कषाय) के कारण कोई भवनवासी व्यन्तरादि में उत्पन्न होते हैं कोई सौधर्म स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और कोई इन भावों से मरकर मानव एवं तिर्यञ्च पर्याय में भी उत्पन्न हो सकते हैं। अकामनिर्जरा, भूख-प्यास का सहना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, पृथ्वी पर शयन, मलधारण (स्नान नहीं करना) परितापादि परीषहों से खेद-खिन्न नहीं होना, गूढ पुरुषों के बन्धन में पड़ जाने पर भी नहीं घबड़ाना, दीर्घकाल तक रोगी रहने पर भी संक्लेश भाव नहीं करना, वृक्ष या पर्वत के शिखर से झम्पापात करना, अनशन, अग्निप्रवेश, विषभक्षण आदि में धर्म मानने वाले कुतापस मरकर व्यन्तरदेव, मनुष्य और तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते हैं। जिन्होंने शील व्रतों को धारण नहीं किया है किन्तु जिनका हृदय अनुकम्पा से ओतप्रोत है, जिनके जलरेखा सदृश रोष है तथा जो भोगभूमि में उत्पन्न हैं, ऐसे तिर्यञ्च और मनुष्य

व्यन्तरादि में उत्पन्न होते हैं।

### सम्यक्त्वं च । (21)

Right belief is also the cause of celestial age karmas, but only of the heavenly order.

### सम्यक्त्व भी देवायु का आस्रव है।

विशेष कथन न होने पर भी पृथक् सूत्र होने से सौधर्मादि विशेष गति जाननी चाहिये। सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण है, ऐसा सामान्य कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन, सौधर्मादि कल्पवासी देव सम्बन्धी आयु के आस्रव का कारण है, यह समझना चाहिए। क्योंकि पृथक् सूत्र से यह ज्ञात होता है। यदि सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन देव आयु के आस्रव का कारण इष्ट होता तो पृथक् सूत्र की रचना व्यर्थ होती। क्योंकि पूर्व सूत्र में ही देवायु के आस्रव के कारण कहे हैं।

सम्यक्त्व के साथ नियम है कि सम्यग्दृष्टि सौधर्मादि विमानवासी देवों की आयु का ही बंध करता है, अन्य आयु का नहीं, उसी प्रकार सरागसंयम और संयम का भी नियम है कि वे भी स्वर्गों की आयु का बन्ध करते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सरागसंयम और संयमासंयम की उत्पत्ति नहीं है अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव में सरागसंयम और संयमासंयम नहीं हो सकते।

### अशुभ नामकर्म का आस्रव

### योगवक्रता विसंवादं चाशुभस्य नाम्नः । (22)

The inflow of अशुभनाम bad body-making karma is caused by a non-straight forward or deceitful working of the mind, body or speech or by विसंवाद Wrangling, etc. wrong-belief, envy, back-biting, self-praise, censuring and others etc.

### योग वक्रता और विसंवाद ये अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

मन में कुछ सोचना, वचन से कुछ दूसरे प्रकार से कहना और काय से भिन्न रूप से ही प्रवृत्ति करना योगवक्रता है। मन, वचन और काय का व्याख्यान पहले किया जा चुका है, उनकी कुटिलता योगवक्रता कहलाती है। अनाजव

का प्रयत्न ही कुटिलता है।

अन्यथा प्रवृत्ति करना, कराना विसंवादन है। दूसरों को अन्यथा प्रवृत्ति कराना, वस्तु के स्वरूप का अन्यथा प्रतिपादन करना अर्थात् श्रेयोमार्ग पर चलने वालों को उस मार्ग की निन्दा करके बुरे मार्ग पर चलने को कहना विसंवादन है।

‘च’ शब्द अनुक्त के समुच्चय के लिए है। अनुक्त अशुभ नामकर्म के आस्रव का संग्रह करने के लिए ‘च’ शब्द का प्रयोग किया गया है। अनुक्त अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण कौन-कौन हैं? मिथ्यादर्शन, पिशुनता अस्थिर चित्त स्वभावता, कूटमान-तुलाकरण (झूठे बाट, तराजू रखना), कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी साक्षी देना, अंग-उपाङ्ग का छेदन करना, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का विपरीतपना अर्थात् स्वरूप विकृति कर देना, यन्त्र, पिंजरा आदि पीड़ाकारक पदार्थ बनाना, एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का विषय सम्बन्ध करना, माया की बहुलता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, मिथ्याभाषण, पदव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह, उज्ज्वल वेष और रूप का घमण्ड करना, कठोर और असभ्य भाषण करना, क्रोधभाव रखने और अधिक बकवाद करने में अपने सौभाग्य का उपभोग करना, दूसरों को वंश करने के प्रयोग करना, दूसरे में कौतूहल उत्पन्न करना, बढ़िया-बढ़िया आभूषण पहनने की चाह रखना, जिन मन्दिर-चैत्यालय से गन्ध (चन्दन) माल्य, धूप आदि को चुरा लेना, किसी की विडम्बना करना, उपहास करना, ईट-चूने का भट्टा लगाना, वन में अग्नि लगाना, प्रतिमा का, प्रतिमा के आयतन का अर्थात् चैत्यालय का और जिनकी छाया में विश्राम लिया जाय ऐसे बाग- बगीचों का विनाश करना, तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ करना तथा पापकर्म जिसमें हो ऐसी आजीविका करना इत्यादि बातों से भी अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है। ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं।

## शुभ नाम कर्म का आस्रव तद्विपरीतं शुभस्य। (23)

The inflow of शुभनाम good-body-making karma is caused by the causes

(opposite of the above, viz, by straight forward dealings with body, mind and speech by avoiding disputes, etc. right-belief, humility admiring praise worthy people etc.

**उससे विपरीत अर्थात् योग की सरलता और अविस्वादन ये शुभनामकर्म के आस्रव हैं।**

सरल योग और अविस्वादन उस योगवक्रता आदि से विपरीत हैं। मन, वचन, काय की सरलता और अविस्वादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। धर्मात्मा पुरुषों का दर्शन करना, आदर सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, संसार भीरुता, प्रमाद का त्याग, निश्छल चारित्र का पालन आदि पूर्वोक्त अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों से विपरीत परिणाम शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। इन सब शुभनामकर्म के आस्रव के कारणों का 'च' शब्द से संग्रह होता है, ऐसा समझना चाहिए।

### तीर्थकर प्रकृति का आस्रव

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्षणज्ञानोपयोगसंवेगौ  
शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत  
प्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य।  
(24)

The inflow of तीर्थकरकर्म body-making karma is caused by meditation भावना of the following 16 matters:

- (1) दर्शनविशुद्धि purity of right belief.
- (2) विनयसम्पन्नता Reverence for means of Liberation and for those who follow them.
- (3) शीलव्रतेष्वनतिचार Faultless observance of the 5 vows and a faultless subdual of the passions.
- (4) अभीक्षणज्ञानोपयोग Ceaseless pursuit of right knowledge.
- (5) संवेग Perpetual apprehension of mundane miseries.
- (6) शक्तितस्त्याग Giving up for others of knowledge etc. according to one's capacity.

(7) शक्तितस्तपः The practice of austerities according to one's capacity. -

(8) साधुसमाधि Protecting and reassuring the saints or removing their troubles.

(9) वैयावृत्यकरण Serving the meritorious.

(10) अर्हद्भक्ति Devotion to arhats or Ommiscient Lords.

(11) आचार्यभक्ति Devotion to Acharyas or heads of the orders of saints.

(12) बहुश्रुतभक्ति Devotion to Upadhyayas or teaching saints.

(13) प्रवचनभक्ति Devotion to scriptures.

(14) आवश्यकपरिहाणि Not neglecting one's 6 important daily duties.

(15) मार्गप्रभावना Propagation of the Liberation.

(16) प्रवचनवत्सलत्व Tender affection for one's brothers the path of liberation.

दर्शनविशुद्धि, विनय संपन्नता, शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना, ज्ञान में सतत् उपयोग, सतत् संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार तप, साधु-समाधि, वैयावृत्य करना, अरिहंत भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य ये तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव हैं।

(1) दर्शनविशुद्धि – जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में निशङ्कितादि आठ गुण सहित रूचि करना दर्शनविशुद्धि है। जिनेन्द्र भगवान अर्हत् परमेष्ठी के द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थलक्षण मोक्षमार्ग में रूचि होना दर्शनविशुद्धि है। इस दर्शनविशुद्धि के 1. निशंकितत्व, 2. निःकाङ्क्षता, 3. निर्विचिकित्सा, 4. अमूढदृष्टिता, 5. उपवृहण वा उपगूहन, 6. स्थितिकरण, 7. वात्सलता, और 8. प्रभावना ये आठ अङ्ग हैं।

(1) निशंकितत्व :- इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, अगुप्तिभय, अरक्षणभय और आकस्मिकभय इन सात भयों से मुक्त रहना अर्थात् मरण आदि से भयभीत नहीं होना अथवा जिनेन्द्र भगवान कथित तत्त्व में 'यह है या नहीं' इस प्रकार की शंका नहीं करना निःशङ्कित है।

(2) **निःकाङ्क्षता** :- धर्म को धारण करके इस लोक और परलोक में विषयभोगों की कांक्षा नहीं करना और अन्य कुदृष्टियों की (मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी) आकांक्षाओं का निरास करना अर्थात् मिथ्याधर्म की वांछा नहीं करना निःकांक्षित अंग है।

(3) **निर्विचिकित्सा** :- शरीरादि के अशुचि स्वभाव को जानकर उसमें शुचित्व के मिथ्यासंकल्प को छोड़ देना, अथवा अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में 'यह अयुक्त है' 'जिन प्रवचन घोर कष्टदायक है' 'ये जिनकथन घटित नहीं हो सकते' 'इत्यादि रूप से जिनधर्म के प्रति अशुभ भावनाओं से चित्त में विचिकित्सा (ग्लानि) नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है।

(4) **अमूढदृष्टिता** :- तत्त्व के समान अवभासमान अनेक प्रकार के मिथ्यावादियों के मिथ्या मार्गों में युक्त-अयुक्त (योग्यायोग्य) भावों का परीक्षा रूपी चक्षुओं के द्वारा भले प्रकार से निर्णय करके उनसे मोह नहीं करना अमूढदृष्टि अंग है।

(5) **उपवृंहण** :- उत्तम क्षमा आदि धर्म-भावनाओं के द्वारा आत्मीय-धर्म की वृद्धि करना, आत्मगुणों का विकास करना उपवृंहण अंग है।

(6) **स्थितिकरण** :- कषायोदय से धर्मभ्रष्ट होने के कारण उपस्थित होने पर भी अपने धर्म से परिच्युत नहीं होना, उसका बराबर पालन करना स्थितिकरण अंग है।

(7) **वात्सलता** :- जिनप्रणीत धर्माभूत से नित्य अनुराग रखना वात्सल्य अङ्ग है।

(8) **प्रभावना** :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशित करना प्रभावना अंग है।

(2) **विनयसम्पन्नता** :- ज्ञानादि में तथा ज्ञानधारियों में आदर करना तथा उनमें कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है। सम्यग्ज्ञानादि मोक्ष के साधनों में तथा ज्ञानादि के साधन (निमित्त) गुरु आदि में योग्य रीति से सत्कार आदर करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है।

(3) **शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना** :- चास्त्र के विकल्परूप शीलव्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार है। अहिंसा आदि व्रत तथा उनके

परिपालन के लिए क्रोधादि के त्याग रूप शीलों में मन, वचन, काय की निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतिचार है।

(4) **अभीक्षण ज्ञानोपयोग :-** ज्ञानभावना से नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोग है। जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्वविषय को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जानना है लक्षण जिनका ऐसे मतिज्ञानादि विकल्परूप ज्ञान पाँच प्रकार के हैं। अज्ञान की निवृत्ति इनका साक्षात् फल है तथा हितप्राप्ति, अहित-परिहार और उपेक्षा यह व्यवहित (परोक्ष) फल है। इस ज्ञान की भावना में सदा तत्पर रहना ही अभीक्षण ज्ञानोपयोग है।

(5) **सतत संवेग :-** संसार के दुःखों से नित्य भयभीत रहना संवेग है। शारीरिक, मानसिक आदि अनेक प्रकार के प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, इष्ट वस्तु का अलाभ आदि जनित दुःख अतिकष्टदायक हैं, अतः उन संसार दुःखों से नित्य भयभीत रहना संवेग है।

(6) **शक्ति के अनुसार त्याग :-** पर की प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। पात्र के लिए दिया गया आहार उस दिन उसकी प्रीति का हेतु बनता है। अभयदान उस भव के दुःखों को दूर करनेवाला है और पात्र को संतोषजनक है। सम्यग्ज्ञान का दान अनेक सहस्र भवों के दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला है अर्थात् अनेक भवों के दुःखों के नाश में कारणभूत है। अतः ये यथाविधि (विधिपूर्वक) दिये गये तीनों प्रकार के दान ही त्याग कहलाते हैं।

(7) **शक्ति के अनुसार तप :-** अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप कहलाता है। यह शरीर दुःख का कारण है, अशुचि है, यथेष्ट (इच्छानुसार) पंचेन्द्रिय के भोगों को भोगने पर भी इनसे तृप्ति नहीं होती है। अतः इसे यथेष्ट भोगविधि से पुष्ट करना युक्त नहीं है। यह अशुचि शरीर भी शीलव्रतादि गुणों के संचय में आत्मा की सहायता करता है, ऐसा विचार करके विषयों से विरक्त हो आत्मकार्य के प्रति शरीर का नौकर की तरह उपयोग कर लेना उचित है। अतः इस शरीर से यथाशक्ति मार्ग-अविरोधी कायक्लेश रूप अनुष्ठान करना तप कहलाता है।

(8) **साधु-समाधि :-** भण्डागार की अग्निप्रशमन के समान मुनिगणों के तप का संधारण करना साधुसमाधि है। जैसे- भण्डार में आग लगने पर भण्डार



बहुउपकारी होने से उस अग्नि का प्रयत्नपूर्वक शमन किया जाता है अर्थात् अग्नि के शमन करने का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार अनेक व्रतशीलों से समृद्ध मुनिगण के तप आदि में विघ्न हो जाने पर उस विघ्न का निवारण करना साधुसमाधि है।

**(9) वैयावृत्य करना :-** गुणवानों पर दुःख आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्य है। गुणवान (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारी) साधुजनों पर आये हुए संकट, रोग आदि आपत्ति को निर्दोष रीति से दूर करना उनकी सेवादि करना बहु उपकारी वैयावृत्य है।

**(10 से 13) अरिहंतादि भक्ति :-** अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में भावविशुद्धि युक्त जो अनुराग है, उसका नाम भक्ति है। केवलज्ञान रूपी दिव्य नेत्र के धारी अर्हन्त में, श्रुतज्ञान रूपी दिव्य नेत्र के धारी आचार्य में, परहितप्रवण और स्वसमय एवं परसमय के विस्तार के निश्चय करने वाले बहुश्रुत (उपाध्याय) में तथा श्रुतदेवता के प्रसाद से प्राप्त होने वाले मोक्ष-महल में आरूढ़ होने के लिए सोपान रूप प्रवचन (जिनवाणी) में, भावशुद्धिपूर्वक अनुराग करना भक्ति है। यह भक्ति तीन या चार प्रकार की है।

**(14) आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना :-** षट् आवश्यक क्रियाओं का यथाकाल प्रवर्तन करना आवश्यक अपरिहाणि भावना है। सामायिक, चतुर्विंशतिसंस्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएँ हैं। सर्वसावद्य योगों का त्याग करना तथा चित्त को एकाग्र रूप से ज्ञान में लगाना सामायिक है। चतुर्विंशति तीर्थकरों का कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक खड्गासन या पद्मासन से चार-चार शिरोनति और बारह आवर्तपूर्वक वन्दना होती है। कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है। भविष्य में होने वाले दोषों का अपोहन-त्याग करना अर्थात् 'भविष्य में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। प्रमितकाल तक शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। इन षड़ावश्यक क्रियाओं को यथाकाल बिना नागा किये स्वाभाविक क्रम से करते रहना, उत्सुकता का त्याग नहीं करना अर्थात् उत्सुकतापूर्वक करना आवश्यक अपरिहाणि भावना कहलाती है।

(15) **मोक्षमार्ग की प्रभावना :-** ज्ञान, तप, जिनपूजा विधि आदि के द्वारा धर्म का प्रकाशन करना मार्गप्रभावना है। परसमय रूपी खद्योत के प्रकाश को पराभूत करने वाले ज्ञान रूपी सूर्य की प्रभा से, इन्द्र के सिंहासन को कैपा देने वाले महोपवास आदि सम्यक् तर्पों के द्वारा और भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य की प्रभा के समान जिनपूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है।

(16) **प्रवचन वात्सल्य :-** बछड़े में गाय के समान धार्मिक जनों में स्नेह प्रवचनवात्सल्य है। जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है, उसी प्रकार साधर्मिक जनों को देखकर तद्गत स्नेह से ओतप्रोत हो जाना, वा चित्त का धर्मस्नेह से आर्द्र हो जाना प्रवचनवात्सल्यत्व है; जो साधर्मियों के साथ स्नेह है, वही तो प्रवचनस्नेह है।

सम्यक् प्रकार से पृथक्-पृथक् या सर्वरूप से भावित ये षोडशकारणभावनायें तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण होती हैं।

### नीच गोत्र का आस्रव

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य । (25)

The inflow of नीच गोत्र low-family-determining karma is caused by

- (1) परनिन्दा Seaking ill of others.
- (2) आत्मप्रशंसा Praising oneself .
- (3) सदगुणोच्छादन Concealing the good qualities of others; and.
- (4) असद्गुणोद्भावन Proclaiming in oneself the good qualities which one does not possess.

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सदगुणों का उच्छादन, असद्गुणों का उद्भावन ये नीच गोत्र के आस्रव हैं।

सच्चे या झूठे दोष को प्रकट करने की इच्छा निन्दा है। गुणों के प्रकट करने का भाव प्रशंसा है। पर और आत्मा शब्द के साथ इनका क्रम से सम्बन्ध होता है। यथा परनिन्दा और आत्म प्रशंसा। रोकनेवाले कारणों के रहनेपर प्रकट नहीं करने की वृत्ति होना उच्छादन है और रोकनेवाले कारणों का अभाव होने

पर प्रकट करने की वृत्ति होना उद्भावन है। यहाँ भी क्रम से सम्बन्ध होता है। यथा-सद्गुणोच्छादन और असद्गुणोद्भावन इन सब को नीच गोत्र के आस्रव के कारण जानना चाहिए।

### उच्च गोत्र कर्म का आस्रव तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।(26)

The inflow of the next, i.e, उच्चगोत्र high-family-determining karma is caused by the opposite of the above, i.e, by :

- (1) पर प्रशंसा – Prasing others;
- (2) आत्मनिन्दा – Denouncing one's self;
- (3) सद्गुणोद्छादन – Proclaiming the good-qualities of others.
- (4) असद्गुणोद्भावन – Not proclaiming one's own;
- (5) नीचैर्वृत्ति – An attitude of humility towards one's better;
- (6) अनुत्सेक – Not being proud of one's own achievements or attainments.

उनका विपर्यय अर्थात् पर प्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणों का उद्भावन और असद्गुणों का उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्र के आस्रव हैं।

जो गुणों में उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनय से नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है। ज्ञानादि की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद न करना अर्थात् अहंकार रहित होना अनुत्सेक है। ये उत्तर अर्थात् उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

तीर्थेश गुरु सङ्घानामुच्चैः पदमयात्मनाम्।  
प्रत्यहं व नुतिं भक्तिं तन्वन्ति गुण कीर्तनम् ॥ [196]

स्वस्य निन्दां च येऽत्रार्या गुणदोषोपगूहनम्।  
तेऽपुत्र त्रिजगद्वन्द्वं गोत्रंश्रयन्ति गोत्रतः ॥ [197]

जो आर्यजन तीर्थकर, सुगुरु, जिनसंघ और उच्चपदमयी पंच परमेष्ठियों की प्रतिदिन पूजा-भक्ति करते हैं, उनके गुणों का कीर्तन करते हैं उन्हें नमस्कार करते हैं, अपने दोषों की निन्दा करते हैं और दूसरे गुणी जनों के दोषों का

उपगूहन करने हैं, वे पुरुष उच्च गोत्र कर्म के परिपाक से पर भव में त्रिजगद्-बंध उच्च गोत्र कर्म का आश्रय प्राप्त करते हैं अर्थात् तीर्थकर होते हैं।

## अन्तराय कर्म का आस्रव

विघ्नकरणमन्तरायस्य । (27)

The inflow of obstructive अन्तराय Karma is caused by disturbing others in दान Charity लाभ gain, भोग enjoyment of consumable things; and वीर्य making use of their powers.

दानादिक में विघ्न डालना अंतराय कर्म का आस्रव है।

दानादि का विघात करना विघ्न कहलाता है। दानादि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। किसी के दान लाभादि में विघ्न उपस्थित करना विघ्न कहलाता है। ज्ञान का प्रतिच्छेद सत्कारोपघात (किसी के सत्कार में विघ्न डालना) दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना, किसी के विभव, समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग नहीं करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, देवता के लिए निवेदित किये गये या अनिवेदित किये गये द्रव्य का ग्रहण करना, देवता का अवर्णवाद करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरों की शक्ति का अपहरण, धर्म का व्यवच्छेद करना, कुशल चारित्र वाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय, आदि में विघ्न करना, परनिरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेदन, कान, नाक, ओंठ आदि का काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम् ।

अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम् ॥55॥

वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम् ।

प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा ॥56॥

निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम्।  
दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा ॥57॥

ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा।  
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥58॥

(तत्त्वार्थसार पृ.123)

तपस्वी, गुरु और प्रतिमाओं की पूजा न करने की प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकार की रूकावटों के साथ पशुओं की नासिका आदि का छेद करना, देवताओं को चढ़ाये हुए नैवेद्य का प्रमाद से ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का परित्याग करना (जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणों में कोई खराबी नहीं आई है उन्हें छोड़कर नये ग्रहण करना), जीवों का घात करना, दान-भोग-उपभोग आदि में विघ्न करना, ज्ञान का प्रतिषेध करना-स्वाध्याय या पठन-पाठन का निषेध करना, तथा धर्मकार्यों में विघ्न करना ये सब अन्तराय-कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

### अभ्यास प्रश्न :-

1. कर्मास्रव किन-किन कारणों से होता है ?
2. शुभास्रव किसे कहते हैं तथा पापास्रव किसे कहते हैं ?
3. साम्प्रायिक आस्रव किसे कहते हैं तथा ईर्यापथ आस्रव किसे कहते हैं ?
4. साम्प्रायिक आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?
5. आस्रव की विशेषता में क्या-क्या कारण है ?
6. जीवाधिकरण का वर्णन करो ?
7. ज्ञानावरण और दर्शनावरण आस्रव के कारण क्या है ?
8. असाता वेदनीय का आस्रव क्यों होता है ?
9. साता वेदनीय के आस्रव का कारण क्या है ?
10. मिथ्यात्व कर्म का आस्रव क्यों होता है ?
11. विभिन्न चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण बताओ ?
12. जीव नरक-आयु का आस्रव क्यों करता है ?

13. तीर्थच आयु का आस्रव कैसे होता है ?
14. मनुष्यायु के आस्रव के क्या-क्या कारण हैं ?
15. देवायु का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?
16. अशुभ नाम कर्म का आस्रव क्यों होता है ?
17. तीर्थकर प्रकृति का आस्रव किन-किन कारणों से होता है उन कारणों का वर्णन करो ।
18. नीच गोत्र व उच्च गोत्र का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?
19. अन्तराय कर्म का आस्रव यह जीव क्यों करता हैं ?

दूसरों के दुर्गुण देखो, ग्रहण करने के लिए नहीं, परन्तु स्वयं दुर्गुणों से बचने के लिए।

एक पंथ से केवल दो काज करना महानता का परिचायक नहीं परन्तु अनेक काज करना महानता है।

गुरु के नाम पर शिष्य का नाम होना, पिता के नाम पर पुत्र का नाम होना महत्त्व का नहीं, परन्तु शिष्य के नाम पर गुरु का नाम, पुत्र के नाम पर पिता का नाम होना महत्त्व का है।

सुख, शांति, ज्ञान, आत्मा का गुण धर्म होने से इसे प्राप्त करना प्रत्येक प्राणी का केवल कर्तव्य ही नहीं बल्कि अधिकार है।

पहले कर्तव्य पालन करो, अधिकार स्वयमेव मिल जायेगा।

दुनियाँ झुकती है झुकाने वाला चाहिए।

आदर्श परम्परा से भी महान् सत्य है।

सत्य जब विकृत हो जाता है तब रूढ़ि जन्म लेती है।

**अध्याय 7**  
**शुभास्रव का वर्णन**  
**Influx of puniya (Merit)**

**व्रत का लक्षण**

**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । (1)**

व्रत Vow is to be free from ;

हिंसा Injury ;

अनृत Falsehood ;

स्तेय theft ;

अब्रह्म unchastity ; and

परिग्रह worldly attachment ; (or worldly objects)

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है।

आस्रव पदार्थ के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करके आस्रव के एक सौ आठ भेदों की संख्या का अनेक रीतियों से विचार किया है अर्थात् आस्रव के भेद कहे हैं। पुण्यरूप और पापरूप कषायों का निमित्त होने से वह आस्रव दो प्रकार का है-एक पुण्यास्रव, दूसरा पापास्रव। उन पुण्य एवं पाप आस्रवों में से अब पुण्यास्रव का वर्णन करते हैं। पुण्यास्रव प्रधान है, क्योंकि मोक्ष पुण्यास्रवपूर्वक ही होता है अर्थात् आस्रव के विचार में कहा गया पुण्यास्रव मोक्ष में परम्परा कारण होने से इस समय व्याख्येय है।

हिंसादि का लक्षण-आगे इसी अध्याय के 13,14,15,16,17 सूत्र में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का लक्षण कहेंगे ; उससे इनका लक्षण जानना चाहिये।

विरमण का नाम विरति है। चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक चारित्र की प्रकटता होने से जो विरक्ति होती है, उसे विरति कहते हैं।

अभिसन्धिकृत नियम व्रत कहलाता है। बुद्धिपूर्वक परिष्काम वा बुद्धिपूर्वक

पापों का त्याग अभिसन्धि है। 'यह ऐसा ही करना है, अन्य प्रकार से निवृत्ति है;' ऐसे नियम को अभिसन्धि कहते हैं। अभिसन्धिकृत (बुद्धिपूर्वक किया हुआ) नियम सर्वत्र व्रत कहलाता है। अर्थात् शुभ कार्यों में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति ही व्रत है। व्रत में किसी अन्य कार्य से निवृत्ति ही मुख्य होती है।

हिंसादि पाँच पापों के त्याग से केवल शुभास्रव नहीं होता है परन्तु अशुभ आस्रव का निरोध (संवर) भी होता है। पाँच पापों के त्याग से केवल परलोक ही नहीं सुधरता है परन्तु इहलोक अर्थात् वर्तमान जीवन भी आदर्श एवं सुखमय बनता है। जैन धर्म में तो हिंसादि पाँचों पापों तथा अहिंसादि पाँचों व्रतों का वर्णन अत्यन्त विस्तार से विभिन्न दृष्टिकोणों से सटीक किया गया है। अन्य धर्म में भी इसका वर्णन यत्र-तत्र पाया जाता है। हिन्दु धर्म के महान् ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी अहिंसादि को धर्म कहा है। यथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

(1) अहिंसा (2) सत्य (3) अस्तेय (अचौर्य) (4) शौच (शुद्धता, निर्लोभता, पवित्रता) (5) इन्द्रिय निग्रह (संयम) (6) दान (7) दया (8) दम (दुष्प्रवृत्तियों को रोकना) क्षान्ति (क्षमा धारण करना) ये सब धर्म के लिए साधन स्वरूप हैं।

पातञ्जल योगदर्शन में महर्षि पातञ्जलि ने भी अष्टांग योग का वर्णन करते हुए यम को प्रथम स्थान दिया है। बिना यम आगे के सात अंगों से भी योग (ध्यान) की सिद्धि नहीं हो सकती है। जैनधर्म में जिसको पंचव्रत कहा है उसको पातञ्जलि ने यम कहा है। पाँच यम यथा—

“अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥(30)

(पृ.242)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम कहे जाते हैं।



हिंसादि पाँचों पापों के त्याग से एवं अहिंसा आदि पांच व्रतों के सेवन से जो लाभ होता है उसका वर्णन स्वयं पातञ्जलि ने निम्न प्रकार किया है—

**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥(35 पृ.258)**

अहिंसाविषयक पूर्ण स्थिरता हो जाने पर अहिंसा प्रतिष्ठ योगी की सन्निधि में आने पर प्राणियों का स्वाभाविक वैर भी निवृत्त हो जाता है (उस समय साँप-चूहा, शेर-बकरी भी अपना वैर भुला देते हैं)।

**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥(36)**

सत्य विषयक प्रतिष्ठा की प्राप्ति होने पर शुभाशुभ क्रिया से होने वाले धर्माधर्म एवं इस धर्माधर्म का फल स्वर्ग-नरकादि का आश्रय योगी बन जाता है।

**अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपरस्थानम् ॥(37)**

अस्तेय विषयक प्रतिष्ठा की प्राप्ति होने पर सभी प्रकार के रत्नों की उपस्थिति होती है; कहने का तात्पर्य यह है कि अस्तेय प्रतिष्ठ योगी की इच्छा होने पर देश-देशान्तरों के सब प्रकार के हीरे मोती आदि रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥(38)**

ब्रह्मचर्य विषयक प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर वीर्य (सब प्रकार की विशिष्ट शक्ति) का लाभ होता है।

**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥(39)**

अपरिग्रह विषयक स्थिरता प्राप्त होने पर भूत, भावी तथा वर्तमान जन्म तथा उन जन्मों की विशिष्टता का साक्षात्कार (इस योगी को होता है)।

**शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा-परैरसंसर्गः ॥(40)**

शौच के पूर्णतः अनुष्ठान से अर्थात् शौच की स्थिरता से योगी मन में अपने अंगों के प्रति ग्लानि अथवा घृणा उत्पन्न होती है और दूसरों को स्पर्श करने का अभाव हो जाता है अर्थात् चाहे व्यक्ति कितना ही पवित्र क्यों न

हो योगी का मन उसे स्पर्श करना नहीं चाहता है।

## व्रत के दो देशसर्वतोऽणुमहती । (2)

Vows are of two kinds.

अणुव्रत Partial vow,

महाव्रत Full vow,

हिंसादिक एकदेश निवृत्त होना अणुव्रत है और सब प्रकार से निवृत्त होना महाव्रत है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है एवं इसकी पूर्णता ही मोक्ष है। रत्नत्रय जीव के स्वस्वभाव होने के कारण रत्नत्रय जीव को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता है तथापि कर्मबन्धन के कारण मिथ्यादृष्टि का रत्नत्रय विपरीत रूप में परिणमन करता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र सहित होता है। जब अन्तरंग बहिरंग सम्पूर्ण कारणों को प्राप्त करता है एवं विरोध कारणों का अभाव होता है तब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के साथ-साथ उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार जीव को चतुर्थगुणस्थान वर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। गोम्मटसार में कहा भी है।

णो इंद्रियेषु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।

जो सदहृदि जिणुत्तं सम्माइद्धी अविरदो सो ॥29॥

(गोम्मटसार पृ.22)

जो इंद्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र देव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है। इसलिए चरणानुयोग की अपेक्षा-चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव देश चारित्र या सकल चारित्र से रहित है तथापि चरणानुयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन एवम् सम्यक् चारित्र को घात करने वाली अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के उपशम अथवा क्षयोपशम या क्षय के कारण चतुर्थ गुणस्थान में भी आंशिक चारित्र है, जिसको सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं। इस चारित्र में अष्टमद आदि का अभाव होता है।

जब सम्यक् दृष्टि के चारित्र मोहनीय कर्म अर्थात् अप्रत्याख्यानारण क्रोध, मान, माया, लोभ का विशेष क्षयोपशम होता है तब वह जीव देशविरत पंचम गुणस्थान वर्ती जीव बन जाता है। समन्तभद्रस्वामी ने श्रावकाचार संहिता स्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा भी है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।

रागद्वेषनिवृत्तौ चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥(2)

मोह रूपी अन्धकार के दूर होने पर सम्यक्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यक्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा भव्य जीव रागद्वेष की निवृत्ति के लिये चारित्र को प्राप्त होता है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूपी पापों को त्याग करना चारित्र है। परन्तु जिसकी प्रत्याख्यान कषाय चतुष्क एवम् संज्वलन कषाय चतुष्क का उदय रहता है तब वह जीव सकल चारित्र को धारण नहीं कर पाता है, परन्तु श्रावक योग्य पंचमगुणस्थान वर्ती देशचारित्र को धारण करता है। जिसका केवल संज्वलन चतुष्क का उदय है वह सकल चारित्र को धारण कर लेता है। इस अपेक्षा चारित्र (व्रत) के दो भेद हो जाते हैं—(1) देश या अणुव्रत (2) पूर्ण या महाव्रत। अमृतचन्द्र सूरि ने कहा भी है—

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।

कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधं ॥40॥

(पु.सि.पृ.105)

हिंसा से, असत्य वचन से, चोरी से, कुशील से, परिग्रह से समस्त विरत और एक देशविरत से चारित्र दो प्रकार होता है।

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।

या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥(41)

सर्वथा त्याग रूप चारित्र में लवलीन रहने वाले ये मुनि महाराज आत्मा के सारभूत शुद्धोपयोग रूप आत्मा स्वरूप में आचरण करने वाले होते हैं, यह जो एकदेश रूप त्याग है उसमें लवलीन रहने वाला श्रावक होता है।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ।  
अनगाराणां विकलं सागाराणां संसंगानाम् ॥(4)॥

वह चारित्र सकल चारित्र और विकल चारित्र के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से सम्पूर्ण चारित्र समस्त परिग्रहों से रहित मुनियों के और एकदेश चारित्र परिग्रह युक्त गृहस्थों के होता है।

जो तसवहाड विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो ।  
एकसमयम्हि जीवो, विरदाविदो जिणेक्कमई ॥(31)॥  
(गो.सा.पृ.24)

जो जीव जिनेन्द्र देव में अद्वितीय श्रद्धा को रखता हुआ त्रस की हिंसा से विरत और उस ही समय में स्थावर की हिंसा से अविरत होता है उस जीव को विरताविरत कहते हैं।

महाव्रती -

संजलणणोकसायणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।  
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥(32)  
(गो.सा.24)

सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानानवरण कषाय का क्षयोपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है, किन्तु उस संयम के साथ-साथ संज्वलन और नोकषाय का उदय रहने से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है। अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्त विरत कहते हैं।

विगलितदर्शन मोहैः सम्यजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।  
नित्यमपि निप्रकम्पैः सम्यक चारित्रमालंब्यम् ॥(31)  
पु.सि.उ.पृ.101

नष्ट हो चुका है दर्शन मोहनीय कर्म जिनका सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाने हैं जीव अजीव आदिक तत्व जिन्होंने जो सदा अडोल अथवा अचल रहने वाले हैं ऐसे पुरुषों-जीवों द्वारा सम्यक् चारित्र धारण किया जाना चाहिए। दौलतराम जी ने छहढाला में भी अणुव्रती एवं महाव्रती का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

## अणुव्रती

सम्यक्ज्ञानी होय बहुरि दिद्व चारित्र लीजै।  
एक देश अरु सकल देश, तसु भेद कहीजे॥  
त्रस हिंसा को त्याग-वृथा थावर न संहारे।  
पर वधकार कठोर निन्द्य नहिं वयन उचारै॥(9)  
जल मृतिका बिन और नाहिं कछु गहै अदत्ता।  
निज वनिता बिन सकल नारि सो रहे विरत्ता॥  
अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरो राखै।

## महाव्रती

षट्काय जीव न हनन तैं, सब विध दरब हिंसा टरी।  
रगादिभाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी॥  
जिनके न लेष मृषा न जल मृण हू बिना दीयो गहै।  
अठदश सहस विध शील धर, चिद ब्रह्म में नित रमि रहैं॥(11)

## व्रतों की स्थिरता के कारण

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च । (3)

For the fixing of these (5 vows in the mind, these are) 5 (kinds of) meditation (contemplation or observance.)

उन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ हैं।

व्रत स्वीकार करने के बाद उसकी निर्मलता, स्थिरता एवं वृद्धि के लिए भावना करनी चाहिए। क्योंकि भावना में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति होती है जिससे कष्ट साध्य कार्य भी सरलता से सहजता से हो जाते हैं। प्राचीन नीतिकारों ने भावना की शक्ति का अनुभव करके कहा भी है—

“यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी”।

यह प्रसिद्ध नीति वाक्य अनेक रहस्य से भरा है। जिसकी भावना जिस प्रकार होती है उसकी कार्यसिद्धि भी तदनुकूल होती है। “As you think so you become” जैसा सोचेंगे वैसा बनोगे।’ खराब विचार करेंगे तो खराब बनोगे

उत्तम विचार करोगे तो उत्तम बनोगे।

**भावना भव नाशनी भावना भव वर्द्धनी।**

भावना से अनन्त दुःख के कारणभूत भव वृद्धि होती है एवं भावना से संसार विलय को प्राप्त हो जाता है।

भावना के बल पर मुनि महाराज बाह्य उपसर्ग, परीषह को जीतते हैं एवं वैराग्य को भी बढ़ाते हैं। छहढाला में कविवर दौलतराम ने कहा भी है—

**मुनिसकलव्रती बड़भागी भव भोगनतैं वैरागी।**

**वैराग्य उपावन माई चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई॥**

(पंचम ढाल)

हे भाई! महाव्रती मुनिराज बड़े भाग्यवान हैं वे संसार और भोगों से हो जाते हैं। वे मुनिराज वैराग्य को उत्पन्न करने के लिये माता के समान बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं।

**इन चिन्तत सब सुख जागै जिमि ज्वलन पवन के लागै।**

**जब ही जिय आतम जानै तब ही जिय शिव सुख ठानै॥(2)**

जैसे हवा के लगने से अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है, वैसे ही भावनाओं का चिंतवन करने से समतारूपी सुख जागृत हो जाता है। जब यह जीव अपनी आत्मा के स्वरूप को पहिचान लेता है उसी समय मोक्ष सुख को पा लेता है।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम तथा क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाली आत्मा के द्वारा जो भायी जाती है, जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है वे भावनार्ये कहलाती हैं।

**अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ**

**वाङ्मनोगुप्तिर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकित पान भोजनानि पञ्च। (4)**

The 5 (meditations for the vow against injury are :)

वाग्गुप्ति Preservation of speech;

मनोगुप्ति Preservation of mind;

ईर्या Care in walking ;

आदान-निक्षेपण-समिति Care in lifting and laying down things;

आलोकितपान भोजन Thoroughly seeing to one's food and drink.

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

वचनगुप्ति— वचन को वश में करना।

मनोगुप्ति— मन को वश में करना।

ईर्यासमिति— चार हाथ जमीन देखकर चलना।

आदाननिक्षेपणसमिति— भली प्रकार स्थान को देखकर पुस्तक आदि रखना।

आलोकितपानभोजनसमिति— सूर्य के प्रकाश में अवलोकन करके अन्नपानी ग्रहण करना।

## सत्यव्रत की भावनाएँ

क्रोधलोभभीरूत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीची भाषणं च पञ्च। (5)

And five (contemplation or observance for the vow against falsehood :)

क्रोध प्रत्याख्यान Giving up anger ;

लोभ Giving up greed ;

भीरूत्व Giving up cowardice or fear ;

हास्य प्रत्याख्यान Giving up of frivolity ;

अनुवीची भाषण Speaking in accordance with scriptural injunctions.

क्रोध प्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरूत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीची भाषण से सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भीरूत्व का त्याग, हास्य का त्याग और अनुवीचिभाषण से पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ जाननी चाहिए। अनुवीचि भाषण, अनुलोभ भाषण एकार्थवाची अर्थात् विचार पूर्वक बोलना अनुवीचिभाषण है। यहाँ पुण्याद्भव का प्रकरण होने से अप्रशस्त क्रिया करने वाले पापी के भाषण को अनुवीचिभाषण नहीं कह सकते। क्योंकि विचारपूर्वक भाषण को अनुवीचिभाषण कहते हैं।

## अचौर्यव्रत की भावनाएँ

### शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादः पञ्च । (6)

(For the vow against theft, the) five contemplation or observance are :)

शून्यागार	Residence in a solitary place, like a mountain cave, etc.
विमोचितावास	Residence in a deserted place.
परोपरोधाकरण	Residence in a place where one is not likely to be prohibited by others, nor where one should be likely to prohibit others.
भैक्ष्यशुद्धि	Purity of alms, according to the scriptures
सधर्माविसंवाद	Not disputing with one's co-religionists, as to "mine" and "thine".

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

**शून्यागारावास :-** पर्वत की गुफा, वृक्ष की खोह (कोटर) आदि में निवास करना।

**विमोचितावास :-** दूसरे के द्वारा छोड़े गये मकान आदि में रहना।

**परोपरोधाकरण :-** दूसरों को उसमें आने से नहीं रोकना।

**भैक्ष्यशुद्धि :-** आचारशास्त्रमार्ग से (आचारशास्त्रानुसार) भिक्षाचर्या।

**सधर्माविसंवाद :-** 'यह मेरा है, यह तेरा है' इस प्रकार साधर्मियों के साथ विसंवाद नहीं करना, ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं, ऐसा जानना चाहिए। यह भावनाएँ विशेषतः मुनियों के लिये हैं।

## ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीर  
संस्कारत्यागाः पञ्च । (7)



Leor the vow against unchastity, the five contmplatation or observance (meditations) are :)

<b>स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग</b>	Renouncing of (reading or) hearing stories exciting attachment for women.
<b>तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग</b>	Renouncing of seeing their beautiful bodies.
<b>पुर्वरतानुस्मरणत्याग</b>	Renouncing of thinking over, (remembrance of) past enjoyment of women.
<b>वृष्टयेष्टरसत्याग</b>	Renouncing of exciting and aphrodisiac drinks ; and
<b>स्वशरीरसंस्कारत्याग</b>	Renouncing of beautifying one's own body : self-adornment.)

स्त्रियों में राग को पैदा करने वाली कथा के सुनने का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व भोगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग से ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

### **परिग्रह त्याग की भावनाएँ** **मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरगद्वेषवर्जनानि पञ्च (8)**

For the vow against worldly attachment, the 5 (contmplatation or observance are) giving up or self-denial of love and hatred (Ragja-dvesa) in the pleasing (and) displeasing (worldly) objects of the (five) senses.

मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों में क्रमसे, राग और द्वेष का त्याग करना ये अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के स्पर्श आदि मनोज्ञ, अमनोज्ञ (इष्टानिष्ट)

विषयों में रागद्वेष का त्याग करना अर्थात् इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष का त्याग करना आर्किचन्य (परिग्रहत्याग) व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

## हिंसादि पाँच पापों के विषय में करने योग्य विचार हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्। (9)

The destructive or dangerous (and) censurable (character of the 5 faults) injury, etc., in this (as also) in the next world (ought to be) meditated upon.

हिंसादिक पाँच दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन भावने योग्य है।

अभ्युदय और निःश्रेयस् के साधनों का नाशक अपाय है, या भय का नाम अपाय है। अभ्युदय (स्वर्गादि इहलौकिक सम्पदा) और निःश्रेयस (मोक्ष) की क्रिया एवं साधनों के नाशक अनर्थ को अपाय कहते हैं। अथवा इहलोक भय, परलोकभय, मरणभय, वेदना भय, अगुप्तिभय, अनरक्षकभय, अकस्मात् भय इन सात प्रकार के भय को अपाय कहते हैं।

गर्ह्य निन्दनीय को अवद्य कहते हैं। ऐसा चिंतवन करना चाहिए कि हिंसक नित्य अद्विग्न रहता है, सतत् अनुबद्ध वैर वाला होता है। इस लोक में वध-(मारण) बन्धन, क्लेश आदि को प्राप्त करता है और मरकर परलोक में अशुभ गति में जाता है और लोक में भी निन्दनीय होता है। अतः हिंसा से विरक्त होना ही कल्याणकारी है। मिथ्याभाषी का कोई विश्वास नहीं करता है। असत्यवादी इस लोक में जिह्वाच्छेद आदि के दंड को भोगता है। जिसके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, वे उसके वैरी हो जाते हैं अतः उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं। मरकर अशुभगति में जाता है और निन्दनीय भी होता है। अतः असत्य बोलने से विरक्त होना कल्याणकारी है। परधन के ग्रहण करने में आसक्तचित्त वाला चोर सर्वजनों के द्वारा तिरस्कृत होता है, निरन्तर भयभीत रहता है। इस लोक में अभिघात (मारपीट), वध, बन्धन, हाथ, पैर, कान, नाक ओष्ठ आदि का छेदन-भेदन और सर्वस्वहरण आदि दण्ड भोगता है (प्राप्त करता है) और मरकर परलोक में अशुभगति में जाता है, अतः चोरी

से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है तथा अब्रह्मचारी (कुशीलसेवी) मानव मदीन्मत हाथी के समान हथिनी से ठगाया हुआ, हाथिनी के वशीभूत हुआ हाथी मारण-ताड़न-बन्धन-छेदन आदि अनेक दुःखों को भोगता है। उसी प्रकार परस्त्री के वश हुआ मानव वध-बधनादि को भोगता है। मोहाभिभूत होने के कारण कार्य (करने योग्य), अकार्य (नहीं करने योग्य) के विचार से शून्य होकर किसी शुभ कर्म का आचरण नहीं करता है। परस्त्री का आलिंगन तथा उसके संग में रति करने वाले मानव के सर्व लोग वैरी बन जाते हैं। परस्त्रीगामी इस लोक में लिङ्गच्छेदन, वध, बन्धन, क्लेश, सर्वस्वहरणादि के दुःखों को प्राप्त होते हैं तथा मरकर परलोक में अशुभ गति में जाते हैं और यहाँ निन्दनीय होते हैं। अतः अब्रह्म से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है, आत्महित कारक है तथा परिग्रहवान् पुरुष मांसखण्ड को ग्रहण किये हुए पक्षी की तरह अन्य पक्षियों के द्वारा झपटा जाता है, चोर आदि के द्वारा अभिभवनीय (तिरस्कृत) होता है, उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण और विनाशकृत अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। जैसे ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती है, उसी प्रकार परिग्रह से तृप्ति नहीं होती। लोभकषाय से अभिभूत होने से कार्य, अकार्य से अनभिज्ञ हो जाता है। परिग्रहवान् मानव मरकर परलोक में नरक, तिर्यचादि अशुभगति में जाता है। 'यह लोभी है-कञ्जूस है' इत्यादि रूप से निन्दनीय होता है। अतः परिग्रह का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। ये हिंसादि पाप, अपाय और अवद्य के कारण हैं, ऐसी निरन्तर भावना भानी चाहिये।

### दुःखमेव वा । (10)

One must also meditate, that the five faults, injury etc. are pain personified, as they themselves are the veritable wombs of pain.

अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिये।

दुःख के कारण होने से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह दुःख स्वरूप है। क्योंकि हिंसादिक पाप से इहलोक में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक आदि दुःख मिलते हैं और पर लोक में भी नरक-तिर्यच आदि दुर्गति में जीव को अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि हिंसादिक पाप असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण है और असाता वेदनीय

दुःख का कारण है इसलिए दुःख के कारण या दुःख के कारण के कारण जो हिंसादिक है उनमें दुःख का उपचार है।

जिस समय जीव हिंसादि पाप करता है उस समय में उसका भाव दुषित होने के कारण जो कर्माग्राव होता है वह कर्माग्राव पाप प्रकृति रूप में परिणमन कर लेता है। यह पाप ही उस पापी को अनेक प्रकार का दुःख देता है। पाप प्रवृत्ति के समय जो दूषित भाव होता है उससे मानसिक- तनाव, मानसिक उद्वेग, चिंता, भय आदि उत्पन्न होते हैं जिसके कारण उसे तत्काल ही मानसिक कष्ट एवं यातनायें मिलती है जिससे विभिन्न मानसिक रोग के साथ-साथ शारीरिक रोग होता है। जैसे-ब्लेड प्रेशर बढ़ना, सिर दर्द, कैंसर, टी.वी., हृदय गति रुकना (हार्ट फेल), उन्माद, पागलपन आदि रोग होते हैं। इतना ही नहीं इस लोक में ही अपमान, प्रताडना, जेल जाना, सामाजिक प्रतिष्ठा का हास, अविश्वास, शत्रुता, कलह यहाँ तक की प्राण दण्ड आदि कष्ट मिलते हैं। जो हिंसा करता है उसके फलस्वरूप इस जन्म में उसकी हिंसा हो सकती है पर जन्म में अकाल मरण, रोग आदि यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं।

झूठ बोलने से दूसरों का विश्वास झूठ बोलने वाले पर से उठ जाता है जिन्हा छेय आदि दंड मिलता है। केवल एक बार झूठ बोलने पर राजा वसु का स्फटिक मय सिंहासन फट गया। वह नीचे गिरा तथा पृथ्वी भी फट गई और वह पृथ्वी पर समावेश होकर नरक में गया। मिथ्या बोलने वाला परभव में गूंगा (मूक) होता है, मुंह में घाव होता है और मुंह में से बदबू आती है।

चोरी करने वाला इस जन्म में अनेक शारीरिक दण्ड को पाता है। उस पर कोई विश्वास नहीं करता है। राजा सरकारादि उसके धन अपहरण करके जेल में दण्ड देते हैं, यहाँ तक कभी-कभी प्राणदण्ड मिलता है। परभव में भिखारी बनता है एवं उसका भी धन अपहरण अन्य के द्वारा किया जाता है।

मैथुन सेवन से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यत्मिक कष्ट होता है क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार एक बार संभोग से जो वीर्य क्षय होता है उतना वीर्य

42 दिन के भोजन से तैयार होता है। इससे सुजाक, मस्तिष्क दुर्बलता, शारीरिक शक्ति का हास, स्मरण शक्ति का हास, रोग प्रतिरोधक शक्ति की कमी आदि अनेक विपत्तियाँ आ घेरती है। वर्तमान में जो एड्स रोग ने विश्व में आंतक फैलाया है उस महा रोग की उत्पत्ति एवं वृद्धि अब्रह्मचर्य से ही हुई है। अब्रह्मचर्य से ही जन संख्या की वृद्धि होती है और इसकी वृद्धि से खाद्याभाव, आवास का अभाव, प्रदूषण में वृद्धि, भूखमरी, समूचित शिक्षा-दीक्षा का अभाव आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती है। अब्रह्मचारी- अति कामुक व्यक्ति हिताहित विवेक से रहित होकर परस्त्री गमन, वेश्या गमन आदि कार्य भी करता है। जिससे उसे अपमान, दण्ड, सामाजिक अप्रतिष्ठा आदि अनेक समस्याएँ आ घेरती है। कभी-कभी कुशील सेवन से प्राणदण्ड तक मिलता है।

इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने काम भोग से उत्पन्न दुःख का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

**आरम्भे तापकान्प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान्।**

**अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्, काम कः सेवते सुधीः ॥(17)**

आरम्भ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करने वाले तथा अंत में जो बड़ी मुश्किल से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोग को कौन विद्वान-समझदार-ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ?

**किमपीदं विषयमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन।**

**प्रसभमनुभूयं मनोभवे-भवे नैव-चेतयते ॥**

अहो ! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है कि जिसे जर्बदस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भव में नहीं चेत पाता है।

“जैन धर्म में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील को जैसे पाप माना है वैसे परिग्रह को भी पाप माना है। पाप का अर्थ है-पतन। जिसके कारण जीव पतित होता है उसे पाप कहते हैं। सचित्त एवं अचित्त परिग्रह के कारण जीव अनेक कष्टों को उठाता है तथा अनेक पापों को करता है। परिग्रह संचय के कारण ही समाज में धनी-गरीब, शोषक, शोषित, मालिक, मजदूर आदि विपरीत विषम परिस्थिति से युक्त व्यक्ति का निर्माण होता है।

जिसके पास परिग्रह रहता है वह अधिक लोभी, अधिक शोषक, गर्वी बन जाता है। क्योंकि परिग्रह के कारण उसे धनमद हो जाता है। इसे ही कबीरदास ने कहा है—

कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय ।  
वे पावे वीराय नर, वे खाये वीराय ॥

कनक (धन, सम्पत्ति) कनक (धतुरा, विषाक्त फल) से भी सौ गुनी मादक गुणयुक्त है। क्योंकि कनक (धतुरा) को खाने पर जीव नशायुक्त (पगले) हो जाते हैं परन्तु कनक (धन सम्पत्ति) को प्राप्त करते ही जीव मदयुक्त हो जाता है।

धन सम्पत्ति (परिग्रह) सर्वथा, सर्वदा दुःखदायी है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है—

दुर्ज्येनासुरक्ष्येण, नश्वरेण धनादिना ।  
स्वस्थं मन्यो जनः कोऽपि ज्वरानिव सर्पिषा ॥(13)

जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घी को खाकर या चिपड़ कर अपने को स्वस्थ मानने लग जाय -उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसे धन आदि को से अपने को सुखी मानने लग जाता है।

अर्थस्योपार्जने दुःखमपर्जितस्य च रक्षणे ।  
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥

धन अर्जित करने में दुःख उसकी रक्षा करने में दुःख उसके जाने में दुःख, इस तरह हर हालत में दुःख के कारण रूप धन को धिक्कार हो।

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।  
न तु कामसुखैः पुमानहो, बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥

यद्यपि अग्नि, घास, लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय, परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो ! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबरदस्ती है।

## निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएँ

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेषु।  
(11)

(We must meditate upon the 4 following :)

1. मैत्री Maitri, Benevolence (for) सत्त्वेषु all living beings ;
2. प्रमोद, Delight (at the sight of beings) गुणाधिकेषु better qualified (or more advanced then ourselves on the path of liberation ;
3. कारुण्य Pity, Compassion (for) क्लिश्यमानेषु the afflicted ;
4. माध्यस्थ Tolernce or indifference (to those who are) अविनेषु uncivil or ill-behaved.

प्राणीमात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में करुणावृत्ति और अविनेयों में माध्यस्थ भावना करनी चाहिए।

(1) मैत्री :- दूसरों के दुःख की अनुत्पत्ति की अभिलाषा मैत्री भाव है। स्वकीय काय वचन, मन, कृत, कारित और अनुमोदना के द्वारा दूसरे को दुःख न होने देने की अभिलाषा, मित्र का धर्म अथवा कर्तव्य मैत्री है।

(2) प्रमोद :- मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अर्न्तभक्ति और राग प्रमोद है। मुख की प्रसन्नता, नयनों का आह्लाद, रोमाञ्च का उद्भव, स्तुति, निरन्तर सदगुणकीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तरंग की भक्ति और राग तथा विशेष रीति से जो मोद (प्रसन्नता) होता है उसे प्रमोद कहते हैं।

(3) कारुण्य :- दीनों के प्रति अनुग्रहभाव कारुण्य है। शारीरिक और मानसिक दुःख से दुःखी, दीन (अनाथ) प्राणियों के प्रति अनुग्रहात्मक परिणाम करुणा है और करुणा का भाव या कर्म कारुण्य कहलाता है।

(4) माध्यस्थ्य :- रागद्वेषपूर्वक पक्षपात का अभाव मध्यस्थ्य है। राग और द्वेष से किसी के पक्ष में पड़ना पक्षपात है। उस रागद्वेष के अभाव से मध्य में रहना मध्यस्थ्य है तथा मध्यस्थ का भाव या कर्म माध्यस्थ्य भाव है।

(5) सत्त्व :- अनादि कर्मबन्धन के वश से जो दुःखी होते हैं, वे सत्त्व हैं। अनादिकालीन अष्टविधकर्मबन्धसन्तान से तीव्र दुःख की कारणभूत चारों गतियों में जो दुःख उठाते हैं, वे सत्त्व कहलाते हैं।

(6) गुणाधिक :- सम्यग्ज्ञानादि गुणों से प्रकृष्ट को गुणाधिक कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि गुण हैं, वे गुण जिनके अधिक हैं, वे गुणाधिक कहलाते हैं।

(7) क्लिश्यमान :- असाता वेदनीय कर्म के उदय से सन्तप्त क्लिश्यमान हैं। असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो शारीरिक और मानसिक दुःखों (आधि-व्याधि) से सन्तप्त हैं, वे क्लिश्यमान हैं।

(8) अविनेय :- तत्त्वार्थोपदेश के श्रवण-ग्रहण के द्वारा असम्पादित गुण वाला अविनेय है। न विनेय अविनेय है। अर्थात् विपरीत वृत्ति वाले अविनेय हैं।

(9) विनेय :- तत्त्वार्थ का उपदेश श्रवण करने और उसे ग्रहण करने के जो पात्र होते हैं, उन्हें विनेय कहते हैं।

इन सत्त्वादि में मैत्री आदि भावना यथाक्रम भानी चाहिये। जैसे- 'मैं सब जीवों के प्रति क्षमा भाव रखता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों से प्रीति है, किसी के साथ वैर-भाव नहीं है।' इत्यादि प्रकार से जीवों के प्रति मैत्री भावना भानी चाहिये। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रादि गुणाधिकों के प्रति वन्दना, स्तुति, वैयावृत्तिकरणादि के द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिये। मोहाभिभूत, कुमति, कुश्रुत और विभङ्गावधिज्ञान से युक्त विषयतृष्णा रूपी अग्नि के द्वारा दहनमान मानस वाले, हिताहित से विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीड़ित दीन, अनाथ, कृपण, बालवृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवों में करुणा भाव रूपी भावना भानी चाहिये। ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत, विपरीत दृष्टि और विरुद्ध वृत्ति प्राणियों में माध्यस्थ्य भावना रखनी चाहिये। ऐसा समझ लेना चाहिए कि ऐसे जीवों में वक्ता के हितोपदेश की सफलता नहीं हो सकती। इस प्रकार भावना भाने वालों के अहिंसादि व्रत परिपूर्ण होते हैं।



## संसार और शरीर के स्वभाव का विचार जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् । (12)

For संवेग Samvega, the apprehension of the miseries of the world and वैराग्य Vairagya, non-attachment to sense pleasures (we should meditate upon) the nature of the world and of our physical body.

संवेग और वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव की भावना करनी चाहिए।

अपने स्वरूप से होना (रहना) स्वभाव है। अर्थात् स्वकीय असाधारण धर्म में स्थिर होना स्वभाव कहा जाता है। जगत् और काय जगत्काय, जगत्काय का स्वभाव जगत्काय स्वभाव।

विविध प्रकार की वेदना से अभिव्याप्य (आकारभूत) शरीर से भीरूता, संवेजन संवेग कहलता है।

राग के कारणों का अभाव होने से, विषयों से विरक्त होना वैराग्य है। चारित्र मोह के उदय का अभाव होने पर वा होने वाले चारित्र मोह के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से शब्दादि पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना विराग्य है, ऐसा जाना चाहिये। विराग्य का भाव या कर्म वैराग्य कहलाता है। संवेग और वैराग्य, संवेगवैराग्य। संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और काय के स्वभाव का विचार करना चाहिये। तद्यथा-जगत्स्वभाव, आदिमान् और अनादिमान् परिणाम वाले द्रव्यों का समुदाय ही संसार है, जो तालवृक्ष के आकार वाला है, अनादिनिधन है। इस संसार में ये जीवात्माएँ देव, नारकी, मानव और तिर्यञ्च स्वरूप चारों गतियों में अनेक प्रकार के दुःखों को भोग-भोग कर परिभ्रमण कर रही है। इसमें कोई भी वस्तु नियत वा स्थिर नहीं है। जीवन जल बुदबुद के समान चपल है, भोग-सम्पदा विद्युत् और मेघ के समान क्षणभंगुर है, इस प्रकार जगत् के स्वभाव का विचार करना चाहिये। शरीर अनित्य है, दुःख का हेतु है, निस्सार है और अशुचि है इत्यादि भावना शरीर का विचार है। इस प्रकार शरीर और संसार की भावना भाने वाले के संवेग उत्पन्न होता है। इस तरह आरम्भ-परिग्रह में दोष दृष्टिगोचर होने से आरम्भ एवं परिग्रह

से विरति होना धर्म है और धर्म से धर्म में, धार्मिकों में, धर्मश्रवण में और धार्मिक-दर्शन में बहुमान होता है (आदरभाव होता है), उनके प्रति मानसिक आह्लाद होता है। उत्तरोत्तर गुणों में की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) में श्रद्धा और वैराग्य होता है। यही संसार-शरीर-भोगोपभोग वस्तु से निर्बेद होता है तथा भावना भाने वाला मानव अच्छी तरह से व्रतों का पालन करता है।

## हिंसा पाप का लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा। (13)

By (प्रमत्तयोग) Passional vibrations, (प्राणव्यपरोपणं) the hurting of the vitalities, (is) (हिंसा) injury.

प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना हिंसा है।

अनवगृहीत प्रचार विशेष को प्रमत्त कहते हैं। इन्द्रियों के प्रचार विशेष का निश्चय न करके जो प्रवृत्ति होती है वा बिना विचारे जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रमत्त है। जैसे सुरा (मदिरा) पीने वाला मदोन्मत्त होकर कार्य-अकार्य, वाच्य, अवाच्य से अनभिज्ञ रहता है, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य को नहीं जानता है उसी प्रकार प्रमत्त वाला जीवस्थान, जीवोत्पत्तिस्थान और जीवाश्रयस्थान को नहीं जानने वाला अविद्वान् (मूर्ख प्राणी) कषाय के उदय से आविष्ट होकर हिंसा के कारणों में व्यापार करता है, उनमें स्थित रहता है परन्तु सामान्यतया अहिंसा में प्रयत्नशील नहीं होता है। अतः मदोन्मत्त के समान होने से प्रमत्त कहलाता है। (इसमें 'मदोन्मत्त इव' अर्थ गर्भित) है।

अथवा पन्द्रह प्रमाद से परिणत होने से भी प्रमत्त कहलाता है। चार विकथा, चार, कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादों से जो परिणत (युक्त) होता है वह प्रमत्त कहलाता है।

काय वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। प्रमत्त-प्रमाद परिणत व्यक्ति के योग को प्रमत्त योग कहते हैं। 'प्रमत्तयोगात्' यह हेतु अर्थ में पंचमी है अतः प्रमत्तयोग के कारण प्राणों का व्याघात करना हिंसा है, इसमें प्रमत्तयोग कारण है (भाव हिंसा है) और प्राण का व्याघात कार्य (द्रव्य हिंसा) है।

‘व्यपरोपणं’ का अर्थ वियोग करना है। व्यपरोपणं, वियोगकरण ये एकार्थवाची हैं, प्राणों का लक्षण पंचम अध्याय में कहा है, उन प्राणों का व्यपरोपणं प्राणव्यपरोपणं है।

प्राणों का व्याघात प्राण पूर्वक होता है अतः प्राण का ग्रहण किया गया है। प्राणों के वियोगपूर्वक ही प्राणी का वियोग होता है, क्योंकि स्वतः प्राणी निरवयव है, अतः उसके वियोग का अभाव है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा का व्यापक स्वरूप का अनूठा वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

हिंसा का व्यापक स्वरूप

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।  
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥(42)

आत्मा के परिणामों की हिंसा होने के कारण से यह सब ही हिंसा है ; असत्य वचनादि केवल शिष्यों को बोध करने के लिये कहे गये हैं।

हिंसा का लक्षण

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।  
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥(43)

निश्चय करके कषाय सहित योगों से द्रव्य और भावरूप प्राणों का जो नष्ट करना है वह निश्चितरूप से हिंसा होती है।

अहिंसा और हिंसा का लक्षण

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।  
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥(44)

निश्चय करके रागादिक भावों का उदय में नहीं आना अहिंसा कहलाती है, इसी प्रकार एवं उन्हीं रागादिक भावों की उत्पत्ति का होना हिंसा है इस प्रकार जिनागमका अर्थात् जैनसिद्धान्त का सारभूत रहस्य है।

वीतरागी को हिंसा नहीं लगती

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि ।  
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥(45)

योग्य आचरणवाले अर्थात् यत्नाचार-पूर्वक सावधानी से कार्य करने वाले सज्जन पुरुष को रागादि रूप परिणामों के उदय हुए बिना प्राणों का घात होने मात्र से कभी निश्चय करके हिंसा नहीं लगती है।

सरागी को बिना प्राण घात के भी हिंसा लगती है

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।  
घ्नियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥(46)

रागादिकों के वश में प्रवर्तित प्रमाद अवस्था में जीव मर जाय अथवा नहीं मरे नियम से हिंसा आगे दौड़ती है।

इसमें हेतु

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं ।  
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु ॥(47)

क्योंकि आत्मा कषायसहित होता हुआ पहले अपने ही द्वारा अपने आप को मार डालता है, पीछे दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा नहीं हो।

प्रमादयोग में नियम से हिंसा होती है

हिंसायामविरणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।  
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यं ॥(48)

हिंसा में विरक्त न होना तथा हिंसा में परिणमन करना हिंसा कहलाती है इसलिये प्रमाद योग में नियम से प्राणों का घात होता है।

हिंसा के निमित्तों को हटाना चाहिये

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः ।  
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥(49)

निश्चय करके आत्मा के सूक्ष्म भी हिंसा जिसमें परवस्तु कारण हो ऐसी नहीं होती है। तो भी परिणामों की विशुद्धि के लिये हिंसा के आयतनों-हिंसा के निमित्त कारणों का हटाना करना चाहिये।

## असत्य का लक्षण असदभिधानमनृतम्। (14)

Falsehood (is) to speak harmful-words (through प्रमत्त योग Pramattyoga, passional vibrations.)

असत् बोलना अनृत है।

इस सूत्र में 'सत्' का प्रतिषेधक 'असत्' शब्द नहीं है अपितु 'सत्' शब्द प्रशंसावाची है, अतः 'न सत्-असत्' का अप्रशस्त अर्थ होता है, शून्य वा तुच्छाभाव नहीं।

असत्-अप्रशस्त अर्थ का अभिधान-कथन, अप्रशस्त अर्थ को कहने वाला वचन असत् अभिधान है।

'ऋतं' शब्द सत्यार्थ में है। 'ऋतं' यह पद सत्यार्थ में जानना चाहिए अर्थात् ऋतं सत्य और अनृत-असत्य है। विद्यमान पदार्थों के अस्तित्व में कोई विघ्न उत्पन्न न करने के कारण 'सत्सु साधु सत्यम्' यह व्युत्पत्ति भी सत्य की हो सकती है (यानी समीचीन श्रेष्ठ पुरुषों में जो साधु वचन बोला जाता है, वह सत्य कहा जाता है। 'न ऋतं अनृतं' जो ऋत वचन नहीं है, वह अनृत वचन- असत्यवचन कहा जाता है।

अतः मिथ्या शब्द से विद्यमान का लोप तथा अविद्यमान के उद्भावन करने वाले जो अभिधान (कथन) हैं वे ही अनृत (असत्य) होंगे। जैसे-आत्मा नामक पदार्थ नहीं है, परलोक नहीं है, श्यामतण्डुल बराबर आत्मा है, अंगूठे की पौर बराबर आत्मा है; आत्मा सर्वगत और निष्क्रिय है; इत्यादि वचन ही मिथ्या (विपरीत) होने से अनृत कहे जायेंगे, किन्तु जो विद्यमान (सत्) अर्थ को भी कहकर परप्राणी की पीड़ा करने वाले अप्रशस्त वचन हैं वे अनृत नहीं होंगे। क्योंकि मिथ्यानृत में मिथ्या का अर्थ विपरीत है और परप्राणी-पीड़ाकारी वचन विपरीत नहीं हैं। अतः परपीड़ाकारी अप्रशस्त वचन हैं, वे असत्य कोटि में नहीं आयेगे। 'असत्' कहने से जितने अप्रशस्त अर्थवाची वचन हैं, वे सभी अनृत (असत्य) कोटी में आ जायेंगे। इससे जो विपरीतार्थ वचन प्राणीपीड़ाकारी हैं वे सभी अनृत (असत्य) ही हैं; ऐसा जाना जाता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा भी गया है :-

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।  
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥(91)

जो कुछ प्रमाद कषाय के योग से यह स्व-परको हानिकारक अथवा अन्यथा रूप वचन कहने में आता है उसे निश्चय से असत्य जानना चाहिये उसके भेद चार हैं।

प्रथम भेद

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्धयते वस्तु ।  
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥(92)

जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विद्यमान होने पर भी वस्तुका निषेध करने में आता है वह प्रथम असत्य है जैसे 'यहाँ देवदत्त नहीं है,

दूसरा भेद

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।  
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥(93)

निश्चय से जिस वचन में उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अविद्यमान होने पर भी वस्तुका स्वरूप प्रगट करने में आवे वह दूसरा असत्य है। जैसे यहाँ घड़ा है।

तीसरा भेद

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।  
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरित्थिताऽश्वः ॥(94)

और जिस वचन में अपने चतुष्टय से विद्यमान होने पर भी पदार्थ अन्य स्वरूप से कहने में आता है उसे यह तीसरा असत्य जानो। जैसे बैल को घोड़ा है ऐसा कहना।

### चौथा भेद

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपंयत्।  
सामान्येन त्रेधा ममिदमनृतं तुरीयं तु॥(95)

और यह चौथा असत्य सामान्यरूप से गर्हित, पाप सहित और अप्रिय इस तरह तीन प्रकार का माना गया है।

### गर्हितकास्वरूप

पैशून्यहासगर्भ कर्कशमसमञ्जसं प्रल्पितं च।  
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥(96)

दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला कठोर मिथ्या-श्रद्धानवाला और प्रलापरूप तथा और भी जो शास्त्रविरुद्ध वचन है वह सभी निन्द्यवचन कहा गया है।

### अवद्यसंयुक्त असत्य का स्वरूप

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।  
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते॥(97)

जो छेदना, भेदना, मारण, शोषण, व्यापार या चोरी आदि के वचन हैं वे सब पाप युक्त वचन हैं क्योंकि यह प्राणी-हिंसा आदि पापरूप प्रवर्तन करते हैं।

### अप्रिय असत्य का स्वरूप

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।  
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥(98)

जो वचन दूसरे जीवको अप्रीतिकारक भयकारक खेदकारक वैर शोक तथा कलहकारक हो और जो अन्य जो भी सन्तापकारक हो वह सर्व ही अप्रिय जानना चाहिये।

### असत्य वचन में हिंसाका सद्भाव

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।  
अनृतवचनेपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति॥(99)

चूँकि इन सभी वचनों में प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है इसलिये असत्य वचन में भी हिंसा निश्चितरूप से आती है।

**प्रमादसहित योग हिंसाका कारण**

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।

हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥(100)

समस्त झूठ वचनों का प्रमाद सहित योग हेतु निर्दिष्ट करने में आया होने से हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानोंका कहना झूठ नहीं है।

**इसके त्याग का प्रकार**

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।

ये तेपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥(101)

जो जीव भोग-उपभोग के साधन मात्र सावद्यवचन छोड़ने में असमर्थ हैं वे भी बाकीके सभी असत्य भाषण का निरन्तर त्याग करें।

**स्तेय-चोरी का लक्षण**

अदत्तादानं स्तेयम्। (15)

Theft (is) to take anything which is not given, (through Pramattayoga).

बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय है।

आदान शब्द का अर्थ ग्रहण है। बिना दी हुई वस्तु का लेना अदत्तादान है और यही स्तेय - चोरी कहलाता है। सूत्र में जो 'अदत्त' पद का ग्रहण किया है उससे ज्ञात होता है कि जहाँ देना लेना सम्भव है वहीं स्तेय का व्यवहार होता है।

**शंका-** स्तेय का उक्त अर्थ करने पर भी भिक्षु के ग्राम, नगरादिक में भ्रमण करते समय गली, कूचा, दरवाजा आदि में प्रवेश करने पर बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण प्राप्त होता है ?

**समाधान-** यह कोई दोष नहीं है ; क्योंकि वे गली, कूचा और दरवाजा आदि सबके लिए खुले हैं। यह भिक्षु जिनमें किवाड़ आदि लगे हैं उन दरवाजा आदि में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वे सब के लिए खुले नहीं हैं। अथवा,



‘प्रमत्तयोगात्’ इस पद की अनुवृत्ति होती है जिसमे यह अर्थ होता है कि प्रमत्त के योग से बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना स्तेय है। गली, कूचा आदि में प्रवेश करने वाले भिक्षु के प्रमत्तयोग तो है नहीं इसलिए वैसा करते हुए स्तेय का दोष नहीं लगता। इस सब कथन का यह अभिप्राय कि बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय किन्तु जहाँ क्लेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी चोरी का लक्षण निम्न प्रकार किया गया हैं—

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।  
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥(102)

जो प्रमाद के योग से बिना दिये हुए परिग्रह का ग्रहण करना है वह चोरी जानना चाहिये और वही हिंसा का कारण होने से हिंसा है।

धनादि बाह्यप्राण हैं

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसा ।  
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥(103)

जितने भी धन, धान्य आदि पदार्थ हैं ये पुरुषों के बाह्यप्राण हैं। जो पुरुष जिसके धन, धान्य आदि पदार्थों को हरण करता है वह उसके प्राणों का नाश करता है।

हिंसा और चोरी में अव्यप्ति नहीं है

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात् ।  
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥(104)

हिंसा की और चोरी की अव्याप्ति नहीं है क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकार की गई द्रव्य के ग्रहण करने में प्रमादयोग अच्छी तरह घटता है इसलिये हिंसा वहाँ होती ही है।

चोरी छोड़ने का उपदेश

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं।

तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यं ॥(106)

जो पुरुष कूपजल आदि के हरण करने की निवृत्ति को करने के लिये असमर्थ हैं उन पुरुषों के द्वारा भी दूसरा समस्त बिना दिया हुआ द्रव्य सदा छोड़ देना चाहिये।

कुशील का लक्षण

मैथुनमब्रह्म। (16)

Unchastity is coition (or sexual contact, through Pramattayoga)

मैथुन अब्रह्म है।

मिथुन (दो) के कर्म वा भाव को मैथुन कहते हैं। स्त्री-पुरुष के परस्पर शरीर के स्पर्श करने में जो राग परिणाम है वही मैथुन है, अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर स्त्री और पुरुष के परस्पर शरीर का सम्मिलन होने से सुख-प्राप्ति की इच्छा से होने वाला जो रागपरिणाम है, वह मैथुन कहलाता है।

स्त्री-पुरुष के परस्पर शरीर के स्पर्श से ही मैथुन नहीं है अपितु एक में भी मैथुन का प्रसंग है। क्योंकि हाथ, पैर अथवा पुद्गल आदि के संघट्टनादि के द्वारा भी अब्रह्म का सेवन होने पर एक में भी मैथुन होता है, अतः स्त्री-पुरुष का संयोग ही मैथुन सिद्ध नहीं होता (अपितु मिथुन का भाव मैथुन सिद्ध होता है।) अथवा, जिस प्रकार स्त्री और पुरुष को रति के समय शरीर का संयोग होने पर स्पर्शसुख होता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति को भी हाथ आदि के संयोग से स्पर्शसुख का भान होता है, दोनों मैथुन तुल्य हैं। इसलिए हस्त संघट्टनादि सम्बन्धी मैथुन भी मुख्य ही हैं, उसमें भी रागद्वेष और मोह की तीव्रता होने से मैथुन शब्द का लाभ है।

‘प्रमत्तयोगात्’ सूत्र में कथित प्रमत्त योग की अनुवृत्ति चली आ रही है, अतः चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से प्रमत्त हुए मिथुन के कर्म को मैथुन कहते हैं। नमस्कारादि क्रिया में प्रमत्तयोग तथा चारित्रमोह कर्म के उदय का

अभाव होने से वन्दनादि मिथुन कर्म (दो मिलकर वन्दना, स्वाध्याय आदि क्रिया) होने पर भी वह क्रिया मैथुन नहीं कही जा सकती।

अहिंसादि गुणों को बढ़ाने वाला होने से ब्रह्म कहलाता है। जिसका परिपालन करने से अहिंसादि गुणों की वृद्धि होती है, वह ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म नहीं है या ब्रह्म का अभाव है वह अब्रह्म कहलाता है, वह अब्रह्म ही मैथुन है, उस अब्रह्मचारी के हिंसादि दोष पुष्ट होते हैं। क्योंकि मैथुन सेवानाभिलाषी व्यक्ति त्रस, स्थावर जीवों का घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है और सचेतन और अचेतन परिग्रह का संग्रह भी करता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी मैथुन का लक्षण निम्न प्रकार से कहा गया है।

यद्वेदयरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।

अवतरित तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥107॥

पुंवेद और स्त्रीवेदरूप रागपरिणाम के सम्बन्ध से जो स्त्री पुरुषों की कामचेष्टा होती है उसको अब्रह्म कहते हैं। वहाँ सब अवस्थाओं में जीवों का वध होने से हिंसा घटित होती है।

मैथुन में हिंसा

हिंस्यते तिलनाल्यां तपायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।

बहवो जीवा योनौ हिंस्यंते मैथुने तद्वत् ॥108॥

जिस प्रकार तिलनाली में तपाये हुए लोहे के छोड़ने पर तिल पीड़े जाते हैं- भुन जाते हैं उसी प्रकार योनि में मैथुन करते समय अनेक जीव मारे जाते हैं।

अनंगरमण निषेध

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि ।

तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥109॥

जो भी कुछ काम के प्रकोप से अनंगक्रीडन आदि किया जाता है वहाँ पर भी रागादिक की उत्पत्ति प्रधान होने से हिंसा होती है।

## कुशीलत्याग का उपदेश

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति नहि मोहात्।

निःश्लेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यं ॥११०॥

जो पुरुष चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अपनी स्त्री मात्र को छोड़ने के लिये निश्चय से नहीं समर्थ हैं उन्हें भी बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिये।

## परिग्रह पाप का लक्षण

मूर्च्छा परिग्रह। (17)

Worldly attachment is मूर्च्छा Murchha, infatuation (or intoxication through Pramattayoga, in the living or non-living objects of the world.)

मूर्च्छा परिग्रह है।

बाह्याभ्यन्तर उपधि (परिग्रह) के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह के और रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रह के संरक्षण, अर्जन, संस्कारादि लक्षण व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं।

आभ्यन्तर ममत्व परिणाम रूप मूर्च्छा को परिग्रह कहने पर बाह्य पदार्थों में अपरिग्रहत्व का प्रसंग नहीं देना चाहिये, क्योंकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है। अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्परूप आध्यात्मिक परिग्रह है, वही प्रधानभूत है अतः मूर्च्छा से मुख्यतया आभ्यन्तर परिग्रह का ग्रहण किया जाता है। उस आभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण करने पर आभ्यन्तर परिग्रहण के कारणभूत गौण रूप बाह्य परिग्रह का ग्रहण तो हो ही जाता है।

मूर्च्छा का कारण होने से बाह्य पदार्थ के भी मूर्च्छा व्यपदेश होता है। जैसे - "अन्न ही प्राण है" इस प्रकार प्राणों की स्थिति में कारणभूत अन्न में प्राणों का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छा का कारण (ममत्व का कारण) होने से बाह्य परिग्रह को भी मूर्च्छा कह देते हैं। अर्थात् कारण में कार्य का उपचार किया जाता है।

प्रमत्तयोग का अधिकार होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र में होने वाला ममत्व भाव परिग्रह नहीं है। क्योंकि निष्प्रमादी ज्ञान, दर्शन और चारित्रवान व्यक्ति के मोह का अभाव है। अतः निष्प्रमादी व्यक्ति के चारित्र का ममत्व मूर्च्छा नहीं है और उसके निष्परिग्रहत्व सिद्ध होता है। अथवा, ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं, अहेय हैं। अतः वे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि परिग्रह हो ही नहीं सकते। उनमें तो अपरिग्रहत्व है। रागादि तो कर्मोदयजन्य हैं, अनात्म-स्वभाव हैं और हेय हैं। इसलिये इनमें होने वाला 'ममेद' संकल्प परिग्रह है। अर्थात् रागादि को परिग्रह कहते हैं।

परिग्रह ही सर्व दोषों का मूल कारण है। यह परिग्रह ही समस्त दोषों का मूल है। 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसा अवश्यभाविनी है, उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में भी प्रयत्न करता है, अर्थात् परिग्रहाभिलाषी व्यक्ति सर्व कुकर्म करता है। इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरकादि में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है, इस लोक में भी निरन्तर दुःख रूपी महासमुद्र में अवगाहन करता है, अर्थात् सैकड़ों दुःख भोगता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी परिग्रह का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।  
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥(111)

जो यह मूर्च्छा है यह ही परिग्रह जाननी चाहिए तथा मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्तारूप परिणाम मूर्च्छा कहलाता है।

**मूर्च्छा और परिग्रह की व्याप्ति**

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।  
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥(112)

परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण करने से दोनों प्रकार-बहिरंग और अन्तरंग परिग्रह की व्याप्ति अच्छी तरह घट जाती है बाकी सब परिग्रहों से रहित भी निश्चय करके मूर्च्छावाला परिग्रह वाला है।

बाह्य परिग्रह में परिग्रहपना है या नहीं

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंगः ।

भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वं ॥(113)

यदि इस प्रकार है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्छा ही किया जाता है उस अवस्था में निश्चय से कोई भी बहिरंग परिग्रह, परिग्रह नहीं ठहरता है इस आशंका के उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि बाह्य परिग्रह भी परिग्रह कहलाता है क्योंकि यह बाह्यपरिग्रह सदा मूर्छा का निमित्तकारण होने से अर्थात् यह मेरा है ऐसा ममत्वपरिणाम बाह्यपरिग्रह में होता है इसलिये वह भी मूर्छा के निमित्तपने को धारण करता है।

परिग्रह में हिंसा

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसातरंगसंगेषु ।

बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वं ॥(119)

अन्तरंगपरिग्रहों में हिंसा के पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है बहिरंग परिग्रहों में तो नियम से मूर्छा ही हिंसापने को सिद्ध करती है।

बाह्यपरिग्रह के त्याग का उपदेश

बहिरंगादपि संग्राह्यस्मात्प्रवभत्यसंयमोऽनुचितः ।

परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥(127)

जिस बाह्य परिग्रह से भी अनुचित असंयम उत्पन्न होता है उस अचित्त अथवा सचित्त समस्त परिग्रह को छोड़ देना चाहिये।

धन धान्यादि भी कम करने उचित हैं

योपि न शक्तसत्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि ।

सोपि तनूकरणीयः निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं ॥(128)

जो कोई भी धन, धान्य, मनुष्य, घर, द्रव्य आदि छोड़ने के लिये नहीं समर्थ है वह परिग्रह भी कम करना चाहिये क्योंकि तत्त्वस्वरूप निवृत्तिस्वरूप है।

## व्रतों की विशेषता निःशल्यो व्रती। (18)

A व्रती Vрати, or a vower should be without (blemish which is like a thron) शल्य Shalya, which makes the whole body restless.)

जो शल्यरहित है वह व्रती है।

अनेक प्रकार से प्राणीगण को दुःख देने से शल्य कहलाती है। विविध प्रकार की वेदना रूपी शलाकाओं (सुइयों) के द्वारा जो प्राणियों को छेदती है, दुःख देती है, वे शल्य कहलाती है।

जैसे-शरीर में चुभे हुए काँटा आदि प्राणियों को बाधा करने वाली शल्य हैं, अर्थात् शरीर में चुभा हुआ काँटा प्राणियों को दुःख देता है, उसी प्रकार कर्मोदय विकार भी शारीरिक और मानसिक बाधा का कारण होने से शल्य की भाँति शल्य नाम से उपचरित किया जाता है।

माया, मिथ्यात्व और निदान के भेद से शल्य तीन प्रकार के हैं। यह शल्य तीन प्रकार की है - माया, मिथ्यात्व और निदान। माया, निकृति, वञ्चना, छल-कपट ये सब एकार्थवाची हैं। विषयभोगों की काङ्क्षा निदान है। अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन है। इन तीन प्रकार की शल्यों से निष्क्रान्त (रहित) निःशल्य व्यक्ति व्रति कहलाता है।

निःशल्यत्व और व्रतित्व में अंग-अंगिभाव विवक्षित है। क्योंकि केवल हिंसादि विरक्ति रूप व्रत के सम्बन्ध से व्रती नहीं होता है जब तक कि शल्यों का अभाव न हो। शल्यों का अभाव होने पर ही व्रत के सम्बन्ध से व्रती होता है, यहाँ ऐसा विवक्षित है। जैसे बहुत दूध और घी वाला गोमान् कहा जाता है। बहुत दूध और घृत के अभाव में बहुत सी गायों के होने पर भी गोमान् (गायवाला) नहीं कहलाता। उसी प्रकार सशल्य होने पर व्रतों के रहते हुए भी व्रती नहीं कहा जा सकता। जो व्रत सहित निःशल्य होता है, वही व्रती है।

## व्रतों के भेद अगार्यनगारश्च । (19)

(Vowers are of 2 kinds :) अगारी Agari, house-holders (laymen) and  
अनगार Anagara, house-less (ascetics.)

उसके अगारी और अनगार ये दो भेद हैं। आश्रयार्थी जनों के द्वारा जो स्वीकार किया जाता है, वा उसमें पाया जाता है, वास किया जाता है, वह अगार-घर है। अगार, वेश्म, गृह ये सब एकार्थवाची हैं, अगार जिसके है, वह अगारी कहलाता है। जिसके अगार नहीं है, वह अनगार कहलाता है।

यहाँ चारित्र-मोह के उदय से घर के प्रति अनिवृत्त परिणामरूप भावागार विविक्षित है। अतः भावागार (जिसके चारित्र मोहनीय का उदय है वह) व्यक्ति किसी कारणवश घर को छोड़कर वन में रहता है तो भी वह अगारी है और चारित्रमोह के उदय के अभाव से निर्ग्रन्थ मुनि किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारणवश शून्यागार, जिनमंदिर आदि में रहता है तो भी अनगार है अर्थात् विषय-तृष्णाओं से निवृत्त मुनि यदि शून्य घर, मन्दिर आदि में रहता है तो भी वह अनगारी है। अथवा राजा की तरह व्रती कहलाता है। जैसे बत्तीस हजार देशों का अधिपति चक्रवर्ती राजा कहलाता है। वैसे एक देश का स्वामी वा चक्रवर्ती आधे देश का स्वामी त्रिखण्डाधिपति क्या राजा नहीं कहलाता ? अपितु, एकदेशपति वा आधे देश का पति भी राजा कहलाता ही है। उसी प्रकार अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तरगुणों को धारण करने वाला जैसे पूर्ण व्रती है वैसे अणुव्रतधारक संयतासंयत व्रती नहीं है, फिर भी अणुव्रतधारी भी व्रती कहलाता ही है।

## अगारी का लक्षण अणुव्रतोऽगारी । (20)

(One whose five) vows (are) partial (is) a house-holder.

अणुव्रतों का धारी अगारी है।

‘अणु’ शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं वह अणुव्रत वाला अगारी कहा जाता है। अगारी के पूरे हिंसादि दोषों का त्याग सम्भव



नहीं है इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं। यह त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है; इसलिए उसके पहला अहिंसा अणुव्रत होता है। गृहस्थ स्नेह और मोहादिक के वश से गृहविनाश और ग्रामविनाश के कारण असत्य वचन से निवृत्त है इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। श्रावक राजा के भय आदि के कारण दूसरे को पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तु को लेना यद्यपि अवश्य छोड़ देता है तो भी बिना दी हुई वस्तु के लेने से उसकी प्रीति घट जाती है इसलिये उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। गृहस्थ के स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्री का संगत्याग करने से रति घट जाती है इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नाम का चौथा अणुव्रत होता है। तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है इसलिये उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत होता है।

### अणुव्रत के सहायक साथ शीलव्रत

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोग-  
परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च। (21)

(The house-holder) must be with (the following 7 Supplementary vows) also

1. दिग्ब्रत To limit directions.
2. देशव्रत Limit Shorter.
3. अनर्थदण्ड व्रत Not to commit purposeless in.
4. सामायिक Contemplation of the self.
5. प्रोषधोपवास Fast.
6. उपभोग-परिभोग-परिमाण Limiting one's enjoyment of consumable and non consumable things.
7. अतिथिसंविभाग Feeding the ascetics with a part.

वह दिग्ब्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक व्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत और अतिथिसंविभागव्रत इन व्रतों से भी सम्पन्न होता है।

1. दिग्ब्रत :- दुष्परिहार क्षुद्र जन्तुओं से भरी हुई दिशाओं से निवृत्ति दिग्विरति है। जिनका परिहार (बचाव) अथवा रक्षा है जैसे जन्तुओं से दिशाएँ व्याप्त हैं। अतः उन क्षुद्र जन्तुओं की रक्षा करने के लिए दशों दिशाओं में गमनागमन की निवृत्ति करनी चाहिए। उसका परिमाण प्रसिद्ध योजनादि के द्वारा करना चाहिए। उन दिशाओं का परिमाण पर्वत आदि प्रसिद्ध चिन्हों से तथा योजनादि की गिनती से कर लेना चाहिए।

जो सम्पूर्ण रूप से हिंसादि की निवृत्ति करने में असमर्थ है, शक्ति के अनुसार प्राणी-वध-विरति के प्रति आदर्शील है, उस श्रावक के यहाँ, प्राणयात्रा (जीवन-निर्वाह) हो या न हो उनके, प्रयोजन होने पर भी वह स्वीकृत क्षेत्रमर्यादा को नहीं लाँघता अतः दिग्विरति में हिंसा की निवृत्ति होने से वह ब्रती है।

2. देशब्रत :- जिस प्रकार दिग्ब्रत है उसी प्रकार देशनिवृत्ति करना चाहिए। 'मैं मेरे इस घर और तालाब के मध्य भाग को छोड़कर देशान्तर में नहीं जाऊँगा। इस प्रकार देश विरति की निवृत्ति में दिग्विरति के समान प्रयोजन जानना चाहिए। दिग्विरति यावज्जीवन-सर्वकाल के लिए होती है और देशविरति यथाशक्ति नियत काल के लिए होता है, यही दिग्विरति ब्रत और देशविरति ब्रत में विशेषता है।

3. अनर्थदण्डविरति ब्रत :- उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है वह अनर्थदण्ड है, इससे विरत होना अनर्थदण्ड विरति है। अनर्थदण्ड के 5 भेद हैं।

1. अपध्यान 2. पापोपदेश 3. प्रमादचर्या 4. हिंसा प्रदान 5. अशुभश्रुति

I. अपध्यान - 'दूसरे की जय-पराजय, वध, बन्ध, अगच्छेद, धन-हरण आदि कैसे हो' इत्यादि मन के द्वारा चिन्तन करना अपध्यान है।  
II. क्लेशवाणिज्य, तिर्यग्वाणिज्य, वधकोपदेश और आरम्भोपदेश आदि पापोपदेश हैं।

(A) क्लेश वाणिज्य- जैसे इस देश में दासी-दास सुलभ हैं, उनको अमुक देश में ले जाकर विक्रय करने पर प्रचुर अर्थ-लाभ होता है 'इत्यादि पापसंयुक्त वचन बोलना' क्लेशवाणिज्य पापोपदेश है।

- (B) **तिर्यग्वाणिज्य-** 'गाय-भैंस आदि पशुओं को इस देश से ले जाकर अन्य देश में बेचने पर बहुत धन लाभ होगा' इत्यादि पशुओं के व्यापार का मार्ग बताना तिर्यग्वाणिज्य है।
- (C) **वधकोपदेश-** वागुरिक (शिकारी), सौकरिक (वधिक), शाकुनिक (पक्षियों को पकड़ने वाले) आदि व्यक्तियों को 'हिरण, सुअर, पक्षी आदि प्राणी इस देश में क्षेत्र-पर्वत आदि पर बहुत रहते हैं' इत्यादि वचनों के द्वारा शिकार के योग्य प्राणियों का स्थान आदि बताना वधकोपदेश है।
- (D) **आरम्भोपदेश-** आरम्भ कार्य करने वाले किसान आदि को भूमि, नीर, अग्नि, पवन और वनस्पति आदि के आरम्भ, छेदन-भेदन आदि के उपाय आरम्भोपदेश है। इस प्रकार और भी पाप संयुक्त वचन या पापवर्धक वचन हैं, वे सब पापोपदेश हैं।
- III. **प्रमादचर्या-** प्रयोजन बिना वृक्षादि का छेदना, भूमि को कूटना, पानी सींचना आदि सावद्य कर्म प्रमादचर्या है।
- IV. **हिंसा प्रदान दोष-** विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, कशा (कोड़) और दण्ड (डण्डा, लाठी) आदि हिंसा के उपकरणों को देना हिंसा-प्रदान दोष है।
- V. **अशुभ श्रुति-** हिंसा, राग, काम आदि की वृद्धि करने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना और दूसरों को सिखाना आदि व्यापार अशुभ श्रुति हैं।

मध्य में अनर्थदण्ड का ग्रहण पूर्वोत्तर अतिरेक के आनर्थक्य के ज्ञापनार्थ है। पूर्व में कहे गये दिव्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत में अवधृत मर्यादा में भी निष्प्रयोजन गमन आदि तथा मर्यादित विषयों का भी सेवन आदि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अतिरेक निवृत्ति की सूचना देने के लिए मध्य में अनर्थदण्ड वचन को ग्रहण किया है।

नियत देश, काल में सामायिक व्रत में भी पूर्ववत् महाव्रत है। इतने क्षेत्र में, इतने काल तक अवधारित सामायिक में अवस्थित के महाव्रत होता है। ऐसा पूर्ववत् जानना चाहिए। सामायिक में अणु और स्थूल हिंसा आदि से निवृत्त होने के कारण महाव्रत समझना चाहिए।

संयमघाती कर्म का उदय होने से सामायिक व्रत में संयम का प्रसंग नहीं आता है।

**प्रश्न-** सर्वसावद्यनिवृत्ति लक्षण सामायिक में स्थित व्यावृत्त के संयम प्राप्त होता है अतः उसे संयत क्यों न माना जाए ?

**उत्तर-** यद्यपि सामायिक में सर्वसावद्यनिवृत्ति हो जाती है तथापि संयमघाती चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण इसे संयत नहीं कह सकते।

**6. उपभोग-परिभोग-परिमाण :-** उपेत्य, भोगा जाता है वह उपभोग है। उपेत्य आत्मसात् करके भोगा जाता है, जो एक बार ही भोगे जाते हैं, ऐसे गन्ध, माला, भोजन, पान आदि उपभोग कहलाता है।

छोड़ करके पुन भोगा जाता है, वह परिभोग कहलाता है। जो एक बार भोगे जाकर भी दुबारा भोगे जा सकें वे परिभोग कहलाते हैं। आच्छादन (वस्त्र), प्रावरण, अलंकार, शय्या, घर, यान, वाहन आदि परिभोग हैं। उपभोग और परिभोग, उपभोगपरिभोग कहलाते हैं तथा उपभोगपरिभोग का परिमाण उपभोगपरिभोगपरिमाण है। अर्थात् उपभोग और परिभोग सामग्री के भोगने की मर्यादा करना उपभोगपरिभोग परिणाम है।

त्रसघात, बहुस्थावर घात कारक, प्रमाद कारक, अनिष्ट (शरीर को हानिकारण) और अनुपसेव्य के भेद से भोगपरिसंख्यान (भोगोपभोगपरिमाण व्रत) पाँच प्रकार है। त्रसघात की निवृत्ति के लिए मधु-मांस को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए। प्रमाद का नाश करने के लिए हिताहित कार्याकार्य के विवेक को नष्ट करने वाली और मोह को करने वाली मदिरा का त्याग अवश्य करना चाहिए। केतकी के पुष्प, अर्जुन के पुष्प आदि बहुत जन्तुओं के उत्पत्ति स्थान हैं, तथा अदरख, मूली, गीली हल्दी, नीम के फूल आदि अनन्तकाय कहे जाने योग्य हैं (अर्थात् इनमें अनन्त साधारण निगोदिया जीव

रहते हैं।) इनके सेवन में अल्पफल और बहुविघात होता है अतः इनका त्याग ही कल्याणकारी है। यान, वाहन, गाडी, रथ, घोड़ा, अलंकार आदि में 'इतने मुझे इष्ट हैं, रखना हैं अन्य अनिष्ट हैं' इस प्रकार विचार कर अनिष्ट से निवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि जब तक अभिसन्धि (अभिप्राय) पूर्वक वस्तु का त्याग नहीं किया जाता है तब तक वह व्रत नहीं माना जा सकता। जो स्व को इष्ट है परन्तु शिष्ट जनों के लिए उपसेव्य नहीं है, धारण करने योग्य नहीं है ऐसे विचित्र प्रकार के वस्त्र, विकृत वेष, आभरण आदि अनुपसेव्य पदार्थों का यावज्जीवन परित्याग करना चाहिए। यदि यावज्जीवन त्याग करने की शक्ति नहीं हो तो अमुक समय की मर्यादा से अमुक वस्तुओं का परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिए।

**अतिथिसंविभाग व्रत**— संयम की विराधना न करते हुए जो गमन करता है, वह अतिथी है। चारित्र्य लाभ रूपी बल से सम्पन्न होने के कारण जो संयम का विनाश न करके भ्रमण करता है, वह अतिथि है वा जिसके आने की तिथि निश्चित नहीं है, वह अतिथि है (जिसका अनियत काल में गमन है)। संविभाजन को संविभाग कहते हैं। अतिथि के लिए संविभाग-दान देना, अतिथिसंविभाग है।

भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय (वसतिका) के भेद से अतिथि संविभागव्रत चार प्रकार का है। मोक्षार्थी, संयमपरायण, शुद्धमति अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष आहार देना चाहिए। उस मुनि के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य को बढ़ाने वाले पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि धर्मोपकरण भी देने चाहिए। परम श्रद्धा और भक्ति से उन यतियों के लिए योग्य औषधि और वसतिका (रहने का स्थान) भी देना चाहिए।

**सामायिक**— काय, वचन और मन की क्रियाओं से निवृत्त होकर आत्मा में एकत्वरूप में गमन (लीन) होना ही संयम है। समय का भाव या समय का प्रयोजन ही सामायिक है, अर्थात् मन, वचन और काय की क्रियाओं का निरोध करके अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना ही सामायिक है।

साम्य भाव को "समता" कहते हैं। इस साम्य भाव में रहने को

“सामायिक” कहते हैं। अनुकूल परिस्थिति में हो या प्रतिकूल परिस्थिति हो, लाभ हो या हानि हो, निंदा हो या प्रशंसा हो, जीवन हो या मरण हो सत्कार हो या तिरस्कार हो समस्त परिस्थितियों में राग-द्वेष नहीं करना हर्ष-विषाद नहीं होना हीनभाव या अहंवृत्ति को धारण नहीं करना ही सामायिक है। पूर्वोचार्यों ने कहा भी है—

जीविद मरणे लाभालाभे संजोयविष्यओगेय ।

बंधुरिसुहदुक्खादिषु समदा सामाइयं णाम ॥(23)

मूलाचार

जीवन, मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में तथा सुख-दुःख इत्यादि में समभाव होना सामायिक नाम का व्रत है।

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भुवने वने वा ।

निराकृताशेषममत्वबुध्देः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥(3)॥

सामायिक पाठ में अमितगति आचार्य भगवान् से कहते हैं कि है भगवन् ! दुःख में, सुख में, वैरियों में, बन्धुवर्ग में, संयोग में, वियोग में, भवन में, वन में सदा मेरी बुद्धि समस्त राग-द्वेष से रहित होकर समता में रहे।

समता सर्वभूतेषु-संयमः शुभ भावना ।

आर्त्तरौद्र परित्याग-स्तद्धि सामायिकं मतं ॥(2)

संसार के सभी प्राणियों में समता भाव होना, संयम में शुभ भावना होना, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान से रहित होना सामायिक है।

5. प्रोषधोपवास— आत्मा के समीप जाकर पाँचों इन्द्रियों का आत्मा में ठहर जाना ‘उपवास’ है। ‘उप’ शब्द का अर्थ समीप या निकट है और ‘वस्’ धातु ठहरने के अर्थ में है। पाँचों इन्द्रियों का शब्दादि अपने-अपने विषयों से निवृत्त होकर आत्मा के समीप पहुँच जाना ही उपवास है। अथवा अशन (खाद्य), पान (पेय), भक्ष्य (स्वाद्य) और लेह्य रूप चार-प्रकार के आहारों का त्याग करना उपवास है। प्रोषध (पर्व) में उपवास करना प्राषधोपवास कहलाता है। ‘प्रोषध’ शब्द पर्व का पर्यायवाची है अथवा संज्ञा में साधन कृत समास है अर्थात् प्रोषध का अर्थ एकासन है। उस प्रोषध के साथ किया हुआ उपवास

प्रोषधोपवास है।

प्रोषधोपवास करने वाला श्रावक, स्नान, गंध, माला आदि से रहित होकर शुचि (पवित्र) स्थान में बैठे। निरारम्भी प्रोषधोपवास करने वाला श्रावक स्वशरीर के संस्कार के कारणभूत स्नान, गन्ध, माला, अलंकार आदि से रहित पवित्र स्थान में, साधु के निवास-स्थान में, चैत्यालय में वा अपने प्रोषधोपवास के घर में धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, चिन्तन और ध्यान आदि में अपना उपयोग लगाते हुए स्थित रहे।

### ब्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता। (22)

(The house-holder is also) the observer in the last moment of his life, of the process of सल्लेखना peaceful death which is characterised by non-attachment to the world and by a suppression of the passions.

तथा वह मारणान्तिक सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला होता है।

स्वकीय परिणामों से गृहीत आयु, इन्द्रियां, बलादि प्राणों का कारण वश क्षय होने को मरण कहते हैं।

अन्त का ग्रहण तद्भव मरण की प्रतिपत्ति के लिए है। मरण दो प्रकार का है- नित्य मरण और तद्भव मरण। प्रतिक्षण स्वकीय आयु की जो निवृत्ति होती है नाश होता है अर्थात् समय-समय में आयु के निषेक जो उदय में आकर नष्ट होते हैं वह नित्य मरण हैं। भवान्तर प्राप्ति के अनन्तर उपश्लिष्ट पूर्व पर्याय का नाश होना तद्भव मरण कहलाता है। इस सूत्र में अन्त शब्द का ग्रहण तद्भव मरण को ग्रहण करने के लिये है। मरण अन्तः मरणान्तः और मरणान्त जिसका प्रयोजन है-वह मारणान्तिक है।

सल्लेखना— अर्थात् भली प्रकार काय और कषाय को कृश करना। लिख् धातु से 'णि' प्रत्यय करने से लेखना शब्द बनता है, उसका अर्थ तनूकरण यानी कृश करना है। बाह्य शरीर और आभ्यन्तर कषायों के कारणों को निवृत्ति पूर्वक क्रमशः भली प्रकार क्षीण करना सल्लेखना है। उस मारणान्तिक सल्लेखना

को प्रीतिपूर्वक सेवन करना, धारण करना। इसको सेवन करने वाली गृहस्थ श्रावक होता है।

‘जोषिता’ शब्द से यहाँ प्रीति पूर्वक सेवन करना अर्थ विवक्षित है, अन्तरंग प्रीति के बिना जबरदस्ती सल्लेखना नहीं कराई जाती, जब आत्मा सल्लेखना करने में अपना परमहित समझता है, तभी स्वयं प्रेमपूर्वक उसे धारण करता है।

**सल्लेखना से आत्म हत्या नहीं-** प्रमाद के योग से प्राण व्यपरोपण को हिंसा कहते हैं। परन्तु सल्लेखना मरण को आत्मवध नहीं कह सकते।

रागादि का अभाव होने से प्रमाद नहीं है। क्योंकि राग द्वेष और मोह आदि से क्लुषित व्यक्ति जब विष, शास्त्र आदि से अभिप्राय पूर्वक अपना घात करता है तब आत्मवध का दोष लगता है, परन्तु सल्लेखना धारी के रागद्वेषादि क्लुषताएँ नहीं है अतः उसके आत्मवध के दोष का स्पर्श नहीं है। अर्थात् समाधिमरण करने वाला आत्मवध के दोष का भागी नहीं है कहा भी है-

रागादीमणुप्या अहिंसकेत्ति देसिदं समये।

तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिहिट्ठा ॥१॥

रागादि की उत्पत्ति नहीं होने को अहिंसा और रागद्वेष की उत्पत्ति को जिनेन्द्र भगवान ने हिंसा कहा है।

अथवा मरण तो अनिष्ट होता है। जैसे अनेक प्रकार के पण्य (सोना, चाँदी, वस्त्र आदि वस्तुओं) के लेन, देन, संचय आदि के करने में तत्पर किसी भी दुकानदार को उन उपयोगी वस्तुओं के आधारभूत घर का विनाश इष्ट नहीं है और व घर के विनाश के कारणों के उपस्थित होने पर यथाशक्ति वह उन कारणों को दूर करता है, यदि उनका परिहार करना दुःशक्य होता है तो वह उस घर में रखी सोना चाँदी आदि पण्य वस्तुओं की रक्षा करने का प्रयत्न करता है; उसी प्रकार व्रत, शील आदि के द्वारा पुण्य के संचय में प्रवर्तमान गृहस्थ भी व्रत आदि के आश्रयभूत शरीर का कभी विनाश नहीं चाहता, शरीर के नाश के कारणों के उपस्थित होने पर अपने गुणों के अविरोध से यथाशक्ति



संयम के अनुसार उनको दूर भी करता है, फिर भी यदि निष्प्रतिकार अवस्था हो जाती है तो अपने संयम का नाश न हो, संयम आदि की रक्षा हो जाए, इसके लिए पूरा प्रयत्न करता है; अतः व्रतादि की रक्षा के लिए किया गया प्रयत्न आत्मवध कैसे हो सकता है ?

सल्लेखनाधारी के जीवन और मरण दोनों में ही आसक्ति नहीं है। जिस प्रकार तपस्वी शीत उष्णजन्य सुख-दुःख को नहीं चाहता और यदि बिना चाहे सुख-दुःख आ जाते हैं तो वह रागद्वेष का अभाव होने से सुख दुःख कृत कर्मों का बन्धक भी नहीं होता है - उसी प्रकार अर्हत्प्रणीत सल्लेखना को करने वाला व्रती जीवन और मरण दोनों के प्रति अनासक्त रहता है, परन्तु यदि मरण के कारण उपस्थित हो जाते हैं तो रागद्वेष आदि न होने से उसे आत्म वध का दोष नहीं लगता है।

सल्लेखना आत्मघात क्यों नहीं है ?

मरणोऽवश्यं भाविनि कषाय सल्लेखनातनुकरणमात्रे।

रागादिमंतरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोस्ति ॥177॥

मरण के नियम से उत्पन्न होने पर कषाय सल्लेखना के सूक्ष्म करने मात्र में राग-द्वेष के बिना व्यापार करने वाले सल्लेखना धारण करने वाले पुरुष के आत्मघात नहीं हैं।

आत्मघाती कौन है ?

यो हि कषायाविष्टः कुम्भजलधूमकेतुविष शस्त्रैः।

व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः ॥178॥

निश्चय करके जो पुरुष कषाय से रंजित होता हुआ, कुम्भक, श्वांस रोकना, जल, अग्नि, विष और शस्त्रों के द्वारा प्राणों को नष्ट करता है उसके आत्मवध वास्तव में होता है।

सल्लेखना अहिंसा भाव है ?

नीयतेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।

सल्लेखनामपि ततः प्राहरहिंसा प्रसिद्धयर्थम् ॥197॥

इस सल्लेखना में हिंसा के कारणभूत कषाय जिस कारण सूक्ष्म किये जाते हैं इसलिये सल्लेखना को भी अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए कहते हैं।

सल्लेखना का प्रयत्न कब करना चाहिये ?

जरा, रोग और इन्द्रियों की विकलता के कारण अपनी आवश्यक क्रियाओं की हानि होने पर सल्लेखना धारण करनी चाहिये। अर्थात् जिस समय व्यक्ति शरीर को जीर्ण-शीर्ण करने वाली जरा से क्षीण-बल वीर्य हो जाता है और वातादि विकारजन्य रोगों के व्याप्त होने से उसकी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है तथा वह आवश्यक क्रियाओं के परिपालन में असमर्थ हो जाता है, इन्द्रिय बल के नष्ट हो जाने से मृतक के समान हो जाता है, उस समय बुद्धिमान् सावधान व्रती मरण के अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने पर प्रासुक भोजन-पान और उपवास आदि के द्वारा क्रमशः शरीर को कृश करता है और मरण पर्यन्त अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता हुआ शास्त्रीय विधि से सल्लेखना धारण करता है, वह उत्तमार्थ का आराधक होता है। अर्थात् जब शरीर और इन्द्रियाँ व्रतों को पालन करने में असमर्थ हो जाती हैं तब ज्ञानी व्रती सल्लेखना धारण करता है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतीकारे।

धर्माय तनुविमोचन माहुः सल्लेखनामार्याः ॥

गणधरादिक देव प्रतीकार रहित उपसर्गः दुष्काल, बुढ़ापा, और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं।

### सम्यकदर्शन के पाँच अतिचार

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।

(23)

There are 5 defects or partial transgressions अतिचाराः which should not be found in a man of right belief.

1. शंका - Doubt, Scepticism ;
2. कांक्षा - Desire of Sense-pleasures ;
3. विचिकित्सा - Disgust at anything e.g., with a sick or deformed

person ;

4. अन्यदृष्टिप्रशंसा - Thinking admiringly of wrong believers;

5. अन्यदृष्टिसंस्तव - Praising wrong believers.

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दृष्टि के पाँच अतिचार हैं:

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान से विचलित होना, अतिचरण होना अतिचार है। अतिचार और अतिक्रम ये एकार्थवाची हैं। ये शंकादि पाँच अतिचार सम्यग्दर्शन के हैं।

दर्शनविशुद्धि के प्रकरण में निःशंकित, निःकांक्षित आदि सम्यग्दर्शन के गुण कहे हैं। उनके प्रतिपक्षी शंका आदि पाँच अतिचार हैं। अर्थात् तत्त्व में शंका करना, संसार के भोगों की वाञ्छा करना, मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना, मिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा और वचन से संस्तुति करना। प्रश्न- संस्तवन और प्रशंसा में क्या विशेषता है? उत्तर- मन और वचन के विषयभेद से प्रशंसा और संस्तवन में भेद है। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान-चारित्रादि गुणों का मन से अभिनन्दन करना प्रशंसा है तथा वचनों से मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान एवं अविद्यमान गुणों का उद्भावन-कथन करना संस्तवन है; यह इन दोनों में भेद है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन के अंग आठ बताये हैं और उनके प्रतिपक्षी दोष भी आठ हो सकते हैं, परन्तु इन पाँचों में ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है। पाँच ब्रतों और सप्त शीलों के पाँच-पाँच अतिचार कहने की इच्छा वाले आचार्य ने 'प्रशंसा' और 'संस्तव' में शेष (वात्सल्य, प्रभावना और स्थितिकरण के विपरीत भाव) का अन्तर्भाव होने से सम्यग्दर्शन के भी पाँच ही अतिचार कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

यद्यपि यहाँ पर अगारी का प्रकरण है और आगे भी अगारी का प्रकरण रहेगा तथापि इस सूत्र में अगारी-गृहस्थ सम्यग्दृष्टि के अतिचार नहीं बताये हैं क्योंकि यहाँ सम्यग्दृष्टि का ग्रहण उभय (गृहस्थ एवं मुनि) अर्थ के लिए है। अर्थात् पुनः सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण करने से सामान्य सम्यग्दृष्टि (चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ) के ये अतिचार हैं।

## 5 व्रत और 7 शीलों के अतिचारों की व्याख्या व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्। (24)

There are 5 defects respectively in each of the 5 व्रत Vows and 7 शील Supplementary Vows which should be avoided.

व्रतों और शीलों में पाँच-पाँच अतिचार हैं जो क्रम से इस प्रकार हैं।

अहिंसा आदि पाँच व्रत कहलाते हैं और दिग्विरति, देशव्रत, अनर्थदंड विरत, सामयिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिणाम और अतिधिसंबिभाग ये सात शील कहलाते हैं। उन व्रतों और शीलों के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं, व्रत का एकदेश भंग होना अतिचार है।

यद्यपि दिग्विरति आदि शील की अभिसन्धि (संकल्प) पूर्वक निवृत्ति होने से व्रत ही है तथापि शील विशेष रूप से व्रतों के परिरक्षण के लिए होते हैं अतः 'शील' शब्द इस विशेष अर्थ का द्योतन करने के लिए है तथा शील के ग्रहण से दिग्विरति आदि का ग्रहण होता है अतः इनका 'पृथक्' शील शब्द से निर्देश किया है।

सामर्थ्य से इसमें गृहस्थ के व्रतों का संप्रत्यय (ज्ञान) होता है। यद्यपि इस सूत्र गृहस्थ और मुनि आदि विशेषण नहीं हैं तथापि आगे कहे जाने वाले वध, बन्धन, छेद आदि वचन के सामर्थ्य से ज्ञात होता है कि ये अतिचार गृहस्थों के व्रतों के हैं। अतः आगे अतिचार के सामर्थ्य से यहाँ गृहस्थ के व्रतों का ग्रहण होता है क्योंकि 'बन्धवधच्छेद'----- ये ग्रहस्थों के ही व्रतों के अतिचार हो सकते हैं, अनगार (मुनि) के नहीं।

### अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः। (25)

The partial transgressions of the first vow अहिंसा अणुव्रत are :

1. बन्ध - Tying up.
2. वध - Beating.
3. छेद - Mutilating
4. अतिभारारोपण - Overloading.

5. अन्नपाननिरोध - With-holding-food or drink from an animal or human being.

बन्ध, वध, छेद, अतिभार का आरोपण और अन्नपान का निरोध ये अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

**बन्ध-** अभिमत (इच्छित) देश (स्थान) में जाने के निरोध का कारण बन्ध है। अथवा इच्छित देश में जाने के उत्सुक के लिए उस गमन के प्रतिबन्ध के हेतु खूटे आदि में रस्सी से इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्ट देश में गमन न कर सके वह बंध कहलाता है।

**वध-** प्राणी-पीड़ा का कारण वध कहलाता है। डण्डा, कोड़ा, बेंत आदि से पीटना वध है न कि प्राणिहत्या, क्योंकि प्राणिहत्या से विरक्ति तो व्रतधारणकाल में ही हो चुकी है।

**छेद-** अन्न का अपनयन करना छेद है। कर्ण, नासिका आदि अवयवों का छेदन करना-नाश करना छेद कहलाता है।

**अतिभारारोपण-** उचित भार से अधिक भार लादना अतिभारारोपण है। अत्यन्त लोभ के कारण बैल, घोड़े आदि पर उचित भार से अधिक भार लादना अतिभारारोपण है।

**अन्नपाननिरोध-** भूख-प्यास की बाधा देना अन्नपाननिरोध है। उन गाय, भैंस, बैल आदि के लिए किसी कारण से भूख-प्यास की बाधा पैदा करना, उन्हें समय पर चारा-पानी नहीं देना अन्नपाननिरोध है। ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

### सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।

(26)

The partial transgressions of the second vow सत्याणुव्रत are :

1. मिथ्योपदेश - Preaching false doctrines.
2. रहोभ्याख्यान - Divulging the secret actions of man and woman.

3. कूटलेखक्रिया - Forgery and perjury.
4. न्यासापहार - Unconscientious dealing by means of speech.
5. साकारमंत्रभेद - Divulging what one guesses by seeing the behaviour or gestures of others, who are consulting in private.

मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्र भेद ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

**मिथ्योपदेश**— मिथ्या, अन्य प्रवर्तन या यथार्थ क्रियाओं का छिपाना मिथ्योपदेश है। अभ्युदय और निःश्रेयसार्थक क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति करा देना या उनके प्रति उलटी बात कहना मिथ्योपदेश कहलाता है।

**रहोभ्याख्यान**— संवृत (गुप्त) का प्रकाशन रहोभ्याख्यान है। स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकान्त में किये गये रहस्य (संकेत, बातचीत आदि) का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है ऐसा जानना चाहिये।

**कूटलेखक्रिया**— परप्रयोग से अनुक्त पद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया है। किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि 'उसने ऐसा कहा है या ऐसा अनुष्ठान किया है' इस प्रकार वञ्चन के निमित्त (ठगने के लिए) लेख लिखना कूटलेखक्रिया है।

**न्यासापहार**— हिरण्य आदि निक्षेप में अल्पसंख्या का अनुज्ञा वचन न्यासापहार है। सुवर्ण आदि गहना रखने वाले द्वारा भूल से अल्पशः (कम) माँगने पर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञा वचन कहना, उसका कम देना न्यासापहार नामक अतिचार कहलाता है।

**साकारमन्त्रभेद**— प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुप्त अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है। प्रयोजन, प्रकरण, अङ्गविकार अथवा भूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्षावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

### अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

स्तेनप्रयोगतदाहवादानविरूद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान

## प्रतिरूपकव्यवहारः । (27)

The Partial Transgressions of the third vow अचौर्याणुव्रत are :

1. स्तेनप्रयोग - Abetment of theft.
2. तदाहृतादान - Receiving stolen property.
3. विरुद्धराज्यातिक्रम - Illegal traffic e.g. by selling things at inordinate prices in time of war or to alien enemies, etc.
4. हीनाधिकमानोन्मान - False weights and measures.
5. प्रतिरूपक व्यवहार - Adulteration.

स्तेनप्रयोग, स्तेनआहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

**स्तेनप्रयोग**— चोर को चौर्य कर्म में स्वयं प्रयुक्त करना स्तेन प्रयोग है। अर्थात् - चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग (उपाय) बतलाना व दूसरे के द्वारा उसको चोरी में प्रयुक्त-प्रवृत्त कराना और उस चोरी की वा चोर की मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना, ये सब स्तेनप्रयोग हैं, ऐसा जानना चाहिए।

**तदाहृतादान**— चोर के द्वारा लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है। अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गए हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की है ऐसे चोर के, चोरी करके लाए हुए द्रव्य को खरीदना तदाहृतादान है; ऐसा जानना चाहिए।

**प्रश्न**— तदाहृतादान में क्या दोष है ?

**उत्तर**— चोरी का माल खरीदने (तदाहृतादान) से, पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिए। अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने से भी पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

**विरुद्धराज्यातिक्रम**— उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है। उचित न्यायभाग से अधिक भाग दूसरे उपायों से ग्रहण करना

अतिक्रम कहलाता है। विरूद्धराज्य (राज्य के नियमों के विरूद्ध) राज्यपरिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना। अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महाकीमत में देने का प्रयत्न करना विरूद्धराज्यतिक्रम है।

**हीनाधिकमानोन्मान-** क्रय-विक्रय प्रयोग में कूटप्रस्थ, तराजू आदि को हीनाधिक रखना होनाधिकमानोन्मान है। प्रस्थादि मान कहलाते हैं और तराजू आदि उन्मान। दूसरे को देते समय कम बाँटों (कम वजन वाले बाँटों) से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बाँटों का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान कहलाता है।

**प्रतिरूपक व्यवहार-** कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना प्रतिरूपक व्यवहार है। कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा चञ्चनापूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओं को असली वस्तु में मिलाकर दूसरों को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है। ये अदत्तादान विरति के पाँच अतिचार हैं।

### ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

परिविवाहकरणेत्वरिका

परिगृहीतापरिग्रहीतागमनानङ्गक्रीडा

कामतीव्राभिनिवेशः । (28)

The partial transgression of the fourth vow ब्रह्मचर्य are :

1. परिविवाहकरण - Bringing about the marriage of people who are not of one's own family.
2. इत्वरिकापरिग्रहीतागमन - Intercourse with a married immoral woman.
3. इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन - Intercourse with an unmarried immoral woman.
4. अनङ्गक्रीडा - Unnatural sexual intercourse.
5. कामतीव्राभिनिवेश - Intense sexual desire.

परिविवाहकरण, इत्वरिकापरिग्रहीतागमन, इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन,



अनङ्गक्रीडा और कामतीव्राभिनवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. **परिविवाहकरण**— साता वेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से कन्या के वरण को विवाह कहते हैं। दूसरे विवाह को परविवाह कहते हैं और पर के विवाह कराने को परविवाहकरण कहते हैं।

2. **अपरिगृहीताइत्वरिका**— अयनशील को इत्वरी कहते हैं। ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त गान, नृत्यादि कला और चारित्रमोह नामक स्त्री वेद के उदय से विशिष्ट अङ्गोपाङ्ग के लाभ से जो परपुरुषों को प्राप्त होती है, परपुरुषों को सेवन करती है; उनको अपने अधीन करती है, वह इत्वरी (व्याभिचारिणी स्त्री) कहलाती है और कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय करने से 'इत्वरिका' शब्द की निष्पत्ति होती है। अपरिगृहीता और परिगृहीता के भेद से इत्वरिका दो प्रकार की है। जो वेश्या रूप से वा पुंश्चली रूप से परपुरुषों को सेवन करती है, जिसका कोई स्वामी नहीं है वह अपरिगृहीता इत्वरिका है।

3. **परिगृहीता इत्वरिका**— जो एक पुरुष के द्वारा परिणीत है अर्थात् जिसका एक स्वामी विद्यमान है, वह फिर भी परपुरुषरमणशील है, वह परिगृहीता इत्वरिका है। इस प्रकार अपरिगृहीत और परिगृहीत इत्वरिकाओं से सम्बन्ध रखना, उनके यहाँ आना-जाना अपरिगृहीता इत्वरिकागमन अतिचार है।

4. **अनङ्गक्रीडा**— अङ्गों से क्रीडा अनङ्गक्रीडा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन) और स्त्री की योनि काम सेवन के अङ्ग हैं। उन अङ्गों को छोड़कर अन्यत्र अङ्गों में क्रीडा करना अनङ्गक्रीडा है। अर्थात् कामसेवन के योनि आदि अङ्गों के सिवाय अन्य अङ्गों में अनेकविध लिंग और योनि के विकार से कामातिरेकवश क्रीडा करना अनङ्गक्रीडा है।

5. **कामतीव्राभिनवेश**— काम का प्रवृद्ध परिणाम कामतीव्राभिनवेश है। काम की तीव्र प्रवृत्ति, सतत कामवासना से पीड़ित रहकर विषयसेवन में लगे रहना कामतीव्राभिनवेश है। ये पाँच स्वदार-संतोषव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) के अतिचार हैं।

**प्रश्न**— दीक्षिता, अतिबाला, तिर्याचिनी आदि का सेवन करना अतिचार है;

उनका ग्रहण इसमें क्यों नहीं किया ?

उत्तर— दीक्षिता, अतिबाला तथा पशु आदि में मैथुन वृत्ति करना कामतीव्राभिनवेश का फल है अतः कामतीव्राभिनवेश के ग्रहण से इसकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि छोड़ने योग्य दीक्षित ; अतिबाला, तिर्यचिनी आदि में मैथुन की वृत्ति कामतीव्राभिनवेश से ही होती है।

प्रश्न— इन अतिचार रूप कार्य करने में क्या दोष है ?

उत्तर— इन कार्यों के करने से राजभय, लोकापवाद, पापकर्मों का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

### परिग्रहपरिमाणानुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य

भाण्डप्रमाणातिक्रमाः । (29)

Transgressing the limit of fields, houses, silver, gold, cattle, corn, female and male servants, clothes.

क्षेत्र और वस्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दास और दासी के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य और भाण्ड के प्रमाण का अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अनुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. क्षेत्र— चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति का स्थान।
2. वास्तु— आगार, भवन, घर।
3. हिरण्य— चांदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तन्त्र को हिरण्य कहते हैं अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।
4. सुवर्ण— व्यवहार में आने वाला सोना प्रसिद्ध (ज्ञात) ही है।
5. धान्य— चावल, गेहूँ, मूंग, तिल आदि।
- 6.7. दासीदास— नौकर, स्त्री-पुरुष वर्ग।
8. कुप्य— कपास एवं कोसे आदि का वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ।
9. धन— गाय, बैल, अश्व आदि चतुष्पदिपशु समुह।

## 10. भाण्ड- पीतल, सुवर्ण, स्टील, लोक इत्यादि निर्मित भाजन समूह

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर इनकी मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणतिक्रम है। ये परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

### दिग्ब्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ! (30)

The partial Transgressions of the first गुणव्रत i.e. दिग्ब्रत are:

1. उर्ध्वव्यतिक्रम Higher than your limit ;
2. अधोव्यतिक्रम Lower than your limit ;
3. तिर्यग्व्यतिक्रम Other 8 directions beyond your limit ;
4. क्षेत्रवृद्धि To increase the boundaries ;
5. स्मृत्यन्तराधान Forgetting the limit in the vow.

उर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरतिव्रत के पाँच अतिचार हैं।

परिमित दिशाओं की अवधि (मर्यादा) का उल्लङ्घन करना अतिक्रम है। ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम के भेद से अतिक्रम तीन प्रकार का है।

ऊर्ध्वातिक्रम- मर्यादित पर्वत और सम भूमि आदि से ऊपर चढ़ना ऊर्ध्वातिक्रम है।

अधोऽतिक्रम- मर्यादित अधोभाग से अधिक कूपादि में नीचे उतरना अधोऽतिक्रम है।

तिर्यग्व्यतिक्रम- भूमि के बिल, गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा की उल्लङ्घन करना तिर्यग्व्यतिक्रम अतिचार है।

क्षेत्रवृद्धि- लोभकषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। पूर्व दिशा में योजन आदि के द्वारा मर्यादा करके पुनः लोभ

कषाय के कारण उस मर्यादा से अधिक दिशा की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि है, ऐसा जानना चाहिए इन दिशाओं की मर्यादा का उल्लङ्घन प्रमाद, मोह और चित्तव्यासंग से होता है, ऐसा जानना चाहिए।

## देशव्रत के अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । (31)

The partial transgressions of the second Gunavrata i.e. देशव्रत are :

- |                  |   |
|------------------|---|
| 1. आनयन          | Sending for something from beyond the limit.                                |
| 2. प्रेष्यप्रयोग | Sending some one out beyond the limit.                                      |
| 3. शब्दानुपात    | Sending one's voice out beyond limit e.g. by telephone.                     |
| 4. रूपानुपात     | Making signs for persons beyond the limit as the morse code with flags etc. |
| 5. पुद्गलक्षेप   | Throwing something material beyond the limit.                               |

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. आनयन— 'उसको लाओ' ऐसे आज्ञापन को आनयन कहते हैं। अपने संकल्पित देश से बाहर स्थित व्यक्ति को प्रयोजनवश कुछ पदार्थ लाने की आज्ञा देना आनयन है।

2. प्रेष्यप्रयोग— 'ऐसा करो' इस प्रकार का विनियोग प्रेष्यप्रयोग है। स्वीकृत देश की मर्यादा से बाहर स्वयं न जाकर और दूसरों को न बुलाकर भी प्रेष्य (नौकर) के द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्यप्रयोग है अर्थात् स्वयं तो नहीं जाना परन्तु दूसरे को भेजकर काम करवाना ही प्रेष्यप्रयोग है।

3. शब्दानुपात— अभ्युत खाँसी आदि करना शब्दानुपात है। मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले नौकरों का उद्देश्य लेकर खड़े होकर खाँसी या अन्य प्रकार से शब्द (हूँ हूँ----) करके नौकरों से कार्य कराना शब्दानुपात है।

4. रूपानुपात— अपने शरीर को दिखाना रूपानुपात है। 'मेरे रूप को (या मुझे) देखकर ये शीघ्र ही कार्य करेंगे' इस अभिप्राय से अपने शरीर को दिखाना रूपानुपात है ऐसा निर्णय किया जाता है।

5. पुद्गलक्षेप— पत्थर आदि का निपात पुद्गलक्षेप हैं। नौकर-चाकरों का उद्देश्य लेकर उनको संकेत करने के लिए कंकड़-पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप कहा जाता है। ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

### अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।.(32)

The partial transgression of the 'third Gunavrata' i.e. अनर्थदण्डव्रत are :

1. कन्दर्प Poking fun at another.
2. कौत्कुच्य Gesticulating and mischievous practical joking.
3. मौखर्य Gossip, garrulity.
4. असमीक्ष्याधिकरण Overdoing a thing.
5. उपभोगपरिभोगानर्थक्य Keeping too many consumable and non-consumable objects.

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डविरति व्रत के पाँच अतिचार हैं।

कन्दर्प— रागोद्रेक से प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प है। चारित्र मोह के उदय से अपादित राग के उद्रेक से हास्ययुक्त वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प कहा जाता है।

कौत्कुच्य— हास्य वचन और राग का उद्रेक - इन दोनों के साथ काय की दुष्ट चेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन चेष्टाओं में राग का समावेश होने से हास्य वचन और अशिष्ट वचन इन दोनों के साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। अर्थात् काय की कुचेष्टाओं के साथ-साथ होने वाला हास्य और

अशिष्ट प्रयोग कौत्कुच्य है।

**मौखर्य-** धृष्टतापूर्वक यद्वा-तद्वा बहुप्रलाप करना मौखर्य है। शालीनता का त्याग कर निर्लज्जता-पूर्वक बकवास करना मौखर्य है, ऐसा जानना चाहिए।

**असमीक्ष्याधिकरण-** मन, वचन और काय के भेद से अधिकरण तीन प्रकार का है।

**मानस अधिकरण-** निरर्थक काव्य आदि का चिंतन मानस अधिकरण है।

**वाचनिक अधिकरण-** निष्प्रयोजन परपीडादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना वाचनिक अधिकरण है।

**कायिक अधिकरण-** बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए, सचित्त एवं अचित्त पत्र, पुष्प, फलों का छेदन-भेदन, कुट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष, क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रिया की जाती है वह कायिक अधिकरण है। ये सर्व असमीक्ष्याधिकरण हैं अर्थात् मन-वचन-काय की निष्प्रयोजन चेष्टा असमीक्ष्याधिकरण है।

**भोगोपभोगानर्थक्य-** जितनी भोगोपभोग सामग्री से काम चल सकता है उससे अधिक निष्प्रयोजन सामग्री को आनर्थक्य कहते हैं। भोगोपभोग सामग्री का आनर्थक्य भोगोपभोगानर्थक्य कहलाता है।

### सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि । (33)

The partial transgressions of the first शिक्षाव्रत i.e. सामायिक are :

- |                     |   |
|---------------------|---|
| 1. मनोदुष्प्रणिधान  | Misdirection of mind during meditation.   |
| 2. कायदुष्प्रणिधान  | Misdirection of body during meditation.   |
| 3. वाक्दुष्प्रणिधान | Misdirection of speech during meditation. |
| 4. अनादर            | Lack of interest.                         |
| 5. स्मृत्यनुपस्थान  | Forgetting of due formalities.            |

काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान मनोयोगदुष्प्रणिधान अनादर

और स्मृत्युयोग का अनुपस्थान ये सामायिक व्रत के पाँच अतिचार हैं।  
**कायदुष्प्रणिधान-** दुष्प्रणिधान यानी अन्यथा प्रवर्तना। प्रविधान, प्रयोग और परिणाम ये एकार्थवाची हैं। दुष्ट जो पाप परिणाम उसे दुष्प्रणिधान कहते हैं।  
 अथवा योगों का अन्यथा प्रवर्तन योग-दुष्प्रणिधान है। क्रोधादि कषायों के वश होकर शरीर के अवयवों का विचित्र अनेक रूप विकृत-रूप हो जाना काय-दुष्प्रणिधान है।

**वाचनिक दुष्प्रणिधान-** वर्णसंस्कार का अभाव तथा अर्थ के आगमकत्व में चपलता अर्थात् निरर्थक अशुद्ध वचनों का प्रयोग करना वाचनिक दुष्प्रणिधान है।

**मानसिक दुष्प्रणिधान-** मन का अर्पितत्व होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नहीं लगना मानसिक दुष्प्रणिधान है।

**अनादर-** अनुत्साह को अनादर कहते हैं। कर्तव्य कर्म का जिस-किसी तरह निर्वाह करना अनादर या अनुत्साह है। अर्थात् सामायिक के प्रति उत्साह नहीं होना ही अनादर है।

**स्मृत्यनुपस्थान-** एकाग्रता का न रहना ही स्मृत्यनुपस्थान है। अनेकाग्रता असमाहित मनस्कता और स्मृत्यनुपस्थान ये सब एकार्थवाची हैं। अर्थात् चित्त की एकाग्रता न होना और मन में समाधिरूपता का न होना स्मृत्यनुपस्थान कहा जाता है।

### प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गदान संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

(34)

The partial transgression of the second शिक्षाव्रत i.e. प्रोषधोपवास are :

1. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग To excrete in a place without inspecting and without sweeping it.

2. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान

To take up or lay down things in a place without inspecting and without sweeping it.

3. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण

To spread a mat or seat in a place without inspecting and without sweeping it.

4. अनादर

Lack of interest.

5. स्मृत्यनुपस्थान

Forgetting of due formalities.

अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान में प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग- बिना देखे और बिना शोधी हुई भूमि पर मलमूत्रादि करना- अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्ग हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान- बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर अर्हन्त या आचार्य की पूजा के उपकरण का रखना, उठाना तथा गन्ध, माला, धूपादि का और अपने परिधान (बिछौना) आदि वा वस्त्र-पात्रादि पदार्थों का रखना, उठाना, ग्रहण करना आदि अप्रत्यवेक्षित प्रमार्जितादान है।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरो-पक्रमण:- बिना देखी वा बिना शोधी भूमि पर संस्तर (बिछौना) आदि बिछाना अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है।

अनादर:- आवश्यक क्रियाओं में अनुत्साह-अनादर है। भूख-प्यास आदि के कारण आवश्यक क्रियाओं में उत्साह नहीं रखना अनादर है।

स्मृत्यनुपस्थान :- रात्रि और दिन की क्रियाओं को प्रमाद की अधिकता से भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है, ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं।

## भोग उपभोग परिमाण के अतिचार

सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुष्पकाहाराः । (35)

The partial Transgression of the third शिक्षाव्रत i.e. उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत are:



1. सचित्ताहार taking living things e.g. green vegetable.
2. सचित्तसम्बन्धाहार taking any thing connected with a living things e. g. using a green leaf as a plate.
3. सचित्तसम्मिश्राहार Taking a mixture of living and non living things e. g hot with fresh water.
4. अभिषवाहार Taking ophrodisiacs or strengthening or exciting food.
5. दुःपक्वाहार Taking badly cooked food.

**सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्त सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोग परिभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।**

**सचित्त :-** चित्त के सहित सचित्त कहलाता हैं। चित्त नाम विज्ञान का है, विज्ञान नाम चेतना का है, इसलिए चेतना सहित द्रव्य को सचित्त कहते हैं।

**सचित्त सम्बन्ध :-** उस चित्त के साथ उपश्लिष्ट है, उसे सम्बन्ध कहते हैं। उस जीवसहित सचित्त द्रव्य से सम्बन्धित वस्तु को सचित्त सम्बन्ध कहते हैं। जो दूसरी वस्तु से संसर्ग करे संयोग करे, उसी का नाम सम्बन्ध है।

**सचित्तसंमिश्र :-** सचित्त के साथ व्यतिकीर्ण (व्याप्त) है, उसे सचित्तसंमिश्र कहते हैं। वा 'सम्मिश्रयते' अर्थात् सचित्त और अचित्त दोनों मिलकर एकमेक हो जाएँ, परस्पर भेद नहीं रहे, वह सचित्त संमिश्र कहलाता है।

प्रमाद तथा मोह के कारण क्षुधा, तृषा से पीड़ित व्यक्ति की जल्दी-जल्दी में सचित्त सम्बन्ध, सचित्त संमिश्र आदि में भोजन, पान अनुलेपन तथा परिधान (वस्त्रादि) आदि के लिए प्रवृत्ति हो जाती है।

अभिषव आहार द्रव और उत्तेजक भोजन को अभिषव कहते हैं। द्रव सिरका आदि और उत्तेजक, कामोद्दीपक पुष्टिकारक भोजन का आहार अभिषव कहलाता है।

**दुष्पक्व आहार :-** जो अच्छी तरह नहीं पका हुआ हो वह दुष्पक्व कहलाता है। जो चावल, दाल आदि ऊपर से पक गए हों पर भीतर नहीं पके हो अर्थात्

अच्छी तरह से पके हुए नहीं हों वा जिस खाद्य पदार्थ का अधिक पाक हो जाए, वह आहार दुष्पक्व कहलाता है।

दुष्पक्व भोजन से इन्द्रियों में मद की वृद्धि होती है। सचित्त वस्तु के खाने से वायु आदि दोषों का प्रकोप हो सकता है, फिर उनका प्रतिकार करने की क्रियाओं में पाप लगता है और अतिथि (मुनिगण) उसे ग्रहण नहीं करते हैं अतः वह त्याज्य है। ये पाँच उपभोगपरिभोगप्रमाण संख्यान व्रत के अतिचार हैं।

## अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमः । (36)

The partial transgression of the fourth शिक्षाव्रत i.e. अतिथिसंविभागव्रत are:

- |                  |  |
|------------------|--|
| 1. सचित्तनिक्षेप | Placing the food on a living thing<br>e.g. on a green plantain leaf. |
| 2. सचित्तापिधान  | Covering the food with a living thing.                               |
| 3. परव्यपदेश     | Delegation of host's duties to another.                              |
| 4. मात्सर्य      | Lack of respect in giving or envy of another donor.                  |
| 5. कालातिक्रम    | Not giving at the proper time.                                       |

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं।

- (1) सचित्तनिक्षेप – सचित्त पर रखा हुआ सचित्तनिक्षेप कहलाता है। सचित्त का लक्षण पहले कर दिया है। सचित्त कमल-पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु सचित्तनिक्षेप कहलाती है।
- (2) सचित्तापिधान – सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है। अपिधान आवरण ये एकार्थवाची हैं। प्रकरणवश सचित्त से ढकना सचित्तापिधान है।
- (3) परव्यपदेश – अन्य दाता का द्रव्य है, ऐसा कहकर अर्पण करना परव्यपदेश है। यह दूसरे स्थान पर है, यह देय पदार्थ भी दूसरे का है ऐसा कहकर अर्पण

करना परव्यपदेश है।

(4) **मात्सर्य** – अतिथि को आहार देते समय अनादर भाव रखना मात्सर्य है। आहार देते समय आदर भाव के बिना देना मात्सर्य कहलाता है।

(5) **कालातिक्रम** – अकाल में आहार देना कालातिक्रम है। अन्नगारों के अयोग्यकाल में आहार देना वा साधुओं के भिक्षाकाल को टाल देना कालातिक्रम कहा जाता है। ये अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार कहे हैं।

### सल्लेखना के अतिचार

जीवितमरणाशंसा मित्रानुराग सुखानुबन्धनिदानानि । (37)

The partial Transgression of सल्लेखना peaceful death are:

- |                |  |
|----------------|--|
| 1. जीविताशंसा  | Desire to prolong one's life.            |
| 2. मरणाशंसा    | Desire to die soon.                      |
| 3. मित्रानुराग | Attachment to friends                    |
| 4. सुखानुबन्ध  | Repeated remembrance of past enjoyments. |
| 5. निदान       | Desire of enjoyments in the next world.  |

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध, और निदान ये सल्लेखना के पाँच अतिचार हैं।

(1) **जीविताशंसा** – आकांक्षा को आशंसा कहते हैं। आकांक्षण, अभिलाषा और आशंसा ये एकार्थवाची हैं। जीवन की आकांक्षा करना जीविताशंसा है और मरण की अभिलाषा करना मरणाशंसा है।

अवश्य नष्ट होने वाले शरीर के अवस्थान में आदर जीविताशंसा है, यह शरीर अवश्य त्यागने योग्य है, जल के बुलबुले के समान अनित्य है। ऐसे इस शरीर की स्थिति किस प्रकार स्थिर रखी जाए? कैसे यह बहुत काल तक टिका रहे इत्यादि रूप से शरीर के ठहरने की अभिलाषा जीविताशंसा है, ऐसा जानना चाहिए।

(2) **मरणाशंसा** – जीवन के संक्लेश के कारण मरण के प्रति चित्त का अनुरोध मरणाशंसा है। रोगादि की तीव्र पीड़ा के कारण जीवन में क्लेश होने पर मरण के प्रति चित्त का प्रणिधान होना मरणाशंसा है। सल्लेखना धारण कर लेने

पर भी यदि ख्याति हो रही हो तो जीवन की अभिलाषा करना और शारीरिक पीड़ा के कारण मरने की इच्छा करना जीवितमरणाशंसा है।

(3) मित्रानुराग – पूर्वकृत, मित्रों के साथ धूलि में खेलने आदि का स्मरण मित्रानुराग है। अर्थात् बचपन में जिनके साथ धूलि में खेले हैं, जिन्होंने आपत्ति में सहायता दी है और सुख-उत्सव आदि में जो सहयोगी बने हैं उन मित्रों का स्मरण करना मित्रानुराग है।

(4) सुखानुबन्ध – पूर्वानुभूत प्रीतिविशेष का स्मृतिसमन्वाहार सुखानुबन्ध है। 'मैंने यह खाया, इस प्रकार के पलंग पर सोता था, इस प्रकार क्रीडा करता था' इत्यादि पूर्व भुक्त क्रीडा, शयन, भोग आदि का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहा जाता है।

(5) निदान – भोगों की आकांक्षा से जिसमें चित्त लगा दिया जाता है, वह निदान हैं। विषय सुखों की उत्कट अभिलाषा भोगाकांक्षा है। उस भोगाकांक्षा से जिसमें नियत रूप से चित्त लगा दिया जाता है वह निदान है, अर्थात् भविष्यत्काल में भोगों की वाञ्छा करना निदान है। ये पाँच सल्लेखनावृत के अतिचार हैं।

## दान का लक्षण

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। (38)

Charity is the giving off one's belongings for the good of one's self and of others.

अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

स्व और परोपकार के लिये अपने धन का त्याग करना दान है। स्व और पर का उपकार अनुग्रह है। स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। साधुओं को दान देने से दाता के पुण्य संचय होता है, या स्वोपकार है और शुद्ध आहार करने से साधुओं के ज्ञान-ध्यान की वृद्धि होती है, वह परोपकार है।

'स्व' शब्द धन का पर्यायवाची है। 'स्व' शब्द के आत्म आत्मीय ज्ञाति, धन आदि अर्थ होते हैं, परन्तु यहां पर 'स्व' शब्द का अर्थ धन का पर्यायवाचक ग्रहण करना चाहिये। स्व-पर का अनुग्रह करने लिए धन का त्याग करना दान है।

## दान में विशेषता विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः । (39)

The fruition of charity is different according to the difference in:

- |           |                             |
|-----------|-----------------------------|
| 1. विधि   | Manner.                     |
| 2. द्रव्य | Thing given.                |
| 3. दाता   | Person who gives and        |
| 4. पात्र  | Person to whom it is given. |

विधि, देय, वस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से उसकी विशेषता है। प्रतिग्रहादि क्रम को विधि विशेष कहते हैं। पात्र का प्रतिग्रह-पड़गाहना करना, उच्च स्थान देना, उसके पाद प्रक्षालन करना, पात्र की पूजा करना, नमस्कार करना, मन-वचन और काय की शुद्धि रखना और अन्न-जल का शुद्ध होना, इस नवधा-भक्ति को विधिविशेष कहते हैं।

(1) विधि विशेष— यहाँ विशेष गुणकृत है। अतः उसका सम्बन्ध प्रत्येक में अभिसम्बन्धित है। परस्पर की विशेषता को विशिष्ट अथवा विशेष कहते हैं। यह विशेषता गुणकृत होती है अतः विशेष का सम्बन्ध प्रत्येक में लगाना चाहिये। जैसे- विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दातृ विशेष और पात्र विशेष। प्रतिग्रह आदि क्रियाओं में आदर विशेष ही विधिविशेष है; क्योंकि प्रतिग्रह आदि में आदर-अनादर कृत ही भेद होता है।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।

वाक्कायमनः शुद्धि रेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥(168)

पु.सि.

उत्तम पात्रों का भले प्रकार समीचीन रीति से ग्रहण करना, इसी का नाम प्रतिग्रहण-पड़गाहन भी है उन्हें ऊँचा आसन देना उनके पाद प्रक्षालन करना उनकी पूजा करना और प्रणाम करना, वचनशुद्धि रखना, कायशुद्धि रखना, मन शुद्धि रखना और एषणाशुद्धि रखना अर्थात् आहार की शुद्धि रखना इसको दान देने की विधि कहते हैं।

(2) द्रव्य विशेष — तप, स्वाध्याय की परिवृद्धि का कारण द्रव्य विशेष है। दिये जाने वाले अन्न आदि में ग्रहण करने वाले (साधुजनों) के तप, स्वाध्याय

के परिणामों की वृद्धि कारण भूतता है, वा जो ग्रहण करने वाले के तप, स्वाध्याय, ध्यान और परिणामों की शुद्धि आदि की वृद्धि का कारण हो, वह द्रव्य विशेष कहा जाता है।

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।  
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥(170)  
पु.सि.

जो राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख भय आदि को नहीं करता है सुतप करने में, स्वाध्याय करने में जो वृद्धि करने वाला हो वही द्रव्य देने योग्य है।

(3) दातृ विशेष - जनसूया, अविषाद आदि दातृ विशेष हैं। पात्र के प्रति ईर्ष्या का नहीं होना, त्याग में विषाद नहीं होना, देने की इच्छा करने वाले में या देने वाले में वा जिसने दान दिया है उन सब में प्रीति होना, कुशल अभिप्राय होना, प्रत्यक्ष फल की आकाङ्क्षा नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना और निदान नहीं करना दातृ विशेष है।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षांतिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।  
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥(169)  
पु.सि.

इस लोकसम्बन्धी एवं परलोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा नहीं करना, क्षमाभाव धारण करना, मायाचार नहीं रखना, ईर्ष्या भाव नहीं रखना, किसी भी कारण से विषाद-खेद नहीं करना और हो जाने पर इस बात का हर्ष मनाना कि मुझे आज बहुत फायता हो गया। अहंकार-मान नहीं करना इस प्रकार निश्चय से दाता गुण सम्पन्न होना आवश्यक है।

(4) पात्र विशेष - मोक्ष मे कारण-भूत गुणों का संयोग जिसमें होता हो वह पात्र विशेष है। मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से जो युक्त है अर्थात् मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शनादि गुण जिसमें पाये जाते हैं वह पात्र विशेष है।

पात्रं त्रिभेदयुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।  
 अविरतसम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥(171)  
 पु.सि.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र इनका जिनमें संयोग हो ऐसे, अविरतसम्यग्दृष्टि-चतुर्थगुणस्थानवर्ती, विरताविरत-देशविरत पंचमगुणस्थानवर्ती और सकलविरत-छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज इस प्रकार पात्र तीन प्रकार के कह गये हैं।

पृथ्वी, जल आदि विशेष से जैसे बीज के फल में विशेषता होती है वैसे ही विधिविशेष आदि से फल विशेष की प्राप्ति होती है। जैसे भूमि, बीज आदि कारणों में गुणवत्ता (विधिविशेषादि) होने से फल विशेष की प्राप्ति होती है अर्थात् अत्यधिक फलोत्पत्ति देखी जाती है। नाना प्रकार से बीजों की उत्पत्ति होना उसका विशेष है। उसी प्रकार विधिविशेष, दातृ विशेष, द्रव्यविशेष और पात्रविशेष से दान के फल में विशेषता आती है।

### अभ्यास प्रश्न :-

1. व्रत की परिभाषा लिखें ?
2. देशव्रत एवं महाव्रत किसे कहते हैं ?
3. व्रतों की स्थिरता के लिए क्या करना चाहिए ?
4. अहिंसा व्रत की पाँच भावनायें क्या-क्या हैं ?
5. सत्य व्रत की भावनायें क्या-क्या हैं ?
6. अचौर्य व्रत की स्थिरता के लिए कौन सी भावना करना चाहिए ?
7. ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनायें क्या-क्या हैं ?
8. परिग्रह त्याग की पांच भावनायें कौन-कौन सी हैं ?
9. पांचों पापों के बारे में क्या विचार करना चाहिए ?
10. पांचों पाप दुःख स्वरूप क्यों हैं ?
11. विभिन्न जीवों के प्रति कैसी-कैसी भावना करनी चाहिए ?
12. संसार और शरीर के स्वभाव का विचार क्यों करना चाहिए ?
13. हिंसा की परिभाषा क्या है ?
14. हिंसा एवं अहिंसा का विशेष वर्णन करो ?

15. असत्य का लक्षण क्या है ?
16. असत्य का विशेष वर्णन करो ?
17. चोरी की परिभाषा क्या है ?
18. अब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ?
19. परिग्रह पाप का लक्षण क्या हैं ?
20. परिग्रह से हिंसा क्यों होती है ?
21. जीव व्रती कब होता है ?
22. सात शीलव्रत की परिभाषा लिखों ?
23. सल्लेखना कब धारण करना चाहिए ?
24. सल्लेखना से आत्महत्या क्यों नहीं होती है ?
25. सम्यग्दर्शन के अतिचार क्या-क्या हैं ?
26. सत्याणुव्रत के अतिचार क्या-क्या हैं ?
27. अचौर्यव्रत के अतिचार क्या-क्या हैं ?
28. ब्रम्हचर्य व्रत के अतिचार क्या-क्या हैं ?
29. अनर्थदण्ड व्रत के अतिचारों का वर्णन करो ?
30. सामायिक व्रत के अतिचार क्या-क्या हैं ?
31. दान का लक्षण क्या है ?
32. दान में विशेषता कैसे आती है ?

परम्परा-रूढ़ि में निहित सत्य-तथ्य का शोध-बोध करना ही युग पुरुषों का कर्तव्य है।

जो किसी भी प्रकार अनुचित बन्धन को स्वीकार नहीं करते हैं वे ही दुनियाँ के लिए आदर्श बनते हैं।



## अध्याय 8

### बन्धतत्त्व का वर्णन

#### BONDAGE OF KARMA

#### बन्ध के कारण

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः।(1)

Wrong-belief, non abstinence, negligence, passions and activities are the cause of bondage.

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग ये बन्ध के हेतु है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत सप्त तत्त्व में से पहले जीव-अजीव, आस्रव का वर्णन पहले अध्याय से लेकर सप्तम अध्याय तक किया गया है। क्रम प्राप्त बन्ध तत्त्व का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। सप्तम अध्याय में वर्णित कर्म परमाणुओं का आस्रव के बाद जीव के साथ कर्म परमाणुओं का जो संश्लेष सम्बन्ध होता है उसे बंध कहते हैं। इसलिए बन्ध चेतन (जीव) और अचेतन (अजीव, कर्मपरमाणु) द्रव्यों का परिणाम, परिणमन पर्याय या अवस्था विशेष है। मुख्यतः ये बन्ध दो प्रकार के हैं (1) भावबन्ध (2) द्रव्य बन्ध। भावबन्ध पूर्वक ही द्रव्य बंध होता है। इसलिए भावबन्ध का वर्णन इस सूत्र में किया है। वह भाव बन्ध नोकर्मबन्ध, कर्मबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नो कर्म बन्ध है। जो कर्म बन्ध है वह कर्म बन्ध अभव्य की अपेक्षा सन्तति परम्परा से अनादि अनंत है और भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है। भव्य की अपेक्षा भी जब तक भव्य मोक्ष नहीं जाता है तब तक उसकी कर्म बन्ध की परम्परा अनादि से है।

बंध प्रकरण में कर्मबन्ध का वर्णन नहीं करके बन्ध के हेतुओं का वर्णन पहले किया गया है क्योंकि कारण पूर्वक कार्य होता है। यदि बन्ध बिना हेतुओं से होता है तब मोक्ष भी कभी नहीं हो सकता है। इसलिये सर्व प्रथम उन्हीं हेतुओं का वर्णन किया जायेगा।

बन्ध के कारण सामान्य रूप से उपयोग एवं योग है। यहाँ उपयोग का वैभाविक परिणमन है, जीव जब स्वस्वभाव को छोड़कर वैभाविक रूप में परिणमन

करता रहता है तब विभिन्न कर्म को बांधता है। मध्यम प्रतिपत्ति से बन्ध के 5 कारण बताये गये हैं। यथा - (1) मिथ्यादर्शन (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय (5) योग

“तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” यथा १ तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यादर्शन इससे विपरीत है। अर्थात् “अतत्त्वार्थ श्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्” अतत्त्वों का श्रद्धान करना या तत्त्वों का श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है। बन्ध प्रकरण में बन्धों के कारण बतलाते हुए मिथ्यादर्शन को पहले ग्रहण करने का कारण यह है कि मिथ्यादर्शन समस्त बन्ध कारणों में से प्रधान एवं प्रथम कारण है। मिथ्यात्व को आगम शास्त्र में अनंत संसार का कारण होने से अनन्त कहा गया है और उसके साथ रहने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ को अनन्तानुबन्धी कहा गया है। अनादि मिथ्यादृष्टि जब एक बार भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब उसका अनन्त संसार का विच्छेद हो जाता है केवल अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परिवर्तन संसार रह जाता है यदि वह चरम शरीरी है तो तद्भव में मोक्ष जा सकता है इसलिए समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है—

न सम्यक्त्व समं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।  
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥(34)

—र.श्रावकाचार

प्राणियों के तीन कालों और तीन लोक में भी सम्यग्दर्शन के समान कल्याणरूप और मिथ्यादर्शन के समान अकल्याणरूप अन्य वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद अनेक पाप प्रकृतियों का बंध नहीं होता है, यथा -

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यङ्मनपुंसकस्त्रीत्वानि।  
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका ॥(35)

सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रत रहित होने पर भी नारक, तिर्यच, नपुंसक और स्त्रीपने को तथा नीच कुल, विकलांग अवस्था, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता।

मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में 16 पाप प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता

है यथा -

मिच्छत्तहुंडसंढाऽसंपत्तेयम्ब्रथावरादावं ।

सुहृमतिर्यं वियलिन्दिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छं ॥ (95)

(गो. सा. कर्मकाण्ड)

1. मिथ्यात्व 2. हुण्डक संस्थान 3. नपुंसकवेद 4. असंप्राप्तासुपाटिका  
संहनन 5. एकेन्द्रिय जाति 6. स्थावर 7. आतप 8. सूक्ष्मादि तीन अर्थात् सुक्ष्म,  
9. अपर्याप्त 10. साधारण, विकलेन्द्रिय तीन अर्थात् 11. दो इन्द्रिय 12. तीन  
इन्द्रिय 13. चौ इन्द्रिय 14. नरक गति 15. नरकगत्यानुपूर्वी 16. नरकायु। ये  
सोलह प्रकृतियाँ हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत समय में इनकी बंध व्युच्छिति  
हो जाती हैं। अर्थात् मिथ्यात्व से आगे के गुणस्थानों में इनका बंध नहीं होता।  
तत्त्वार्थ सार में बंध का विशेष वर्णन निम्न प्रकार किया है -

बन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयम।

प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः ॥ (2)

अध्याय 5 पृ. 140

मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के पाँच हेतु जिनेन्द्र  
भगवान के द्वारा कहे गये हैं।

### मिथ्यात्व के पाँच भेद

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च।

आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत् ॥ (3)

ऐकान्तिक, सांशयिक, विपरीत, आज्ञानिक और वैनयिक ये मिथ्यात्व  
के पाँच भेद हैं।

### 1 ऐकान्तिकमिथ्यात्व का लक्षण

यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः।

इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते ॥ (4)

जिसमें धर्म और धर्मी के विषय में 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का  
एकान्त अभिप्राय होता है वह ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

## II सांशयिकमिथ्यात्व का लक्षण

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः ।

इति यत्र मतिद्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत् ॥(5)

‘जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ अहिंसादि लक्षण धर्म है या नहीं’ इस प्रकार की जिसमें बुद्धि का भ्रम रहता है वह सांशयिकमिथ्यात्व है।

## III विपरीतमिथ्यात्व का लक्षण

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली ।

रूचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥(6)

परिग्रह सहित भी गुरू होता है और केवली कवलाहारी होता है इस प्रकार की जिसमें श्रद्धा होती है वह विपरीतमिथ्यात्व है।

## IV आज्ञानिकमिथ्यात्व का लक्षण

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम् ।

यथा पशुवधो धर्मस्तदाज्ञानिकमुच्यते ॥(7)

जिसमें हित और अहित के विवेक का अत्यन्त अभाव होता है, जैसे पशुवध धर्म है, वह आज्ञानिकमिथ्यात्व कहा जाता है।

## V वैनयिकमिथ्यात्व का लक्षण

सर्वेषामपि देवानां समयानां च तथैव च ।

यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत् ॥(8)

जिसमें सभी देवों और सभी धर्मों को समान देखा जाता है उसे वैनयिकमिथ्यात्व जानना चाहिए।

## बारह प्रकार का असंयम

षड्जीवकायपञ्चाक्षमनोविषयभेदतः ।

कथितो द्वादशविधः सर्वविन्द्रिरसंयमः ॥(9)

छहकाय के जीव तथा पाँच इन्द्रिय और मनसम्बन्धी विषय के भेद से सर्वज्ञ भगवान् ने बारह प्रकार का असंयम कहा है।

पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकार के स्थावर तथा त्रस इन छह काय के जीवों का घात करना तथा स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों में पृवृत्ति करना इस तरह बारह प्रकार का असंयम होता है।

### प्रमाद का लक्षण

शुद्धयष्टके तथा धर्मै क्षान्त्यादिदशलक्षणे।

योऽनुत्साहः स सर्वज्ञे प्रमादः परिकीर्तितः॥(10)

आठ शुद्धि तथा क्षमा आदि दश लक्षणों से युक्त धर्म के विषय में जो अनुत्साह है वह सर्वज्ञ भगवान के द्वारा प्रमाद कहा गया है।

भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयनासन, प्रतिष्ठापन और वाक्य के भेद से शुद्धि के आठ भेद हैं। तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य के भेद से धर्म के दश भेद हैं। इन आठ प्रकार की शुद्धियों तथा दश प्रकार के धर्मों में उत्साह न होना प्रमाद कहलाता है।

### पच्चीस कषाय

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः।

ईषद्धेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः॥(11)

सोलह कषाय और नौ नोकषाय कही गई हैं। इनमें जो थोड़ा भेद है वह नहीं लिया जाता है इसलिए दोनों मिलाकर पच्चीस कषाय कहलाती है।

### पन्द्रह योग

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्धोगानां चतुष्टयम्।

पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगाः पञ्चदशोदिताः॥(12)

चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये हैं।

इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पाँचों मिलकर या पृथक्-पृथक् बन्ध के हेतु हैं। खुलासा इस प्रकार है— मिथ्यादृष्टि जीव के पाँचों ही मिलकर बन्ध के हेतु हैं। सासादनसाम्यदृष्टि, साम्यमिथ्यादृष्टि और अविरत साम्यदृष्टि

के आदि के चार बन्ध के हेतु हैं। संयतासंयत के विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के हेतु हैं। प्रमत्तसंयत के प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्ध के हेतु हैं। अप्रमत्तसंयत आदि चार के योग और कषाय ये दो बन्ध के हेतु हैं। उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और संयोगकेवली इनके एक योग ही बन्ध का हेतु हैं। अयोगकेवली के बन्ध का हेतु नहीं है।

### बन्ध का लक्षण

**सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यानुद्गलानादत्ते स बन्धः। (2)**

The soul owing to its being with passion, assimilates matter which is fit to form karmas. This is बन्ध bondage.

कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है।

जीव के साथ कर्म बंध होने के लिये पुद्गलों के बंध योग्य गुणों के साथ-साथ जीव में भी बन्ध होने योग्य गुणों की आवश्यकता अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य उपादान कारण (अन्तरंग कारण, मुख्य कारण) निमित्त कारण (बहिरंग कारण-गौण कारण) के समवाय से ही होता है। अतः कर्म वर्गणा में स्निग्धत्व-रुक्षत्व गुण होने पर भी जीव में स्निग्धत्व (राग आकर्षण-धन आवेश) रुक्षत्व (द्वेष-विकर्षण ऋण आवेश) गुण नहीं होने पर जीव के साथ कर्मबन्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि जो कार्य जितने कारणों से सम्पादन होता है उसके एक भी कारण के अभाव में वह कार्य नहीं हो सकता है। यदि ऐसा होवे तो सम्पूर्ण कर्म कलंक से रहित सिद्ध भगवान को भी कर्म बन्ध होने लगेगा और वे संसारी हो जायेंगे। इतना ही नहीं अमूर्तिक शुद्ध आकाश, धर्म, अधर्म, एवम् काल को भी कर्म बन्ध होने लगेगा और वह भी अशुद्ध होकर संसारी हो जावेगा। परन्तु यह होना कष्ट साध्य नहीं अपितु असंभव ही है।

चुम्बक अपने चुम्बकीय क्षेत्र में स्थित लोह खण्ड को आकर्षित करता है परन्तु उस क्षेत्र में स्थित पत्थर लकड़ी आदि को आकर्षित नहीं करता है। इससे सिद्ध होता कि चुम्बक में आकर्षण करने की शक्ति है तथा लोहे में आकर्षित होकर आने की शक्ति है। उपरोक्त दोनों शक्तियों में से एक भी

शक्ति के अभाव में परस्पर में आकर्षण एवम् आकर्षित नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार पुद्गल वर्गणा में बन्धने की शक्ति होने पर भी संसारी जीव में बांधने की शक्ति नहीं हो तो कर्म बन्ध नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि, अनादि काल से जीव कर्म बन्ध से सहित होने के कारण मूर्तिक एवम् राग द्वेष से सहित है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार में निम्न प्रकार किया है।

आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मट्ट सार कर्मकाण्ड में कहे हैं:-

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।  
पडिसमयं सव्वंगं तत्ताय सपिंडओव्व जलं ॥(3)

**कर्मकाण्ड**

यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली कर्म वर्गणाओं को तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियक (3) आहारक (4) तैजस; रूप होने वाली नौ कर्म वर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण करता है, जैसा कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।  
कम्मादपदेसाणं अण्णोणपवेसणम् इदरो ॥(32)

**द्रव्यसंग्रह**

जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है वह तो भावबन्ध है, और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकाकार होने रूप दूसरा द्रव्य बन्ध हैं।

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।  
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥(175)

**प्रवचनसार**

जो उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता

है, अथवा द्वेष करता है, उनके द्वारा बन्ध रूप है।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।  
जोगा पयडि पदेसा ठिदिअणुभागा कषाय दो होंति ॥(33)

द्र. संग्रह

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। इनमें योगों से प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध होते हैं, और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बन्ध होते हैं।

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।  
पविसंति जहाजोगं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति ॥

(गा. 178 प्र.सा.)

वह आत्मा सप्रदेशी है उन प्रदेशों में पुद्गल समूह प्रवेश करते हैं यथायोग्य होते हैं, निकलते हैं और बन्धते हैं।

मन, वचन, काय वर्गणा मे आलम्बन से और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा के प्रदेशों में सकम्पना (परिस्पन्दन) होता है उसको योग कहते हैं। उस योग के अनुसार, कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल कर्म आस्रव रूप होकर अपनी स्थिति पर्यन्त ठहरते हैं तथा अपने उदय काल को पाकर फल देकर खिर जाते हैं। तथा केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रगटता रूप मोक्ष से प्रतिकूल बन्ध के कारण रागादिकों का निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबन्धरूप से बन्ध जाते हैं। इससे यह बताया गया है कि, रागादि परिणाम ही द्रव्य बन्ध का कारण है अथवा इस गाथा से दूसरा अर्थ यह कर सकते हैं कि “सविशन्ति” शब्द से प्रदेश बन्ध ‘निष्ठन्ति’ से स्थिति, बन्ध “जंति” से फल देकर जाते हुये अनुभाग बन्ध और “बद्धयन्ते” से प्रकृतिबन्ध ऐसे चार प्रकार बन्ध को समझना।

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादिहिं।  
अण्णोण्णमवगाहो पुग्गल जीवप्पगो भणिदो ॥(177)

स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध, रागादि के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक बन्ध कहा गया है।



जीव के रागादि भावों के निमित्त से नवीन पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का पूर्व में जीव के साथ बंधे हुये पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे गुण रूप उपादान कारण से जो बन्ध होता है उसको पुद्गल बन्ध कहते हैं। वीतराग परम चैतन्य रूप निज आत्म तत्त्व की भावना से शून्य (रहित) जीव का जो रागादि भावों में परिणमन करना सो जीव बन्ध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित होने के कारण स्निग्ध-रूक्ष की जगह राग-द्वेष में परिणमन होते हुये जीव का बन्ध योग्य स्निग्ध-रूक्ष परिणामों में परिणमन होने वाले पुद्गल के साथ जो परस्पर अवगाह रूप बन्ध है वह जीव पुद्गल का परस्पर बन्ध है। इस तरह तीन प्रकार बन्ध का लक्षण जानने योग्य हैं।

बन्ध के संक्षिप्त कारण बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी पुनः कहते हैं “रतो बंधदि कम्म” अर्थात् रागी जीव कर्म को बांधता है।

सामान्यतः राग एक प्रकार होते हुए भी उसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। तब द्रव्यबन्ध में भेद-प्रभेद हो जाते हैं। यथाः—

**परिणामादो बंधो परिणामो रागदोस मोह जुदो।**

**असुहो मोहपदेशो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥(180)**

परिणाम से बन्ध होता है, वह परिणाम राग द्वेष मोह युक्त है। मोह और द्वेष अशुभ हैं राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

### **बन्ध के भेद**

**प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः । (3)**

There are 4 kinds of that bondage according to

- |            |  |
|------------|--|
| 1. प्रकृति | Nature of karmic matter  |
| 2. स्थिति  | Duration of the attachment of karmic matter to the soul.                   |
| 3. अनुभव   | The fruition being strong or mild also called अनुभाग Anubhage.             |
| 4. प्रदेश  | The number of karma verganas or karmic molecules which attach to the soul. |

उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये चार भेद हैं।

सामान्य दृष्टि से यह बन्ध एक होते हुए भी विशेष दृष्टि से इसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। द्रव्यबन्ध, भावबन्ध के भेद से दो भेद, कर्मबन्ध, नोकर्म-बन्ध, भावबन्ध के भेद से तीन प्रकार के हैं- (1) प्रकृतिबन्ध (2) स्थितिबन्ध (3) अनुभव (अनुभाग) प्रदेशबन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार के हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म के भेद से बन्ध आठ प्रकार के भी हैं। 148 (एक सौ अड़तालीस) भेद रूप कर्म की अपेक्षा बन्ध 148 प्रकार के भी हैं। परन्तु मुख्यतः प्रकृति आदि 4 प्रकार के बन्ध भेदों का वर्णन यहाँ पर किया है।

1. प्रकृति बन्ध :- प्रकृति और स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द हैं, जैसे-नीम की प्रकृति क्या है? नीम का स्वभाव तिक्तता है, गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है। अर्थात् नीम की प्रकृति कड़ुआपन है और गुड़ की प्रकृति मधुरता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय की प्रकृति अथवा स्वभाव है अर्थज्ञान नहीं होने देना, अतः प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार दर्शनावरणीय की प्रकृति (स्वभाव) है अर्थ पदार्थ का दर्शन नहीं करने देना, वेदनीय का स्वभाव है सुख दुःख का संवेदन कराना, दर्शन मोहनीय की प्रकृति है तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होने देना, चारित्र मोहनीय की प्रकृति है असंथम परिणाम, आयु का स्वभाव भव-धारण करना, नामकर्म की प्रकृति है नारक, तिर्यञ्च आदि नाम व्यवहार करना, गोत्र का स्वभाव है ऊँच-नीच का व्यवहार करना तथा अन्तराय कर्म का स्वभाव है दानादि में विध्न करना। इस प्रकार के कार्य जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे किये जाते हैं, वह प्रकृति बन्ध हैं और उपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है।

2. स्थिति बन्ध - उस स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है। अर्थात् उस स्वभाव की अप्रच्युति स्थिति कहलाती है। जैसे-बकरी, गाय, भैंसादि के दूध का माधुर्य स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृति का अपने अर्थानिवगम (अर्थों का ज्ञान नहीं होने देना) वेदना आदि स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है।

3. अनुभाग बन्ध - कर्मों के रसविशेष (फलदान शक्ति-विशेष) को अनुभाग बन्ध कहते हैं। जैसे-बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र-मन्द आदि भाव से रसविशेष होता है। अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उनमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है, उसी प्रकार कर्मपुद्गलों की स्वकीय फलदान

शक्ति के सामर्थ्यविशेष को अनुभव/अनुभाग बन्ध कहते हैं।

4. प्रदेश बन्ध – कर्मरूप से परिणत पुद्गलस्कन्धों के परमाणुओं की गणना को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह में इन बन्ध के हेतु का कथन किया है।

पयडिडिदि अणुभागाप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥(33)

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के कारण से होता है अर्थात् स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध कषाय हेतुक हैं, ऐसा जानना चाहिए। इन कषायों के तारतम्य से स्थिति और अनुभाग में विचित्रता आती है, क्योंकि कारण के अनुरूप की कार्य होता है।

**प्रकृति बन्ध का वर्णन-प्रकृति के मूल भेद**

**आद्यो ज्ञानदर्शनावरण वेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः । (4)**

The main divisions of the nature of karmic matter are 8:

- |              |                      |
|--------------|----------------------|
| 1. ज्ञानावरण | Knowledge-obscuring. |
| 2. दर्शनावरण | Contain-obscuring.   |
| 3. वेदनीय    | Feeling-Karma.       |
| 4. मोहनीय    | Deluding.            |
| 5. आयु       | Age.                 |
| 6. नाम       | Body- making.        |
| 7. गोत्र     | Family- determining. |
| 8. अन्तराय   | Obstructive.         |

पहला अर्थात् प्रकृति बन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप हैं।

**(1) कर्मों के स्वभाव (प्रकृति-बन्ध)**

जीव के परिस्पन्दन से आकर्षित होकर अनन्तानंत पुद्गल परमाणुओं के समूह स्वरूप कार्माण वर्णाणै आकर जीव के आत्म-प्रदेश में प्रवेश करती हैं इसको जैन दार्शनिक शब्दावली में आम्रव कहते हैं। जीव के उपयोग (रागद्वेष,

मोह, अध्यवसाय) को निमित्त प्राप्त करके कर्म वर्गणाएँ जीव के प्रदेशों में संक्लेश रूप से बँध जाती हैं। इसको जैन दर्शन में कर्म बन्ध कहते हैं। सामान्य अपेक्षा से कर्म वर्गणाएँ एक होते हुए भी जीव के विभिन्न प्रकार के योग-उपयोग को प्राप्त करके विभिन्न कर्म रूप में परिणमन कर लेती है। जैसे- मनुष्य के द्वारा भुक्त भोजन मनुष्य की विभिन्न पाचन क्रियाओं को प्राप्त करके रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज, रूप परिणमन कर लेता है, उसी प्रकार कर्म वर्गणाएँ भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नामकर्म, गोत्र, अन्तराय आदि रूप में परिणित हो जाती है। जैसे एक प्रकार की भूमि में अंकुरित विभिन्न वृक्ष एक ही प्रकार के जल, वायु, सूर्य किरणों को प्राप्त करने पर भी विभिन्न वृक्ष में रसादि का परिणमन विभिन्न प्रकार होता है। नीम के वृक्ष को निमित्त पाकर कड़वा, गन्ने को प्राप्त होने पर मीठा, इमली में खट्टा, मिरची में चरपरा, आदि विभिन्न रस रूप परिणमन कर लेते हैं।

### 1. ज्ञानावरणी

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मल विमेलणाच्छण्णो ।

अण्णाणं मलोच्छण्णं तह णाणं होदिणादब्बं ॥(65)

(समयसार)

As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with, dirt, so let it be know that right knowledge is destroyed, when clouded by nescience.

मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञानरूपी मल से (ज्ञानावरण कर्म से) दबकर नष्ट हो जाता है।

जैसे-दर्पण के ऊपर धूली लगने से दर्पण की स्वच्छता छिप जाती है या सूर्य के सन्मुख बादल आने पर सूर्य की रश्मि छिप जाती है। भगवान के सामने वस्त्र रहने पर भगवान का रूप ढक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को ढक देता है।

## 2. दर्शनावरणीय

सामान्य सत्ता अवलोकन अन्तः चेतना रूपी प्रकाश को आवरण करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है। जैसे- द्वारपाल, राजा, मन्त्री आदि मालिक को देखने नहीं देता है अर्थात् देखने के लिए रोक देता है। उसी प्रकार यह कर्म वस्तु का सामान्य अवलोकन रूप दर्शन नहीं होने देता है।

## 3. वेदनीय

अक्खाणं अणुभवनं वेयाणियं सुहसरूवयं सादं।  
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं॥(14)  
(गो. कर्मकाण्ड)

इन्द्रियों का अपने- अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें दुःख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है। उस सुख-दुख का अनुभव जो करावे वह वेदनीय कर्म है।

जो कर्म वेदन किया जाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इस अपेक्षा सभी कर्म वेदन किए जाते हैं इसीलिए सभी कर्म वेदनीय होने पर भी विशेष रूप से संसारी जीव सुख-दुःख का अधिक रूप से वेदन करता है इसलिए सुख-दुःख को देने वाले कर्म को 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। दूसरी बात यह है कि, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म के भेद जो रागद्वेष हैं उनके उदय के बल से ही घातियाँ कर्मों की तरह जीवों का घात करता है। अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में रति (प्रीति) और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख तथा दुःख स्वरूप साता और असाता का अनुभव करके जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता, परस्वरूप में लीन करता है।

## 4. मोहनीय कर्म

जो जीव को मोहित करे वह 'मोहनीय कर्म' है। इस दृष्टि से मोहनीय कर्म सामान्य से एक होते हुए भी विशेष अवस्था में इसके दो भेद हैं। जो दर्शन गुण को मोहित करके विपरीत करे वह दर्शन मोहनीय है। जो चारित्र

गुण को मोहित करके विपरीत करे वह चारित्र मोहनीय है।

(A) दर्शन मोहनीय—

सम्पत्त पडिणिबद्धं मिच्छतं जिणवरेहिं परिकहिदं।  
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिदित्तिणादव्वो ॥(68)  
(समय सार)

It is declared by jina that mityatya karma is adverse to right belief; when that begins to operate the self becomes a wrong believer, so let it be known.

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है।

मिच्छतं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।  
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥(17)  
(गो. जीव.)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतएव श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता इसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे- पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसन्द नहीं करता। उसी तरह मिथ्या दृष्टि को धर्म नहीं रूचता।

मिच्छाइद्दी जीवो, उवइदुदं पवयणं ण सददहदि।  
सददहदि असन्भावं उवइदुदं वा अणुवइदुदं ॥(18)  
(गो. जीव)

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अहिन्त आदि के द्वारा कहे गये 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा कहा जाता

है, वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरूक्तियों से “प्रवचन” शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त, आगम पदार्थ का ‘उपदिष्ट’ अर्थात् आप्तभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

### (B) चारित्र मोहनीय

चारित्र पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं ।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥(170)

(समयसार)

It is declared by Jina that Kashaya (Soul-Soiling gross emotions) is adverse to right conduct; when this begins to operate, the self becomes acharitra (devoid of right conduct); so let it be known.

चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है।

### 5. आयु कर्म

एत्यनेन गच्छति नारकादि भवमित्यायुः । (राज., 8, अ.पृ. 456)

जिस कर्म के उदय से जीव नारकादि पर्यायों को प्राप्त होता है, नरकादि भवों में वास करता है, उसे आयु कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव लोहे की सांकल वा काठ के यन्त्र के समान है। जैसे- सांकल अथवा काठ का यन्त्र पुरुष को अपने स्थान में ही स्थित रखता है। दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसी प्रकार आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्याय में स्थित (मौजूद) रखता है, दूसरी जगह नहीं जाने देता।

### 6. नाम कर्म

गदिआदि जीव भेदं पोगलाण भेदं च ।

गदियंतरपरिणमनं करेदि णामं अणेयविहं ॥(12)

(गो. कर्म.)

नाम कर्म गति आदि अनेक तरह का है। वह नारकी वगैरह जीव की

पयार्यों के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गतिरूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया करता है। नाम कर्म के कारण ही विभिन्न प्रकार वैचित्र्य पूर्ण शरीर के अवयव, इन्द्रियों, शरीर के आकार-प्रकार आदियों का निर्माण होता है, शुभ नाम कर्म के सुन्दर प्रशस्त शरीर आदि की उपलब्धि होती है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से असुन्दर हीनाङ्ग-अधिकाङ्ग कि विकलाङ्ग सहित शरीर की प्राप्ति होती है।

## 7. गोत्र कर्म

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।

उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥(13)

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा हैं, अर्थात् उसे गोत्र कहते हैं। उस कुल परम्परा में ऊँचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, यदि निच आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहा जाता है। जैसे- एक कहावत है कि-शियाल का एक बच्चा बचपन से सिंहनी ने पाला। वह सिंह के बच्चों के साथ ही खेला करता था। एक दिन खेलते हुए वे सब बच्चे किसी जगह में गये। वहाँ उन्होंने हाथियों का समूह देखा। देखकर जो सिंहनी के बच्चे थे वे तो हाथी के सामने हुए लेकिन वह सियाल जिसमें कि अपने कुल का डरपोकपने का संस्कार था हाथी को देखकर भागने लगा। तब वे सिंह के बच्चे भी अपना बड़ा भाई समझ उसके साथ पीछे लौटकर माता के पास आये, और उस सियाल की शिकायत की कि, इसने हमें शिकार से रोका। तब सिंहनी ने उस सियाल के बच्चे से एक श्लोक कहा-जिसका मतलब यह है कि अब हे बेटा। तू यहाँ से भाग जा, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी। “शूरोसि कृतविधोसी दशनीयोसि पुत्रक यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते”। अर्थात् हे पुत्र ! तू शूर-वीर है, विद्यावान है, देखने योग्य (रूपवान) है, परन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते।



## (8) अन्तराय

बहियोगो वा, यस्मिन् मध्येऽवास्थिते  
दात्रादीनां-दानादिक्रियाऽभावः दानादीच्छाया बहिर्भावो वा सोऽन्तरायः ।

दाता और पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे वा जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अन्तर डाले उसे अन्तराय कहते हैं अथवा, जिसके रहने पर दाता आदि-दानादि क्रियाएँ नहीं कर सके, दानादि की इच्छा से पराङ्मुख हो जावें, वह अन्तराय कर्म है।

### प्रकृति बन्ध के उत्तर भेद

पञ्चनवद्वयष्टाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदा यथाक्रमम् (5)

There are of 5,9,2,28,4,42,2,5 classes respectively.

आठ मूल प्रकृतियों के अनुक्रम से पाँच, नौ, दो, अठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच भेद हैं।

गोम्मट्टसार में कहा गया है—

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावेत्ति होदि दुविहं तु ।

पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥

(गो.क.का., पृ.5)

सामान्य से कर्म एक प्रकार का है, द्रव्य, भाव की अपेक्षा से दो प्रकार है। पुद्गलपिंड को द्रव्यकर्म कहते हैं तथा उसमें जो फल देने की शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं।

तं पुण अट्टविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा ।

ताणं पुण घादित्ति अघादित्ति य होत्ति सण्णाओ ॥(7)

सामान्य से कर्म आठ प्रकार भी है अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भी उसके भेद हैं। तथा उन आठ कर्मों में घातियाँ और अघातियाँ रूप दो भेद हैं।

गाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणियं ।

आउगणामं गोदंतरायमिदि अट्ट पयडीओ ॥(8)

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय से कर्म की आठ मूल प्रकृतियां (स्वभाव) हैं।

पंच णव दोण्णि अट्ठावीस चउरो कमेण तेणउदी ।

तेउत्तरं सयं वा दुगपणगं उत्तरा होंति ॥(22)

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के क्रम से पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानवै अथवा एक सौ तीन, दो और पांच उत्तरभेद होते हैं।

### ज्ञानावरण के पाँच भेद

मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानाम् । (6)

ज्ञानावरण Knowledge-obscuring is of kinds, according as it is:

1. मति Sensitive knowledge-obscuring.
2. श्रुत Scriptural knowledge-obscuring.
3. अवधि Visual knowledge-obscuring.
4. मनः पर्यय mental knowledge-obscuring.
5. केवल ज्ञान Perfect knowledge-obscuring.

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनके आवरण करने वाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं।

प्रत्येक जीव स्वभावरूप से अनंतज्ञानी होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के कारण अल्पज्ञ हो रहा है। गुणदृष्टि से ज्ञानगुण एक होते हुए भी पर्याय दृष्टि से उसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। मुख्य 5 भेद हैं-

(1) मतिज्ञान (2) श्रुतज्ञान (3) अवधिज्ञान (4) मनः पर्ययज्ञान (5) केवलज्ञान ।

इन उत्तरभेदों के कारण ज्ञानावरणीय कर्म 5 रूप में परिणमन कर लेता है-

(1) मतिज्ञानावरणीय (2) श्रुतज्ञानावरणीय (3) अवधिज्ञानावरणीय (4) मनः पर्ययज्ञानावरणीय (5) केवलज्ञानावरणीय ।

(1) मतिज्ञानावरणीय – मतिज्ञान को ढकने वाले को मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं इस कर्म के उदय से मति ज्ञान प्रकट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान प्रगट होता है।

(2) श्रुतज्ञानावरणीय - श्रुतज्ञान को ढकने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से श्रुतज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान प्रगट होता है।

(3) अवधिज्ञानावरणीय - अवधिज्ञान को ढकने वाले कर्म को अवधिज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से अवधिज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान प्रगट होता है।

(4) मनःपर्ययज्ञानावरणीय - मनःपर्यय ज्ञान को ढकने वाले कर्म को मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से मनःपर्ययज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होता है।

(5) केवलज्ञानावरणीय - केवलज्ञान को ढकने वाले कर्म को केवलज्ञानावरणीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से केवल ज्ञान प्रगट नहीं होता है। इस कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रगट होता है।

ज्ञान को ढकने वाला (आवृत्त करने वाला) ज्ञानावरणीय है और दर्शन को आवृत्त करने वाला दर्शनावरणीय है। ये दोनों यथाक्रम ज्ञान-दर्शन को प्रगट होने नहीं देते हैं। परन्तु ये ज्ञान एवं दर्शन को विपरीत नहीं करता है इसलिए इन दोनों को आवरण कहा है। जैसे- सूर्य के आगे घनेबादल रहने से सूर्य छिप जाता है परन्तु न सूर्य नष्ट होता है और न ही किरणें विपरीत होती हैं। जब तक ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि का अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होता है परन्तु मोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म के उदय से विपुल ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता है बल्कि विपरीत ज्ञान होता है।

### दर्शनावरण कर्म के 9 भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानृ-

द्धयश्च। (7)

दर्शनावरण Conation-obscuring is of 9 kinds according as it obscures

- |                     |                        |
|---------------------|------------------------|
| 1. चक्षु दर्शनावरण  | Ocular obscuring       |
| 2. अचक्षु दर्शनावरण | Non - ocular obscuring |

- |                   |  |
|-------------------|--|
| 3. अवधि दर्शनावरण | Visual-obscuring   |
| 4. केवल दर्शनावरण | Perfect-conation obscuring   |
|                   | 5. Sleep (6) Dee sleep (7) Drowsiness (8)<br>Heavy-drowsiness and (9) Somnambu-<br>lism. |

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्रादिक ऐसे नौ दर्शनावरण हैं।

(1) चक्षुदर्शनावरण – जिस कर्म के उदय से जीव चक्षु (आंख) से अवलोकन नहीं कर पाता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर त्रिन्द्रिय तक के जीव के चक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय होने के कारण इनकी चक्षु इन्द्रिय नहीं होती है।

(2) अचक्षुदर्शनावरण – जिस कर्म के उदय से चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों से अवलोकन नहीं होता है उसे अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

(3) अवधिदर्शनावरण – अवधि दर्शनावरण के उदय से आत्मा अवधिदर्शन से रहित हो जाता है।

(4) केवलदर्शनावरण – केवलदर्शनावरण कर्म के उदय से केवलदर्शन का आविर्भाव (उत्पन्न) नहीं होता। वह जीव बहुत काल तक संसार में रहता है।

(5) निद्रा— मद, खेद और क्लम (थकावट) को दूर करने के लिए सोना निद्रा है। जिसके सन्निधान से आत्मा निद्रा लेता है, कुत्सित कार्य करता है, वा स्वप्न में क्रिया को करता है वह निद्रा है।

निद्रा कर्म और साता वेदनीय कर्म के उदय से निद्रा परिणाम की सिद्धि होती है। अर्थात् निद्रा दर्शनावरण और साता वेदनीय इन दोनों कर्मों के उदय से निद्रा आती है। निद्रा के समय शोक, क्लम, श्रम आदि का विगम (नाश) देखा जाता है अतः साता कर्म का उदय तो स्पष्ट ही है और असाता वेदनीय का भी उस समय मन्द उदय रहता है, ऐसा जानना चाहिए।

निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से तम अवस्था और निद्रा-निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से महातम अवस्था होती है।

(6) निद्रा-निद्रा – उपरि-उपरि निद्रा निद्रानिद्रा है। उस निद्रा के ऊपर पुनःपुनः निद्रा आना अर्थात् नींद के ऊपर नींद आना निद्रानिद्रा कहलाती है।

(7) प्रचला – जो आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला है। जिस नींद से आत्मा में विशेष प्रचलन उत्पन्न होता है वो जो क्रिया आत्मा को प्रचलित करती है वह प्रचला निद्रा है। वह पुनः शोक, मद आदि के कारण से उत्पन्न होती है। यह इन्द्रिय व्यापार से उपरत-निवृत्त होकर बैठे-ही-बैठे के शरीर, नेत्र आदि में विकार क्रिया की सूचक है, अन्तः प्रीति का लवमात्र हेतु है। अर्थात् शोक, श्रम, मद आदि के कारण इन्द्रिय व्यापार से उपरत होकर बैठे-बैठे शरीर और नेत्र आदि में विकार उत्पन्न करने वाली प्रचला होती हैं।

(8) प्रचला-प्रचला – पुनः पुनः उसकी आहित वृत्ति प्रचलाप्रचला है। उस प्रचला के ऊपर पुनः पुनः प्रचला आना प्रचलाप्रचल, कही जाती हैं।

(9) स्त्यानगृद्धि – जिसके उदय से स्वप्न में वीर्य (शक्ति) विशेष का आविर्भाव होता है, स्त्यानगृद्धि है। वा जिसके सानिध्य से मानव अनेक रौद्र कर्म करता है, असम्भव कार्य भी कर डालता है, वह स्त्यानगृद्धि है। जिसके उदय से स्त्यान (स्वप्न) में दीप्ति हो, बहुत से रौद्र, क्रूर, असम्भव कार्य करता हो, स्त्यानगृद्धि निद्रा है।

## वेदनीय के दो भेद

सदसद्वेद्ये। (8)

वेदनीय Feeling is of 2 kinds

1. साता वेदनीय Pleasure-bearing
2. असाता वेदनीय Pain-bearing

सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय हैं।

साता वेदनीय – जिसके उदय से देवादि गतियों में शारीरिक, मानसिक सुख की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार की जातियों से विशिष्ट देवादिगतियों में अनुगृहीत (इष्ट) सामग्री के सन्निधान

की अपेक्षा प्राणियों को शारीरिक मानसिक आदि अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव हो वा प्रशस्त रूप सामग्री की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय है।  
**असाता वेदनीय** – जिसका फल अनेक प्रकार का दुःख रूप है, उसको असाता वेदनीय कहते हैं। जिस कर्म का फल प्राणियों को नाना प्रकार की जाति विशेष से व्याप्त नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक और अति दुःसह जन्म-जरा-मरण, प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, व्याधि, बध और बन्ध आदि से जन्य दुःख का अनुभव होता है वा अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से होती है। वह असाता वेदनीय है, अप्रशस्त वेदनीय, असद्वेदनीय है

### मोहनीय के 28 भेद

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः

सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा स्त्रीपुत्रपुंसक वेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान प्रत्यख्यान संज्वलन विकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः । (9) मोहनीय Deluding is of 28

kinds the primary divisions are two :

- |                   |                       |
|-------------------|-----------------------|
| 1. दर्शनमोहनीय    | Right-belief-deluding |
| 2. चारित्र मोहनीय | Right-delief-deluding |

#### Right conduct deluding 2 kinds:

- |                 |                      |
|-----------------|----------------------|
| 1. अकषाय वेदनीय | With slight passions |
| 2. कषाय वेदनीय  | With passions        |

#### Right belief deluding is of 3 kinds:

- |                     |   |
|---------------------|---|
| 1. मिथ्यात्व        | Wrong-belief.   |
| 2. सम्यक् मिथ्यात्व | Mixed wrong and right belief.                                     |
| 3. सम्यक् प्रकृति   | Right belief with slight defect, Akasaya ve-daniya is of 9 kinds: |

- |          |                             |
|----------|-----------------------------|
| 1. हास्य | Risible laughter producing. |
| 2. रति   | Indulgence.                 |

3. अरति	Dis-satisfaction, langour
4. शोक	Sorrow.
5. भय	Fear.
6. जुगुप्सा	Disgust.
7. स्त्री वेद	Feminine inclinations.
8. पुंवेद	Masculine inclinations.
9. नपुंसक वेद	Common inclinations.
कषाय वेदनीय	Kayayavedaniya is of 16 kinds: 4. passions - Anger, pride, Deceit, Greed, each of these is of 4 kinds:
1. अनन्तानुबन्धी	Error-feeding or wrong beliefssisting.
2. अप्रत्याख्यान	Partial-vow-preventing
3. प्रत्याख्यान	Total-vow-preventing
4. सँज्वलन	Perfact - Right conduct preventing it is very mild. Thus we get 16 i.e. 4 × 4 kinds:

दर्शन मोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इनके क्रम से तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व मिथ्यात्व और तदुभय ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकषायवेदनीय और कषाय वेदनीय' ये 2 चारित्र मोहनीय है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेदं, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषाय वेदनीय हैं, तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से सोलह कषाय वेदनीय हैं।

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व के भेद से दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का है। कषाय और अकषाय के भेद से चारित्र मोहनीय के दो भेद है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के भेद से अकषाय वेदनीय नव प्रकार की है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय वेदनीय के 16 भेद हैं।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं - सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व।

यह दर्शन मोहनीय बन्ध की अपेक्षा एक होकर भी सत्ता कर्म के अपेक्षा तीन भेद को प्राप्त होती है। अर्थात् बन्ध तो केवल मिथ्यात्व का ही होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन रूप घन की चोट लगने से उस मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। अतः सत्ता की अपेक्षा तीन और बंध की अपेक्षा एक भेद होने वाली दर्शन मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से पराङ्मुख, तत्त्वार्थ श्रद्धान से निरूत्सुक, हिताहित का विभाग करने में असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व है। शुभ परिणामों से जब उसका अनुभाग रोक दिया जाता है और जो उदासीन रूप से स्थित रहकर आत्म-श्रद्धान को नहीं रोकता है, वह सम्यक्त्व कहलाता है। उस सम्यक्त्व का वेदन करने वाला जीव सम्यक्-दृष्टि कहलाता है। वही मिथ्यात्व जब प्रक्षालनविशेष से क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान आधा शुद्ध और आधा अशुद्ध रस वाला होता है तब वह मिश्र उभय या सम्यक्त्व मिथ्यात्व कहलाता है। जिसके उदय से आत्मा के, आधे शुद्ध कोदों से जिस प्रकार का मद होता है, उसी तरह के मिश्र भाव होते हैं।

चारित्र मोहनीय के दो भेद — कषाय और अकषाय के भेद से चारित्र मोहनीय दो प्रकार की है। अकषाय का अर्थ कषाय का निषेध नहीं है अर्थात् इसमें 'अ' का निषेध अर्थ में नहीं है, परन्तु 'ईषद्' अर्थ में 'नञ्' समास है।

अकषायवेदनीय के नौ भेद — हास्यादि के भेद से अकषायवेदनीय नौ प्रकार की हैं।

(1) हास्य कर्म — जिसके उदय से हास्य का प्रादुर्भाव होता है वा हँसी आती है, हास्य कर्म है।

(2) रतिनामकर्म — जिसके उदय से देशादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावाद) में उत्सुकता होती है, उनके प्रति अनुराग होता है वह रति नाम कर्म है।

(3) अरति कषाय — जिसके उदय से देशादि में अनुत्सुकता होती है, उनमें प्रीति नहीं होती है वह अरति कषाय है।

(4) शोक — जिसके उदय से शोचन होता है, वह शोक है।

(5) भय — जिसके उदय से उद्वेग होता है, वा सात प्रकार का भय होता है, वह भय नोकषाय है।

(6) जुगुप्सा — कुत्सा, ग्लानि को जुगुप्सा कहते हैं। यद्यपि जुगुप्सा कुत्सा



का ही एक प्रकार है फिर भी कुछ अर्थविशेष की उत्पत्ति होने से इनमें अन्तर है। अपने दोषों को ढकना जुगुप्सा है।

(7) स्त्रीवेद – जिस नो कषाय के उदय से कोमलता, अस्फुटता, क्लीवता, कामावेश, नेत्रविभ्रम, आस्फालन, पुरुष की इच्छा आदि स्त्री भावों को आत्मा प्राप्त होती है वह स्त्रीवेद है। जब स्त्रीवेद का उदय होता है तब इतर पुरुष और नपुंसकवेद कर्म की सत्ता गौण रूप से अवस्थित रहती है।

प्रश्न – लोक में योनि, मृदु स्तनादि चिन्ह से स्त्रीवेद की प्रतीति होती है।

उत्तर – शरीर में जो स्तन, योनि आदि चिन्ह हैं वे नामकर्म के उदय के कारण होते हैं। अतः द्रव्य से पुरुषवेद का उदय होने पर भी भाव से स्त्रीवेदका वा नपुंसकवेद का उदय हो सकता है। द्रव्य स्त्रीवेद के उदय में भाव पुरुष या नपुंसक का तथा द्रव्य से नपुंसकवेद का उदय होने पर भी आभ्यन्तर विशेष भाव की अपेक्षा पुरुष और स्त्रीवेद का उदय हो सकता है। शरीर आकार तो नामकर्म की रचना है और भाववेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है, इस प्रकार इन दोनों का वर्णन है।

(8) पुरुषवेद – जिस कर्म के उदय से आत्मा पुरुष भाव को प्राप्त होता है, वह पुरुषवेद है।

(9) नपुंसकवेद – जिस कर्म के उदय से नपुंसक भावों को प्राप्त होता है, यह नपुंसक वेद है।

कषायवेदनीय सोलह प्रकार की है – क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की है।

क्रोध – अपने और पर के उपघात अनुपकार आदि से आहित (प्राप्त) क्रूर परिणाम या अमर्ष भाव क्रोध है। वह क्रोध पर्वत रेखा, पृथ्वी रेखा, धूलि रेखा और जलरेखा के समान चार प्रकार का है।

मान – जाति, ज्ञान, कुल, शरीर, तप, पूजा, ऐश्वर्य आदि के मद के कारण दूसरों के प्रति नमने की वृत्ति नहीं होना मान कषाय है। यह मान शैल स्तम्भ, अस्थि स्तम्भ, दारू (लकड़ी) स्तम्भ और लता समान भेद से चार प्रकार का है।

3. माया – दूसरों को ठगने के लिये जो छल-कपट और कुटिल भाव होते हैं वह माया है। यह माया, बाँस वृक्ष की गँठीली जड़, मेष (मेढ़े) की सींग,

गाय के मूत्र रेखा और अवलेखनी खुरपा आदि के सदृश चार प्रकार की है।

4. लोभ – जीव के अनुग्राहक-उपकारक धन आदि की विशेष आकांक्षा लोभ है। कृमिराग, कज्जल, कर्दम (कीचड़) और हरिद्रा (हल्दी) के राग सदृश भेद से लोभ, चार प्रकार का है। इन क्रोध, मान, माया और लोभ की चार-चार अवस्थाएँ हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

I अनन्तानुबन्धी – अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं। उस अनन्त (मिथ्यात्व) को बाँधने वाली (वा उसका अनुसरण करने वाली) कषाय अनन्तानुबन्धी कहलाती है अर्थात् मिथ्यादर्शन को बाँधने वाले क्रोध, मान, माया, और लोभ अनन्तानुबन्धी है।

II अप्रत्याख्यानावरण – जिसके उदय से यह प्राणी ईषत् (अल्प) भी देशविरत संयमासंयम नामक व्रत को स्वीकार नहीं कर सकता, स्वल्प मात्र भी व्रत प्राप्त नहीं कर सकता वह देशविरत प्रत्याख्यान का आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है।

III प्रत्याख्यानावरण – जिसके उदय से सकल विरति और सकल संयम को धारण नहीं कर सकता, वह समस्त प्रत्याख्यान- सर्व त्याग को रोकने वाली कषाय प्रत्याख्यावरण क्रोध, मान, माया, लोभ है।

IV संज्वलन – जो 'सम' अर्थात् एकीभाव से संयम के साथ सहावस्थान होने से एकीभूत होकर जलती रहे, अथवा जिसके रहने पर भी संयम हो सकता है, वह संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है। इस प्रकार इनका समुदाय करने पर 16 कषाय होती हैं।

## आयुर्कर्म के भेद नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि। (10)

आयु Age karma bondage is of 4 kinds according as it determines:

1. नरक Hellish.
2. तिर्यक् Sub-human.
3. मनुष्य Human.

#### 4. देव Celestial.

नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु, और देवायु ये चार आयु हैं।

नरकादि भवों (पर्यायों) के सम्बन्ध से आयु भी नरक योन कहलाती है। जैसे- नरक भव के सम्बन्ध से आयु में नरक व्यपदेश होता है और नरक में होने वाली आयु नरक कहलाती है। इसी प्रकार तिर्यञ्च योनि में होने वाली तैर्यग्योन, मनुष्य में होने वाली मानुष और देवों में होने वाली देव आयु कहलाती है।

जिसके सद्भाव में जीवन और अभाव में मरण हो, वह आयु है। जिसके होने पर आत्मा का जीवन और जिसके अभाव में आत्मा का मरण कहलाता है वह भव-धारण में कारण आयु है अर्थात् जो नरकादि भवों में रोककर रखे, उसे आयु कहते हैं।

(1) नरक आयु – जिसके निमित्त से तीव्र शीत-ऊष्ण-वेदनाकारक नरकों में भी दीर्घ कालतक प्राणी जीवित रहता है, वह नरक आयु है।

(2) तैर्यग्योनी – जिसका उदय होने पर क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, आदि अनेक दुःखों के स्थानभूत तिर्यच पर्याय में वह प्राणी जीवित रहता है, वा दुःखकारक तिर्यञ्च पर्याय को धारण करता है, उसे तैर्यग्योन की आयु जानना चाहिये।

(3) मनुष्यायु – जिसके उदय से शारीरिक, मानसिक अत्यधिक सुख-दुःख से समाकुल मानुष पर्याय में जन्म होता है, वा जिसके उदय से प्राणी मानुष भव धारण करता है वह मनुष्यायु कहलाती है।

(4) देवायु – शारीरिक, मानसिक सुखस्वरूप देवपर्यायों में जन्म जिसके उदय से होता है वह देवायु है। जिस आयु कर्म के उदय से प्रायः कर शारीरिक, मानसिक सुखों से युक्त देवपर्याय में जन्म होता है, उसे देव आयु जानना चाहिये। कभी-कभी देवों में प्रिय देवांगना आदि के वियोग से, दूसरे महर्द्धिक देवों की महाविभूति के देखने से, देवपर्याय की समाप्ति के सूचक आज्ञाहानि, माला के मुड़ाने और आभूषण एवं शरीर की कान्ति आदि की हीनता देखने से मानसिक दुःख उत्पन्न होता है अतः उस मानसिक दुःख का ज्ञापन कराने के लिए प्रायः शब्द ग्रहण किया है।

## नाम कर्म के भेद

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धव-  
र्णानुपूर्व्यागुरूलधूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयःप्रत्येक  
शरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि  
तीर्थकरत्वं च । (11)

The name (physique-making) karmas comprise the state of existence, the class, the body, the chief and secondary parts, formation, binding (union), molecular interfusion, structure, joint, touch, taste, odour, colour, movement after death, neither heavy nor light, self annihilation, annihilation by others, emitting worm splendour, emitting cool luster, respiration, gait individual body, mobile being, amiability, a melodious voice, beauty of form, minute body, complete development of the organ firmness, lustrous body, glory and renown and the opposites of these commencing from individual body and Tirtha Karatva.

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरूलधु, उपघात, परघात, आताप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों के साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयशः कीर्ति और यशः कीर्ति एवं तीर्थकरत्व ये बयालीस नामकर्म के भेद है।

(1) गतिः— जिस कर्म के उदय के कारण आत्मा भवान्तर (पर्यायान्तर) को ग्रहण करने के लिये गमन करता है उसे गति कहते हैं। “गम्यते इति गतिः जिससे गमन किया जाता है, वह गति है। वह गति चार प्रकार की है— नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, और देवगति। जिसके निमित्त से आत्मा के नरक भाव होते हैं वह नरकगति है। इसी प्रकार जिस कर्म के उदय से तिर्यञ्च आदि के भाव को आत्मा प्राप्त होता है, वह तिर्यञ्च आदि गति है, ऐसा जानना चाहिये।

(2) जातिः— उन नरकादि गतियों में अव्यभिचारी (अविरोधी) सादृश्य से

एकीकृत स्वरूप जाति हैं। अर्थात् नरकगति, देवगति और मनुष्यगति में पंचेन्द्रिय जाति अव्यभिचारी है और शेष व्यभिचारी है। इस प्रकार चारों गतियों में अविरोधी सादृश्य भाव जाति इस नाम को प्राप्त होते हैं। जाति-व्यवहार में निमित्त जातिनाम कर्म हैं। वह जाति पाँच प्रकार की हैं। एकेन्द्रिय जाति-नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म और पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म। जिस कर्म के उदय से आत्मा एकेन्द्रिय कहलाता है, वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म हैं। इस प्रकार दो इन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय से आत्मा दो इन्द्रिय कहलाता है, इत्यादि समझना चाहिये।

(3) शरीरः— जिस कर्म के उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नाम कर्म हैं। वह शरीर पाँच प्रकार का है— औदारिक शरीर नाम कर्म, वैक्रियिक शरीर नाम कर्म, आहारक शरीर नाम कर्म, तैजस शरीर नाम कर्म और कार्मण शरीर नाम कर्म।

(4) अंगोपांग नामकर्मः— जिसके उदय से अंगोपांग की रचना होती है वह अंगोपांग नाम कर्म है। जिस कर्म के निमित्त कारण से सिर, पीठ, जांघ, बाहु, उदर, नल, हाथ और पैर, इन आठ अंगों की तथा ललाट, नासिका, आँख, अँगुलि आदि उपाङ्गों की रचना होती है, उसे अंगोपांग नाम कर्म कहते हैं। वह अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकार का है— औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक शरीराङ्गोपाङ्ग और आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग। औदारिक शरीर में जिसके निमित्त से अंगोपांगों की रचना होती है वह औदारिक शरीराङ्गोपांग है, इसी प्रकार वैक्रियिक शरीराङ्गोपांग और आहारक शरीराङ्गोपांग जानना चाहिये।

(5) निर्माणः— जिसके निमित्त से शरीर में अंग और उपाङ्ग की निष्पत्ति (यथा स्थान और यथाप्रमाण रचना) होती है वह निर्माण नाम कर्म है। वह निर्माण कर्म दो प्रकार का है— स्वस्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। जिसके द्वारा रचना की जाय वह निर्माण कर्म है। वह निर्माण कर्म जाति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा चक्षु आदि के स्थान और उनके प्रमाण की रचना करता है, वा जिसके द्वारा जाति नाम कर्म के अनुसार इन्द्रियों के आकार तद्-तद् स्थान और शरीर प्रमाण उनकी रचना की जाती है वह निर्माण नाम कर्म है।

(6) बन्धः— शरीर नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों का परस्पर

प्रदेश संश्लेष जिसके द्वारा होता है वह बन्ध नाम कर्म कहलाता है, यही अस्थि आदि का परस्पर बन्धन करता है। इसके अभाव में शरीर प्रदेश लकड़ियों के ढेर के समान परस्पर पृथक्-पृथक् रहेंगे।

(7) **संघातः**— अविबर (निश्छिद्र) भाव से पुद्गलों का परस्पर एकत्व हो जाना, संगठन हो जाना संघात नाम कर्म है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर निश्छिद्र रूप से संश्लिष्ट संगठन हो जाता है वह संघात नाम कर्म है।

(8) **संस्थान नाम कर्मः**— जिसके कारण शरीर की आकृति बनती है वह संस्थान नाम कर्म है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर की आकृति (आकार) की निष्पत्ति होती है, वह संस्थान नाम कर्म है। वह संस्थान छह प्रकार का है— (1) समचतुरस्रसंस्थान, 2. न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (3) स्वाति संस्थान, (4) कुब्जक संस्थान (5) वामन संस्थान और हुण्डक संस्थान

(1) **समचतुरस्र संस्थानः**— ऊपर, नीचे और मध्य में कुशल शिल्पी के द्वारा रचित समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवों का सन्निवेश (रचना) होना, आकार बनना समचतुरस्र संस्थान है।

(2) **न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थानः**— न्यग्रोध (बड़) वृक्ष के समान नाभि के ऊपर शरीर में स्थूलत्व और नीचे के भाग में लघु प्रदेशों की रचना होना न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। इसमें न्यग्रोध (वट वृक्ष) के समान देह की रचना होती है इसलिये इसका सार्थक नाम न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है।

(3) **स्वाति संस्थानः**— इससे विपरीत ऊपर लघु और नीचे भारी, सर्प की बांबी के समान आकृति वाला स्वाति संस्थान है।

(4) **कुब्जक संस्थानः**— पीठ पर बहुत पुद्गल पिण्ड प्रचय विशेष लक्षण का निर्वर्तक कुब्जक संस्थान है, अथवा पीठ का टेढ़ी हो जाना कुब्जक संस्थान का कार्य है।

(5) **वामन संस्थानः**— सर्व अंग और उपाङ्गों को छोटा बनाने में जो कारण होता है वह वामन संस्थान है।

(6) **हुण्डक संस्थानः**— सर्व अंगों और उपाङ्गों की आकृति हुण्ड की तरह रचना हुण्डक संस्थान है। अर्थात् शारीरिक विकृत संस्थान को हुण्डक संस्थान कहते हैं।

9. **संहनन नामकर्म:**— जिस कर्म के उदय से अस्थिजाल (हड्डियों के समूह) का बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। यह छह प्रकार का है—
- (1) वज्रर्षभनाराच संहनन, (2) वज्रनाराच संहनन (3) नाराच संहनन (4) अर्धनाराच संहनन, (5) कीलका संहनन और (6) असंप्राप्तासुपाटिका संहनन
- (1) **वज्रर्षभनाराच संहनन:**— दोनों हड्डियों की सन्धियाँ वज्राकार हों। प्रत्येक हड्डी में वलयबन्धन और नाराच हो, ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रर्षभनाराच संहनन है।
- (2) **वज्रनाराच संहनन:**— सर्व रचना वज्रर्षभ नाराच के समान है, परन्तु बन्धन वलय से रहित है वह वज्रनाराच संहनन है।
- (3) **नाराच संहनन:**— जो शरीर वज्राकार बन्धन और वलय बन्धन से रहित तथा नाराच सहित है वह नाराच संहनन है।
- (4) **अर्धनाराच संहनन:**— जो शरीर एक तरफ नाराचयुक्त तथा दूसरी ओर नाराच रहित अवस्था में है, वह अर्धनाराच संहनन वाला शरीर कहलाता है।
- (5) **कीलक संहनन:**— जिसके दोनों हड्डियों के छोरों में कील लगी हैं। वह कीलक संहनन है।
- (6) **असंप्राप्तासुपाटिका संहनन:**— जिसमें भीतर हड्डियों का परस्पर बन्धन हो मात्र बाहर से वे सिरा, स्नायु, मांस आदि लपेट कर संघटित की गई हो वह असंप्राप्तासुपाटिका का संहनन है।
- (10) **स्पर्श नामकर्म:**— जिस कर्म के उदय से कठोर-मृदु, हलाक-भारी, स्निग्ध-रूक्ष, शीत और उष्ण इन आठ प्रकार के स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है, वा जिसके कारण शरीर में कर्कश, मृदु, चिकनापन, रूक्षपना, शीत, उष्णत्व, गुरु, लघुत्व आदि का प्रादुर्भाव होता है, वह स्पर्श नाम कर्म है।
- (11) **रस नामकर्म:**— जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्तत्व, कटुत्व, कषायत्व, अम्लत्व और मधुरत्व, इन पाँच रसों का प्रादुर्भाव होता है वह रस नाम कर्म है।
- (12) **गन्ध नामकर्म:**— जिसके उदय से शरीर में गन्ध होती है वह गन्ध नाम कर्म है। गन्ध दो प्रकार की है— सुगन्ध और दुर्गन्ध।
- (13) **वर्ण नामकर्म:**— जिसके उदय से शरीर में वर्ण विशेष होता है वह वर्ण नाम कर्म है। वह वर्ण पाँच प्रकार हैं— कृष्णवर्ण, नीलवर्ण, रक्तवर्ण, हरितवर्ण

और शुक्ल-वर्ण।

प्रश्न:- स्पर्श, रस आदि गुण अचेतन पदार्थों के हैं, वे चेतन में कैसे होते हैं ?

उत्तर:- यद्यपि ये स्पर्श आदि पुद्गल के स्वभाव हैं तथापि जीव के शरीर में इनका प्रादुर्भाव कर्मोदय कृत है। इस प्रकार स्पर्शादि नाम कर्म के उदय से शरीर में रस, आदि जाति के रूप, रस, आदि होते हैं। अर्थात् गुरु स्पर्श कर्म के उदय से शरीर भारी होता है, लघु नाम कर्म के उदय से शरीर हलका होता है। इस प्रकार सर्व स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण में लगाना चाहिये।

14. आनुपूर्वी नामकर्म:- जिस नाम कर्म के उदय से विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता है, नष्ट नहीं होता है, वह आनुपूर्वी नाम कर्म है। वह आनुपूर्वी चार प्रकार की है- नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्य गत्यानुपूर्वी और देव गत्यानुपूर्वी

(1) नरक गति आनुपूर्वी:- जिस समय मनुष्य वा तिर्यञ्च अपनी आयु को पूर्ण करके पूर्व शरीर को छोड़कर नरकगति के अभिमुख होता है उस समय विग्रह गति में उदय तो नरक गत्यानुपूर्वी का होता है, परन्तु उस समय आत्मा का आकार पूर्व शरीर के अनुसार मनुष्य वा तिर्यञ्च का बना रहता है, यह नरकगति आनुपूर्वी है।

(2) मनुष्यगत्यानुपूर्वी:- इस प्रकार मनुष्य गति में जाने वाले के विग्रह गति में मनुष्यगत्यानुपूर्वी है।

(3) तिर्यग्गत्यानुपूर्वी:- तिर्यञ्च में जाने वाले तिर्यग्गत्यानुपूर्वी कहलाती हैं।

(4) देवगत्यानुपूर्वी:- देव में जाने वाले के विग्रह गति में देवगत्यानुपूर्वी कहलाती है।

प्रश्न:- विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता तो निर्माण नाम कर्म का फल है आनुपूर्वी के उदय पूर्व आकार नहीं है।

उत्तर:- विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बने रहना निर्माण नाम कर्म का काम नहीं है, क्योंकि पूर्व शरीर के नष्ट होते ही निर्माण नाम कर्म का उदय समाप्त हो जाता है। उसके नष्ट होने पर आठ कर्मों के पिण्ड कार्मण शरीर और तैजस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले आत्मप्रदेशों



का आकार विग्रह गति में पूर्व शरीर के आकार रूप बना रहता है। उसका कारण आनुपूर्वी का उदय है। उस आनुपूर्वी का उदय काल विग्रह गति में ही होता है। उसका अधिक से अधिक काल तीन समय और जघन्य एक समय है। ऋजुगति में पूर्व शरीर के आकार का विनाश होने पर शीघ्र ही उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलों का जो ग्रहण होता है, वह निर्माण नाम कर्म के उदय का व्यापार है।

**15. अगुरुलघु नामकर्मः**— जिसके निमित्त से शरीर अगुरुलघु होता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। अर्थात् जिसके उदय से लोकपिण्ड के समान गुरु होकर न तो पृथ्वी में नीचे ही गिरता है और न रुई की तरह लघु होकर ऊपर ही उड़ जाता है वह अगुरु लघु नामकर्म है।

**प्रश्नः**— धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में अगुरुलघुत्व कैसे होता है ?

**उत्तरः**— धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यों में अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुण के कारण अगुरुलघुत्व है, नामकर्म की अपेक्षा से नहीं।

**प्रश्नः**— मुक्तजीवों में अगुरुलघुत्व कैसे है ?

**उत्तरः**— अनादिकालीन कर्मबन्धन बद्ध जीवों में कर्मोदयकृत अगुरुलघुत्व है और कर्मबन्धन रहित मुक्त जीवों में स्वाभाविक अगुरुलघुत्व है।

**16. उपघात नामकर्मः**— जिस कर्म के उदय से स्वयंकृत बन्धन और पर्वत से गिरना आदि हो वह उपघात नाम कर्म है। जो विष सेवन कर, अभि में जलकर मर जाते हैं या ऐसे शरीर के अवयव जिनसे अपना घात होता है, वे सब उपघात नाम कर्म के विपाक हैं।

**(17) परघात नामकर्मः**— जिसके निमित्त से परकृत शस्त्रादि के द्वारा घात होता है, वह परघात नामकर्म है। 'पर' शब्द अन्य का पर्यायवाची है। जिस कर्म के उदय से फलक, कवच आदि आवरण का सन्निधान होने पर भी पर प्रयुक्त शस्त्र आदि के द्वारा घात होता है, पर के द्वारा मारण, ताड़न आदि होते हैं, वह परघात नाम कर्म है।

**(18) आतप नामकर्मः**— जिसके उदय से आतपन होता है, वह आतप नाम कर्म है। अथवा जिसके उदय से आत्मा तपती है, जो सूर्य आदि में तप का निर्वर्तक है, वह आतप नाम कर्म है, आतप नामकर्म का उदय सूर्य के विमान एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय है, उसके ही होता है।

(19) उद्योत नामकर्म:- जिस कर्म के उदय से उद्यत होता है, वा उद्योत (प्रकाश) किया जाता है, वह उद्योत नामकर्म है। इसका उदय चन्द्र के विमानस्थ, पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय वा जुगनू आदि तिर्यङ्गों में होता है।

मूलूणहपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा।

आइच्चे तेरिच्चे उण्हूणपहा हु उज्जोओ॥(33)

आग के मूल और प्रभा दोनों ही ऊष्ण रहते हैं। इस कारण उसके स्पर्श नामकर्म के ऊष्णस्पर्शनामकर्म का उदय जानना। और जिसकी केवल प्रभा (किरणों का फैलाव) ही ऊष्ण हो उसको आतप कहते हैं। इस आतपनायकर्म का उदय सूर्य के बिम्ब (विमान) में उत्पन्न हुए बादरपर्याप्त पृथ्वीकाय के तिर्यचकाय के समझना। तथा जिसकी प्रभा भी उष्णता रहित हो उसको नियम से उद्योत जानना। (गो.क.पृ. 14, गा.न. 33)

(20) उच्छ्वास नामकर्म:- जो उच्छ्वास प्राणापान का कारण होता है, वा जिस कर्म के उदय से श्वोसोच्छ्वास होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म है।

(21) विहायोगति नामकर्म:- आकाश में गति का प्रयोजन विहायोगति नामकर्म है। विहाय का अर्थ है- आकाश और आकाश में गमन का कारण विहायोगति नामकर्म। प्रशस्त और अप्रशस्त के विकल्प से विहायोगति दो प्रकार की है। श्रेष्ठ बैल, हाथी आदि की प्रशस्त गति में जो कारण होता है, वह प्रशस्त विहायोगति है और ऊँट, गधा आदि की अप्रशस्त गति में जो कर्म कारण होता है, वह अप्रशस्त विहायोगति है।

प्रश्न:- सिद्धगति के प्रति गमन करने वाली आत्मा की और पुद्गल द्रव्यों की जो अनुश्रैणी गति होती है, वह किस कर्म के उदय से होती है?

उत्तर:- मुक्त जीव और पुद्गलों की गति स्वाभाविक है।

प्रश्न:- विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियों में ही है, मनुष्यादि में नहीं क्योंकि मनुष्यादि में आकाशगमनत्व नहीं है?

उत्तर:- विहायोगति नामकर्म आकाशगामी पक्षियों में ही नहीं अपितु सभी प्राणियों में विहायोगति है क्योंकि अवगाहन शक्ति के योग से सभी की आकाश में ही गति होती है।

(22) प्रत्येक शरीर:- एक आत्मा के उपभोग के कारण शरीर को प्रत्येक

शरीर कहते हैं। एक आत्मा के प्रति प्रत्येक है “प्रत्येक शरीर” प्रत्येक शरीर। शरीर नामकर्म के उदय से रचित शरीर जिस कर्म के उदय से एक ही आत्मा के उपभोग्य हो अर्थात् जिसका स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

**(23) साधारण शरीर नामकर्म:**— जिसके उदय से एक ही शरीर बहुत सी आत्माओं के उपभोग का कारण होता है, वा एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है।

**प्रश्न:**— साधारण नामकर्म के उदय से जीव कैसा होता है ?

**उत्तर:**— साधारण जीवों के साधारण आहार आदि (आहार, शरीर, इन्द्रियादि) चार प्राप्तिरूप होती हैं और उनका जन्म-मरण श्वासोच्छ्वास, अनुग्रह और उपघात आदि सभी होते हैं। जब एक जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति होती है, उस समय उसके साथ अनन्तान्त जीवों की आहारादि पर्याप्तियों को निवृत्ति हो जाती है। जब एक जीव जन्मता है जो उसके साथ अनन्तान्त जीवों का जन्म होता है। जब एक जीव का मरण होता है। तब उसके साथ अनन्तान्त जीवों का मरण होता है। जिस समय एक जीव श्वास ग्रहण करता है या छोड़ता है, उसी समय अनन्तान्त प्राणी श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं। जब एक जीव आहारादि का अनुग्रह करता है, आहार ग्रहण करता है तो उस समय एक साथ अनन्तान्त जीव आहारादि ग्रहण करते हैं, जिस समय एक जीव का अग्नि विषादि के द्वारा उपघात होता है उसी समय अनन्तान्त जीवों का उपघात होता है।

**(24) त्रस नामकर्म:**— जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रिय आदि जंगम (त्रस) जीवों में जन्म लेता है, वह त्रस नामकर्म है।

**(25) स्थावर नामकर्म:**— जिस कर्म के उदय से यह प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप पंच स्थावर एकेन्द्रियों में जन्म लेता है, पाँच स्थावर काय में उत्पन्न होता है, वह स्थावर नामकर्म है।

**(26) सुभग नामकर्म:**— रूपवान् हो वा कुरूप हो, जिस कर्म के उदय से अन्य प्राणी उससे प्रीति करते हैं, जो सबको प्यारा लगता है, वह सुभग नामकर्म है।

(27) **दुर्भग नामकर्म:**— रूपवानु, सौन्दर्यखान होते हुए भी जिस कर्म के उदय से दूसरों को प्यारा न लगे, दूसरे उससे प्रीति न करें, किन्तु जो दूसरों को अप्रीति का कारण होता है, अप्रीतिका प्रतीत होता है, वह दुर्भग नामकर्म है।

(28) **सुस्वर नामकर्म:**— जिस कर्म के उदय से अन्य जनों के मन को मोहित करने वाले मनोज्ञ स्वर हों, जिसका स्वर सबको कर्णप्रिय लगे, वह सुस्वर नामकर्म है।

(29) **दुःस्वर नामकर्म:**— जिसके उदय के कर्कश, अमनोज्ञ, कर्णकटु स्वर की प्राप्ति हो, वह दुःस्वर नामकर्म है।

(30) **शुभ नामकर्म:**— जिसके उदय से शरीर देखने या सुनने पर प्राणी, का शरीर रमणीय प्रतीत हो, वह शुभ नाम कर्म है।

(31) **अशुभ नामकर्म:**— शुभ से विपरीत अशुभ है अर्थात् देखने व सुनने वाले को प्राणी का शरीर रमणीय प्रतीत नहीं होता है, वह अशुभ नामकर्म है।

(32) **सूक्ष्म नामकर्म:**— सूक्ष्म शरीर की रचना का कर्ता सूक्ष्म शरीर नाम कर्म है। अर्थात् जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्म नामकर्म है।

(33) **स्थूल नामकर्म:**— जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को बाधाकारक शरीर प्राप्त होता है, वह स्थूल नाम कर्म है। जो किसी से रुकता नहीं किसी को रोकता नहीं, जिसका किसी के द्वारा घात नहीं, वह सूक्ष्म नाम कर्म है, उससे विपरीत स्थूल नामकर्म है।

(34) **पर्याप्ति नामकर्म:**— जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मुहर्त में आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है, पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है उसे पर्याप्ति नाम कर्म कहते हैं। आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति, ये छह पर्याप्तियाँ हैं।

**प्रश्न :-** श्वासोच्छ्वास नामकर्म के उदय होने पर वायु का निष्क्रमण और प्रवेशात्मक फल होता है अर्थात् श्वासोच्छ्वास नाम कर्म के उदय से उदरस्थ वायु बाहर निकलती है। और बाहर की वायु को आत्मा

भीतर खींचती है और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति का भी यही लक्षण है अतः इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

**उत्तर :-** इन्द्रिय के विषय और अविषय की अपेक्षा दोनों में भेद है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति तो सर्व संसारी जीवों के होती है, अतीन्द्रिय है - कान या स्पर्श से अनुभव में नहीं आती, परन्तु उच्छ्वास नामकर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जीव के जो शीत, उष्ण आदि से जनित दुःख के कारण लम्बे उच्छ्वास निःश्वास होते हैं और जो श्रोत्र इन्द्रिय, स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध होते हैं, उनके द्वारा ग्राह्य होते हैं अर्थात् श्वासोच्छ्वास कर्म का कार्य इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होते हैं, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति इन्द्रियों के गम्य नहीं है, यह इन दोनों में अन्तर है।

35) **अपर्याप्ति नामकर्म :-** जिस कर्म के उदय से जीव आहारादि छहों पर्याप्तियों में से किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता, पर्याप्तियों को पूर्ण करने में असमर्थ होता है, वह अपर्याप्ति नामकर्म है।

36) **स्थिर नामकर्म :-** स्थिर भाव का निवर्तक स्थिर नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दुष्कर उपवास आदि तप करने पर भी अंग-उपांग की स्थिरता रहती है। अर्थात् अंग उपांग स्थिर बने रहते हैं, कृश नहीं होते हैं, वह स्थिर नामकर्म हैं।

37) **अस्थिर नामकर्म :-** स्थिर नामकर्म से विपरीत फलदायक अस्थिर नामकर्म है अर्थात् जिस कर्म के उदय से एक आदि थोड़े से उपवास करने पर या साधारण शीत उष्ण आदि से ही शरीर में अस्थिरता आ जाती है, या शरीर के अंगोपांग कृश हो जाते हैं, वह अस्थिर नामकर्म हैं।

38) **आदेय नामकर्म :-** जिस कर्म के उदय से दृष्ट और इष्ट प्रभा से युक्त शरीर की प्राप्ति होती है, वह आदेय नामकर्म है।

39) **अनादेय नामकर्म :-** जिसके उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता है, वह अनादेय नामकर्म है।

**प्रश्न:-** तैजस नाम का सूक्ष्म शरीर है, उसके निमित्त से शरीर में प्रभा होती है, आदेय नामकर्म के निमित्त से नहीं ?

**उत्तर:-** सूक्ष्म तैजस शरीर निमित्तक सर्व संसारी जीवों के होने वाली साधारण कान्ति आदेय नहीं है, यदि सूक्ष्म तैजस शरीर के निमित्त से होने वाली

शरीर की कान्ति को आदेय मानेंगे तो सर्व संसारी जीवों के शरीर की प्रभा में अविशेषता का प्रसंग आयेगा क्योंकि वह सर्व संसारी जीवों में साधारण है अतः आदेय नामकर्म के उदय से होने वाला लावण्य एवं सौन्दर्य पृथक् है।

40) यशस्कीर्ति नामकर्म :- पुण्यगुणख्यापन (प्रसिद्धि) में कारण कर्म यशस्कीर्ति नामकर्म है। पुण्य गुणों का ख्यापन जिस कर्म के उदय से होता है, उसको यशस्कीर्ति नामकर्म जानना चाहिए।

प्रश्न :- यश और कीर्ति इन दोनों में अविशेषता होने से यशस्कीर्ति कहना पुनरुक्त दोष है।

उत्तर:- यश का अर्थ गुण है और कीर्ति का अर्थ विस्तार है। अर्थात् जो गुणों का विस्तार करे, वह यशकीर्ति है अतः यश और कीर्ति दोनों एकार्थवाची नहीं है।

41) अयशस्कीर्ति नामकर्म :- यशस्कीर्ति से विपरीत पाप दोषों को ख्यापन करने वाली अर्थात् अपयश को विस्तरित करने वाली अयशस्कीर्ति है।

42) तीर्थकर नामकर्म :- आर्हन्त्य पद की कारणभूत तीर्थकर कर्म प्रकृति है, जिसके उदय से अचिन्त्य विशेष विभूतियुक्त आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है, उसको तीर्थकर नामकर्म प्रकृति समझना चाहिए।

(तत्त्वार्थवार्तिके, पृ.न. 481)

## गोत्रकर्म के भेद उच्चैर्नीचैश्च । (12)

गोत्रकर्म Family - determining karma is of 2 kinds:

1. उच्चगोत्र High.
2. नीच गोत्र Low.

उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो गोत्रकर्म हैं।

उच्च और नीच ये दो विशेषण होने से गोत्र कर्म दो प्रकार का है- उच्च गोत्र, नीच गोत्र।

(1) उच्च गोत्र - जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म होता है, वह उच्च गोत्र है। जिस कर्म के उदय से लोकपूजित महत्त्वशाली इक्ष्वाकुवंश,

उग्रवंश, कुरूवंश, हरिवंश और शानी आदि विशेष कुल में जन्म होता है, वह उच्च गोत्र है।

(2) नीच गोत्र - निन्दनीय कुल में जन्म होना नीच गोत्र है। जिस कर्म के उदय से निन्दनीय, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दुःखित, परम्परा से नीच आचरण करने वाले दुःखाकुल और हीनकुल में प्राणियों का जन्म होता है वह नीच गोत्र है, उसे नीच गोत्र समझना चाहिये।

संताणकमेण्णयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।

उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥(13)

कुलकी परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा है। अर्थात् उसे गोत्र कहते हैं। उस कुलपरम्परा में ऊँचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, जो निच आचरण हो तो तो वह नीचगोत्र कहा जाता है। जैसे एक कहावत है कि- शियाल का एक बच्चा बचपन से सिंहनी ने पाला। वह सिंह के बच्चों के साथ ही खेला करता था। एक दिन खेलते हुए वे सब बच्चे किसी जंगल में गये। वहाँ उन्होंने हाथियों का समूह देखा। देखकर जो सिंहनी के बच्चे थे वे तो हाथी के सामने हुए लेकिन वह शियाल जिसमें कि, अपने कुल का डरपोकपने का संस्कार था हाथी को देख भागने लगा। तब वे सिंह के बच्चे भी अपना बड़ा भाई समझ उसके साथ पीछे लौटकर माता के पास आये, और उस शियाल की शिकायत की कि हमको शिकार से इसने रोका। तब सिंहनी ने उस शियाल के बच्चे से एक श्लोक कहा, जिसका मतलब यह है कि, अब हे बेटा ! तू यहाँ से भाग जा, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी।

शूरोसि कृत-विद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक।

यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥(1)

अर्थात् हे पुत्र ! तू शूरीवीर है, विद्यावान् है, देखने योग्य (रूपवान्) है, परन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते।

(गो. कर्मकाण्ड गाथा-16 पृ.6)

## अन्तरायकर्म के भेद दानलाभभोगोपभोगवीर्यणाम् । (13)

अन्तराय Obstructive karma is of 5 kinds as it obstructs.

- |                 |                                     |
|-----------------|-------------------------------------|
| 1. दानान्तराय   | Charity                             |
| 2. लाभान्तराय   | Gain                                |
| 3. भोगान्तराय   | Enjoyment of consumable things.     |
| 4. उपभोगान्तराय | Enjoyment of non-consumable things. |
| 5. वीर्यान्तराय | Exercise of one's capacities power. |

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ऐसे अन्तराय के पाँच भेद हैं।

(1) **दानान्तराय** :- दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से दानान्तराय आदि व्यपदेश होते हैं। जिसके उदय से देने की इच्छा होने पर भी दे नहीं सकता, दानान्तराय है।

(2) **लाभान्तराय** :- लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नहीं हो पाता है, वह लाभान्तराय है।

(3) **भोगान्तराय** :- जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं कर सकता वह भोगान्तराय कर्म है।

(4) **उपभोगान्तराय** :- उपभोग की इच्छा होने पर भी जिसके उदय से वस्तु का उपभोग कर नहीं सकता, वह उपभोगान्तराय है।

(5) **वीर्यान्तराय** :- कार्य करने का उत्साह होते हुए भी जिसके उदय से निरूत्साहित हो जाता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

ये दानान्तराय आदि पाँच अन्तराय कर्म के भेद हैं।

**प्रश्न** :- भोग और उपभोग दोनों ही सुखानुभव में निमित्त है अतः इन दोनों में अविशेषता होने से अभेदत्व (भेद नहीं) है ?

**उत्तर** :- यद्यपि भोग और उपभोग दोनों सुखानुभव में निमित्त हैं तथापि एक बार भोगने में आने वाली गन्ध, माला, स्नान, अन्न-पानादि वस्तुओं में भोग व्यपदेश (संज्ञा) होता है (भोग है, ऐसा व्यवहार होता है) और शय्या, आसन, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ आदि बार-बार भोगने में आने वाली वस्तुओं में उपभोग-व्यपदेश होता है। इस प्रकार आदि कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या कहीं है। फलविशेष की अपेक्षा



ज्ञानावरण और नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात भी होती है।

## स्थितिबन्ध का वर्णन

आदितस्तिष्ठणामन्तरायस्यचत्रिंशत्सागरापमकोटीकोट्यः

परास्थितिः। (14)

The maximum duration of the 3 form the first, 'ज्ञानावरणीय knowledge obscuring, दर्शनावरणीय conation-obscuring and वेदनीय feeling karmas and of अन्तराय obstructive-karmas is 30 crore X crore सागर sagaras.

आदि की तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चार की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागरोपम है। यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के हैं। अन्य एकेन्द्रिय आदि के ज्ञानावरण आदि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध आगम से जानना चाहिये। जैसे-एकेन्द्रिय पर्याप्त के ज्ञानावरण आदि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध 3/7 सागर (एक सागर के सात भागों में से तीन भाग) प्रमाण हैं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण हैं। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक के पचार सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण हैं। चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक के सौ सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के अन्तः कोटाकोटि सागर उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पत्योपम के असंख्यात भाग कम स्वपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण हैं। इसी प्रकार दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण अपनी-अपनी पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति में से पत्योपम का असंख्यातवा भाग कम हैं।

## मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्ततिर्मोहनीयस्य। (15)

The maximum duration of मोहनीय Deluding karma is 70 (crore X crore sagars).

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटा कोटी सागरोपम है। सागरोपमकोटीकोट्यः परास्थितिः इसका अनुवर्तन ऊपर के सूत्र के करना चाहिये।

इस मोहनीय कर्म की भी उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है। मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के 70 कोड़ा, -कोड़ी, एकेन्द्रिय पर्याप्तक के एक सागर, पर्याप्तक दो इन्द्रिय के पच्चीस सागर, पर्याप्तक तीन इन्द्रिय के पचास सागर, पर्याप्तक चतुरिन्द्रिय के सौ सागर और पर्याप्तक असंज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट मोहनीय कर्म-स्थिति एक हजार सागर प्रमाण हैं। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण है। दो इन्द्रिय अपर्याप्तक, तीन इन्द्रिय अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम स्व-पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये, अर्थात् अपर्याप्तक दो इन्द्रिय के मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पल्य के संख्यातवें भागहीन पच्चीस सागर, अपर्याप्तक तीन इन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवे भाग हीन पचास सागर, अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन सौसागर अपर्याप्तक असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पल्योपम के संख्यातवें भागहीन एक हजार सागर तथा अपर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय के अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

## नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति

विंशतिर्नामगोत्रयोः । (16)

The maximum duration of नाम Nama, body-making and गोत्र Gotra family-determining Karmas is 20 (Crore × Crore सागर Sagars for each. नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा कोटि सागरोपम है। सागरोपम कोटाकोटी स्थिति का ऊपर से अनुवर्तन करना चाहिये, क्योंकि उनका प्रकरण चल रहा है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोड़ा कोड़ी सागर है। एकेन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है। दो इन्द्रिय पर्याप्तक की नामगोत्र की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है चार इन्द्रिय पर्याप्तक की सौ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है। असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्याप्तक की एक हजार सागर के सात भागों में

से दो भाग प्रमाण है। संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक की पत्य के असंख्यातवें भाग कम 2/7 सागर प्रमाण है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के पत्योपम के संख्यातवें भाग से कम स्वपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति ही, इनकी उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये।

### आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः। (17)

The maximum duration of आयु Ayu Age-karma is 33 सागर Sagars.

आयु की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम प्रमाण है। पुनः 'सागरोपम' शब्द का ग्रहण कोड़ाकोड़ी की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् सागरोपम का प्रकरण होने पर भी सूत्र में पुनः सागरोपम का ग्रहण कोड़ाकोड़ी सागर की व्यावृत्ति(निराकरण) के लिये है। उत्कृष्ट स्थिति का अनुवर्तन करना चाहिये, अर्थात् 'परा' शब्द का ग्रहण प्रकरण से करना चाहिये। संज्ञी पर्याप्तक के आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के उत्कृष्ट आयु पत्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तथा शेष जीवों की उत्कृष्ट आयु कोटि पूर्व प्रमाण है।

### वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य। (18)

The minimum duration of वेदनीय feeling karma is 12 मुहूर्त = 12 × 48 मिनट minutes.

वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति बारह मुहूर्त है।

सूक्ष्म साम्यपराय नामक दसवें गुणस्थान में वेदनीय की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त प्रमाण है। अर्थात् वेदनीय कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध साम्यपराय गुणस्थान में होता है।

### नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोष्टौ। (19)

That of नाम Body-making and Gotra गोत्र Family-determining is 8 मुहूर्त muhurtas.

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

यहाँ पर भी सूक्ष्म साम्पराय इस वाक्यविशेष का सम्बन्ध करना चाहिये। 'मुहूर्त' और 'अपरास्थिति' इनका भी अनुवर्तन करना आवश्यक है, अतः इस सूत्र का अर्थ हुआ नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति का बंध सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है।

### शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति शेषाणामन्तर्मुहूर्ता। (20)

Of all the rest the minimum is one अन्तर्मुहूर्त which ranges from 1 समय and one आवली Avali at the lowest to 48 minutes - 1 समय samaya.

शेष पांच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

'अपरा' इसका प्रकरण से अनुवर्तन करना चाहिये। दर्शनावरण, ज्ञानवरण, और अन्तराय की जघन्य स्थिति का बंध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में है। मोहनीय का जघन्य स्थिति बन्ध अनिवृत्ति बादर साम्पराय नामक नवम गुणस्थान में है और आयु कर्म का जघन्य स्थिति बंध संख्यात वर्ष की आयु वाले (कर्मभूमिया) तिर्यच और मनुष्यों में होता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त आयु वाले कर्मभूमियामनुष्य और तिर्यच हो सकते हैं।

### अनुभव का लक्षण विपाकोऽनुभवः। (21)

अनुभव is the maturing and fruition of karmas. विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति पड़ना ही अनुभव है।

नाना प्रकार के विशिष्ट पाक का नाम विपाक है। अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्मप्रकृतियों के पूर्वास्त्रव के कारण तीव्र, मन्द भाव निमित्तक विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद जनित विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। यही विपाक अनुभव कहा जाता है। शुभ परिणामों की प्रकर्षता में शुभ कर्मप्रकृतियों का उत्कृष्ट और कर्मप्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बंध होता है तथा अशुभ परिणामों की प्रकर्षता में अशुभ कर्मप्रकृतियों का उत्कृष्ट और शुभ कर्मप्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बन्ध होता है। वही अनुभाग अर्थात् कर्मों के फल विपाक

का कारणवश दो प्रकार से होता है- स्वमुख से और परमुख से। सर्व मूल कर्मप्रकृतियों का विपाक तो स्वमुख से ही होता है, परन्तु उत्तर कर्मप्रकृतियों में आयु, दर्शनमोह और चारित्रमोह को छोड़कर शेष सजातीय प्रकृतियों का विपाक परमुख से भी होता है और स्वमुख से भी। क्योंकि नरकायु अपने स्वमुख (नरकायुरूप) से ही फल देती है, तिर्यञ्चायु मनुष्यायु वा देवायु रूप से नहीं। दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय रूप से वा चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय रूप से फल नहीं दे सकती, अतः आयु, दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय कर्म का विपाक स्वमुख से ही होता है।

### स यथानाम । (22)

That fruition is according to the name of the karma e.g. ज्ञानावरणीय Knowledge - obscuring karma prevents the acquisition of knowledge and so on.

वह जिस कर्म का जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है। ज्ञानावरणादि कर्मों के नामानुसार ही फल प्राप्त होता है। जैसे-ज्ञानावरण का फल-विपाक ज्ञान का अभाव है, दर्शनावरण कर्म का विपाक दर्शन-शक्ति का उपरोध है। सुख-दुःख का अनुभव कराना वेदनीय का फल-विपाक है। आत्मा को मोहित करना मोहनीय का कार्य है। भव में रोककर रखना आयु का काम है। अनेक प्रकार से शरीर की रचना करना अर्थात् 'आसमन्तात् एति इति आयु', नरकादि पर्यायों को प्राप्त कराने वाली आयु है। नामकरण वा आकारविशेष कारक नाम है। उच्च-नीच का व्यवहार करने वाला गोत्र और दाता एवं पात्र के मध्य में विघ्नकारक अन्तराय है। इस प्रकार सर्व प्रकृतियों के सर्व विकल्पों के अनुभाग का ज्ञान अपने-अपने अन्वर्थ नाम के अनुसार होता है।

### फल दे चुकने के बाद क्या होता है ?

#### ततश्च निर्जरा । (23)

After that fruition the karmas fall off.

इसके बाद निर्जरा होती है।

पूर्वोपार्जित कर्मों का झड़ जाना ही निर्जरा है। आत्मा को सुख वा दुःख देख खाये हुए औदनादि (भातादि) आहार के मल की तरह स्थिति के क्षय हो

जाने के कारण अवस्थान का अभाव होने से पूर्वोपार्जित कर्मों का झड़ जाना, हो अर्थात् नष्ट हो जाना ही निर्जरा है।

वह निर्जरा दो प्रकार की है - विपाकजा और अविपाकजा। अनेक जातिविशेष से उद्वेलित चार गति रूप संसार महासमुद्र में चिरकाल से परिभ्रमण करने वाले प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिक भावों से उदयावलि स्रोत से क्रम से यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका साता-असाता वा अन्यतर जिस रूप से बन्द हुआ है, उसका उस रूप में स्वाभाविक फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना, उदययागत कर्म का परिमुक्त होकर विनाश को प्राप्त हो जाना ही विपाकजा निर्जरा है। जो कर्म विपाककाल को प्राप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् जिन कर्मों का अभी उदयकाल नहीं आया है, उन्हें भी औपक्रमिक क्रिया (तप) विशेष के सामर्थ्य से अनुदीर्ण कर्मों को भी बलात् उदयावलि में लाकर पका देना, उदयावलि में लाकर उनका अनुभव करना, अविपाक निर्जरा है, जैसे कि, कच्चे आम, पनस आदि फलों का प्रयोग से पका दिया जाता है।

निमित्तान्तरों के समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' के नवम अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है 'तपसा निर्जरा च' तप से निर्जरा होती है, अतः 'च' शब्द से संवर के प्रकरण में कहे जाने वाले 'तप' का संग्रह हो जाता है। अर्थात् कर्म फल देकर भी झड़ जाते हैं और तप से भी।

ये कर्मप्रकृतियाँ घाती और अघाती के भेद से दो प्रकार की हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातियाँ हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, ये अघातियाँ कर्म हैं। सर्वघाती और देशघाती के भेद से घातियाँ कर्म दो प्रकार का है। उनमें केवलज्ञानावरणीय, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, सत्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण, अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये बारह कषाय और दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व), ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। ज्ञानावरण के चार (मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानावरण), दर्शनावरण की चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरण, ये तीन, अन्तराय पाँच (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-शक्ति की बाधक), संज्वलन कषाय

की चार और नौ नोकषाय, ये देशघाती प्रकृतियाँ हैं, अवशिष्ट (बची हुई) अघाती कर्म प्रकृतियाँ हैं। शरीर नामकर्म से लेकर स्पर्श पर्यन्त नाम प्रकृतियाँ, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और निर्माण, ये 62 कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं, चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, आयुकर्म भव धारण कराता है अतः चार आयुकर्म भवविपाकी हैं और शेष प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं। इस प्रकार सूत्र 21 से सूत्र 23 तक में अनुभवबन्ध का व्याख्यान किया।

## प्रदेशबन्ध का वर्णन

### प्रदेशबन्ध का स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः

सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः । (24)

According to the nature caused by their names, from all round, due to the difference in the vibrations योग yoga in the soul activity, not perceptible by the senses, the karmic molecules enter and become one and stay with every moment to each soul.

कर्म प्रकृतियों के कारणभूत प्रति समय योगविशेष से सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तान्त पुद्गल परमाणु सब आत्म प्रदेशों में सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं।

इस सूत्र में प्रदेशबन्ध के कारण प्रदेश बन्ध के सम्य प्रदेशों की संख्या आदि का वर्णन किया गया है। आप लोग को ज्ञात है कि बंध चार प्रकार के होते हैं। (1) प्रकृति बंध (2) प्रदेश बंध (3) स्थिति बंध (4) अनुभाग बंध। अभी तक पहले के तीन प्रकार के बंधों का वर्णन हो गया है। प्रकरण प्राप्त चौथे प्रदेश बन्ध का वर्णन यहाँ किया गया है।

नाम प्रत्यय का अर्थ यह है कि, अपने नाम के अनुसार सर्व प्रकृतियाँ अपने-अपने अनुभाग के अनुसार बंधती है।

“सर्वतः” शब्द से बताया गया कि संसारी जीव के प्रत्येक भव में प्रत्येक समय में कर्म बन्ध होता है। अर्थात् एक जीव के भूत के अनन्त भव, वर्तमान भू एवं भविष्यत् के संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त भव में कर्म बन्ध होते हैं। जब तक जीव अबन्ध अवस्था (13वां गुणस्थान 14 वां और सिद्धावस्था)

को प्राप्त नहीं करता है तब तक कर्म बन्ध होते रहते हैं।

‘योग विशेषात्’ इस शब्द से यह निर्देश किया गया कि मन, वचन काय के परिस्पन्दन से जो आत्म प्रदेश में परिस्पन्दन होता है उससे कर्माश्रव होता है। ‘सूक्ष्म’ शब्द से यह निर्देश किया गया है कि कर्मयोग पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं होते हैं।

एक क्षेत्रावगाहों से सिद्ध होता है कि आत्मप्रदेश और कर्म पुद्गल वर्गणाओं का अवकाश एक ही क्षेत्र में होता है भिन्न-भिन्न क्षेत्र में नहीं। ‘स्थिति शब्द से निर्देश किया गया है कि स्थिर कर्म परमाणु ही कर्म रूप परिणमन करते हैं। अस्थिर (चलते हुए, गमन करते हुए) कर्म परमाणु कर्म रूप पर्याय में परिणमन नहीं करते हैं।

‘सर्व आत्म प्रदेशेषु’ विशेषण से यह कहा गया कि आत्मा के एक दो आदि प्रदेशों में कर्म वर्गणाएँ नहीं बंधती है। परन्तु आत्मा के सम्पूर्ण असंख्यात प्रदेशों में कर्म वर्गणाएँ बंधकर स्थित रहती हैं। “अनंतानंत प्रदेशः” शब्द से यह सिद्ध किया गया कि कर्म परमाणु अनंतानंत हो एक साथ बंधते हैं।

ये न तो संख्यात हैं न असंख्यात हैं और न अनन्त हैं, अपितु अनंतानंत है, इसका प्रतिपादन करने के लिए ‘अनन्तानंत’ शब्द का ग्रहण है। एक समय में आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करने वाले ये पुद्गल स्कन्ध अभव्यों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। वे घनाञ्जुल के असंख्येय भाग रूप क्षेत्रावगाही एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात समय की स्थिति वाली पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाली तथा आठ प्रकार के कर्म रूप से परिणमन करने योग्य पुद्गल वर्गणायें आत्मा के द्वारा योगों के कारण आत्मसात् की जाती हैं वह प्रदेश बन्ध हैं।

गोमद्दुसार कर्मकाण्ड में कहा भी है :-

एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोमां।

बंधदि सगहेदूहिं य अणादियं सादियं उभयं॥185॥

गोमद्दुसार कर्मकाण्ड

जघन्य अवगाहना रूप एक क्षेत्र में स्थित और कर्म रूप परिणमन के योग्य आदि अथवा सादि अथवा दोनों स्वरूप जो पुद्गल द्रव्य है, उसको



यह जीव अपने सब प्रदेशों से मिथ्यात्वादिक के निमित्त से बांधता है अर्थात् कर्म रूप पुद्गलों का आत्मा के प्रदेशों के साथ संबंध होना प्रदेश बन्ध है। यहाँ पर सूक्ष्म निगोद जीव की घनांगुल के असंख्यातवे भाग अवगाहना (जगह) को एक क्षेत्र जानना। अथवा पंचम अध्याय में सविस्तार से वर्णन जिस आकाश प्रदेश में एक परमाणु अवकाश लेता है उसे एक प्रदेश कहते हैं ऐसे ही आत्मा के अविभागी अंश का प्रदेश कहते हैं।

सूत्र में एक समय में जो प्रदेश बंध होते हैं उसकी संख्या अनन्तानन्त दी गई है। उस अनन्तानन्त का स्पष्टीकरण करने के लिए गोम्मट्टसार में कहा है :-

सिद्धाणंतिमभागं                      अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव ।  
समयपबद्धं    बंधदि    जोगवसादो    दु    विसरित्थं ॥४॥

यह आत्मा सिद्धजीवराशि के जो कि अनन्तानन्तप्रमाण कही है अनन्तवें भाग और अभव्व जीव राशि जो जघन्य युक्तानन्त प्रमाण है उससे अनन्त गुणे समय प्रबद्ध को अर्थात् एक समय में बंधने वाले परमाणु समूह को बांधता है :- अपने साथ सम्बद्ध करता है। परन्तु मन, वचन, काय की प्रवृत्ति रूप योगों की विशेषता से (कमती बढ़ती होने से) कभी थोड़े और कभी बहुत परमाणुओं का भी बंध करता है। परिणामों में कषाय की अधिकता तथा मन्दता होने पर आत्मा के प्रदेश जब अधिक वा कम सकम्प (चलायमान) होते हैं तब कर्म परमाणु भी ज्यादा अथवा कम बंधते हैं। जैसे :- अधिक चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी पर कम।

सम्पूर्ण विश्व में 23 (तेईस) वर्गणाएँ खचाखच भरी हुई है। उसमें से एक वर्गणा है कार्माण वर्गणा। कार्माण वर्गणा ही कर्म रूप में परिणमन करती है। तथापि सभी कर्माण वर्गणा एक साथ कर्मरूप में परिणमन नहीं करती हैं। कार्माण वर्गणा में से कुछ कार्माण वर्गणायें ही एक समय कर्म रूप में परिणमन करती है।

कहा भी है:-

एयाणोयक्खेत्तट्ठयरूविअणंतिमं हवे जोगं ।  
अवसेंस तु अजोगं सादि ाणादी हवे तथ्थ ॥(187)॥

एक तथा अनेक क्षेत्रों में ठहरा हुआ जो पुद्गल द्रव्य उसके अनन्तवें भाग पुद्गल परमाणुओं का समूह कर्म रूप होने योग्य हैं, और बाकी अनन्त बहुभाग प्रमाण कर्म रूप होने के अयोग्य है। इस प्रकार 1. एक क्षेत्र स्थित योग्य 2. अनेक क्षेत्रस्थित योग्य 3. अनेक क्षेत्र स्थित योग्य 4. अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य ये चार भेद हुए। इन चारों में भी एक-एक के सादि और अनादि भेद जानना।

सगसगखेत्तगयस्स य अणंतिमं जोगादव्वगयसादी ।  
सेसं अजोगसंगयसादी होदित्ति णिद्धिट्ठं ॥(188)॥

अपने-अपने एक तथा अनेक क्षेत्र में रहने वाले पुद्गल द्रव्य के अनन्तवें भाग योग्य सादि द्रव्य है, और इससे बाकी अनन्त बहुभाग अयोग्य सादि द्रव्य है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

अनादि द्रव्य का प्रमाण:-

सगसगसादिविहीणे जोगाजोग्गे य होदि णियमेण ।  
जोगाजोग्गाणं पुण अणादिदव्वाण परिमाणं ॥(190)

एक क्षेत्र में स्थित योग्य-अयोग्य द्रव्य तथा अनेक क्षेत्र में मौजूद योग्य वा अयोग्य द्रव्य का जो परिणाम है उसमें अपना-अपना सादि द्रव्य का प्रमाण घटाने से जो बचे वह क्रम से एक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य का एक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य का, अनेक क्षेत्र स्थित योग्य अनादि द्रव्य का, अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य अनादि द्रव्य का परिमाण जानना।

यह जीव मिथ्यात्वादिक के निमित्त से समय समय प्रति कर्मरूप परिणामने योग्य समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणुओं को ग्रहण कर कर्मरूप परिणामाता है। उनमें किसी समय तो पहले ग्रहण किये जो सादि द्रव्य रूप परमाणु हैं उसका ही ग्रहण करता है किसी समय में अभी तक ग्रहण करने में नहीं आये ऐसे अनादि द्रव्य रूप परमाणुओं का, और कभी दोनों का ग्रहण करता है।

**समय प्रबद्ध का प्रमाण:-**

सयलरसरूवगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं।  
सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं ॥(191)

वह समय प्रबद्ध, सब अर्थात् पाँच प्रकार रस, पाँच प्रकार वर्ण, दो प्रकार गन्ध तथा शीतादि चार अनंत के स्पर्श, इन गुणोंकर सहित परिणमता हुआ, सिद्ध राशि के अनन्तर्वे भाग अथवा अभव्य राशि से अन्तगुणा कर्मरूप पुद्गल द्रव्य जानना।

एक समय में ग्रहण किया हुआ समय प्रबद्ध आठ मूल प्रकृति रूप परिणमता है उसमें एक एक मूल प्रकृति का बंटवारा जिस तरह होता है उस तरह को बताते हैं:-

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो।  
घादितियेवि य ततो मोहे ततो तदो तदिये ॥(192)

सब मूल प्रकृतियों में आयुर्कर्म का हिस्सा थोड़ा है। नाम और गोत्र कर्म का हिस्सा आपस में समान है, तो भी आयुर्कर्म के बाँट से अधिक है। अन्तराय-दर्शनावरण-ज्ञानावरण इन तीन घातियों कर्मों का भाग आपस में समान है, तो भी नाम, गोत्र के भाग से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है। तथा मोहनीय से भी अधिक वेदनीय कर्म के भाग है। जहाँ जितने कर्मों का बन्ध हो वहाँ उतने ही कर्मों का बाँट कर लेना।

**वेदनीय कर्म का अधिक भाग होने में कारण:-**

सुहदुक्खणिमत्तादो बहुणिज्जरगोत्ति वेयणीयस्स।  
सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदित्ति णिदिदट्ठं ॥(193)

वेदनीय कर्म सुख दुख का कारण है, इसलिये इसकी निर्जरा भी बहुत होती है। इसी वास्ते सब कर्मों से बहुत द्रव्य इस वेदनीय का ही जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

अन्य कर्मों का द्रव्य विभाग स्थिति के अनुसार

सेसाणं पयडीणं ठिदिपडिभागेण होदि दव्वं तु।  
आवलिअसंखभागो पडिभागो होदि णियमेण ॥(194)॥

वेदनीय के सिवाय बाकी सब मूल प्रकृतियों के द्रव्य का स्थिति के अनुसार बँटवारा होता है। जिसकी स्थिति अधिक है उसका अधिक, कम को कम, तथा समान स्थिति वाले को समान द्रव्य हिस्सा में आता है, ऐसा जानना। और इनके बाँट करने में प्रतिभागहार नियम से आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण समझना।

पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द देव में उपरोक्त सिद्धान्त को ही निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है:-

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।

सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ॥64॥

जैसे यह लोक पृथ्वीकाय आदि पांच प्रकार के सूक्ष्म स्थावर जीवों से कज्जल से पूर्ण भरी हुई कज्जलदानी की तरह बिना अन्तर के भरा हुआ है उसी तरह यह लोक अपने सर्व असंख्यात प्रदेशों में दृष्टिगोचर व अदृष्टिगोचर नाना प्रकार के अनंतानंत पुद्गल स्कंधों से भी भरा है। यहां प्रकरण में जो कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल स्कंध हैं वे वहां भी मौजूद हैं जहां आत्मा हैं। वे वहां बिना अन्यत्र से लाए हुए मौजूद हैं। पीछे बंधकाल में और भी वर्गणाएं आवेंगी। यहां यह तात्पर्य है कि यद्यपि वे वर्गणाएं जहां आत्मा है वहां दूध-पानी की तरह कूट-कूटकर भरी हुई हैं।

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।

गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णावगाहमवगाढा ॥65॥

आत्मा वास्तव में संसार अवस्था में पारिणामिक चैतन्य स्वभाव को छोड़े बिना ही अनादि बंधन द्वारा बद्ध होने से अनादि मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध ऐसे अविशुद्ध भावों रूप से ही विवर्तन को प्राप्त होता है (परिणमित होता है)। वह (संसारस्थ आत्मा) वास्तव में जहां और जब मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप ऐसे अपने भाव को करता है, वहां और उस समय उसी भाव को निमित्त बनाकर पुद्गल अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में (विशिष्टता पूर्वक) परस्पर-अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

## पुण्य प्रकृतियाँ सद्वेद्यशुभार्युनामगोत्राणि पुण्यम्। (25)

पुण्य or meritorious karmas are the following

1. सोद्वेद्य Pleasure bearing.
2. शुभायु Good age karma.
3. शुभनाम Good body-making karma.
4. शुभगोत्र High-family determining.

साता वेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं।

शुभ का ग्रहण आयु आदि का विशेषण है। शुभ प्रशस्त ये एकार्थवाची हैं। उस शुभ का ग्रहण आयु आदि का विशेषण है। शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्यप्रकृतियाँ हैं।

शुभ आयु तीन प्रकार की हैं- तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु। यद्यपि तिर्यञ्च गति अशुभ है परन्तु तिर्यञ्चायु शुभ है क्योंकि तिर्यञ्च गति में जाना कोई नहीं चाहता है अतः 'आयु' पुण्यप्रकृति और तिर्यञ्च गति' पाप प्रकृति है।

सैंतीस नाम प्रकृतियाँ शुभ हैं। मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक आदि पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्र-संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थकर नाम ये सैंतीस नामकर्म की प्रकृतियाँ शुभ हैं। उच्च गोत्र और साता वेदनीय मिलकर ये सर्व बयालीस प्रकृतियाँ शुभ हैं, या पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

## पाप प्रकृतियाँ अतोऽन्यत्पापम्। (26)

The karmas other than these are पाप papa or demeritarious karmas.

इनके सिवा शेष सब प्रकृतियाँ पापरूप है।

पुण्य नामक कर्म प्रकृति के समूह से अन्य प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ कहलाती है, वे 82 हैं। पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, 26 मोहनीय की, अन्तराय की

पाँच, नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, ये चार जातियाँ, समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन को छोड़कर पाँच संहनन, अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से स्पर्शादि दो प्रकार के हैं, उनमें अप्रशस्त स्पर्श, अप्रशस्त त्रस, अप्रशस्त गंध, अप्रशस्त वर्ण, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, दे 34 प्रकृतियाँ नाम कर्म की तथा नरकायु, असाता वेदनीय और नीच गोत्र ये मिलकर बयासी (82) पाप प्रकृतियाँ हैं।

### अभ्यास प्रश्न

1. बन्ध किन-किन कारणों से होता है ?
2. कर्म बन्ध किसे कहते हैं ?
3. कर्म बन्ध के कितने भेद हैं ?
4. प्रकृति बन्ध के मूल भेद कितने है तथा उनकी परिभाषा लिखिये ?
5. ज्ञानावरण कर्म के भेद कितने हैं ?
6. दर्शनावरणी कर्म के भेदों की परिभाषा लिखिये ?
7. चारित्र मोहनीय कर्म के उत्तर भेद के नाम लिखो ?
8. नामकर्म का वर्णन करो ?
9. उच्च गोत्र एवं नीच गोत्र किसे कहते हैं ?
10. अन्तराय कर्म के उत्तर भेद लिखो ?
11. कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति कितनी-2 है वर्णन करो ?
12. अनुभाग बन्ध किसे कहते हैं ?
13. निर्जरा कैसे होती है ?
14. प्रदेश बन्ध का सविस्तार वर्णन करो ?
15. पुण्य प्रकृतियाँ कौन-कौन सी है ?
16. पाप प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

## अध्याय 9

### संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन

#### STOPPAGE AND SHEDDING OF KARMA

##### संवर का लक्षण

##### आस्रवनिरोधः संवरः । (1)

The obstruction of influx is stoppage.

आस्रव का निरोध करना संवर है।

अष्टम अध्याय तक जीव, अजीव, आस्रव, बंधतत्त्वों का वर्णन हो चुका है। इस अध्याय में संवर एवं निर्जरा तत्त्व का सविस्तार से वर्णन है। आस्रव एवं बंध तत्त्व संसार के लिए कारण तथा संवर और निर्जरा तत्त्व मोक्ष के लिए कारण है।

आस्रव के विपरीत तत्त्व संवर तत्त्व है। नूतन कर्म के आगमन को आस्रव कहते हैं तो उसके निरोध को संवर कहते हैं। यह संवर दो प्रकार का है। (1) भाव संवर, (2) द्रव्य संवर। जिस भाव से संसार का विच्छेद होता है या द्रव्य संवर के लिए जो मूल कारण है उसे भाव संवर कहते हैं।

इस भाव संवर के द्वारा आगत कर्म परमाणुओं का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है। जैसे-पानी में रहने वाले जहाज में छिद्र हो जाने पर उस छिद्र के माध्यम से पानी का आगमन उस जहाज में होता है। जब उस छिद्र को बन्द कर दिया जाता है तब पानी आना रुक जाता है। थोड़ा-थोड़ा पानी निकालने पर पानी कम होता जाता है। पूर्ण पानी निकाल देने से जहाज पानी के भार से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व आदि भावात्मक छेद से कर्मों का आगमन होना आस्रव है। आत्मा में कर्म का अवस्थान होना बंध है। मिथ्यात्वादि आस्रव द्वार को सम्यक्त्वादि भावों से रोकना भाव संवर है। इन भावसंवर से आगत कर्मों का रुक जाना द्रव्य संवर है। तपादि से एक देश कर्मों का क्षय करना निर्जरा है। रत्नत्रय से पूर्ण कर्मों का क्षय करना मोक्ष है। द्रव्य संग्रह में कहा भी है-

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरुहणे हेदू।

सो भावसंवरु खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥(34)

जो चेतन का परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसको निश्चय से भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रव को रोकने में कारण है सो दूसरा अर्थात् द्रव्यसंवर है।

मिथ्यादर्शन की प्रधानता से जिस कर्म का आस्रव होता है, उसका मिथ्यादर्शन के अभाव में शेष रहे सासादन सम्यक् दृष्टि आदि में संवर होता है- वह कर्म कौन है? मिथ्यात्व, नपुंसक वेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर यह सोलह प्रकृति रूप कर्म है।

**असंयम के तीन भेद है:-** अनंतानुबंधी का उदय, अप्रत्याख्यानावरण का उदय, और प्रत्याख्यानावरण का उदय। इसलिये इसके निमित्त से जिस कर्म का आस्रव होता है उसका इसके अभाव में संवर जानना चाहिए। यथा- अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होने वाली असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनंतानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया, अनन्तानुबंधी लोभ, स्त्री वेद, तिर्यचायु, तिर्यच गति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, तिर्यचगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति-दुर्भंग, दुःस्वर, अनादेय और नीच गोत्र इन पच्चीस प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर सासादन सम्यक्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं अतः अनन्तानुबन्धी के उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाले अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, मनुष्यायु, मनुष्य गति, औदारिक शरीर, औदारिक आंगोपाङ्ग, वज्रवृषभनाराच संहनन और मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर असंयत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बन्ध करते हैं। अतः अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है। प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाले असंयम के अभाव में संवर होता है। जो कर्म प्रमाद निमित्त से आस्रव को प्राप्त होता है, उसका प्रमत्त संयत गुणस्थान के आगे प्रमाद न रहने के कारण संवर जानना चाहिए।



वह कर्म कौन है? असातावेदनीय, अरति, शोक अस्थिर, अशुभ और अयशः कीर्ति रूप प्रकृतियों के भेद से वह कर्म छह प्रकार का है। देवायु के बन्ध का आरम्भ प्रमाद हेतुक भी होता है और उसके नजदीक का अप्रमाद हेतुक भी, अतः इसका अभाव होने पर आगे उसका संवर जानना चाहिए, जिस कर्म का मात्र कषाय के निमित्त से आस्रव होता है, प्रमादादिक के अभाव में होने वाला वह कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्य रूप से तीन गुण स्थानों में अवस्थित है। उनमें से अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रारम्भिक संख्येय भाग में निद्रा और प्रचला ये दो कर्म प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं। इससे आगे संख्येय भाग में देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्माण शरीर, समुचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानूपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त, विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थकर ये तीस प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त होती हैं तथा इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं। ये तीव्र कषाय से आस्रव को प्राप्त होने वाली प्रकृतियाँ हैं, इसलिए तीव्र कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने से विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है। अनिवृत्ति बादर साम्पराय के प्रथम समय से लेकर उसके संख्यात भागों में पुंवेद और क्रोध संज्वलन का बन्ध होता है। इससे आगे शेष रहे संख्यात भागों में मान संज्वलन और माया संज्वलन ये दो प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं और उसी के अन्तिम समय में लोभ संज्वलन बन्ध को प्राप्त होता है। इन प्रकृतियों का मध्यम कषाय के निमित्त से आस्रव होता है अतएव मध्यम कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने पर विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है। मन्द कषाय के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशः कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का सूक्ष्मसाम्यराय जीव बन्ध करता है, अतः मन्द कषाय का अभाव होने से आगे इनका संवर होता है। केवल योग के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली असाता वेदनीय का उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और संयोग केवली जीवों के बन्ध होता है। योग का अभाव हो जाने से

अयोगकेवली के उसका संवर होता है।

पंचास्तिकाय में कुन्द कुन्द देव ने कहा भी हैं—

ईदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्मि।

जावत्तावत्तेहिं पिहियं पावासवच्छिदं॥(141)

मार्ग वास्तव में संवर है, उसके निमित्त से (उसके हेतु से) इन्द्रियों, कषायों तथा संज्ञाओं का जितने अंश में अथवा जितने काल निग्रह किया जाता है उतने अंश में अथवा उतने काल पापाम्रव का द्वार बन्द होता है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।

णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥(142)

जिसे समग्र पर द्रव्यों के प्रति रागरूप, द्वेषरूप या मोहरूप भाव नहीं है, उस भिक्षु को- जो कि निर्विकार चैतन्यपने के कारण समसुख दुःख है उसे-शुभ और अशुभ कर्म का आम्रव नहीं होता, किन्तु संवर ही होता है। इसलिये यहां (ऐसा समझना कि) मोह राग, द्वेष परिणाम का निरोध सो भावसंवर है, और वह जिसका निमित्त है ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के शुभाशुभ कर्म परिणाम का निरोध सो द्रव्यसंवर है।

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।

संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स॥143॥

जिस योगी को, (अयोग केवली) विरत अर्थात् सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए, योग में-वचन, मन और कायसम्बन्धी क्रिया में शुभपरिणामरूप पुण्य और अशुभ परिणामरूप पाप जब नहीं होते, तब उसे शुभाशुभभावकृत द्रव्यकर्म का स्वकारण के अभाव के कारण, संवर होता है। इसलिये यहां शुभाशुभ परिणाम का निरोधरूप भावपुण्य पापसंवर, द्रव्य पुण्यपापसंवर का प्रधान हेतु अवधारना (समझना) चाहिये।

### संवर के कारण

स गुप्तिसमित्तिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः। (2)

Stoppage (is effected) by control, carefulness, virtue, contemplation conquest by endurance and conduct. It is produced by-

3 Kinds of गुप्ति, perservation, control.

5 Kinds of समिति, carefulness.

10 Kinds of धर्म, observances, virtue.

12 Kinds of अनुप्रेक्षा Meditation, contemplation.

22 Kinds of परिषहजय Subdual of sufferings or conquest by endurance.

5 Kinds of चारित्र conduct.

वह संवर, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र से होता है।

**गुप्ति** :- संसार के कारणों से आत्मा के गोपन वा रक्षण को गुप्ति कहते हैं।

**समिति** :- दूसरे प्राणियों की रक्षा की भावना से सम्यक् प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं।

**धर्म** :- इष्ट स्थान में जो धरता है, वह धर्म है। जो आत्मा को नेन्द्र, सुरेन्द्र, मुनीन्द्र आदि स्थानों में धरता है, वह धर्म है।

**अनुप्रेक्षा** :- शरीरादि के स्वभाव का बार-बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

**परिषहजय** :- परिषह का जीतना परिषहजय कहलाता है।

**चारित्र** :- जो आचरण किया जाय, वह चारित्र है।

गुप्ति, समिति आदि के द्वारा कर्मों का निरोध किया जाता है। अतः गुप्ति आदि संवर से पृथक् सिद्ध होते हैं, गुप्ति आदि कारण हैं और संवर कार्य हैं। इनमें कार्य-कारण भेद भी है, क्योंकि गुप्ति आदि के द्वारा संवर होता है।

द्रव्य संग्रहः में कहा है-

वदसमिदीगुत्तीओं धम्माणुपेहा परीसहजओ य।

चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा।(35)

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस प्रकार ये सब भाव संवर के भेद जानने चाहिये।

## निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च। (3)

By penance (austerity) dissociation also.

By austerities is caused shedding of Karmic matter and (also stoppage of inflow).

तप से संवर और निर्जरा होती है।

यद्यपि तप दस धर्मों में अन्तर्भूत है फिर भी विशेष रूप से निर्जरा का कारण बताने के लिए अर्थात् तप भी निर्जरा का कारण है, इस बात को रूपायित करने के लिए तप का पृथक् ग्रहण किया गया है।

अथवा, सर्व संवर के हेतुओं में तप ही प्रधान हेतु है इसका ज्ञान कराने के लिए तप को पृथक् ग्रहण किया गया है।

संवरनिमित्त के समुच्चय के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया है। 'च' शब्द तप संवर का हेतु भी होता है। इस संवरहेतुता का समुच्चय करता है, क्योंकि तप के द्वारा नूतन कर्म बन्ध रूककर पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय भी होता है। अतः तप अविपाक निर्जरा का कारण है। अर्थात् तप से अविपाक निर्जरा होती है इस प्रकार तप के जातीयत्व होने से ध्यानों के भी निर्जरा का कारणत्व प्रसिद्ध है।

**प्रश्न-** तप निर्जरा का कारण नहीं है, क्योंकि तप को तो देवेन्द्रादि के अभ्युदय स्थान की प्राप्ति का कारण कहा है ?

**उत्तर-** ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि एक ही कारण से अनेक कार्य होते हैं अर्थात् एक ही कारण से अनेक कार्यों का आरम्भ-प्रारम्भ देखा जाता है। जैसे, एक ही अग्नि पाक, विकलेदन और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती है वैसे ही तप अभ्युदय का विधान और कर्मों का क्षय करता है, इसमें क्या विरोध है? अर्थात् तप से सांसारिक अभ्युदय और मुक्ति दोनों प्राप्त होते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।

किसान की खेती के समान गौण और प्रधानता से फल की प्राप्ति होती है अथवा जैसे किसान मुख्य रूप से धान्य के लिए खेती करता है, गौण

रूप से पलाल (घास) तो उसे अनायास प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार मुनिराज की तपक्रिया में प्रधान फल मोक्ष है। अर्थात् गौणता से तप का फल किसान के घास की प्राप्ति के समान अभ्युदय की प्राप्ति है वह आनुषङ्गिक है, ऐसा जानना चाहिए।

द्रव्य संग्रहः में कहा भी है—

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुगलं जेण।  
भावेण सड्दि णेया तस्सड्ढणं चेदि णिज्जरा दुविहा।(36)

जिस आत्मा के परिणामरूप भाव से कर्मरूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होते हैं वह तो भाव निर्जरा है और सविपाक निर्जरा की अपेक्षा से यथाकाल अर्थात् काललब्धिरूप कालसे तथा अविपाक निर्जरा की अपेक्षा से तप से जो कर्मरूप पुद्गलों का नष्ट होना है सो द्रव्य निर्जरा है।

पंचास्तिकाय प्राभृत में कहा गया है—

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिद्धदे बहुविहेहिं।  
कम्माण णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं।(144)

निर्मल आत्मा के अनुभव के बल से शुभ तथा अशुभ भावों का रूकना संवर है। निर्विकल्प लक्षणमयी ध्यान शब्द से कहने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो योग है। शुद्धात्मानुभव के सहकारी कारण बाह्य छः प्रकार के तप-अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः तप स्वाभाविक शुद्ध अपने आत्मा के स्वरूप में तपने रूप अभ्यंतर तप हैं। जो साधु संवर और योग से युक्त हो बारह प्रकार तप का अभ्यास करता है। वह बहुत से कर्मों की निर्जरा अवश्य कर देता है। यहाँ यह भाव है कि, बारह प्रकार तप के द्वारा वृद्धि को प्राप्त जो वीतराग परमानन्दमयी एक शुद्धोपयोग सो भाव निर्जरा है। यही भाव द्रव्यकर्मों को जड़मूल से उखाड़ने को समर्थ है। इस शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बांधे हुए कर्म पुद्गलों का रस रहित होकर संवर पूर्वक एक देश झड़ जाना सो द्रव्य निर्जरा है।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।  
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।(145)

जो कोई शुभ व अशुभ रागादिरूप आस्रव भावों को रोकता हुआ संवर भाव से युक्त है तथा त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्व को समझकर अन्य प्रयोजनों से अपने को हटाकर शुद्धात्मानुभव रूप केवल अपने कार्य को साधने वाला है व जो सर्व आत्मा के प्रदेशों में निर्विकार नित्य, आनन्दमयी एक आकार में परिणमन करते हुए आत्मा को रागादि विभाव भावों से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानकर निश्चल आत्मा की प्राप्तिरूप निर्विकल्परूप ध्यान से निश्चय से गुण-गुणी के अभेद से विशेष भेदज्ञान में परिणमनस्वरूप ज्ञानमई आत्मा को ध्याता है सो परमात्मध्यानका ध्यानेवाला कर्मरूप रज की निर्जरा करता है। वास्तव में ध्यान ही निर्जरा का कारण है ऐसा इस सूत्र में व्याख्यान किया गया है यह तात्पर्य है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।  
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी।(146)

शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति सो यथार्थ ध्यान है। इस ध्यान के प्रगट होने की विधि अब कही जाती है-

जब वास्तव में योगी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गल कर्म होने से उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों में संकुचित करे, तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके (उस विपाक के अनुरूप परिणमन में से उपयोग का निवर्तन करके) मोही, रागी और द्वेषी न होने वाले ऐसे उस उपयोग का अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही निष्कंपरूप से लीन करता है, तब उस योगी को जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रान्त है, वचन-मन-काय को नहीं भाता (अनुभव करता) और स्वकर्मों में व्यापार नहीं कराता उसे-सकल शुभाशुभ कर्मरूप ईधन को जलाने में समर्थ होने से अग्निसमान ऐसा, परमपुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय भूत ध्यान प्रगट होता है।

## गुप्ति का लक्षण सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । (4)

Curbing activity well is control. गुप्ति Prevention is proper control  
nigrahaover mind मन, speech वचन and body काय ।

**योगों का सम्यग् प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।**

उस मन-वचन, काय को यथेच्छ विचरण से रोका जाता है, उसको निग्रह कहा जाता है। मन, वचन-काय रूप योग का निग्रह योगनिग्रह कहा जाता है।

इसका 'सम्यग्' यह विशेषण सत्कार, लोकपंक्ति आदि आकांक्षाओं की निवृत्ति के लिये है। पूजा पुरस्सर क्रिया सत्कार कहलाती है, 'यह संयत महान् है' ऐसी लोकप्रसिद्धि लोकपंक्ति है। इस प्रकार और भी इहलौकिक फल की आकांक्षा आदि का उद्देश्य न लेकर तथा पारलौकिक सुख की आकांक्षा न करके किया गया योग का निग्रह गुप्ति कहलाता है। उसका ज्ञान कराने के लिये सम्यग् विशेषण दिया गया है।

इसलिये कायादि के निरोध होने से तद् निमित्तक कर्मों के रूप जाने से गुप्ति आदि में संवर की प्रसिद्धि है ही अर्थात् सम्यग्विशेषण विशिष्ट, संक्लेश परिणामों के प्रादुर्भाव से रहित कायादियोगों का सम्यक् प्रकार निरोध हो जाने पर काय-वचन-मन रूप योग के निमित्त से होने वाले, आने वाले कर्मों का आस्रव रूक जाना ही संवर है, कर्मों का रूक जाना ही संवर है, ऐसा जानना चाहिये। गुप्ति तीन प्रकार की है— मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इसमें अयत्नाचारी के बिना देखे, बिना शोधे भूमि प्रदेश पर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, शयन करना, बैठना आदि शारीरिक क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म आते हैं, वा कायिक निमित्त जिन कर्मों का अर्जन होता है, उन कर्मों का आस्रव काययोग का निग्रह करने वाले अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती संयमी के नहीं होता। इसी प्रकार वाचनिक असंवरी-संवररहित असत् प्रलापी जीव के अप्रिय वचनादि का हेतुक (अप्रिय वचन बोलने आदि से) जो वाचनिक व्यापार निमित्तक कर्म आते हैं, वचनों का विग्रह करने वाले वचनयोगी के

उन कर्मों का आस्त्रव नहीं होता। जो रागद्वेषादि से अभिभूत प्राणी के अतीत, अनागत विषयाभिलाषा आदि से मनोव्यापार निमित्तक कर्म आते हैं, वे कर्म मनोनिग्रही के नहीं आते, अतः योगनिग्रह (योग का निरोध) हो जाने पर तत्सम्बन्धी कर्म कभी नहीं आते अर्थात् उन कर्मों का संवर हो जाता है। अतः योगनिग्रही के संवर सिद्ध है।

## समिति के भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः। (5)

Walking, speech, eating, lifting and laying down and depositing waste products constitute the fivefold regulation of activities.

समिति - Carefulness in to take.

सम्यक्ईर्यासमिति - Proper care in walking.

सम्यक्भाषासमिति - Proper care in speaking.

सम्यक्एषणासमिति - Proper care in eating.

सम्यक्आदाननिक्षेप समिति - Proper care in lifting and laying.

सम्यक् उत्सर्ग समिति - Proper care in excreting.

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

(1) ईर्यासमिति-

फासुयमग्गेण दिवा जुंगतरप्पेहिणा सकज्जेण।

जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥ (11)

मूलाचार भाग-1

प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखनेवाले साधु के द्वारा दिवस में जीवों की रक्षाकरते हुये गमन करना ईर्या समिति है।-

‘प्रगता असवो यस्मिन्’- निकल गये हैं प्राणी जिसमें से उसे प्रासुक कहते हैं। ऐसा प्रासुक-निरवद्य मार्ग है। उस प्रासुक मार्ग से अर्थात् हाथी, गधा, ऊँट, गाय, भैंस और मनुष्यों के समुदाय के गमन से उपमर्दित हुआ जो मार्ग है उस मार्ग से दिवस में - सूर्य के उदित हो जाने पर, चक्षु से वस्तु स्पष्ट दिखने पर चार हाथ आगे जमीन को देखते हुए अर्थात् अच्छी



तरह एकाग्रचित्तपूर्वक पैर रखने के स्थान का अवलोकन करते हुए सकार्य अर्थात् शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन आदि प्रयोजन से, एकेन्द्रिय आदि जन्तुओं की विराधना न करते हुए जो गमन करना होता है वह ईर्यासमिति है। इससे यह भी समझना कि धर्मकार्य के बिना साधु को नहीं चलना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि, धर्मकार्य के निमित्त चार हाथ आगे देखते हुए साधु के द्वारा दिवस में प्रासुक मार्ग से जो गमन किया जाता है वह ईर्यासमिति कहलाती है। अथवा साधु का जीवों की विराधना न करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है।

## (2) भाषा समिति-

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पपसंसविकहादी।

वज्जिता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं॥(12)

चुगली, हँसी, कठोरता, परनिन्दा, अपनी प्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर अपने और पर के लिए हितरूप बोलना भाषा समिति है।

पिशुन- चुगली के भाव को पैशुन्य कहते हैं -- अर्थात् निर्दोष के दोषों का उद्भावन करना, निर्दोष को दोष लगाना। हास्य कर्म के उदय से अधर्म के लिए हर्ष होना हास्य है। कान के लिए कठोर, काम और युद्ध के प्रवर्तक वचन कर्कश हैं। पर के सच्चे अथवा झूठे दोषों को प्रगट करने की इच्छा का होना अथवा अन्य के गुणों को सहन नहीं कर सकता यह पर निन्दा है। अपनी प्रशंसा-स्तुति करना अर्थात् अपने गुणों को प्रकट करने का अभिप्राय रखना और स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राजकथा आदि को कहना विकथादि हैं। इन चुगली आदि के वचनों को छोड़कर अपने और पर के लिए सुखकर अर्थात् कर्मबन्ध के कारणों से रहित वचन बोलना भाषा समिति है।

तात्पर्य यह है कि पैशुन्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर स्व और पर के लिए हितकर जो कथन करना है वह भाषा समिति है।

### (3) एषणासमिति—

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं वैसुद्धणवकोडी ।  
सीदादीसमभुत्ती पत्तिरुद्धः एसणासमिदि ॥(23)

छ्यालीस दोषों से रहित शुद्ध, कारण से सहित, नव-कोटि से विशुद्ध और शीत-उष्ण आदि में समान भाव से भोजन करना यह सम्पूर्णतया निर्दोष एषणा समिति है।

उद्दाम, उत्पादन, एषणा आदि छ्यालीस दोषों से शुद्ध आहार निर्दोष कहलाता है। असाता के उदय से उत्पन्न हुई भूख के प्रतीकार हेतु और वैयावृत्य आदि के निमित्त किया गया आहार कारण युक्त होता है। मन, वचन, काय को कृत, कारित-अनुमोदना से गुणित करने पर नव होते हैं। इन नव-कोटि विकल्पों से रहित आहार नव-कोटि-विशुद्ध है। ठण्डा, गर्म, लवण से सरस या विरस अथवा रूक्ष आदि भोजन में समान भाव अर्थात् शीत उष्ण आदि भोज्य वस्तुओं में राग द्वेष रहित होना, इस प्रकार सब तरफ से निर्मल निर्दोष आहार ग्रहण करना एषणा समिति होती है। तात्पर्य यह है कि छ्यालीस दोष रहित जो आहार ग्रहण का है जो कि कारण सहित है और मन-वचन-काय पूर्वक कृत कारित अनुमोदना से रहित तथा शीतादि में समता भावरूप है, वह साधु के निर्मल एषणा समिति होती है।

### (4) आदान-निक्षेपण समिति—

णाणुवहि संजमवहिं सउच्चुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा ।  
पयदं गह्णिकखेवोसमिदि आदाणणिकखेवा ॥(34)

ज्ञान का उपकरण, संयम का उपकरण, शौच का उपकरण अथवा अन्य भी उपकरण को प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करना और रखना आदान निक्षेपण समिति है। ज्ञान-श्रुतज्ञान के, उपधि-उपकरण अर्थात् ज्ञान के निमित्त पुस्तक आदि ज्ञानोपधि हैं। पापक्रिया से निवृत्ति लक्षण वाले संयम के उपकरण अर्थात् प्राणियों की दया के निमित्त पिच्छिका आदि संयमोपधि हैं। मल आदि के दूर करने के उपकरण अर्थात् मल मूत्रादि प्रक्षालन के निमित्त कमण्डलु आदि द्रव्य शौचोपधि हैं। अन्य भी उपधि का अर्थ है संस्तर आदि उपकरण। अर्थात् घास, पाटा,

आदि वस्तुएँ। इन सब उपकरणों को प्रयत्न पूर्वक अर्थात् उपयोग स्थिर करके सावधानी पूर्वक ग्रहण करना तथा देख, शोधकर ही रखना यह आदान निक्षेपण समिति है। यहाँ गाथा में 'उपधि' शब्द में द्वितीया विभक्ति है किन्तु प्राकृत व्याकरण के बल से यहाँ पर षष्ठी विभक्ति का अर्थ लेना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण तथा अन्य भी उपधि (वस्तुओं) का सावधानी पूर्वक पिच्छिका से प्रतिलेखन करके जो उठाना और धरना है वह आदाननिक्षेपण समिति है।

### (5) प्रतिष्ठापन समिति-

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे।  
उच्चारादिच्छाओ पदिठावणिया हवे समिदि॥(15)

एकान्त, जीव जन्तु रहित, दूर स्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण, और विरोध रहित स्थान में मल मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है।

जहाँ पर असंयत जनों का गमनागमन नहीं है, ऐसे विजन स्थान को एकान्त कहते हैं। हरितकाय और त्रसकाय आदि से रहित जले हुये अथवा जले के समान ऐसे स्थण्डिल-खुले मैदान को अचित्त कहा है। ग्राम आदि से दूर स्थान को यहाँ दूर शब्द से सूचित किया है। संवृत्त-मर्यादा सहित स्थान अर्थात् जहाँ लोगों की दृष्टि नहीं पड़ सकती ऐसे स्थान को गूढ कहते हैं। विस्तीर्ण या विलादि से रहित स्थान विशाल कहा गया है और जहाँ पर लोगों का विरोध नहीं है वह अविरुद्ध स्थान है। ऐसे स्थान में शरीर के मल मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना नाम की समिति है। तात्पर्य यह हुआ कि एकान्त, अचित्त, दूर, गूढ, विशाल और विरोध रहित प्रदेशों में सावधानी पूर्वक जो मल आदि का त्याग करना है वह मल-मूत्र विसर्जन के रूप में प्रतिष्ठापन समिति होती है। ये समितियाँ पर्यावरण-शुद्ध के लिये कारण भूत भी है।

### दश धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।

### (6)

Supreme forbearance, modesty, straightforwardness, purity,

truthfulness, self restraint, austerity, renunciation, non-attachment and celibacy constitute virtue or duty.

The दशलाक्षणीधर्म, 10 observances are constitute virtue are :

उत्तम क्षमा Forgiveness or supreme forbearance.

उत्तम मार्दव Humility or modesty.

उत्तम आर्जव Straight-forwardness, honesty.

उत्तम शौच Contentment or purity.

उत्तम सत्य Truth or truthfulness.

उत्तम संयम Restraint

उत्तम तप Austerities.

उत्तम त्याग Renunciation.

उत्तम आकिञ्चन्य Not taking the non-self for one's own self and

उत्तम ब्रह्मचर्य Chastity, all of the highest degree.

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म है।

(1) उत्तम क्षमा— क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत असह्य आक्रोशादि के सम्भव होने पर भी कालुष्य भाव का नहीं होना क्षमा है। शरीर-यात्रा के लिए पर-घर में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए भिक्षु को दुष्टजनों के द्वारा कृत आक्रोश (गाली), हँसी, अवज्ञा, ताडन, शरीरच्छेदन आदि क्रोध असह्य निमित्त मिलने पर भी कलुषता का न होना उत्तम क्षमा है।

इन उत्तम क्षमा आदि सर्व धर्मों में स्वगुण-प्राप्ति और प्रतिपक्षी दोष की निवृत्ति की भावना की जाती है। अतः ये दस धर्म संवर के कारण हैं, ऐसा जानना चाहिए। जैसे-व्रत-शील का रक्षण, इहलोक और परलोक में दुःख नहीं होना, सर्व जगत् में सन्मान और सत्कार प्राप्त होना आदि क्षमा के गुण हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का नाश करना क्षमा धर्म के प्रतिपक्षी क्रोध के दोष हैं। अर्थात् क्षमा के कारण व्रत-शीलादि का रक्षण, सन्मान-सत्कार

आदि की प्राप्ति होती है और क्रोध से धर्मादि सर्व गुणों का नाश होता है, ऐसा चिंतन करके क्षमा धारण करनी चाहिये। अथवा पर (दूसरे) के द्वारा प्रयुक्त गाली आदि क्रोध निमित्त का अपनी आत्मा में भावाभाव का चिंतन करना चाहिए कि ये दोष मुझ में विद्यमान है ही यह क्या मिथ्या कहता है? ऐसा विचार करके गाली देने वाले को क्षमा करना चाहिये (यह भाव चिंतन है)। यदि यह दोष अपने में नहीं है तो 'यह दोष मुझमें नहीं है, अज्ञान के कारण यह बेचारा ऐसा कहता है' इस प्रकार अभाव का चिन्तन करके क्षमा करना चाहिये।

अथवा गाली वा आक्रोश वचन कहने वाले के बाल (मूर्ख) स्वभाव का चिन्तन करना चाहिये। परोक्ष, प्रत्यक्ष, आक्रोश, ताडन-मारण, धर्मभ्रंश आदि का उत्तरोत्तर रक्षार्थ विचार करना चाहिये। जैसे-कोई बालक (मूर्ख) परोक्ष में गाली देता है, कटु वचन कहता है तो बालक पर क्षमा ही करनी चाहिये। सोचना चाहिए कि मूर्खों का यह स्वभाव ही है। भाग्यवश यह मुझे परोक्ष (पीठ पीछे) हो गालीदेता है, प्रत्यक्ष तो नहीं। मूर्ख तो मुँह पर गाली देते हैं। अतः लाभ ही है ऐसा मानना चाहिए। यदि मूर्ख प्रत्यक्ष गाली देता है तो सोचना चाहिए कि वह भाग्यवश मुझे गाली ही देता है, मारता तो नहीं, ऐसा विचार कर क्षमा करना चाहिए। वा गाली देना बालकों का स्वभाव ही है, मेरा तो इसमें लाभ ही है, ऐसा मानना चाहिए कि मूर्ख तो मारते भी हैं। यदि मूर्ख मारता है तो विचारना चाहिये कि भाग्यवश यह मुझे मारता ही है, प्राण तो नहीं लेता है, प्राणों से रहित तो नहीं करता है, मूर्ख तो प्राण भी लेते हैं, यह तो मुझे लाभ ही है, ऐसा मानना चाहिए। प्राण ले लेने पर भी क्षमा ही करना चाहिये। विचार करना चाहिये कि भाग्यवश यह मुझको मारता ही है, मेरे प्राण ही लेता है, मेरा धर्म तो नष्ट नहीं करता। इस प्रकार बाल स्वभाव के चिन्तन द्वारा चित्त में क्षमा भाव को पुष्ट करना चाहिए अथवा सोचना चाहिए कि यह मेरा ही अपराध है जो मैंने पूर्व में महान् दुष्कर्म किये थे, उसके फलस्वरूप मुझे ये गाली-कुवचन सुनने पड़ रहे हैं। यह गाली देने वाला तो इसमें निमित्तमात्र है, इसमें मूल कारण तो मेरा पूर्वोपाजित कर्म ही है ऐसा विचार करके सहन करना चाहिए।

(2) **उत्तम मार्दव धर्म**— जाति आदि मद के आवेश से अभिमान का अभाव होना मार्दव है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और वीर्य की शक्ति से युक्त होने पर भी तत्कृत मद का अभाव होना तथा दूसरों के द्वारा परिभव के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान नहीं होना उत्तम मार्दव धर्म कहलाता है।

निरभिमानी और मार्दव गुणों से युक्त व्यक्ति पर गुरुओं का अनुग्रह होता है, साधुजन भी उसे साधु मानते हैं, गुरुजनों के अनुग्रह से वह सम्यग्ज्ञानादि का पात्र होता है। अर्थात् निरभिमानी को गुरुओं के अनुग्रह से सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है और उससे स्वर्ग तथा मोक्षफल की प्राप्ति होती है। मान कषाय से मलिन चित्त में ब्रत-शीलादि गुण नहीं रह सकते हैं और मानी को साधुजन छोड़ देते हैं। सर्व विपदाओं की जड़ अहंकार भाव है।

(3) **उत्तम आर्जव धर्म**— योग की सरलता आर्जव है। मन, वचन, काय लक्षण योग की सरलता वा मन, वचन, काय की कुटिलता का अभाव उत्तम आर्जव है।

सरल हृदय में गुणों का वास होता है, गुण मायाचार का आश्रय नहीं लेते। अर्थात् मायाचारी में गुणों का वास नहीं होता। मायाचार से निन्दनीय तिर्यचादि गति प्राप्त होती है।

(4) **उत्तम शौच धर्म**— प्रकर्षता को, प्राप्त लोभ की निवृत्ति शौच है। आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति शौच है। वा शुचि का (पवित्रता का) भाव वा कर्म उत्तम शौच है।

शुचि आचार वाले निर्लोभ व्यक्ति का इस लोक में सर्व लोग सम्मान करते हैं। विश्वास आदि उसका आश्रय लेते हैं। अर्थात् निर्लोभ व्यक्ति का सर्व जन विश्वास करते हैं। लोभ से आक्रान्त हृदय में गुण नहीं रहते हैं, लोभी इस लोक (भव) में अचिन्त्य दुःख और परलोक में दुर्गति को प्राप्त होता है। अर्थात् इह, परलोक में लोभी अनेक दुःख भोगता है।

जीवित, आरोग्य, इन्द्रिय और उपभोग के भेद से लोभ चार प्रकार का है। अर्थात् जीवित लाभ, आरोग्य लोभ, इन्द्रिय लोभ और उपयोग लोभ के

भेद से लोभ चार प्रकार का है। स्व-पर विषय के भेद से प्रत्येक लोभ दो प्रकार का है। जैसे- स्वजीवन लोभ, पर-जीवन लोभ, स्व-आरोग्य लोभ, पर आरोग्य लोभ, स्व इन्द्रिय लोभ, पर इन्द्रिय लोभ, और स्व-उपभोग लोभ, पर उपभोग लोभ। अपने जीवन, इन्द्रिय, विषय, आरोग्य और उपभोग सामग्री की कांक्षा रूप चार प्रकार के लोभ की निवृत्ति लक्षण वाला शौचधर्म भी मुख्यता से चार प्रकार का है।

शुचि आचार वाले निर्लोभ व्यक्ति का इस लोक में सर्व लोग सम्मान करते हैं। विश्वास आदि उसका आश्रय लेते हैं। अर्थात् निर्लोभ व्यक्ति का सर्वजन विश्वास करते हैं। लोभ से आक्रान्त हृदय में गुण नहीं रहते हैं, लोभी इस लोक (भव) में अचिन्त्य दुःख और परलोक में दुर्गति को प्राप्त होता है। अर्थात् इहपरलोक में लोभी अनेक दुःख भोगता है।

**5. उत्तम सत्यः--** सत् जनों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है। सत् प्रशंसनीय मनुष्यों के साथ प्रशंसनीय वचन बोलना उत्तम सत्य कहलाता है। वह सत्य दस प्रकार का है।

भाषा समिति में सत्य धर्म का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि भाषा समिति में संयत साधु (साधुर्मी) असाधु (विधुर्मी) के साथ भाषा का व्यवहार करते समय हित और मित वचन बोलता है। यदि साधु-असाधु में हित, मित वचनों का प्रयोग न करे तो राग और अनर्थदण्ड आदि दोषों का प्रसंग आता है, ऐसा समिति का लक्षण कहा है, परन्तु सत्य धर्म में अपने सहधुर्मी साधुओं या भक्तों के साथ धर्मवृद्धि के निमित्त या ज्ञान, चारित्र के शिक्षण आदि के लिए प्रशंसनीय बहुत बोलना स्वीकृत है अर्थात् सत्य धर्म वाला अपने सहधुर्मियों के साथ धर्मवृद्धि के निमित्त अधिक भी बोल सकता है।

**(6) उत्तम संयमः--** भाषादि की निवृत्ति संयम नहीं है, क्योंकि भाषा आदि की निवृत्ति का गुप्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। गुप्ति निवृत्ति रूप है इसलिये निवृत्ति रूप गुप्तियों में भाषादि की निवृत्ति का अन्तर्भाव हो जाने से संयम का अभाव हो जाता है।

समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार संयम है। ईर्या समिति आदि में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के जो समितियों की प्रतिपालना

करने के लिए प्राणियों की पीड़ा का परिहार है और इन्द्रिय के विषयों से विरक्त होना है, उसे संयम कहते हैं। यह संयम प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम की अपेक्षा दो प्रकार है।

(1) प्राणि संयम:— एकेन्द्रियादि प्राणियों की पीड़ा का परिहार करना, एकेन्द्रियादि जीवों का वध नहीं करना प्राणी संयम है।

(2) इन्द्रिय संयम:— शब्दादि के विषयों में राग नहीं करना, अति आसक्ति नहीं रखना, इन्द्रिय विषयों का त्याग करना इन्द्रिय संयम है।

यह संयम आत्मा का हित करने वाला है। संयमी मानव इस लोक में पूजित होता है, परलोक की तो बात ही क्या? अर्थात् संयमी पर लोक में महान बनता ही है। असंयमी जन निरन्तर हिंसादि पापों में तथा पंचेन्द्रिय विषय में प्रवृत्ति करके अशुभ कर्मों का संचय करते हैं। जिससे इह लोक और परलोक में दुःखी होते हैं।

(7) उत्तम तप:— कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है, वह तप कहा जाता है। तप सर्व अर्थों का साधन है। तप से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है। तप से ही अणिमा, महिमा आदि सर्व ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। तपस्वियों की चरण-रंज से पवित्र स्थान लोक में तीर्थता को प्राप्त हो जाते हैं। जिसके तप नहीं है, वह तृण से भी लघु कहलाता है। तपहीन मानव घास-फूस से भी हीन है। तपोबल से हीन मानव को गुण छोड़ देते हैं, उसके हृदय में गुणों का वास नहीं रहता तथा वह संसारवास से नहीं छूट सकता। सदा संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

(8) उत्तम त्याग:— परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। सचेतन-हाथी, घोड़ा, स्त्री, नौकर आदि और अचेतन-धन-धान्य, सोना, चांदी आदि परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं।

परिग्रह का त्याग करना ही आत्मा का हित (कल्याण) है। जैसे-जैसे आत्मा परिग्रह से रहित होता है, परिग्रह का त्याग करता है, वैसे-वैसे इसके खेद (दुःख) के कारण हट जाते हैं। परिग्रह की व्याकुलता रहित मन में उपयोग की एकाग्रता होती है और पुण्य कर्म का सञ्चय होता है। परिग्रह की आशा बड़ी बलवती है और सर्व दोषों की उत्पत्ति का स्थान है। जैसे-पानी से समुद्र का बड़वानल शान्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार संसारिक पदार्थों से आशारूपी



बड़वानल तृप्त नहीं हो सकता, शांत नहीं हो सकता है। इस आशा रूपी दुष्पुत्र गड़ड़े को कौन पूर्ण कर सकता है (कौन भर सकता है?) अर्थात् इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो-जो वस्तु आशा की पूर्ति के लिए आशागर्त में डाली जाती है त्यों-त्यों यह गड़ड़ा विशेष गहरा होता जाता है। शरीर आदि में ममत्व करने वाले के संसार परिभ्रमण सुनिश्चित है। वह संसार से छूट नहीं सकता।

(9) उत्तम आकिञ्चन्यः— 'यह मेरा है' इस प्रकार की अभिसन्धि का त्याग करना आकिञ्चन्य है। उपात्त (जन्म से एक क्षेत्रावगाही) जो शरीर आदि परिग्रह है, उनमें संस्कार और राग आदि की निवृत्ति के लिए 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य कहलाता है। 'जिसके वह कुछ नहीं है' वह अकिञ्चन है और अकिञ्चन के भाव कर्म को आकिञ्चन्य कहते हैं।

(10) उत्तम ब्रह्मचर्यः— अनुभूत अंगना का स्मरण, उसकी कथा श्रवण, स्त्री संसक्त, शयनासन, आदि का त्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत है। 'मैंने उस कलागुण विशारदा स्त्री को भोगा था' इस प्रकार का चिन्तवन अनुभूताङ्गनास्मरण है। ललना सम्बन्धि वार्ताओं को रूचिपूर्वक सुनना तत्कथा श्रवण है। रतिकालीन गन्ध द्रव्यों की सुवास से सुवासित और स्त्रियों से संशक्त शय्या, आसन, स्थान, स्त्री संसक्त शय्यासन है। इन अनुभूताङ्गनास्मरण, स्त्री संसक्त, तत्कथा श्रवण, शय्या आसन, स्थान आदि का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले मानवों को हिंसादि दोष स्पर्श नहीं करते हैं अर्थात् उन्हें हिंसादि दोष नहीं लगते हैं। नित्य गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी को सर्व गुण रूपी सम्पदाएँ सहज प्राप्त हो जाती हैं। स्त्री विलास विभ्रम आदि का शिकार हुआ प्राणी पापों का भी शिकार बन जाता है। अर्थात् वनिताओं के वशीभूत हुआ प्राणी हिंसादि सर्व पापों में प्रवृत्ति करने लग जाता है, क्योंकि इस लोक में इन्द्रियों की पराधीनता ही प्राणियों को अपमान दात्री है (अपमान, तिरस्कार करने वाली है)

इस प्रकार उत्तम क्षमादि दस धर्मों के गुणों का और इन धर्मों के प्रतिपक्षी क्रोधादि के दोषों का विचार करने पर क्रोधादि की निवृत्ति हो जाती है। क्रोधादि

की निवृत्ति हो जाने पर क्रोधादि निमित्त से होने वाले कर्मों का आस्रव रुक जाता है और महान संवर होता है।

## बारह अनुप्रेक्षाएँ

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्याश्रवसंवरनिर्जरा लोकबोधिदुर्लभ-  
धर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा: ।(7)

The द्वादशानुप्रेक्षा 12 meditations are:-

1. अनित्यानुप्रेक्षा Everything is subject to change or transitory.
2. अशरणानुप्रेक्षा Unprotectiveness, Helplessness. The soul is unprotected from the fruition of karmas, e. g. death etc.
3. संसारानुप्रेक्षा Transmigration, Mundaneness. Soul moves in the cycle of existences and cannot attain true happiness till he is out of it.
4. एकत्वानुप्रेक्षा Loneliness. I am alone the doer of my actions and the enjoyer of the fruits of them.
5. अन्यत्वानुप्रेक्षा Separateness, otherness. The world, my relations and friends, my body and mind, they are all distinct and separate from my real self.
6. अशुच्यानुप्रेक्षा Impurity. The body is impure and dirty Purity is of 2 kinds: of the soul itself and of the body and other things. This last is of 8 kinds.
7. आस्रवानुप्रेक्षा Inflow. The inflow of karmas is the cause of my mundane existence and it is the product of passions etc.
8. संवरानुप्रेक्षा Stoppage. The inflow must be stopped.
9. निर्जरानुप्रेक्षा Shedding. Karmic matter must shed from or shaken out of the soul.
10. लोकानुप्रेक्षा Universe. The nature of the universe and its constituent elements.

11. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा Rarity of Right path. It is difficult to attain right belief, knowledge and conduct.
12. धर्मस्वाख्यातानुप्रेक्षा Nature of Right Path. The true nature of truth i.e. the 3 fold path of real Liberation.

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आम्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यात का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

**‘अनुचिन्त्यते इति अनुचिन्तन’, ‘अनुप्रेक्षते इति अनुप्रेक्षा’**

अर्थात् वस्तु स्वरूप का, सत्य स्वरूप का, स्व-पर स्वरूप का, अथवा अनित्यादि स्वभावों का चिन्तन करना, प्रेक्षण करना, अनुप्रेक्षा है।

अनादि काल से ये जीव स्व-स्वरूप से, सत्य स्वरूप से विमुख होकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप परिणमन करके स्व वस्तु को पर वस्तु एवं पर वस्तु को स्व वस्तु मानता हुआ तथा काम भोग विषय में लिप्त होता हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए सत्य एवं स्व द्रव्य से अपरिचित एवं असत्य, परद्रव्य में रचापंचा है। कुन्द-कुन्द देव ने कहा भी है-

**सुदपरिचिदाणु भूया सव्वस्स वि कामभोगबन्धकहा।**

**एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहतस्स॥(4)**

**(समथपाहुड)**

कामभोग (विषयभोग) बंध की कथा, विकथा को यह जीव अनादि काल से अनंतबार सुना परिचित किया एवं अनुभूत किया है इसलिये यह सब विषय वासना अत्यंत सुलभ है। इसलिये अनादि काल से जीव की प्रवृत्ति सहज सरल रूप से बाह्य द्रव्यों के प्रति व विषय वासना के प्रति होती है। परन्तु स्व-तत्त्व, सत्य के बारे में अनादि काल से न सुना, न परिचय किया न अनुभव किया है इसलिये स्व आत्मद्रव्य सबसे अधिक समीप-होते हुए भी अथवा स्वयं ही आत्मद्रव्य स्वरूप होते हुए भी उसका विश्वास, उसका परिज्ञान एवं उसके अनुसार आचरण अत्यन्त दुर्लभ है। अतः यह जीव कर्म संयोग से जो पर्याय विशेष को प्राप्त करता है उस पर्याय को ही स्वरूप मान लेता है और उसी प्रकार पर्यायवान, स्त्री, कुटुम्ब आदि को स्वस्वरूप मान

बैठता है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है—

स्वपराध्यवसायेन                      देहेष्वविदितात्मनाम् ।  
वर्तते    विभ्रमः    पुंसां    पुत्रभार्यादिगोचरः ॥(11)

आत्मा को न जानने वाले बहिरात्मा पुरुषों के शरीर में अपने तथा प्प्रायेपन के विचार से पुत्र-स्त्री आदि संबन्धित भ्रम होता है।

अविद्या संज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते वृद्धः ।  
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥(12)

उस ही मिथ्याश्रद्धान से बहिरात्मा जीवों के अविद्या या अज्ञान नामक संस्कार या धारणा अथवा भावना वृद्ध मजबूत हो जाती है। जिस संस्कार या भावना से संसारी-स्त्री पुरुष शरीर को ही फिर भी कालान्तर में भी, अन्यभव में भी अपना मानता रहता है।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।  
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति                      देहिनम् ॥(13)

इस मिथ्या संस्कार से बहिरात्मा शरीर में अपनी बुद्धि ज्ञान या अपनेपन की मान्यता निश्चय से आत्मा को जोड़ता है। तथा अपने आत्मा में ही अपने आत्मापन की श्रद्धा-भावना या ज्ञान से अपने आत्मा को उस शरीर से पृथक-अलग करता है।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।  
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥(14)

शरीर में आत्मबुद्धि के कारण पुत्र, पत्नी आदि की कल्पनाएँ बनावटी झूठी मान्यताएँ हुई हैं। उन कल्पनाओं से अपनी पुत्र, पत्नी, आदि को सम्पत्ति रूप बहिरात्मा जीव मानता है। हायः इस तरह यह संसारी जनता मारी गई-ठगी गई है।

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।  
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यावृतेन्द्रियः ॥(15)

इस प्रकार संसार के दुःख का मूल कारण शरीर में ही आत्मा को समझ लेना है। इसलिये इस मिथ्या मान्यता को छोड़कर बाहर की बातों में अपनी इन्द्रियों का व्यापार-कार्य रोककर अपने आत्मा में प्रवेश करनी चाहिए।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।  
तान्प्रपद्याऽमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः॥(16)

अपने आत्म-स्वरूप से छुटकर मैं पाँचों इन्द्रियों के विषय भोगों में पाँचों इन्द्रियों द्वारा गिर गया फँस गया उन इन्द्रियों के विषयों को पाकर मैं पहले-अनादिकाल से अपने-आपको मैं चेतन आत्मा हूँ, इस प्रकार वास्तव में नहीं समझा।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।  
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥(17)

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा बाहरी बातों को छोड़ कर पूरी तरह से अन्तरङ्गवाणी को भी छोड़ देवे। यह अन्तरङ्ग बहिरङ्ग वचनालाप का त्याग संक्षेप में इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति को रोकने वाला योग परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशक दीपक है।

अनादि काल से जिन भावना को भाता हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ अनन्त दुःखों को प्राप्त कर रहा है, मुमुक्षु को उन भावनों को त्याग कर विपरीत भावना को करनी चाहिए। गुणभद्र स्वामी ने कहा भी है—

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः।  
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावना॥(238)

आ पृ.222

मैंने संसार स्वरूप भंवर में पड़कर पहले कभी जिन सम्यग्दर्शनादि भावनाओं का चिन्तन नहीं किया है उनका अब चिन्तन करता हूँ और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओं का बार बार चिन्तन कर चुका हूँ उनका अब मैं चिन्तन नहीं करता हूँ। इस प्रकार मैं अब पूर्वभावित भावनाओं को छोड़कर उन अपूर्व भावनाओं को भाता हूँ, क्योंकि इस प्रकार की भावनार्ये संसार विनाश का कारण होती हैं। सत् स्वरूप की भावना, स्व स्वरूप की भावना अनादि काल

से नहीं भाने के कारण उसकी भावना होना सरल सहज नहीं हैं इसलिए इस प्रकार की भावना बार-बार भानी चाहिए, क्योंकि-

तद्ब्रूयात्तत्परान्यृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।  
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥(53)  
(स.त.)

आत्मा श्रद्धालु को वह आध्यात्मिक चर्चा करनी चाहिए वह आत्मा सम्बन्धी ही बातें अन्य विद्वानों से पूछनी चाहिए, उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखनी चाहिए उसी आध्यात्मिक विषय में सदा तत्पर तैयार या उत्सुक रहना चाहिए जिसमें अपनी आत्मा का अज्ञान भाव छोड़कर ज्ञान भाव प्राप्त हो ।

मनोविज्ञानिक सिद्धान्त हैं कि, जहां पर बुद्धि लीनता को प्राप्त होती है वहाँ पर श्रद्धा एवं भावना भी होती हैं। इसलिए स्वस्वरूप एवं सत् स्वरूप में बुद्धि में लगाने के लिए बार-बार भावना करनी चाहिए।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।  
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥(95)

मनुष्य की जिस विषय में ही बुद्धि लगी रहती है उस ही विषय में मनुष्य की रुचि उत्पन्न हो जाती है और जिस ही विषय में रुचि उत्पन्न हो जाया करती है उस ही विषय में मन लीन हो जाता है, रम जाता है ।

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्त्तते ।  
यस्मान्निवर्त्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥96॥

मनुष्य की जहाँ बुद्धि नहीं ठहरती - नहीं लगती उस विषय से उसकी रुचि निवृत्त हो जाती है - यानी उत्पन्न नहीं होती और जिस विषय से मनुष्य की रुचि हट जाती है उस मनुष्य की तल्लीनता उस विषय में कहां से आ सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

जब तक पुनः पुनः भावना नहीं की जाती है मात्र स्वाध्याय करते हैं और आत्मा के विषय में श्रवण करते हैं तब तक आत्मा का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता है और मोक्ष भी नहीं हो सकता इसलिए पूज्यपाद स्वामी

नें आत्म भावना की प्रधानता को स्वीकार किया हैं।

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।  
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥(81)

पढ़ाने वाले, शास्त्र सुनाने वाले या उपदेशक आदि अन्य व्यक्ति से खूब अच्छी तरह आत्मा का स्वरूप सुनकर भी और दूसरों को आत्मा का स्वरूप अपने मुख से कहता हुआ भी जब तक शरीर से अलग अपने आत्मा की भावना न करे तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता है।

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।  
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥(82)

उस ही प्रकार अपने आत्मा को शरीर से हटा करके ऐसे अपने ही आत्मा में भावना करें या चिन्तन या मनन करना चाहिए, जैसे कि, फिर आत्मा को शरीर से स्वप्न में भी न तन्मय करा सकें या शरीरमय समझ सकें।

(1) अनित्यानुप्रेक्षा— ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रिय विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य, जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले होते हैं तथा गर्भादि अवस्थाविशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत स्वभाव वाले होते हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता का अनुभव करता है पर वस्तुतः आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सिवा इस संसार में कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है। इस प्रकार चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करनेवाले इस भव्यके उन शरीरादि में आसक्तिका अभाव होने से भोगकर छोड़े हुए गन्ध और भाला आदि के समान वियोग काल में भी सन्ताप नहीं होता है।

ठाणाणि आसणाणि य देवासुरइडिद्वमणुयसोक्खाइं।  
मादुपिदुसयणसंवासदा य पीदी वि य अणिच्चा ॥(695)

भाग-2 (मू.पृ.2)

स्थान, आसन, देव, असुर तथा मनुष्यों के वैभव, सौख्य, माता-पिता-स्वजन का संवास तथा उनकी प्रीति ये सब अनित्य हैं।

सामागिन्दियरूढं मदजोवणजीवियं बलं तेजं ।

गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो ॥(696)

सामग्री, इन्द्रियाँ, रूप, बुद्धि यौवन, जीवन, बल, तेज, धर, शयन, आसन और बर्तन आदि सब अनित्य हैं ऐसा चिन्तवन करें।

(2) अशरणानुप्रेक्षा— जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित और मांसके लोभी बलवान व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृगशावक के लिए कुछ भी शरण नहीं होता उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दुःखों के मध्य में परिभ्रमण करने वाले जीवका कुछ भी शरण नहीं है। परिपुष्ट शरीर ही भोजन के प्रति सहायक है, दुःखों के प्राप्त होने पर नहीं। यत्न से संचित किया हुआ धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दुःख को समान रूप से बाँट लिया है ऐसे मित्र भी मरण के समय रक्षा नहीं कर सकते। मिलकर बन्धुजन भी रोग से व्याप्त इस जीवकी रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। यदि सुचरित धर्म हो तो वही दुःखरूपी महासमुद्र में तरने का उपाय हो सकता है। मृत्यु से ले जाने वाले इस जीव के सहस्रनयन इन्द्र आदि भी शरण नहीं हैं, इसलिए संसार में विपत्तिरूप स्थान में धर्म ही शरण है। वही मित्र है और वही कभी भी न छूटनेवाला अर्थ है, अन्य कुछ शरण नहीं है इस प्रकार की भावना करना अशरणानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले इस जीवके 'मैं सदा अशरण हूँ' इस तरह अतिशय उद्विग्न होने के कारण संसार के कारणभूत पदार्थों में ममता नहीं रहती और वह भगवान् अरहंत सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में ही प्रयत्नशील होता है।

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ ।

मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥(697)

(मू.पृ.4)

घोड़ा, हाथी, रथ, मनुष्य, बल, वाहन, मन्त्र, औषधि, विद्या, माया, नीति और बन्धुवर्ग ये मृत्यु के भय से रक्षक नहीं हैं।

मरणभयह्मि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति ।

धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥(699)



मरण भय के आ जाने पर इन्द्र सहित भी देवगण रक्षा नहीं कर सकते हैं। धर्म ही रक्षक है, शरण है और वही एक गति है। इस प्रकार से अशरणपने का चिन्तन करो।

(3) संसारानुप्रेक्षा— कर्म के विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। अनेक योनि और कुल कोटिलाख से व्याप्त उस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मयंत्र से प्रेरित होकर पिता होकर भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होती है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थल में नट नाना रूप धारण करता है उस प्रकार यह होता है। अथवा बहुत कहने से क्या प्रयोजन स्वयं अपना पुत्र होता है। इत्यादि रूप से संसार के स्वाभावका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए संसार के दुःख के भय से उद्विग्न हुए इसके संसार से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसार का नाश करने के लिए प्रयत्न करता है।

मिच्छन्तेणाछण्णो मगं जिनदेसिदं अपेक्खंतो।

भमिहदि भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ॥(705)

(मू.पृ.7)

मिथ्यात्व से सहित हुआ जीव जिनेन्द्र कथित मोक्षमार्ग को न देखता हुआ भयंकर और कुटिल ऐसे संसार-वन में भ्रमण करता है।

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओग बीहणयं।

अप्पियसंजोगं वि य रोगमहावेदणाओ य ॥(708)

(पृ.11)

संसार में जरा और मरण का भय, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग और रोगों से उत्पन्न हुई महावेदनाएँ ये सब भयंकर दुःख हैं।

(4) एकत्वानुप्रेक्षा— जन्म, जरा और मरण की आवृत्ति रूप महादुःख का अनुभव करने के लिए अकेला ही मैं हूँ, न कोई मेरा स्व है और न पर है, अकेला ही मैं जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा और मरण आदि दुःखों को दूर नहीं करता। बन्धु

और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़ने वाला सदा काल सहायक है। इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के स्वजनों में प्रीतिका अनुबन्ध नहीं होता और परजनों में द्वेषका अनुबन्ध नहीं होता, इसलिए निःसंगताको प्राप्त होकर मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करता है।

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुवंतओ दुहिदो ।

वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोई समं एदि ॥(700)

(मू.पृ.5)

स्वजन और परिजन के मध्य रोग से पीड़ित, दुःखी, मृत्यु के वश हुआ यह एक अकेला ही जाता है, कोई भी जन इसके साथ नहीं जाता।

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।

एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥(701)

(5) अन्यत्वानुप्रेक्षा— शरीर से अन्यत्वका चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यथा बन्धकी अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण भेद से 'मैं' अन्य हूँ। शरीर इन्द्रिय गम्य है, मैं अतीन्द्रिय हूँ। शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूँ। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ। शरीर आदि अनन्तवाला है और मैं अनाद्यनन्त हूँ। संसार परभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये। उनसे भिन्न वह ही मैं हूँ, इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूँ तब मैं बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊँ तो इसमें क्या आश्चर्य? इस प्रकार मनको समाधान युक्त करने वाले इसके शरीरादिक में स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञानकी भावनापूर्वक वैराग्य का प्रकर्ष होने पर आत्यन्तिक मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है।

मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सब्बे वि अत्तणो अण्णो ।

इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेति ॥(702)

(मू.चा.पृ.6)

माता-पिता और स्वजन सम्बन्धी लोग ये सभी आत्मा से भिन्न हैं। वे इस लोक में तो बांधव है किन्तु परलोक में तेरे साथ नहीं जाते हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहओत्ति मण्णंतो ।

अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं॥(703)

यह जो मर गया, मेरा स्वामी है ऐसा मानता हुआ अन्य जीव अन्यका शोक करता है किन्तु संसार-रूपी महासमुद्र में डूबे हुए अपने आत्मा का शोक नहीं करता है।

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं ।

णाणं दंसणमादात्ति एवं चित्तेहि अण्णत्तं॥(704)

यह शरीर आदि भी अन्य हैं पुनः जो बाह्य द्रव्य हैं वे तो अन्य हैं ही। आत्मा ज्ञानदर्शन स्वरूप है इस तरह अन्यत्व का चिन्तन करें।

(6) अशुचि अनुप्रेक्षा— यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थों की योनि है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, शौचगृह के समान अशुचि पदार्थों का भोजन है। त्वचामात्र से आच्छादित है। अति दुर्गन्ध रसको बहाने वाला झरना है। अंगार के समान अपने आश्रय में आये हुए पदार्थ को भी शीघ्र ही नष्ट करता है। स्नान, अनुलेपन, घूपकी मालिश और सुगन्धिमाला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर कर सकना शक्य नहीं है। किन्तु अच्छी तरह भावना किये गये सम्यग्दर्शन आदिक जीवकी आत्यान्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वास्तविक रूप से चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इसके शरीर से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधिको तरने के लिए चित्तको लगाता है।

णिरिएसु असुहमेयंतमेव तिरियेसु बंधरोहादी ।

मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं॥(722)

(मू.पृ. 17)

नरकों में एकान्त से अशुभ ही है। तिर्यचों में बन्धन और रोदन आदि, मनुष्यों में रोग शोक आदि और स्वर्ग में मन सम्बन्धी अशुभ है।

आयासदुक्खवेरभय सोगकलिरागदोसभोहाणं ।

असुहाणमावहो वि य अत्थो मूलं अणत्थाणं॥(723)

धन सब अनर्थों का मूल है। उसमें श्रम, दुःख, वैर, भय, शोक, कलह, राग, द्वेष और मोह इन अशुभों का प्रसंग होता ही है।

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया।  
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि॥(724)

जो दुःख से और कठिनता से मिलते हैं, भय प्रचुर हैं, अल्पकाल टिकनेवाले हैं, तुच्छ हैं जिनका परिणाम दुःखरूप है, ऐसे ये इन्द्रिय-विषय सेवन करते समय में भी अशुभ ही हैं।

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो।  
मादूइसिंभ लालाइयं तु तिब्वासुहं पिबदि॥(725)

अशुचि से व्याप्त गर्भ में रहता हुआ यह जीव जरायु पटल से ढका हुआ है। वहाँ पर माता के कफ और लार से युक्त अतीव अशुभ को पीता है।

मंसद्विसिंभवसरुहिरचम्मपित्तं तमुत्तकुणिपकुडिं।  
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि॥(726)

मांस, अस्थि, कंक, वसा, रुधिर, चर्म, पित्त, आंत, मूत्र इन अपवित्र पदार्थों की झोंपड़ी बहुत प्रकार के दुःख और रोगों के स्थान स्वरूप इस शरीर को अशुभ ही जानो।

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण।  
णिव्विज्जंतो ज्ञायसु जह जहसि कलेवरं असुइं॥(727)

अर्थ, काम और शरीर आदि ये सभी अशुभ हैं ऐसा जानकर विरक्त होते हुए जैसे अशुचि शरीर छूट जाए वैसा ही ध्यान करो।

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि।  
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो॥(728)

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को छोड़कर सुर-असुर, तिर्यक, नरक और मनुष्य से सहित इस जगत् में कुछ भी शुभ नहीं है।

अन्यत्र तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में अशुचि अनुप्रेक्षा ऐसा नाम है, किन्तु

यहाँ इसे अशुद्ध ऐसा नाम दिया है। सो नाम मात्र का ही भेद है। अर्थ में प्रायः समानता है। वहाँ अशुचि भावना में केवल शरीर आदि सम्बन्धी अपवित्रता का चिन्तन होता है तो यहाँ सर्व अशुभ दुःखदायी वस्तुयें-धन, इन्द्रिय-सुख आदि तथा शरीर आदि सम्बन्धी अशुभपने का विचार किया गया।

(7) आस्रवानुप्रेक्षा— आस्रव इस लोक और परलोक में दुःखदायी है। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रत रूप है। उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वन गज, कौआ, सर्प, पतंग और हरिण आदि को दुःख रूप समुद्र में अवगाहन कराती हैं। कषाय आदिक भी इस लोक में वध, अपयश और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते हैं, तथा परलोक में नाना प्रकार के दुःखों से प्रज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के क्षमादिक में कल्याणरूप बुद्धिका त्याग नहीं होता है, तथा कछुएके समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है उसके ये सब आस्रव के दोष नहीं होते हैं।

दुःखभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे।  
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं॥(729)  
(मू.चा.प.20)

दुःख और भय रूपी प्रचुर मत्स्यों से युक्त, अतीव घोर संसार रूपी समुद्र में जीव जो डूब रहा है वह सब कर्मास्रव का निमित्त है।

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाथा।  
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स॥(730)

राग, द्वेष, मोह, इन्द्रियाँ, संज्ञायें, गौरव और कषाय-तथा मन, वचन, काय ये कर्म के आस्रव होते हैं।

रंजेदि असुहकुणपे रागो दोसो वि दूसदी णिच्चं।  
मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं॥(731)

राग अशुभ-कुत्सित में अनुरक्त करता है। द्वेष भी बित्त्य ही अप्रीति

कराता है। मोह भी महाशत्रु है जोकि निश्चित रूप से सत्पदार्थ में मूढ़ कर देता है।

धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदन्थेण मोहिदो संतो।  
ण विबुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मग्गं॥(732)

मोह को धिक्कार हो! धिक्कार हो कि, जिस हृदय में स्थित मोह के द्वारा मोहित होता हुआ यह जीव हित रूप शिव सुख का हेतु, मोक्षमार्ग रूप ऐसे जिन-वचन को नहीं समझता है।

जिणवयण सदहाणो वि तिच्चमसुहगदिपावयं कुणइ।  
अभिभूदो जेहिं सदा धित्तेसिं रागदोसाणं॥(733)

जिनके द्वारा पीड़ित हुआ जीव जिनवचन का श्रद्धान करते हुए भी तीव्र अशुभगति कारक पाप करता है उन राग और द्वेष को सदा धिक्कार हो।

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं।  
मंतोसहिहीणेण व दुद्धा आसीविसा सप्पा॥(734)

चंचल मन से इन इन्द्रिय-विषयों का निग्रह करना कठिन है। जैसे कि मन्त्र और औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जाति वाले सर्पों को वश करना कठिन है।

धित्ते सिमिंदियाणं जेसिं वसेदो दु पावमज्जणिय।  
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु॥(735)

उन इन्द्रियों को धिक्कार हो कि, जिनके वश से पाप का अर्जन करके यह जीव चारों गतियों में पाप के फलरूप अनन्त दुःख को प्राप्त करता है।

सण्णाहिं गारवेहिं अगुरुओ गुरुगं तु पावमज्जणिय।  
तो कम्मभारगुरुओ गुरुगं दुक्खं समणुभवइ॥(736)

संज्ञा और गौरव से भारी होकर तीव्र पाप का अर्जन करके उससे कर्म के भार से गुरुहोकर महान् दुःखों का अनुभव करता है।

क्रोधो भाणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ ।

दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावन्ति ॥(737)

क्रोध, मान, माया और लोभ ये दुष्ट आश्रयरूप कषाय शत्रु हजारों दोषों के स्थान हैं, ये हजारों दुःखों को प्राप्त कराते हैं।

हिंसादिर्हिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं ।

तेहिंतु धुव विणासो सासवणावा जह समुद्वे ॥(738)

हिंसा आदि आस्रव-द्वार से पाप का आना होता है। उनसे निश्चित ही विनाश होता है। जैसे जल के आस्रव से सहित नौका समुद्र में डूब जाती है।

एवं बहुप्पयारं कम्मं आसवदि दुद्धमद्विविहं ।

णाणावरणादीयं दुक्खविवागं ति चिंतेज्जो ॥(739)

इस तरह बहु-प्रकार का कर्म दुष्ट है, जो कि ज्ञानावरण आदि से यह आठ प्रकार का है तथा दुःखरूप फलवाला है ऐसा चिन्तन करें।

(8) संवरानुप्रेक्षा— जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढके रहने पर क्रमसे झिरे हुए जलसे व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढके रहने पर निरुपद्रवरूपसे अभिलषित देशान्तरका प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध नहीं होता। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के संवर में निरन्तर उत्कृष्टता होती है और इससे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है।

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंघेज्जो ।

इंदियकसायसण्णागारवरागादिआदीणि ॥(740)

(मू.चा.पृ.24)

इन्द्रियाँ, कषाय, संज्ञा, गौरव, राग आदि ये कर्मास्रव के कारण हैं। इसलिए इन सबका निरोध करें।

रुद्धेषु कसायेसु अ मूलादो होंति आसवा रुद्धा ।

दुब्भत्तम्हि णिरुद्धे वणम्मि णावा जहं ण एदि ॥(741)

कषायों के रुक जाने पर मूल से आस्रव रुक जाते हैं जैसे वन में जल के रुक जाने पर नौका नहीं चलती है।

इंदियकसायदोसा णिग्धिप्पंति तवणाणविणएहिं।  
रज्जूहि णिधिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया॥(742)

इन्द्रिय, कषाय और दोष ये तप, ज्ञान और विनय के द्वारा निगृहीत होते हैं। जैसे कुपथगामी घोड़े नियम से रस्सी से निगृहीत किये जाते हैं।

मणवयणकायगुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स।  
आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे॥(743)

मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश में करने वाले, समितियों में अप्रमादी साधु के आस्रव का द्वार रूक जाने से नवीन कर्मरज का आस्रव नहीं होता है।

मिच्छता विरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि।  
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि॥(744)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे दर्शन, विरति, निग्रह और निरोध से नहीं आते हैं।

संवरफलं तु णिव्वाणमेत्ति संवरसमाधिसंजुत्तो।  
गिच्चुज्जुतो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पा॥(745)

संवर का फल निर्वाण है, इसलिए संवर-समाधि से युक्त, नित्य ही उद्यमशील, विशुद्ध आत्मा मुनि इस संवर की भावना करे।

(9) निर्जरानुप्रेक्षा— वेदना-विपाकका नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है— अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफलके विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है। तथा परीषहके जीतने पर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोषका चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले के इसकी कर्मनिर्जरा के लिए प्रवृत्ति होती है।



रूद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।

दुविहा य सा वि भणिया देसादो सव्वदो चेव॥(746)

(मू.चा.पृ.27)

इस प्रकार जिनके आस्रव रुक गया है और जो तपश्चर्या से युक्त हैं उनके निर्जरा होती है। वह भी देश और सर्व की अपेक्षा से दो प्रकार की कही गयी है।

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स।

सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला॥(747)

संसार में संसरण करते हुए जीव के क्षयोपशम को प्राप्त कर्मों की निर्जरा जगत में सभी जीवों के होती है और पुनः तप से विपुल निर्जरा होती है।

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दुसंतत्तो।

तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्महिं कणयं व॥(748)

जैसे अग्नि से धमाया गया धातु सन्तप्त हुआ शुद्ध हो जाता है। वैसे ही स्वर्ग के समान ही, जीव तप द्वारा कर्मों से शुद्ध हो जाता है।

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो।

दहइ तवोभवबीयं तणकट्टादी जहा अग्गी॥(749)

श्रेष्ठ ज्ञानरूपी हवा से युक्त शील, श्रेष्ठ समाधि व संयम से प्रज्वलित हुई तपरूपी अग्नि भवबीज को जला देती है, जैसे कि अग्नि तृण काठ आदि को जला देती है।

चिरकाल मज्जिदं पि थ विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण।

दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा॥(750)

चिरकाल से अर्जित भी कर्मरजः तप से उड़ा दी जाती है, ऐसा जानकर दो प्रकार के तप में नित्य ही आत्मा को भावित करना चाहिए।

णिज्जरियसव्वकम्मो जादिजरामरणबंधणविमुक्को।

पावदि सुक्खमणंतं णिज्जरणं तं मणसि कुज्जा॥(751)

जिसके सर्वकर्म निर्जीर्ण हो चुके हैं ऐसा जीव जन्म-जरा-मरण के बन्धन से छूटकर अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है। अतः मन में तुम उस निर्जरा का चिन्तन करो।

(10) लोकानुप्रेक्षा— चारों ओर से अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्यदेश में स्थित लोक के संस्थान आदि की विधि पहले तृतीय अध्याय में कह आये हैं। उसके स्वभावका अनुचिन्तन लोकानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले इसके तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो ।  
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो ॥(714)  
(मू.चा.पृ.14)

निश्चय से यह लोक अकृत्रिम, अनादि-अनन्त, स्वभाव से सिद्ध, नित्य और तालवृक्ष के आकार वाला है तथा जीवों और अजीवों से भरा हुआ है।

तत्थणुहवंति जीवा सकम्म णिव्वत्तियं सुहं दुक्खं ।  
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे ॥(717)

इस लोक में जीव अपने कर्मों द्वारा निर्मित सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। भयानक अनन्त भव समुद्र में पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं।

मादा य होदि धूदा धूदा मादुत्तणं पुण उवेदि ।  
पुरिसो वि तत्थ इत्थी पुमं च अपुमं च होइ जए ॥(718)

माता पुत्री हो जाती है और पुत्री माता हो जाती है। यहाँ पर पुरुष भी स्त्री और स्त्री भी पुरुष तथा पुरुष भी नपुंसक हो जाता है।

होऊण तेयसत्ताधिओ दु बल विरियरूवसंपण्णो ।  
जादो वच्चघरे किमि धिगत्थु संसारवासस्स ॥(719)

प्रताप और पराक्रम से अधिक तथा बल, वीर्य और रूप से सम्पन्न होकर भी राजा विष्ठागृह में कीड़ा हो गया। अतः संसारवास को धिक्कार हो।

धिग्भवदु लोगधम्मं देवा वि य सुरवदीय महइदीया ।  
भोत्तूण सुक्खमतुलं पुणरवि दुक्खावहा होंति ॥(720)

इस लोक की स्थिति को धिक्कार हो जहाँ पर देव, इन्द्र और महर्द्धिक देवगण भी अतुल सुख को भोगकर पुनः दुःखों के भोक्ता हो जाते हैं।

णाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमणसंसारं ।।  
लोगगसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं ॥(721)

बहुत काल तक भ्रमण रूप संसार निस्सार है। ऐसे इस लोक के स्वरूप को जानकर सुख के निवास रूप लोकाग्रशिखर के आवास का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करो।

(11) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा:— एक निगोदशरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से सब लोक निरन्तर भरा हुआ है। अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुकाके समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता की काणिका का प्राप्त होना दुर्लभ होता है। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता गुणका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। उसमें भी पशु, मृग पक्षी और सरीसृप तिर्यचों की बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौथपर रत्नराशिका प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना भी अति कठिन है। और मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन है जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्याय रूप से उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी धुनः प्राप्ति हो जाये तो देश कुल, इन्द्रियसम्पत् और निरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अतिकठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषयसुख में रममाण होना भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषय सुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधिका प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है ऐसा विचार

करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले इस जीव के बोधि को प्राप्त करने के लिये कभी भी प्रमाद नहीं होता।

संसारंहिय अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं।

जुगसमित्तासंजोगो लवणसमुदे जहा चेव॥(757)

(मू.चा.पृ. 31)

अनन्त संसार में जीवों को मनुष्य पर्याय दुर्लभ है। जैसे लवण समुद्र में युग अर्थात् जुवां और समिला अर्थात् सैल का संयोग दुर्लभ है।

देसकुलजन्म रूवं आऊ आरोग्ग वीरियं विणओ।

सवणं गहणं मदि धारणा य एदे वि दुल्लहा लोए॥(758)

उत्तम देश-कुल में जन्म, रूप, आयु, आरोग्य, शक्ति, विनय, धर्मश्रवण, ग्रहण बुद्धि और धारणा ये भी इस लोक में दुर्लभ ही हैं।

लद्धेसु वि एदेसु य बोधी जिणसासणाहिनि ण हु सुलहा।

कुपहाणमाकुलत्ता जं बलिया रागदोसा य॥(759)

इनके मिल जाने पर भी जिन-शासन में बोधि सुलभ नहीं है, क्योंकि कुपथों की बहुलता है और राग-द्वेष भी बलवान् हैं।

सेयं भवभयमहणी बोधी गुणवित्थडा मए लद्धा।

जदि पडिदा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे॥(760)

सो यह भाव भय का मंथन करने वाली गुणों से विस्तार को प्राप्त बोधि मैने प्राप्त कर ली है। यदि यह छूट जाय तो निश्चित रूप से पुनः सुलभ नहीं है अतः मेरा प्रमाद करना ठीक नहीं है। इस लोक की स्थिति को धिक्कार हो जहा पर देव, इन्द्र और महर्द्धिक देव गण भी अतुल सुख को भोगकर पुनः दुखों के भोक्ता हो जाते हैं।

दुल्लहलाहं लद्धूण बोधिं जो णरो पमादेज्जो।

सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कुगदिं गदो संतो॥(761)

जो मनुष्य दुर्लभता से मिलनेवाली बोधि को प्राप्त करके प्रमादी होता है वह पुरुष कायर पुरुष है। वह दुर्गति को प्राप्त होता हुआ शोच करता है।

उवसमखयमिस्सं वा बोधिं लध्दूण भवियपुंडरिओ ।  
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदो लहदि॥(762)

श्रेष्ठ भव्य जीव उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके जब और संयम से युक्त हो जाता है तब अक्षय सौख्य को प्राप्त कर लेता है।

तम्हा अहमवि णिच्चं सद्धासंवेगविरियविणएहिं ।  
अत्ताणं तह भावे जह सा बोही हवे सुहरं॥(763)

इसलिए मैं भी श्रद्धा, संवेग, शक्ति और विनय के द्वारा उस प्रकार से आत्मा की भावना करता हूँ कि जिस प्रकार से वह बोधि चिरकाल तक बनी रहे।

बोधीय जीवदव्वादिद्याइं बुज्झइ हु णव वि तच्चाइं ।  
गुणसयसहस्सकलियं एवं बोहिं सया झाहि॥(764)

बोधि से जीव पुद्गल आदि छह द्रव्य तथा अजीव आदि नव तत्त्व (पदार्थ) जाने जाते हैं। इस तरह हजारों गुणों से सहित बोधि का सदा ध्यान करो।

**धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा:**— जिनेन्द्र देव ने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है। इसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से जायमान दुःख को अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं। परन्तु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के धर्मनुरागवश उसकी प्राप्ति के लिए सदा यत्न होता है।

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहिं अक्खादो ।  
धण्णा तुं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया॥(752)  
(मू. चा. पृ. 30)

तीर्थकरों द्वारा कथित धर्म सर्वजगत् का हित करने वाला है। विशुद्ध मन से उसका आश्रय लेने वाले मुनय्य जगत् में धन्य हैं।

जेणेह पाविदव्वं कल्लाणपरंपरं परमसोक्खं।

सो जिणदेसिदधम्मं भावेणुववज्जदे पुरिसो ॥(753)

जिसे इस जगत् में कल्याणों की परम्परा और परम सौख्य प्राप्त करना है वह पुरुष भाव से जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को स्वीकार करता है।

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से।

तह तह ये मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ॥(755)

जैसे-जैसे इस जीव के उपशम, दया, क्षमा और वैराग्य बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्षसुख भावित होता है।

संसारविसमदुग्गे भवगहणे कह वि मे भमंतेण।

दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मोत्ति चिंतेज्जो ॥(756)

संसारमय विषमदुर्ग इस भवन में भ्रमण करते हुए मैंने बड़ी मुश्किल से जिनवर कथित प्रधान धर्म प्राप्त किया है— इस प्रकार से चिन्तन करे।

इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं का सानिध्य मिलने पर उत्तमक्षमादिके धारण करने से महान् संवर होता है। अनुप्रेक्षा दोनों का निमित्त है इसलिए 'अनुप्रेक्षा' वचन मध्य में दिया है। क्योंकि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता हुआ यह जीव उत्तमक्षमादि का ठीक तरह से पालन करता है और परीषहों को जीतने के लिए उत्साहित होता है।

दस दो य भावणाओं एवं संखेवदो समुद्धिटा।

जिणवयणे दिट्ठाओ बुहजणंवेरग्ग जणणीओ ॥(765)

(मू.चा.पृ.36)

इस प्रकार संक्षेप में द्वादश भावना कही गयी हैं जोकि, जिनवचन में विद्वानों के वैराग्य की जननी मानी गई हैं।

अणुवेक्खाहिं एवं जो अत्ताणं सदा विधावेदि।

सो विगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहदि ॥(766)

इन अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो हमेशा आत्मा की भावना करता है वह

सर्वकर्म से रहित निर्मल होता हुआ विमल स्थान को प्राप्त कर लेता है।

## परीषह सहन करने का उपदेश

मार्गाच्च्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः । (8)

For the sake of now- falling off from the path of liberation and for the shedding of karmic matter, whatever sufferings are undergone are called the परीषहा sufferings.

मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन करने योग्य हो वे परीषह हैं।

सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र को मोक्षमार्ग कहते हैं। यह मोक्षमार्ग संवर एवं निर्जरा सहित है। आम्लव एवं बंध मोक्षमार्ग के विपरीत है। मोक्षमार्ग से च्युत होना अर्थात् रत्नत्रय से च्युत होना, कर्मों के आम्लव एवं बंध करना है। परीषह से जीव भयभीत होकर परास्त होकर रत्नत्रय के मार्ग से च्युत हो जाता है इसलिए यहाँ पर कहा गया है कि, परीषहों को भावपूर्वक-आदरपूर्वक सहन करो जिससे संवर, निर्जरा होगी और मोक्षमार्ग में स्थिरता आयेगी।

परीषहों को जीतने वाले सन्त उन परिषहों के द्वारा तिरस्कृत न होते हुए प्रधान संवर का आश्रय लेकर अप्रतिबन्ध से क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ करने के सामर्थ्य को प्राप्त कर उत्तरोत्तर उत्साह को बढ़ाते हुए सकल कषायों की प्रध्वंस शक्ति वाले होकर ध्यान रूप परशु के द्वारा कर्मों की जड़ को मूल से उखाड़ कर जिनके पंखों पर जमी हुई धूल झड़ गई है, उन उन्मुक्त पक्षियों की तरह पंखों को फड़-फड़ाकर ऊपर उठ जाते हैं। इसलिये संवरमार्ग और निर्जरा की सिद्धि के लिये परीषह सहन करनी चाहिये।

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य

निरोधिनी ।

जायतेऽध्यात्मयोगेन,

कर्मणामाशु

निर्जरा ॥(24)

(इष्टोपदेश)

आत्मा में आत्मा के चिंतवनरूप ध्यान से परीषहादिक का अनुभव न होने से कर्मों के आगमन को रोकने वाली कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।

तपसा दुःष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥

आत्मा व शरीर के विवेक (भेद) से पैदा हुए आनन्द से परिपूर्ण (युक्त) योगी, तपस्या के द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोर परीषहों को भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।

एक कवि ने कहा भी है—

घृष्टं घृष्टं पुनरपिपुनः चन्दनं चारू गन्धम्।  
 छिन्नं-छिन्नं पुनरपिपुनः स्वाद चैव इक्षुदण्डम्।  
 दग्धं-दग्धं पुनरपिपुनः कंचनं कान्तवर्णम्।  
 न प्राणान्ते प्रकृतिविकृतिर्जायते चोक्तमानाम्।

चन्दन को जितना घर्षण किया जाता है उतना ही चन्दन अधिक सुगन्ध प्रदान करता है। गन्ना को जितना पेला जाता है उतना ही स्वादभरित रस प्रदान करता है। सुवर्ण को जितना दग्ध (जलाया) किया जाता है उतना सुवर्ण कांत-कमनीय होकर प्रवाशमान हो जाता है। उसी प्रकार साधु-सज्जन धर्मात्मा व्यक्ति जितना ही उपसर्ग, कष्ट, ताड़न, मारन, गाली-गलौज रूपी अग्नि से सन्तप्त होता है वह उतना ही शुद्ध, निर्मल, पवित्र होकर आध्यात्मिक ज्योति से चमक उठता है। उसका प्राणान्त होने पर भी प्राण से भी प्रिय, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ धर्म को त्याग नहीं करता है। वह प्रिय धर्मी एवं दृढ़ धर्मी होता है।

### बाईस परिषह

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशव-  
 धयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि । (9)

The 22 परिषहा : sufferings are:

1. क्षुत् Hunger
2. पिपासा Thirst.
3. शीत Cold.
4. उष्ण Heat.
5. दंशमशक Insect bites, Mosquitoes etc.
6. नाग्न्य Nakedness.
7. अरति Ennui, dissatisfaction, languor.
8. स्त्री Women.



9. चर्या Walking too much, not to feel the fatigue but to bear it colmlly.
10. निषद्या Sitting. Not to disturb the posture of meditation, even if there is danger from lion, snake, etc, etc.
11. शय्या Sleeping. Resting on the hard earth.
12. आक्रोश Abuse.
13. वध Beating.
14. याचना Begging. To refrain from begging even in need.
15. अलाभ Failure to get alms.
16. रोग Disease.
17. तृणस्पर्श Contact with theory shrubs, etc.
18. मल Dirt. Discomfort from dust, etc.
19. सत्कार-पुरस्कार Respect on disrespect.
20. प्रज्ञा Conceit of knowledge.
21. अज्ञान Lack of knowledge.
22. अदर्शन Slack belief, e.g., on failure to attain supernatural powers.

क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नमनता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नाम वाले परीषह है।

बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से जो शारीरिक और मानसिक पीड़ा के कारण भूत क्षुधादि परीषह है, उसे मोक्षमार्ग के पथिक को साम्य भाव से सहन करना चाहिए तथा जीतना चाहिए। क्योंकि परीषहों को नहीं जीतने पर और जब सहन नहीं होते हैं तब उससे विविध कर्म बंध हो जाते हैं। परीषह एवं उपसर्ग भी पूर्वोपार्जित कर्म से आते है। उस कष्ट को साम्य भाव से सहन करने से पूर्वोपार्जित कर्म की प्रचुर निर्जरा होती है। इसलिये ज्ञानी पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करने के लिए एवं रत्नत्रय से च्युत नहीं होने के लिए कष्टों को साम्य भाव से सहन करते हैं।

कहा भी है:-

सुखं दुखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात् ।  
कुतः प्रीतिस्तापः कुतः इति कल्प्याद्यादि भवेत् ॥ (262)

उदासीनस्तस्य प्रगलित पुराणं न हि नवं ।  
समास्कन्दत्येषु स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥ (263)  
(आ.पृ.240)

संसार में पूर्वकृत कर्म के उदय से जो भी सुख अथवा दुःख होता है, उससे प्रीति क्यों और खेद भी क्यों, इस प्रकार के विचार से यदि जीव उदासीन होता है- राग और द्वेष से रहित होता है- तो उसका पुराना कर्म तो निजीर्ण होता है और नवीन कर्म निश्चय से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्थाओं में यह संवर और निर्जरा से सहित जीव अत्यन्त निर्मल मणि के समान प्रकाशमान होता है - स्व और पर को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान से सुशोभित होता है।

जो साधक होते हैं उनके जीवन में अनेक विपरीत परिस्थितियाँ भी आती हैं। साधक इन विपरीत परिस्थितियों से घबराकर पलायनवादी नहीं बनता हैं परन्तु उन परिस्थितियों का सामना करता है। कवि ने कहा भी है:-

जीवन में आये आंधी, आये घोर तूफान ।  
सुमेरु सा अचल रहे, यही साधु पहचान ॥

उत्तर रामचरित में भवभूति ने कहा भी है:-

ब्रजादपि कठोराणि, मृदुनि कुसुमान्यपि ।  
लोकोत्तराणि चेत्तांसि, को वा विज्ञातुमर्हति ॥

कर्तव्य पालन, कष्ट सहन में वज्र के समान कठोर परन्तु हृदय से कुसुम से भी कोमल ऐसे महान् पुरुष के हृदय को कौन जान सकता है ?

भर्तृहरि ने कहा भी है - “विपदि धैर्यं” अर्थात् विपत्ति में धैर्य रखना महान् पुरुष का लक्षण है। विपत्तियों से अनेक शिक्षा मिलती है, धैर्य बढ़ता है, विवेक जाग्रत होता है, सहनशीलता वृद्धिगत होती है।

इसीलिए पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है:-

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।  
तस्माथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥(102)

स.त.

बिना काय क्लेश के भावना किया गया आत्म स्वरूप का ज्ञान शारीरिक कष्ट आ जाने पर छूट जाता है। इस कारण आत्मध्यानी मुनि यथा-शक्ति परीषह सहन, तथा उपसर्ग सहन आदि शारीरिक कष्टों के साथ आत्म-चिन्तन ध्यान करें।

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः।

शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यम।

नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता,।

भवति कृतिनः संसाराब्धस्तटे निकटे सति ॥(224)

(आत्मानुशासन)

इन्द्रिय विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, राग-द्वेष की शान्ति, यम-नियम, इन्द्रिय दमन, सात तत्त्वों का विचार, तपश्चरण में उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण, जिन भगवान में भक्ति और प्राणियों पर दयाभाव, ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके कि, संसार रूप समुद्र का किनारा निकट में आ चुका है।

(1) क्षुधा परीषहजय -

प्रकृष्ट क्षुधारूपी अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी जल से शान्तकरना, साम्यभाव से सहन करना है।

(2) पिपासा परीषहजय -

तृषा (प्यास) की उदीरणा के कारण मिलने पर भी प्यास के वशीभूत नहीं होना उस के प्रतीकार को नहीं चाहना, साम्यभाव से सहन करना पिपासा-सहन हैं।

(3) शीत परीषहजय -

शीत के कारणों के सन्निधान में शीत के प्रतीकार की अभिलाषा नहीं करना, संयम का परिपालन करना, साम्यभाव से सहन करना शीत परीषहजय कहलाता है।

#### (4) उष्ण परीषहजय -

चारित्र की रक्षा करने के लिये दाह का प्रतीकार करने की इच्छा का अभाव होना, साम्यभाव से सहन करना उष्ण परीषह सहन है।

#### (5) दंशमशक परीषहजय -

दंशमशक की बाधा सहन करना, उसका प्रतीकार नहीं करना, साम्यभाव से सहन करना दंशमशक परीषहजय कहलाता है।

#### (6) नाग्न्य परीषहजय -

जातरूप (जन्म-अवस्था के समान निराभरण, निर्वस्त्र, निर्विकार रूप) धारण करना नाग्न्य है। गुप्ति, समिति की अविरोधी परिग्रह निवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्य अप्रार्थिक मोक्ष के साधन चारित्र का अनुष्ठान करना यथाजात रूप है। अविकारी (शरीर), संस्कारों से रहित, स्वाभाविक, मिथ्यादृष्टियों के द्वारा द्वेषकृत होने पर भी परम माङ्गल्य ऐसी यथाजातरूप नाग्न्य अवस्था के धारक, स्त्री रूप को नित्य अशुचि, वीभत्स और शव-कंकाल के समान देखने वाले, वैराग्य भावनाओं से मनोविकार को जीतने वाले और सामान्य मनुष्यत्व के द्वारा असंभावित ऐसे विशिष्ट मानव रूपधारी साधुगणों के नाग्न्य दोषों (लिंगविकार, मनोविकार आदि दोषों) का स्पर्श नहीं होने से नाग्न्य परीषह के जय की सिद्धि होती है।

#### (7) अरति परीषहजय -

संयम से रतिकरना अरति परीषहजय कहलाता है। क्षुधा आदि की बाधा सताने पर संयम की रक्षा में, इन्द्रियों को बड़ी कठिनता से जीतने में, व्रतों के भले प्रकार पालन करने के भार की गुरुता प्राप्त होने पर, सदैव प्रमाद रहित परिणामों की सम्हाल करने में, भिन्न-भिन्न देशभाषाओं के नहीं जानने पर विरह और चपलप्राणियों से भरे भयानक मार्गों में अथवा राज्य के कर्मचारियों आदि से भयानक परिस्थिति में नियत रूप से एकाकी विहार करने आदि से जो अरति (खेद) उत्पन्न होती है उसे वे धैर्यविशेष से निवारण करते हैं। संयम विषयक रति (अनुराग) भावना के बल से विषय सुख रति को (विषयानुराग को) विषमिश्रित आहार के सेवन के समान विपाक में कटु मानने वाले उन परम संयमीजन के रति परीषह बाधा का अभाव होने से अरति परीषहजय होता है;।

### (8) स्त्री परीषहजय -

वराङ्गनाओं के रूप देखना, उनका स्पर्श करना आदि के भावों की निवृत्ति को स्त्री परीषहजय कहते हैं।

### (9) चर्या परीषहजय -

गमन के दोषों का निग्रह करना चर्या परीषहजय कहलाता है। परिभ्रमण करने वाले साधुजन मार्ग में कठोर कंकड़ आदि से पैरों के कट जाने पर और छिल जाने पर भी खेद का अनुभव नहीं करते हैं, वा इन साधुओं को खेद का अनुभव नहीं होता है। पूर्व में अनुभव किए हुए उचित यान-वाहन आदि का स्मरण नहीं करते हैं तथा सम्यक् प्रकार से गमन के दोषों का परिहार करते हैं, उन साधुओं के चर्या-परीषहजय होता है अर्थात् ऐसे साधु चर्या परीषहजयी होते हैं।

### (10) निषद्या परीषहजय -

संकल्पित आसन से विचलित नहीं होना निषद्यापरीषहजय होता है। वीरासन, उत्कृष्टिकासन आदि जिस आसन से बैठते हैं, उस संकल्पित आसन से दूसरे आसन की पलटना नहीं करते, हिलना आदि आसन्न-दोषों को जीतते हैं, उन परम संयमीजनों को निषद्या परीषहजय होता है अर्थात् वे ही साधु निषद्या परीषह के विजयी होते हैं।

### (11) शयन परीषहजय -

आगम में कथित शयन से चलित नहीं होना, आगमांनुसार शयन करना शयन परीषहजय कहलाता है।

### (12) आक्रोश परीषहजय -

अनिष्ट वचनों को सहन करना आक्रोश परीषहजय है। तीव्र मोहाविष्ट, मिथ्यादृष्टि आर्य, म्लेच्छ, खल (दुष्ट) पापाचारी, मत्त (पागल), उददृष्ट (घमण्डी), शङ्कित आदि दुष्टजनों के द्वारा प्रयुक्त मा शब्द, धिक्कार शब्द, तिरस्कार अवज्ञा के सूचक कठोर, कर्कश, कानों को बधिर करने वाले, हृदय भेदी, हृदय में शूल के उत्पादक, क्रोधरूपी अग्नि की ज्वालाओं को बढ़ाने वाले और अप्रिय गाली आदि वचनों को सुनकर भी स्थिरचित्त रहने वाले, भस्म करने का सामर्थ्य होते हुए भी परमार्थ (तत्त्वविचार) में अवगाहित चित्तवाले, शब्द मात्र को श्रवण कर कटु शब्दों के अर्थ के विचार से पराङ्मुख,

“यह मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म का उदय ही है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है,” इत्यादि पुण्य भावनाओं के चिन्तन रूप उपायों के द्वारा सुभावित साधु का अनिष्ट वचनों का सहन करना आक्रोश परीषहजय है।

**(13) वध परीषहजय -**

मारने वालों के प्रति भी क्रोध नहीं करना वध परीषहजय है।

**(14) याचना परीषहजय -**

प्राण जाने पर भी आहारादि का याचना नहीं करना, दीनता से निवृत्त होना याचना परीषहजय है।

**(15) अलाभ परीषहजय -**

अलाभ में भी लाभ के समान संतुष्ट होने वाले तपस्वी के अलाभ परीषहजय होता है।

भिक्षा के नहीं मिलने पर भी संक्लेश परिणाम नहीं करने वाले, रंचमात्र भी चित्त को मलिन नहीं करने वाले परम तपस्वी के अलाभ परीषहजय होता है, वे साधु यह न सोचते हैं और न कहते हैं कि “ यहाँ दाता नहीं हैं, वहाँ बड़े-बड़े दानी उदार दाता हैं,” वे परम योगी लाभ से भी अलाभ में परम तप मानते हैं। इस प्रकार लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक सन्तुष्ट होने वाले के अलाभ परीषहजय है, ऐसा जानना चाहिये।

**(16) रोग परीषहजय -**

नाना व्याधियों के प्रतीकार की इच्छा नहीं करने वाले या साम्यभाव से सहन करने वाले मुनि के रोग परीषहजय होता है।

**(17) तृण परीषहजय -**

तृणादि के निमित्त से वेदना के होने पर भी मन का निश्चल रहना उसमें दुःख नहीं मानना साम्यभाव से सहन करने से तृण परीषहजय होता है।

**(18) मलधारण परीषहजय -**

स्व और पर के द्वारा मल के अपचय और उपचय के संकल्प के अभाव

को मलधारण परीषहसहन कहते हैं।

### (19) सत्कार पुरस्कार परीषहजय -

मान और अपमान में तुल्य भाव होना, सत्कार-पुरस्कार की भावना नहीं होना, सत्कार पुरस्कार परीषहजय है।

### (20) प्रज्ञा परीषहविजय -

प्रज्ञा (बुद्धि) का विकास होने पर भी प्रज्ञा मद नहीं करना प्रज्ञा परीषह विजय है। 'मैं अंग पूर्व प्रकीर्णक आदि में विशारद हूँ, सारे ग्रन्थों के अर्थ का ज्ञाता हूँ, अनुत्तरवादी हूँ, त्रिकाल विषयार्थवेदी हूँ, शब्द (व्याकरण), न्याय, अध्यात्म में निपुण हूँ, मेरे समक्ष सूर्य के सामने खद्योत के समान अन्यवादी निस्तेज हो जाते हैं, इस प्रकार विज्ञान का मद नहीं होने देना प्रज्ञापरीषहजय है।

### (21) अज्ञान परीषहजय -

अज्ञान के कारण होने वाले अपमान एवं ज्ञान की अभिलाषा को सहन करना अज्ञान परिषहजय है।

### (22) अदर्शन परीषहसहन -

'दीक्षा लेना आदि अनर्थक है,' इस प्रकार मानसिक विचार नहीं होने देना, अदर्शन परीषह सहन है। संयम पालन करने में प्रधान, दुष्कर तप तपने वाले, परम वैराग्य भावना से शुद्ध हृदययुक्त, सकल तत्त्वार्थवेदी, अर्हदायतन, साधु और धर्म के प्रतिपूजक चिरप्रव्रजित मुझ तपस्वी का आज तक कोई ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ है। 'महोपवासकरने वालों को प्रातिहार्यविशेष (चमत्कारी ऋद्धियाँ) उत्पन्न हुए थे' यह सब प्रलाप मात्र है, असत्य है, यह दीक्षा लेना व्यर्थ है, व्रतों का पालन निरर्थक है। इस प्रकार से चित्त में अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देना, अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ रखना, अदर्शन परीषहसहन करना जानना चाहिये। तप के बल पर ऋद्धियों के उत्पन्न न होने पर जिन वचन पर अश्रद्धान नहीं करना अदर्शन परीषहजय है। इस प्रकार असंकल्पित (बिना संकल्प के) उपस्थित परीषहों को संक्लेश परिणामरहित सहन करने वाले साधु के रागादि परिणाम रूप आम्रव का अभाव होने से महान संवर

होता है।

किस गुणस्थान में कितने परिषह होते हैं ?  
सूक्ष्म सांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश । (10)

Fourteen afflictions occur in the case of the saints in the tenth and twelfth stages.

सूक्ष्म साम्पराय और छद्मस्थ वीतराग के चौदह परीषह सम्भव हैं।

चतुर्दश वचन से अन्य परीषहों का अभाव जानना चाहिये। अर्थात् चौदह ही होती हैं, अन्य नहीं, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि चतुर्दश इस संख्या विशेष का ग्रहण नियम के लिये है कि चौदह ही होती है, अन्य नहीं।

यद्यपि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय का उदय है पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से कार्यकारी नहीं है, मात्र उसका सद्भाव ही है। अतः वीतरागछद्मस्थ कल्प (समान) होने से छद्मस्थ वीतराग के समान सूक्ष्म-साम्पराय में भी चौदह परीषहों का नियम घटित हो जाता है। छद्मस्थ वीतराग के परीषह का अभाव है, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि बाधाविशेष के उपरम(अभाव) होने पर भी उसके भाव को कहने के लिये सर्वार्थसिद्धि और सप्तम नरक में गमन करने के सामर्थ्य के समान छद्मस्थ वीतराग के परीषहत्रय का कथन है।

10,11,12, गुणस्थानों में परीषहों का कथन भक्तिमात्र दिखाने के लिए नहीं है, क्योंकि उन गुणस्थानों में उनका सद्भाव पाया जाता है, जैसे- सर्वार्थसिद्धि के देवों में निरन्तर सातावेदनीय का उत्कृष्ट उदय रहता है फिर भी उनके सप्तम पृथ्वी के गमन का सामर्थ्य नष्ट नहीं होता है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धि के देव गमन करते नहीं है, परन्तु गमन करने का उनका सामर्थ्य तो नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार वीतराग छद्मस्थ के भी उस-उस कर्मजन्य परीषहों का सद्भाव पाया जाता है वा कर्मोदय सद्भावकृत परीषहों का व्यपदेश युक्तिसंगत हो जाता है।



## एकादश जिने। (11)

Eleven afflictions occur to the Omniscient Jina.

जिनमें ग्यारह परीषह सम्भव हैं।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली जिन के 11 परीषह होते हैं। यह कथन उपचार से या कर्म की सत्ता एवम् उदय की अपेक्षा स्वीकार किया गया है। कोई-कोई श्वेताम्बर मत वाले जिनेन्द्र भगवान को भी परीषह मुख्य रूप से होते हैं ऐसा मानते हैं। परन्तु घातियाँ कर्मों का अभाव होने से क्षीण शक्ति वाले वेदनीय कर्म के सद्भाव से या उदय से भी केवली को परीषह जनित क्षुधादि परीषह नहीं होते हैं।

घातियाँ कर्म के उदय रूप सहकारी कारण का अभाव हो जाने से अन्य कर्मों का सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। जैसे - मन्त्र, औषधि के बल से (प्रयोग से) जिसकी मारण शक्ति क्षीण हो गई है ऐसे विषद्रव्य को खाने पर भी मरण नहीं होता है, वा विष द्रव्य मारने की समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातियाँ कर्म रूपी ईन्धन के जल जाने पर अप्रतिहत (अनंत) ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय के धारी केवली भगवान के अन्तराय (लाभान्तराय) कर्म का अभाव हो जाने से प्रतिक्षण शुभ कर्म पुद्गलों का संचय होता रहता है। अतः प्रक्षीण सहाय वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव होने पर भी वह अपना कार्य नहीं कर सकता तथा सहकारी कारण के बिना स्व योग्य प्रयोजन उत्पादन के प्रति असमर्थ होने से क्षुधादि का अभाव है। जैसे - तेरहवें गुणस्थान में ध्यान को उपचार से कहा जाता है। वैसे ही वेदनीय का सद्भाव होने से केवली में ग्यारह परीषह उपचार से कही जाती हैं। अथवा यह वाक्य शेष नहीं है कि केवली में 11 परीषह कोई मानते हैं? अपितु केवली के 11 परीषह हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिए, जैसे समस्त ज्ञानावरण कर्म का नाश हो जाने के कारण परिपूर्ण केवलज्ञानी केवली भगवान में 'एकाग्रचिन्ता निरोध' का अभाव होने पर भी कर्मरज के विघ्न रूप (कर्मनाश रूपी) ध्यान के फल को देखकर उपचार से केवली में ध्यान का सद्भाव माना जाता है इसी प्रकार क्षुधादि वेदना रूप वास्तविक परीषहों का अभाव होने पर भी वेदनीय

कर्मोदय रूप द्रव्य परीषहों का सद्भाव देखकर ग्यारह परीषहों को केवली भगवान में उपचार कर लिया जाता है।

### बादरसांपराये सर्वे । (12)

All the afflictions arise in the case of the ascetic with gross passions.

बादर साम्पराय में सब परीषह सम्भव हैं।

यहाँ बादरसाम्पराय कहने से गुणस्थानविशेष (नवम) गुणस्थान (मात्र) का ग्रहण नहीं है अपितु अर्थ निर्देश है कि प्रमत्तादि संयतों का सामान्य ग्रहण है। बादर (स्थूल) साम्पराय (कषाय) जिनके हैं वे बादर साम्पराय है।

निमित्त विशेष का सद्भाव होने से सर्व परीषहों का बादर साम्पराय में सद्भाव पाया जाता है क्षुधादि परीषह में ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय निमित्तविशेष है। उन ज्ञानावरणादि सारे निमित्तों का सद्भाव रहने पर बादरसाम्पराय अर्थात् प्रमत्तसंयत से लेकर नवम गुणस्थान तक के साधुओं के क्षुधा आदि सभी परीषह होती है।

प्रश्न — किस-किस चारित्र में सर्व परीषहों की संभावना है ?

उत्तर — सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि, इन तीन चारित्रों में क्षुधादि सर्व परीषहों की संभावना है, अर्थात् इनके सर्व परीषह होती हैं।

### ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने । (13)

प्रज्ञा Conceit and ; अज्ञान Lack of knowledge, sufferings are caused by the operation of ज्ञानावरणीय, knowledge-obscuring karmas.

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं, प्रज्ञा क्षायोपशमिकी है, अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होती है, अन्य ज्ञानावरण के उदय के सद्भाव में प्रज्ञा का सद्भाव है अतः क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के उदय में मद उत्पन्न करती है, सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने पर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं अर्थात् इन दोनों परिषहों की उत्पत्ति में ज्ञानावरण कर्म का उदय ही कारण है।

केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर केवलज्ञान होता है केवल-ज्ञान होने पर किसी भी प्रकार अहंकार नहीं होता है। जो अत्यंत अज्ञानी है, जैसे- एकेन्द्रिय आदि जीव; इनके विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होने से तथा तीव्र ज्ञानावरणीय का उदय होने पर विशेष ज्ञान न होने के कारण इनके भी प्रज्ञा और अज्ञान परिषह विशेष नहीं होती है। लोकोक्ति भी है – “रिक्त चना बाजे घना”  
भर्तृहरि ने कहा भी है—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

ज्ञानलवदूर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति॥(13)

नीतिशतक

नासमझ को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार को उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है परन्तु जो न समझदार है, न नासमझ है, ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी संतुष्ट नहीं कर सकते।

इसीलिये इंग्लिस में कहावत है – A half mind is always dangerous. जो अल्पज्ञ होते हैं वे भयंकर होते हैं।

“The little mind is proud of own condition.” संकीर्ण मन एवं कम बुद्धि वाले अधिक अहंकारी होते हैं। अल्पज्ञ लोग अहंकार से स्वयं को सर्वज्ञ मानकर सत्य को इंकार करते हैं।

महान् नीतिज्ञ चाणक्य ने बताया है –

मूर्खस्य पंच चिन्हानि गर्वी दुर्वचनी तथा।

हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते॥

मूर्खों के निम्नलिखित पांच चिन्ह हैं।

- (1) अहंकारी होना (2) अपशब्द बोलना (3) हठग्राही (4) अप्रिय बोलना (5) दूसरों के द्वारा कहा हुआ हित सत्य नहीं मानना।

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनालाभौ। (14)

अदर्शन, Slack-belief by; दर्शनमोहनीय right-belief deluding, and failure

to get alms by अन्तराय obstructive, karma.

दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव में क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।

इस सूत्र में अन्तराय ऐसा सामान्य निर्देश है फिर भी सामर्थ्य से विशेष का संप्रत्यय होता है। यद्यपि इस सूत्र में अन्तराय यह सामान्य निर्देश है तथापि यहाँ सामर्थ्य से (अलाभ के ग्रहण से) लाभान्तरायविशेष का ही ज्ञान होता है। अर्थात् अदर्शन परीषह दर्शनमोह के उदय से और अलाभ परीषह लाभान्तराय के उदय से होती है; ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि सूत्र में अलाभ का ग्रहण है।

**चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः । (15)**

Nakedness; Ennui; woman; Sitting or posture; Abuse; Begging; Respect and disrespect sufferings are due to; चरित्रमोहनीय right-Conduct deluding karmas.

चारित्रमोह के सद्भाव में नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं:-

प्रश्न — पुरुषवेद-स्त्रीवेद के उदय निमित्त से होने वाली नाग्न्य, अरति, स्त्री, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार परीषहों को चारित्रमोहनीय के उदय से मानना ठीक भी है परन्तु निषद्या परीषह भी मोहनीय कर्म के उदय में कैसे हो सकती है?

उत्तर — निषद्या परीषह भी मोहनीय कर्म के उदय से होती है, प्राणिपीडा कारण होने से। मोहनीय कर्म के उदय से प्राणि-हिंसा के परिणाम होते हैं अतः प्राणि-हिंसा की परिपालना कारण होने से निषद्या परीषह को भी मोहोदयहेतुक ही समझना चाहिये। अर्थात् अग्रत्याख्यान कषाय के उदय से निषद्या परीषह होती है।

**वेदनीये शेषाः । (16)**

The rest are caused by वेदनीय Vedaniya Karmas. They are 11 and given in the 11th sutra above.

बाकी के सब परीषह वेदनीय के सद्भाव में होते हैं।

उपर्युक्त प्रज्ञादि परीषहों से अतिरिक्त क्षुत्पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल, ये ग्यारह परीषह शेष शब्द से निर्दिष्ट हैं अतः ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय में होती है।

## एक साथ होने वाले परिषहों की संख्या एकादयो भाज्य युगपदेकस्मिन्नैकोन्नविंशतेः । (17)

From 1 to 19 at one and the same time can be possible to a saint  
(but not more than 19)

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्प से हो सकती हैं।

शीत, उष्ण, शय्या, निषद्या और चर्या, ये पाँचो एक साथ नहीं होती हैं, अतः एक साथ उन्नीस परीषह होती हैं। अर्थात् शीत-उष्ण में से एक शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनों में से एक परीषह एक आत्मा में होती है। क्योंकि ये तीनों एक साथ नहीं रहती अतः शीत और उष्ण में से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या में से कोई एक परीषह होने से और शेष तीन का अभाव होने से एक आत्मा में एक साथ उन्नीस परीषह ही होती हैं, ऐसा जानना चाहिये।

## पाँच चारित्र

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति  
चारित्रम् । (18)

The 5 kinds of सम्यक् चरित्र Right conduct (are)

- (1) सामायिक Equanimity.
- (2) छेदोपस्थापना, Recovery of equanimity after a fall from it.
- (3) परिहारविशुद्धि, Pure and absolute non-injury.
- (4) सूक्ष्मसाम्पराय, All but entire freedom from passion.
- (5) यथाख्यात, Ideal and passionless conduct.

सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

**संयम का लक्षण :-**

वदसमिदिकसायाणं, दंडाण तर्हिंदियाण पंचणहं।

धारणपालणाणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ॥(465)

अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य) अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालना, क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग, तथा पांच इन्द्रियों का जय, इसको संयम कहते हैं। अतएव संयम के पांच भेद हैं।

**संयम की उत्पत्ति का कारण:-**

बादरसंजलणुदये, सुहुमुदये समखये य मोहस्स।

संजमभावो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिदिट्ठं॥(466)

बादर संज्वलन के उदय से अथवा सूक्ष्म लोभ के उदय से और मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से नियम से संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

इसी अर्थ को दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं-

बादरसंजलणुदये, बादरसंजमतिथं खु परिहारो।

पमदिदरे सुहुमुदये, सुहुमो संजमगुणो होदि॥(467)

जो संयम के विरोधी नहीं है ऐसे बादर संज्वलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय से सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि ये तीन संयम-चारित्र होते हैं। इनमें से परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्त में ही होता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणपर्यन्त होते हैं। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त संज्वलन लोभ के उदय से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है।

जहखादसंजमो पुण, उवसमदो होदि मोहणीयस्स।

खयदो वि य सो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिदिट्ठं॥(468)

यथाख्यात संयम नियम से मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

तदियकसायुदयेण य, विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।  
विदियकसायुदयेण य, असंजमो होदि णियमेण ॥(469)

तीसरी प्रत्याख्यानारण कषाय के उदय से विरताविरत = देशविरत = मिश्रविरत-संयमासंयम नाम का पाँचवाँ गुणस्थान होता है और दूसरी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से असंयम (संयम का अभाव) होता है।

**सामायिक संयम का निरूपण:-**

संगहिद सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।  
जीवो समुव्वंहतो, सामाइयसंजमो होदि ॥(470)

उक्त व्रतधारण आदिक पाँच प्रकार के संयम में संग्रहनय की अपेक्षा से एकयम-भेद रहित होकर अर्थात् अभेद रूप से “मै सर्व सावद्य का त्यागी हूँ” इस तरह से जो सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करना इनको सामायिक संयम कहते हैं। यह संयम अनुपम है तथा दुर्लभ है और दुर्धर्ष है। इसके पालन करने वाले के सामायिक संयमी कहते हैं।

**छेदोपस्थापना संयम का निरूपण:-**

छेत्तूण य परियायं, पोरणं जो ठवेइ अप्पाणं।  
पंचजमे धम्मे सो, छेदोवट्ठावगो जीवो ॥(471)

प्रमाद के निमित्त से सामायिकादि से च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करने रूप सावद्य पर्याय होती है उसका प्रायश्चित विधि के अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्मा को व्रतधारणादिक पाँच प्रकार के संयमरूप धर्म में स्थापना करता है उसको छेदोपस्थापन संयमी कहते हैं।

**परिहारविशुद्धि संयमी का स्वरूप:-**

पंचसमिदो तिगुत्तो, परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं।  
पंचेक्कजमो पुरिसो, परिहारयसंजदो सो हु ॥(472)

पाँच प्रकार के संयमियों में से सामान्य-अभेदरूप से अथवा विशेष-भेद रूप से सर्व-सावद्य का सर्वथा परित्याग करने वाला जो जीव पाँच समिति और तीन गुप्ति को धारण कर उनसे युक्त रहकर सदा सावद्य को त्याग करता है उस पुरुष को परिहारविशुद्धसंयमी कहते हैं। अर्थात् जो इस तरह से सावद्य से सदा दूर रहता है वह जीव पाँच प्रकार के संयमियों में तीसरे परिहारविशुद्ध संयम का धारक माना जाता है।

**इसी का विशेष रूप :-**

तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।  
पच्चक्खाणं पढिदो, संझूणदुगाउयविहारो ॥(473)

जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुनः दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व तक अध्ययन करने वाले जीव के यह संयम होता है। इस संयम वाला जीव तीन संध्या कालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस पर्यन्त गमन करता है रात्रि को गमन नहीं करता। और इसके वर्षाकाल में गमन करने का या न करने का कोई नियम नहीं है।

**सूक्ष्मसाम्पराय संयम वाले का स्वरूप :-**

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसांमगो व खवगो वा।  
सो सुहुमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि ॥(474)

जिस उपशमश्रेणी वाले अथवा क्षपकश्रेणिवाले जीव के अणुमात्र लोभ-सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभकषाय के उदय का अनुभव होता है उसको सूक्ष्मसांपराय संयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात चारित्रवाले जीव के परिणामों से कुछ ही कम होते हैं, क्योंकि यह संयम दशवें गुणस्थान में होता है और यथाख्यात संयम ग्यारवें से शुरू होता है।

**यथाख्यात संयम का स्वरूप :-**

उवसंते खीणे वा, असुहे कम्ममि मोहणीयमि।  
छदुमट्ठो व जिणो वा, जहखादो संजदो सोदु ॥(475)



अशुभ रूप मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के, और सर्वथा क्षीण हो जाने से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान वाले जीवों के यथाख्यात संयम होता है।

(गो. जी. का., पृ. स. 216)

## निर्जरातत्त्व का वर्णन

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा  
बाह्यं तपः। (19)

तप austerities are, बाह्य external and अभ्यन्तर internal.

(1) अनशन Fasting.

(2) अवमौदर्य Eating less than one's fill, than one has appetite for.

(3) वृत्तिपरिसंख्यान Taking a mental vow to accept food from a house holder, only if a certain condition is fulfilled, without letting any one know about the vow.

(4) रसपरित्याग Daily renunciation of one or more of 6 kinds of delicacies.

(5) विविक्तशय्यासन Sitting and sleeping in lonely place, devoid of animate beings.

(6) कायक्लेश Mortification of the body, so long as the mind is not disturbed.

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छ प्रकार का बाह्य तप है।

(1) अनशन— लौकिक सुख, मंत्रसाधनादि दृष्टफल की अपेक्षा बिना संयम की सिद्धि, इन्द्रिय विषय सम्बन्धी राग के उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान की सिद्धि और आगम ज्ञान की प्राप्ति के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास (अनशन) कहलाता है।

(2) अवमौदर्य— संयम को जागृत करने के लिये, दोषों को शांत करने के लिये, सन्तोष, स्वाध्याय एवं सुख की शिक्षा के लिये अवमौदर्य होता है। तृप्ति के लिये पर्याप्त भोजन में से चतुर्थांश या दो चार ग्रास कम खाना अवमौदर्य है और अवमौदर्य का भाव या कर्म अवमौदर्य कहलाता है।

(3) वृत्तिपरिसंख्यान— एक घर, सात घर, एक गली (एक मोहल्ला) अर्द्धग्राम आदि के विषय का संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। आशा तृष्णा की निवृत्ति के लिये भिक्षा को जाते समय साधु का एक, दो, तीन, सात आदि घर-गली, दाता, भोज्यपदार्थ आदि का नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

(4) रसपरित्याग— जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि, संयम में बाधा की निवृत्ति आदि के लिये घी, दूध, दही, गुड, नमक, तेल आदि रसों का परित्याग करना रसपरित्याग तप कहलाता है।

(5) विविक्तशय्यासन— जन्तुबाधा का परिहार, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की सिद्धि के लिए निर्जन्तु, शून्यागार, गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानों में शय्या (सोना) आसन (बैठना) विविक्तशय्यासन है। विविक्त (एकान्त) में सोने-बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है, ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है और गमनागमन का अभाव होने से जीवों की रक्षा होती है।

(6) कायक्लेश— अनेक प्रकार के प्रतिमायोग (प्रतिमा के समान अचल, स्थिर रहना) धारण करना, मौन रखना, आतापन (ग्रीष्मकाल में सूर्य के सम्मुख खड़े रहना), वृक्षमूल (चातुर्मास में वृक्ष के नीचे चार महीना निश्चय बैठे रहना), सर्दी में नदी तट पर ध्यान करना आदि क्रियाओं से शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है।

बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से ये बाह्य कहलाते हैं अर्थात् ये अनशन आदि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा (आहारत्याग, स्वल्पाहार, घरों की संख्या नियत करना, रस छोड़ना आदि) अपेक्षा करके किये जाते हैं, इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

ये तप दूसरों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय हैं तथा इन तपों को मुनीश्वर भी

करते हैं और गृहस्थ भी, सम्यग्दृष्टि भी और मिथ्यादृष्टि भी। इसलिए भी इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

कर्मों को जलाते हैं, भस्म करते हैं, इसलिए इनको तप कहते हैं। जैसे-अग्नि सञ्चित तृणादि ईंधन को भस्म कर देती है, जला देती है, उसी प्रकार ये तप मिथ्यादर्शन, अविरति कषाय आदि के द्वारा अर्जित कर्म रूप ईंधन को भस्म कर देते हैं, जला देते हैं, नष्ट कर देते हैं, इसलिए इनको तप कहते हैं।

अथवा इन्द्रिय और शरीर को ताप देते हैं, इन्द्रियों की विषयप्रवृत्ति का निरोध करके अनशनादि तप शरीर और इन्द्रियों को तपा देते हैं इसलिये अनशनादि को तप कहते हैं। इन अनशनादि बाह्य तपों के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह सहज हो जाता है।

### आभ्यान्तर तप

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्। (20)

The other i.e. Internal, austerities are also 6 :

1. प्रायश्चित्त Expiation.
2. विनय Reverence.
3. वैयावृत्त Service (of the saints or worthy people).
4. स्वाध्याय Study.
5. व्युत्सर्ग Giving up attachment to the body etc.
6. ध्यान Concentration.

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छः प्रकार का आभ्यन्तर तप है।

- (1) प्रायश्चित्त तप :- प्रमादजन्य दोष का परिहार करना प्रायश्चित्त तप है।
- (2) विनय तप :- पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है।
- (3) वैयावृत्य तप :- शरीर की चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है।
- (4) स्वाध्याय तप :- आत्मस्य का त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय

तप है।

(5) व्युत्सर्ग तप :- अहंकार और ममकार रूप संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

(6) ध्यान तप :- चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान तप है।

### आभ्यान्तर पर के उत्तर भेद

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्। (21)

The अभ्यान्तर तप Internal austerities previous to ध्यान concentration or meditation are respectively of 9,4,10,5 and 2 Kinds.

ध्यान से पूर्व के आभ्यान्तर तपों के अनुक्रम से नौ, चार, दश, पांच और दो भेद हैं।

अर्थात् प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयावृत्य के दस, स्वाध्याय के पाँच और व्युत्सर्ग के दो भेद है।

### प्रायश्चित्त के नव भेद

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः।

(22)

The 9 Kinds of प्रायश्चित्त expiation are :

1. आलोचन full and voluntary confession to the head of the order.
2. प्रतिक्रमण Self-analysis and repentance for faults.
3. तदुभय Doing both.
4. विवेक Giving up a much-beloved object, as a particular food or drink.
5. व्युत्सर्ग Giving up attachment to the body.
6. तप Austerities of a particular kind prescribed in a penance.
7. छेद Cutting short the standing of a saint by way of degradation.
8. परिहार Rustication for some time.
9. उपस्थापना Fresh re-admission, after expulsion from the order.

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकार का प्रायश्चित्त है

(1) आलोचना :- गुरु के निकट (समक्ष) दश दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है।

(2) प्रतिक्रमण :- 'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरु से ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है।

(3) तदुभय प्रायश्चित्त :- आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का संसर्ग होने पर दोषों का शोधन करना तदुभय प्रायश्चित्त है।

(4) विवेक प्रायश्चित्त :- संसक्त हुए अन्न, पान और उपकरण आदि का विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है।

(5) व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त :- कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

(6) तप प्रायश्चित्त :- अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है।

(7) छेद प्रायश्चित्त :- दिवस, पक्ष और महीना आदि की प्रवज्या (दीक्षा) छेद करना छेद प्रायश्चित्त है।

(8) परिहार प्रायश्चित्त :- पक्ष, महीना आदि के विभाग से संघ से दूर रखकर त्याग करना परिहार प्रायश्चित्त है।

(9) उपस्थापना प्रायश्चित्त :- पुनः दीक्षा का प्राप्त करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

## विनय तप के 4 भेद

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। (23)

विनय Reverence is of 4 kinds.

1. ज्ञान विनय For right knowledge.
2. दर्शन विनय For right belief.
3. चारित्र विनय For right conduct and
4. उपचार विनय By observing proper forms of respect, as folding the hands bowing etc. etc.

ज्ञानविनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय यह चार प्रकार का विनय है।

**ज्ञान विनय**— बहुमान सहित ज्ञान को ग्रहण करना, ज्ञान का अभ्यास करना, स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है। आलस्यरहित (निष्प्रमादी) होकर देशकालादि की विशुद्धि के ज्ञाता तथा शुद्ध मन वाले साधु के द्वारा बहुमानपूर्वक यथाशक्ति मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास, स्मरण, चिन्तन आदि करना ज्ञानविनय है।

**दर्शनविनय**— पदार्थों के श्रद्धान में निश्चित्वादि लक्षण से युक्त होना अर्थात् निशंकितादि आठ गुणों से युक्त सम्यग्दर्शन का पालन करना दर्शनविनय है। जिनेन्द्र भगवान ने सामायिक आदि से लेकर लोकबिन्दुसार पर्यन्त श्रुतरूपी महासमुद्र में जिन पदार्थों का जैसा उपदेश दिया है, उनका उसी रूप से श्रद्धान करना किसी भी विषय में शंका नहीं करना तथा सम्यग्दर्शन के निशंकितादि गुणों को धारण करना दर्शन विनय है।

**चारित्रविनय**— सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त पुरुषों का सम्यक्चारित्र में समाहितचित्त होना चारित्रविनय है। सम्यग्ज्ञानवन्त और सम्यग्दृष्टि पुरुषों के पाँच प्रकार के दुश्चर चारित्रों का वर्णन सुनकर रोमाञ्च आदि के द्वारा अन्तर्भक्ति प्रकट करना, मस्तक पर अंजुलि रखकर प्रणाम करना आदि क्रियाओं के द्वारा आदर करना और भावपूर्वक चारित्र का अनुष्ठान करना चारित्रविनय जानना चाहिये।

**उपाचारविनय**— पूजनीय आचार्यादि को सामने देखकर (पूजनीय आचार्यादि पुरुषों के आने पर उनको देखकर) खड़े हो जाना, उनके पीछे पीछे चलना, अंजुलि जोड़ना, उनकी वन्दना करना, उनकी आज्ञा में चलना आदि आत्मानुरूप आचरण उपचारविनय है।

आचार्य के समक्ष न होने पर उनके परोक्ष में उनके प्रति काय से अंजुलि धारण करना, हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, वचन से उनके गुणों का संकीर्तन करना, उनकी प्रशंसा करना, मन से उनके गुणों का स्मरण करना और मन-वचन-काय से उनके परोक्ष में भी उनकी आज्ञा का पालन करना

उपचारविनय है।

ज्ञानलाभ, आचारविशुद्धि और सम्यग्आराधना आदि की सिद्धि विनय से ही होती है और अन्त में मोक्षसुख भी इससे मिलता है, अतः विनयभावना अवश्य ही रखनी चाहिये।

### वैयावृत्य तप के 10 भेद

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्। (24)

वैयावृत्य Service is of 10 kinds, as it relates to the :

1. आचार्य Head of an order of saints.
2. उपाध्याय Preceptor in an order of saints.
3. तपस्वि Saint who practises severe austerities as long fasts etc.
4. शैक्ष Student Saint.
5. ग्लान Invalid Saints.
6. गण Brothers of the same order.
7. कुल Fellow-disciples of the same Head.
8. संघ Whole order as such i.e. all the 4 classes of which the order consists.
  1. ऋषि Saints with miraculous powers.
  2. यति Saint with control over the senses.
  3. मुनि Saint with Visual and Mental knowledge.
  4. अनगार Saint a houseless ascetic. Or, all the 4 classes of the community i.e.
    1. यति Monk.
    2. आर्यिका Nun.
    3. श्रावक Layman.
    4. श्राविका Laywoman
9. साधु Saint of long standing.
10. मनोज्ञ Popular Saint.

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ

इनकी वैयावृत्य के भेद से वैयावृत्य दस प्रकार का है।

**वैयावृत्य :-** वैयावृत्य का भाव वा कर्म वैयावृत्य है। कायचेष्टा से वा अन्य द्रव्यान्तर से व्यावृत्त (सेवा करने में तत्पर) पुरुष का कर्म वा भाव वैयावृत्य कहलाता है।

(1) **आचार्य :-** जिनसे व्रतों को धारण कर उनका आचरण किया जाता है, वे आचार्य हैं। जिन सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि गुणों के आधारभूत महापुरुष से भव्यजीव स्वर्गमोक्षरूप अमृत के बीजभूत (स्वर्ग मोक्षदायक) व्रतों को ग्रहण कर अपने हित के लिये आचरण करते हैं, व्रतों का पालन करते हैं वा जो दीक्षा देते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।

(2) **उपाध्याय :-** जिनके 'उप' समीप जाकर अध्ययन किया जाता है, वे उपाध्याय हैं। अथवा, जिन व्रतशील भावनाशाली महानुभाव के समीप जाकर भव्यजन विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं।

(3) **तपस्वी :-** महोपवास (एक महीना, दो महीना आदि का उपवास) करके जो महातपों का अनुष्ठान करते हैं, वे तपस्वी कहलाते हैं।

(4) **शैक्ष्य :-** शिक्षाशील को शैक्ष्य कहते हैं, अर्थात् श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और सतत् व्रत भावना में निपुण शैक्ष्य (शिक्षक) कहलाते हैं।

(5) **ग्लान :-** जिनका शरीर रोगों से आक्रान्त है, वे ग्लान कहलाते हैं।

(6) **गण :-** स्थविरों की सन्तति को गण कहते हैं।

(7) **कुल :-** दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा कुल कहलाती है।

(8) **संघ :-** यति, ऋषि, मुनि और अनगार, इन चार प्रकार के मुनियों के समूह को संघ कहते हैं वा चार प्रकार के मुनियों का समूह संघ कहलाता है।

(9) **साधु :-** चिरकाल से भावित प्रव्रज्यागुण (दीक्षा गुण) वाले पुराने साधक साधु कहलाते हैं।

(10) **मनोज्ञ :-** अभिरूप को मनोज्ञ कहते हैं। अथवा, जो विद्वान् मुनि वाग्मिता (वाक्पटुता), महाकुलीनता आदि गुणों के द्वारा लोक में प्रसिद्ध हैं, वे मनोज्ञ हैं। ऐसे लोगों का संघ में रहना लोक में प्रवचन गौरव का कारण होता है।



अथवा, संस्कारों से सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं (क्योंकि उससे प्रवचन की प्रभावना होती है।)

इन आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, कुल, गण, संघ, साधु और मनोज्ञों पर व्याधि, परीषह, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उन उपद्रवों का प्रासुक औषधि, आहारपान, आश्रय, चौकी फलक, घास की चटाई आदि धर्मोपकरण (कमण्डलु, पिच्छिका, शाखादि) के द्वारा प्रतीकार करना तथा मिथ्यात्व की ओर जाते हुए को सम्यक्त्वमार्ग में दृढ़ करना वैयावृत्य है। बाह्य प्रासुक औषधि आहार-पानादि द्रव्यों के अभाव में भी अपने शरीर से (हाथ से) खंकार, नाक आदि के भीतरी मल को साफ करना और उनके अनुकूल वातावरण बना देना, उनके अनुकूल अनुष्ठानादि करना वैयावृत्य कहा जाता है। समाधिधारण, विचिकित्साभाव, (ग्लानि पर विजय) प्रवचन वात्सल्य, सनाथता तथा दूसरों में सनाथवृत्ति जताने आदि के लिये वैयावृत्य करना आवश्यक है।

## स्वाध्याय तप के 5 भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः । (25)

स्वाध्याय Study is of 5 Kinds:

1. वाचना Reading.
2. पृच्छना Questioning Inquiry on a doubtful point.
3. अनुप्रेक्षा Reflexion or meditation on what is read.
4. आम्नाय Memorising and proper recitation.
5. धर्मोपदेश Lecturing or delivering sermons.

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय हैं।

1. वाचना- निरपेक्ष भाव से तत्त्वार्थज्ञ के द्वारा पात्र के लिये जो निर्दोष ग्रन्थ वा ग्रन्थ के अर्थ या दोनों (ग्रन्थ और अक्षर इन) का प्रतिपादन किया जाता है वह वाचना है।

2. पृच्छना- संशयच्छेद या निर्णय की पुष्टि के लिये ग्रन्थ, अर्थ या उभय

के लिये दूसरे से पूछना पृच्छना है।

3. अनुप्रेक्षा— अधिगत (जाने हुए) अर्थ का मन के द्वारा अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। वस्तु के स्वरूप को जानकर संतप्त लोहपिण्ड के समान चित्त को तद्रूप बना लेना और बार-बार मन से उसका अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है।

4. आमनाय— विशुद्ध घोष से पाठ का परिवर्तन करना आमनाय है। आचार पारगामी ब्रती का लौकिक फल की अपेक्षा किये बिना द्रुत विलम्बित आदि उच्चारण दोषों से रहित होकर विशुद्ध पाठ का फेरना, घोष करना आमनाय स्वाध्याय है, ऐसा कहा जाता है।

5. धर्मोपदेश— धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है। लौकिक ख्याति, लाभ आदि दृष्ट प्रयोजन के बिना, उन्मार्ग की निवृत्ति के लिए, संशय को दूर करने के लिये तथा अपूर्व पदार्थ के प्रकाशन के लिये धर्मकथा आदि का अनुष्ठान कथन करना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय कहलाता है।

### व्युत्सर्ग तप के 2 भेद बाह्योपधिः । (26)

व्युत्सर्ग Giving up attachment to worldly objects is of 2 kinds:

1. बाह्य उपाधि Of external things.
2. अभ्यन्तर उपाधि Of internal things as the passions etc.

बाह्य और अभ्यन्तर उपाधिका त्याग यह दो प्रकार का व्युत्सर्ग है।

व्युत्सर्जन (त्याग) को व्युत्सर्ग कहते हैं।

जो पदार्थ अन्य में बलाधान के लिये ग्रहण किये जाते हैं, अर्थात् जो किसी के सहकारी कारण होते हैं उनको बाह्य उपाधि कहते हैं।

(1) बाह्योपधि व्युत्सर्ग— अनुपात, बाह्य संयोग वस्तु का त्याग बाह्योपधि त्याग वा व्युत्सर्ग है। जो बाह्य पदार्थ आत्मा के द्वारा उपात्त नहीं है वा जो बाह्य पदार्थ आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन पदार्थों का त्याग करना उसे बाह्योपधि व्युत्सर्ग जानना चाहिये, अर्थात् बाह्य पदार्थों के

त्याग को बाह्योपधि व्युत्सर्ग कहते हैं अर्थात् इन्द्रिय विषयों का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है।

(2) अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग— क्रोधादि भावों की निवृत्ति अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा आदि अभ्यन्तर दोषों की निवृत्ति अर्थात् अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना, अभ्यन्तर उपधि का त्याग कहलाता है वा अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है।

काय (शरीर) के ममत्व का त्याग करना अभ्यन्तर उपधि का त्याग है। काय के ममत्व का त्याग दो प्रकार का है—नियतकाल और यावज्जीवन। घड़ी, घंटा आदि नियतकाल तक सामायिक आदि के समय शरीर के ममत्व का त्याग करना, कायोत्सर्ग करना नियतकाल है और समाधि आदि के समय जीवन पर्यन्त शरीर के ममत्व का त्याग करना यावज्जीवन त्याग है।

### ध्यान तप का लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तात्। (27)

ध्यानं Concentration is confining one's thought to -one particular object. In a man with a high class consituation of bone, nerves etc. i.e. the first 3 out of the 6 संहनन it lasts at the most for i.e. upto one अन्तर्मुहूर्त i.e. 48 minutes minus one समय।

उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।

आदि के तीन संहनन उत्तम कहलाते हैं, अर्थात् वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच और नाराच, ये तीन संहनन उत्तम कहलाते हैं। इन तीनों संहननों को उत्तम क्यों कहते हैं? ध्यानादि में विशेष सहायक कारण होने से इनको उत्तम कहते हैं। इनमें मोक्ष का कारण तो एक आदि का वज्रवृषभ नाराच संहनन ही होता है, परन्तु ध्यान के कारण तो आदि के तीनों संहनन होते हैं। उत्तम संहनन जिसके है वह उत्तम संहनन है, उत्तम संहनन वाले के ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

चिन्ता— अन्तःकरण का व्यापार है। अर्थात् पदार्थों में अन्तःकरण की वृत्ति-व्यापार

को चिंता कहते हैं।

अनियत क्रियार्थ का नियतक्रिया अकर्तृत्व से अवस्थान होना निरोध है। गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में अनियम रूप से भटकने वाली चित्तवृत्ति को एक क्रिया में रोक देना निरोध है, ऐसा जाना जाता है। एक 'अग्र' मुख जिसके है वह एकाग्र है, उस एक अग्र में चिंता का निरोध एकाग्रचिंतानिरोध है।

प्रश्न— यह एकाग्रत्व से चिंता निरोध कैसे होता है ?

दीपक की शिखा के समान वीर्यविशेष के सामर्थ्य से चित्तवृत्ति का एक स्थान में निरोध हो जाता है। जैसे-निराबाध (वायुरहित) प्रदेश में प्रज्वलित दीपशिखा परिस्पन्दन नहीं करती है, स्थिर रहती है, उसी प्रकार निराकुल स्थान में (एकलक्ष्य में) शक्तिविशेष से अवरूध्यमान (रोकी गई) चित्तवृत्ति, बिना व्याक्षेप के एकाग्रता से स्थिर रहती है, अन्यत्र नहीं भटकती।

'एकं अग्रं' एक द्रव्य परमाणु या भावपरमाणु या अन्य किसी अर्थ में चिन्ता को (चित्त वृत्ति को) नियमित करना, केन्द्रित करना, स्थिर करना, एकाग्र चिन्तानिरोध है।

मुहूर्त्त का परिमाण 48 मिनट है। मुहूर्त्त कालविशेषवाची है, उसका परिमाण 48 मिनट पूर्व में कह दिया गया है।

इसमें उत्तम संहनन का कथन, अन्य संहनन से इतने काल तक स्थिर रहने की असमर्थता प्रगट करने के लिये है। अर्थात् उत्तम संहनन वाला जीव ही इतने समय (अन्तर्मुहूर्त्त) तक एक पदार्थ में चित्तवृत्ति का निरोध कर सकता है, अन्य संहनन वाले नहीं। इस बात की सूचना करने के लिये सूत्र में उत्तम संहनन शब्द का प्रयोग किया है।

'एकाग्र' शब्द व्यग्रता, चंचलता की निवृत्ति के लिये है, क्योंकि ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र, अतः ध्यान की एकाग्रता को प्रकट करने के लिये एकाग्र शब्द दिया गया है।

ज्ञानात्मकचिन्ता की पर्यायविशेष में ध्यान शब्द का प्रयोग होता है,

इस बात की सूचना करने के लिये 'चिन्तानिरोध' ध्यान का विशेषण किया गया है। चिन्ता ज्ञान की पर्याय हैं। उस ज्ञान की व्यग्रता हट जाना ही ध्यान है।

मुहूर्त वचन आहारादि की व्यावृत्ति के लिये है। आहारादि का भाव आ जाने पर चित्तवृत्ति ध्यान से च्युत हो जाती है अतः उस आहारादि काल की निवृत्ति के लिए मुहूर्त शब्द कहा गया है। अथवा, ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद एक ही ध्यान लगातार नहीं रह सकता।

चिन्तानिरोध तुच्छ अभाव (सर्वथाभाव) रूप नहीं है किन्तु किसी पर्याय की अपेक्षा भावान्तर रूप इष्ट है। अन्य चिन्ताओं के अभाव की अपेक्षा ध्यान असत् होकर भी विवक्षित लक्ष्य के सद्भाव की अपेक्षा सत् स्वरूप है। अर्थात् विवक्षित अर्थ के विषय अवगम स्वभाव की सामर्थ्य की अपेक्षा ध्यान अस्ति रूप है।

## ध्यान के भेद आर्तरीद्रधर्म्यशुक्लानि। (28)

It is of 4 kinds:

1. आर्तध्यान Painful or meditation, monomania.
2. रौद्रध्यान Wicked concentration on unrighteous gain etc.
3. धर्मध्यान Righteous concentration.
4. शुक्लध्यान Pure concentration i.e. concentration on the soul.

आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल से ध्यान के चार भेद हैं।

1. आर्तध्यान— ऋतु, दुःख और अर्दन को आर्त्ति कहते हैं और आर्त्ति से होने वाला ध्यान आर्तध्यान है।
2. रौद्रध्यान— रूलाने वाले को रुद्र या क्रूर कहते हैं, उस रुद्र का कर्म या भाव रौद्रध्यान कहलाता है।
3. धर्म्यध्यान— धर्म से युक्त ध्यान धर्म्यध्यान कहलाता है।
4. शुक्लध्यान— शुचि गुण के योग से शुक्ल होता है। जैसे— मैल हट जाने से शुचि गुण के योग से वस्त्र शुक्ल कहलाता है, अर्थात् वस्त्र शुचि होकर

शुक्ल (श्वेत वर्ण उज्ज्वल) हो जाता है, उसी प्रकार गुणों के साधर्म्य से निर्मल गुण रूप आत्मपरिणति भी शुक्ल कहलाती है। ये चारों प्रकार के ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार के हैं— पाप के कारण भूत ध्यान अप्रशस्त है और कर्म को दहन करने के सामर्थ्य से युक्त ध्यान प्रशस्त कहलाते हैं; अर्थात् जिससे कर्मों का नाश होता है, वह प्रशस्त ध्यान है। आदि के दो ध्यान (आर्त्त, रौद्र) अप्रशस्त हैं और धर्म्य और शुक्ल ध्यान प्रशस्त हैं।

### परं मोक्षहेतु। (29)

The last two धर्मध्यान, शुक्लध्यान are the causes of liberation. The other two आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान are the causes of mundane bondage.

उनमें से पर अर्थात् अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। 'परं मोक्षहेतु' धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण है, ऐसा कहने पर परिशेष न्याय से पूर्व आर्त्त, रौद्रध्यान संसार के कारण हैं, यह जाना जाता है क्योंकि तीसरे साध्य का अभाव है अर्थात् संसार और मोक्ष को छोड़कर तीसरा कोई भेद या अवस्था नहीं हैं।

इस सूत्र में कहा गया है कि धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान दोनों मोक्ष के लिए कारण है। एकाग्रचिंता निरोध ध्यान होने के कारण जब तक चिंता (भावमन) रहती है तब तक ध्यान होता है। भावजन का अभाव 12 वें गुणस्थान के अंत तक हो जाता है इसलिए वस्तुतः 13वें 14वें गुणस्थान में उपचार से शुक्ल ध्यान है और सिद्ध अवस्था में उपचार से भी ध्यान मात्र का भी आभाव है। इस से सिद्ध होता है कि ध्यान आत्मा का स्वभाव नहीं है परन्तु मोक्ष मार्ग के लिए कारण है। कुछ आधुनिक एकान्त वादी आध्यात्मिक शास्त्र एवं शुद्ध नय का बहाना (आड़) लेकर शुक्ल ध्यान को तो मोक्ष का कारण मानते हैं और धर्मध्यान को संसार का कारण मानते हैं किन्तु सूत्रकार के सूत्रों से स्वयं इस मत का खण्डन हो जाता है। शुभ-ध्यान शुभ परिणाम से होता है तथा शुभ परिणाम सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित एवं देशचारित्र एवं सकल चारित्र पूर्वक जो शुभक्रिया या शुभध्यान होता है वे सब पुण्यबंध के साथ-साथ पाप के संवर निर्जरा का कारण बनते हैं। जो

पुण्यबंध होता है एवं शुभभाव व ध्यान होता है वह भी मोक्ष के लिए परम्परा से कारणभूत बनते हैं। शुभभाव एवं शुभध्यान भी शुद्धभाव एवं शुक्तध्यान के लिए कारण बनते हैं।

दिगम्बर जैनागम के श्रेष्ठतम सिद्धान्तशास्त्र जयधवल में वीर सेन स्वामी ने उपरोक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किये हैं—

सुह परिणाम पणालीए विणा एक्क सराहेणेव सुविसुद्ध परिणामेण परिणामनासंभवादो त्ति एसो एत्थ सुत्तत्थसम्भावो।

शुभ परिणाम की प्रणाली के बिना एक बार में ही सुविसुद्ध परिणाम रूप से परिणामन असम्भव है। इस प्रकार इस अर्थ का सद्भाव यहाँ पर स्वीकार किया गया है। परिणामों विसुद्धो पुवं पि अंतोमुहुत्तप्पहुडि विसुज्झमाणो आगदो अणंतगुणाए विसोहीए।

परिणाम विशुद्ध होता है तथा अन्तर्मुहूर्त पहले से ही अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होता हुआ आया है।

विसुद्धो चेव परिणामो एदस्स होइ त्ति एदेण सुत्तावयवेण असुहपरिणामाणं वुदासं कादूण सुह-सुद्धपरिणामं चेव एत्थ संभवो त्ति जाणविदं ण केवलमेदम्मिं चेव अधापवत्तरण चरिमसमए विसुद्ध परिमाणो एदस्स जादो किन्तु पुवं पि अधापवत्तकरण पारंभादो हेट्ठा अंतोमुहुत्तप्पहुडि खवगसेठियाओग विसोहीए पडिसमयमणंत गुणाए विसुज्झमाणो चेव आगदो।

चारित्र मोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ करने वाले जीव का परिणाम विशुद्ध ही होता है। इस प्रकार इस सूत्र वचन से अशुभ परिणामों का व्युदास करके शुभ-शुद्ध परिणाम ही यहाँ पर सम्भव है, इस बात का ज्ञान कराया गया है। केवल इसे अधः प्रवृत्त करके अन्तिम समय में ही इसका विशुद्ध परिणाम हो गया है, किन्तु अधः प्रवृत्तकरण के प्रारम्भ करने के पूर्व ही नीचे अन्तर्मुहूर्त से लेकर क्षपक श्रेणी के योग्य विशुद्धि का अवलम्बन लेकर प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ ही आया है।

शुभ परिणाम शुद्ध परिणाम के कारण होने से बिना शुभ परिणाम के

शुद्ध परिणाम नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कारण के बिना कार्य का संपादन होना त्रिकाल, तीन लोक में असंभव है। इसलिए भी शुभ परिणाम मोक्ष मार्ग में प्राथमिक साधक अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक के जीवों के लिये हेय नहीं परन्तु उपादेय है। उत्कृष्ट शुभ परिणाम चतुर्थ गुणस्थान में नहीं होता है किन्तु सातवें गुणस्थान में ही होता है। बिना निर्ग्रन्थ मुनि लिङ्ग धारण किये छठवाँ सातवाँ गुणस्थान नहीं हो सकता है। अतः उत्कृष्ट शुभ परिणामों की प्राप्ति के लिये भी निर्ग्रन्थ मुनि लिङ्ग की आवश्यकता है। केवल शुभ परिणाम शुद्ध परिणाम के लिए ही कारण नहीं है किन्तु संवर-निर्जरा के लिए भी कारण है। इतना ही नहीं, शुभ एवं शुद्ध परिणाम के बिना कर्म का क्षय नहीं हो सकता है।

सुह सुध्द परिणामेहि कम्मक्खया भावे  
तक्खयाणुववत्तीदो।”

शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है।

आत्मानुशासन में गुण भद्राचार्य ने कहा भी है—

अशुभाच्छुभमायात् शुद्धः स्यादयमागतम् ।  
स्वेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥(122)

Emerging from evil into good, this (Soul) reaches, with the help of the scriptures, (the Stage of) pure thought activity. Darkness (of ignorance) cannot exist in presence of the pre-evening from sun (of knowledge).

यह आराधक भव्यजीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभस्वरूप असंयम अवस्था से शुभरूप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। ठीक है-सूर्य जब तक सन्ध्यः (प्रभातकाल) को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह अंधकार को नष्ट नहीं करता है।

विधुततमसो रागस्तपः श्रुतनिबंधनः ।  
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥(123)



The red tinge (i.e. attachment), of a person whose ignorance is dispelled, supports austerity and scriptural knowledge; and like the red dawn of the rising sun is for the prosperity of all beings.

अज्ञान रूप अंधकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के जो तप एवं शास्त्रविषयक अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा के समान उसके अभ्युदय (अभिवृद्धि) के लिये होता है।

### आर्तध्यान का लक्षण एवं भेद

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः । (30)

आर्तध्यान Painful concentration or monomania is of 4 kinds. The first kind of monomania is अनिष्ट संयोगज onconnection with an unpleasing object to repeatedly think of separation from it.

अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिये चिन्ता-सातत्य का होना प्रथम आर्तध्यान है।

बाधाकारी विष, कण्टक, शत्रु, शास्त्रादि अप्रिय वस्तुएँ अमनोज्ञ कहलाती हैं। जो विष कण्टक, शत्रु आदि अप्रिय है, उसे बाधा की कारण होने से अमनोज्ञ कहते हैं।

अर्थान्तर (दूसरे पदार्थ) की ओर मन को न जाने देकर उसे बार-बार एक ही पदार्थ में लगाये रखना समन्वाहार है। स्मृति का समन्वाहार स्मृति समन्वाहार है। बाधाकारी विष, कण्टक आदि अप्रिय वस्तु का संयोग मिलने पर 'ये मुझसे दूर कैसे हों' इस प्रकार का संकल्प चिन्ता का प्रबन्ध आर्तध्यान कहा जाता है।

अनादि कालीन मोह एवं अविद्या आदि कुसंस्कार के कारण जीव दूसरे पदार्थों में इष्टानिष्ट आरोप कर लेता है। अनिष्ट संयोग होने पर उनको दूर करने के लिए बार-बार विचार करता है। उसकी ही योजना बनाता है। जब तक अनिष्ट संयोग होता है उसके मन में अनेक संकल्प विकल्प उठते हैं जिससे मन में विकार उत्पन्न होता है एवं विभिन्न मानसिक तनाव से ग्रस्त हो जाता है। इससे अनेक शारीरिक-मानसिक रोग के साथ-साथ पापबंध भी होता है,

जैसे-दुर्योधन पाण्डवों को अनिष्ट जानता था और उनको राज्य से निकालने के लिए, मारने के लिए योजना बनाता था। उग्रा ही नहीं इस अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान के कारण ही महाभारत जैसे जन-धन संहारक महायुद्ध हुआ। परिवार में भी दुष्टा बहु, दुष्टा सास, दुष्टा भाई बन्धु के कारण इस प्रकार का अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान होता है कलह होती है एवं संयुक्त परिवार टुकड़े-टुकड़े में बिखर जाता है। इस ध्यान का वर्णन ज्ञानार्णव में शुभचन्द्रा चार्य ने निम्न प्रकार किया है—

ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः ।

स्थल जलबिल सत्त्वैर्दुर्जनाराति भूपैः ।

स्वजन धनशरीर ध्वंसिभिस्तैरनिष्टै-

र्भवति यदिह योगादाद्यमार्तं तदेतत् ॥(23)

(पृ.416, अ.23)

अपने कुटुम्बी जन, धनसम्पत्ति और शरीर को नष्ट करने वाले अग्नि, अरण्य (अथवा जल) विष, शस्त्र, सर्प सिंह व दैत्य और स्थल के प्राणी, जल के प्राणी एवं बिल के प्राणी (सर्पादि) और दुर्जन, शत्रु व राजा इत्यादि; इन अनिष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से जो यहाँ संक्लेश और चिन्ता होती है उसका नाम प्रथम आर्तध्यान है।

तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः ।

अनिष्टैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥(24)

इसके अतिरिक्त चर (चलते-फिरते) और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थों के उपस्थित होने पर जो मन में क्लेश उत्पन्न होता है उसे आर्तध्यान कहा जाता है।

श्रुतवृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातिः प्रत्यासत्तिं च संश्रितैः ।

योऽनिष्टार्थैर्मनः क्लेशः पूर्वमार्तं तदिष्यते ॥(25)

सुने हुए देखे हुए स्मरण में आये हुए और समीपता को प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थों के निमित्त से जो मन में क्लेश होता है वह प्रथम आर्तध्यान माना जाता है।

समस्त अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर उनके वियोग के लिए जो चिन्ता होती है उसे भी तत्त्वज्ञ जनों ने प्रथम आर्तध्यान कहा है।

### विपरीतं मनोज्ञस्य। (31)

The second monomania is its opposite i.e. इष्टवियोगज्ज on beings separated from a pleasing object to repeatedly think of reunion with it.

मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत् चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है।

पूर्वकथित से विपर्यय विपरीत कहलाता है। जैसे-मनोज्ञ विषय (प्रियवस्तु, पुत्र, कलत्र, धनादि) का वियोग हो जाने पर उसके पुनः संयोग के लिये (पुनः प्राप्ति के लिये) जो अत्यधिक चिन्ताधारा चलती है, मन अन्य पदार्थों में न जाकर बार-बार उसी के चिन्तन में लीन रहता है, वह भी आर्तध्यान है।

मोहनीय कर्म के कारण जीव बाह्य वस्तु के इष्ट एवं मनोज्ञ का आरोप करके उसके प्रति ममत्व करता है। उस वस्तु को वह स्ववस्तु मानता है एवं उसकी सतत् सुरक्षा चाहता है। उसको वह त्यागना नहीं चाहता है। उसका सामीप्य सतत् चाहता है। उसके विरह से वह दुःखी होता है एवं उसको प्राप्त करने के लिए वह सतत् प्रयत्न करता है। जैसे- सीता हरण के बाद क्षायिक सम्यक्दृष्टि, बलभद्र, रामचन्द्र तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी सीता के लिए अत्यन्त दुखी हुए, विक्षुब्ध हुए, उसका ही ध्यान करने लगे। इतना ही नहीं विरह वेदना से इतना विक्षुब्ध हो गये थे कि जिससे वे मानसिक रूप से विकलांग होकर नदी, पर्वत, पेड़, पशु, पक्षी से भी सीता के बारे में पूछताछ करते थे। इसी प्रकार इष्ट पुत्र, मित्र, भाई बन्धु के वियोग से, मरण से जीव इस इष्ट वियोगज्ज आर्तध्यान को इतना करता है कि खाना-पीना भूल जाता है, शोक करता है, सिर फोड़ लेता है, यहाँ तक कि कभी-कभी आत्म हत्या भी कर लेता है। परन्तु इस ध्यान से अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं जानता है कि

मरने के बाद जीव उस पूर्व पर्याय को धारण करके वापस नहीं आता है। वह यह भी नहीं जानता है कि जिसने पुण्य किया वह स्वर्ग आदि उत्तम गति में जाकर सुख भोग रहा है और यहाँ तक कि वह हम लोग को भूल करके भोग में मस्त हो गया होगा। यदि पाप किया होगा तो दुर्गति में जाकर कष्ट भोगता होगा उस कष्ट के कारण भी हमें भूल गया होगा-यदि भूला नहीं होगा तो भी दुःख करने से उन्हें किसी भी प्रकार का सुख नहीं पहुँच सकता है। केवल दुःख होने पर एवं आर्त्तध्यान करने पर पाप बन्ध होता है।

ज्ञानार्णव में इस ध्यान का वर्णन इस प्रकार किया है-

राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये ।

चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा ।

ससंत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशं ।

तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुभतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥(29)

(पृ.246 स.25)

जो राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुंब, मित्र, सौभाग्य, भोगादि के नाश होने पर, तथा चित्र को प्रीति उत्पन्न करने वाले सुन्दर इन्द्रियों के विषयों का प्रध्वंसभाव होते हुए, संत्रास, पीड़ा, भ्रम, शोक, मोहके कारण निरन्तर खेदरूप होना सो जीवों के इष्ट वियोगजनित आर्त्तध्यान है, और यह ध्यान पाप का स्थान है।

वृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः

पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः ।

वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादात्तं तद्वितीयकम् ॥(30)

देखे सुने अनुभवे मनको रंजायमान करने वाले पूर्वोक्त पदार्थों का वियोग होने से जो मनको खेद हो वह भी दूसरा आर्त्तध्यान है।

मनोज्ञवस्तुविध्वंसे

पुनस्तत्संगमार्थिभिः ।

क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्वितीयार्त्तस्य लक्षणम् ॥(31)

अपने मनकी प्यारी वस्तु का विध्वंस होने पर उसकी प्राप्ति के लिये जो क्लेश रूप होना सो दूसरे आर्त्तध्यान का लक्षण है।

## वेदनायाश्च । (32)

The third monomania is :

**पीडाचिन्तवन** on being affected by a disease or trouble to be repeatedly thinking of becoming free from it.

वेदना के होने पर उसे दूर करने के लिए सतत् चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है।

प्रकरण से दुःख-वेदना का बोध होता है। यद्यपि वेदना शब्द सुख, दुःख के अनुभव करने के विषय में सामान्य है तथापि यहाँ पर आर्तध्यान का प्रकरण होने से दुःख से वेदना का अवबोध होता है। उस वेदना का प्रतीकार करने के लिये तत्पर रहने वाले के धैर्य खोकर निरन्तर जो वेदना दूर करने का चिन्तन है, वह भी आर्तध्यान है।

पूर्वोपार्जित असाता वेदनीय के उदय से तथा अयोग्य आहार, विहार, आचार-विचार व वातावरण से विभिन्न शारीरिक, मानसिक रोग आ घेरते हैं। उन रोगों के कारण पीडा भी होती है। इस पीडा के कारण जीव बार-बार विचार करता है कैसे रोग दूर हो, मुझे कभी भी रोग नहीं हो। इसी प्रकार की चिन्ता से वह मानसिक रूप से और भी अधिक रोगी हो जाता है जिससे वह और भी अधिक शारीरिक और मानसिक रोगी हो जाता है। इतना ही नहीं इस आर्तध्यान से पाप कर्म का बंध होता है जिससे भविष्यत् काल के लिए भी शारीरिक, मानसिक, एवं आध्यत्मिक रोग के कारण भूत बीजों का संचय करता है। अभी मनोविज्ञान में सिद्ध हो गया कि रोग के बारे में चिन्ता करने से रोग बढ़ता है। रोग के बारे में चिन्ता न करके सत् साहित्य का अध्ययन, भगवान् का गुणगान, पूजन, स्तवन, ध्यान, प्रशस्त उदात्त मनोभाव से रोग दूर होता है एवं प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है। ज्ञानार्णव में इस ध्यान का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

**कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठ्यातिसारज्वरैः**

**पित्तश्लेष्मपरुत्प्रकोप जनितै रोगैः शरीरान्तकैः ।**

स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षण भवैर्यद्याकुलत्वं नृणां  
तद्भोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरं ॥(32)

पृ.246 स.25

वातापित्तकफ के प्रकोप से उत्पन्न हुए शरीर को नाश करनेवाले वीर्य से प्रबल और क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले कास, श्वास, भगंदर, जलोदर, जरा, कोढ़, अतिसार ज्वरादिक रोगों से मनुष्यों के जो व्याकुलता होती है उसे अनिन्दित पुरुषों ने रोगपीडाचिन्तवन नामा आर्त्तध्यान कहा है। यह ध्यान दुर्निवार और दुःखों का आकार है, जो कि आगामी काल में पाप बन्ध का कारण है।

स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपि संभवः।

ममेति या नृणां चिन्ता स्यादात्तं तत्तृतीयकम् ॥(33)

जीवों के ऐसी चिन्ता हो कि मेरे किंचित् भी रोग की उत्पत्ति स्वप्न में भी न हो ऐसा चिन्तवना सो तीसरा आर्त्तध्यान है।

निदानं च । (33)

The fourth monomania is :

**निदान** On being over anxious to enjoy worldly objects and not getting them in this world to repeatedly think of gaining them in future.

निदान नाम का चौथा आर्त्तध्यान है।

निदान अप्राप्त की प्राप्ति के लिये होता हैं, इसमें पारलौकिक विषय-सुख की गृद्धि से अनागत अर्थ-प्राप्ति के लिये सतत् चिन्ता चलती रहती है।

ज्ञानार्णव में कहा भी है—

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी

राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुखधूलास्थलीलायुवत्यः

अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजां।

यत्तद्भोगार्थमुत्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलं ॥(34)

(ज्ञानार्णवः पृ.247)

घरणीन्द्र के सेवने योग्य तो भोग और तीन भुवन को जीतनेवाली रूप साम्राज्य की लक्ष्मी तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुओं के समूह जिसमें ऐसा राज्य और देवांगनाओं के नृत्य की लीला को जीतने वाली स्त्री, इत्यादि और भी आनंदरूप वस्तुयें मेरे कैसे हो, इस प्रकार के चिंतवन को परम गुणों को धारण करनेवालों ने भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान कहा है। और यह संसार की परिपाटी से हुआ है और संसार का मूल कारण भी है।

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणाम्  
यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।  
पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः  
स्यादात्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम ॥(35)

जो प्राणी पुण्याचरण के समूह से तीर्थकरके अथवा देवों के पद की वांछा करें, अथवा उन ही पुण्याचरणों से अत्यन्त कोपके कारण शत्रुसमूहरूपी वृक्षों के उच्छेदनेकी वांछा करें तथा उन विकल्पों से अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, लाभादिक की यातना करें, उनको निदानजनित आर्त्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान भी जीवों की दुःख रूपी अग्निका तीव्र स्थाना है।

इष्टभोगादिसिद्धयर्थं रिपुघातार्थमेव वा ।  
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादात्तं तत्तुरीयकं ॥(36)

मनुष्यों के इष्ट भोगादिक की सिद्धि के लिये तथा शत्रु के घात के लिये जो निदान हो, सो चौथा अर्त्तध्यान है।

गुणस्थानों की अपेक्षा आर्त्तध्यान के स्वामी  
तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् । (34)

That आर्त्तध्यान painful concentration is possible only to a man in any of the following stages of spirituality.

**गुणस्थानः**

**अविरत** Vowless i.e., in the first 4 stages.

**देशविरत** With partial vows i.e. in the 5th stages.

**प्रमत्तसंयत** Monk with some carelessness i.e. in the 6th stages.

यह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के होता है। असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त, अविरत, संयता-संयत और 15 प्रमाद सहित क्रिया का अनुष्ठान करने वाले प्रमत्तसंयतों के होते हैं। प्रमत्त संयतों के प्रमाद के उद्रेक से निदान आर्तध्यान को छोड़कर कदाचित् अन्य तीन आर्तध्यान होते हैं। क्योंकि निदान शल्य व्रतों के धातक है अर्थात् संयत के निदान नाम का आर्तध्यान नहीं हो सकता।

ज्ञानार्णवः में कहा भी है—

इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पैरातं समासादिह हि प्रणीतम् ।

अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथः ॥(35)

(ज्ञानार्णवःपृ.420)

इस प्रकार उक्त चार प्रसिद्ध भेदों के साथ यहाँ संक्षेप से आर्तध्यान को निरूपण किया गया है। वैसे जीव अनन्त तथा उनके अभिप्राय भी चूँकि अनन्त हैं, अतएव उक्त आर्तध्यान के भी अनन्त भेद हो जाते हैं। उनका यदि पूर्णरूप से कोई निरूपण कर सकता है तो वे वीर जिनेन्द्र ही कर सकते हैं, अन्य कोई छद्मस्थ उसका पूर्णतया निरूपण नहीं कर सकता है।

अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे ।

विद्ध्यसद्भयानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥(36)

यह असमीचीन आर्तध्यान यद्यपि प्रथम क्षण में रम्य प्रतीत होता है फिर भी वह परिणाम में अहितकारक ही है, यह जान लेना चाहिए। वह प्रथम छह गुणस्थानों में पाया जाता है।

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भे द प्रजायते ।

प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥(37)

वह संयतासंयतों में - प्रथम पाँच गुण स्थानों में - उपर्युक्त चारों भेदों से संयुक्त रहता है। परन्तु प्रमत्तसंयत जीवों के वह निदानभेद से रहित शेष तीन भेदयुक्त पाया जाता है।

कृष्णानीलाद्यसल्लेश्याबलेन

प्रविजृम्भते ।

इदं दुरितदावार्चिः

प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥(38)



जिस प्रकार ईंधन दावानल की ज्वाला को विस्तृत करता है, उसी प्रकार यह आर्तध्यान पापरूपअग्नि की ज्वाला को विस्तृत करता है। वह कृष्ण और नील आदि अशुभलेश्या के बल से वृद्धिगत होता है।

एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते।  
अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारादेव देहिनाम् ॥(39)

यह प्राणियों के बिना प्रयत्न के ही अनादि काल से उत्पन्न हुए दुष्ट संस्कार के वश स्वयं उपन्न होता है।

अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतिः फलम्।  
क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः ॥(40)

इस ध्यान का फल अनन्त दुःखों से व्याप्त तिर्यच गति की प्राप्ति है। यह क्षायोपशमिक भाव है और काल इसका अन्तर्मुहूर्त है।

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तय।  
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः।  
मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्वयल-  
मार्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधैर्व्याविर्णितानि स्फुटम् ॥(41)

शंका, शोक, भय, प्रमाद, झगडालु वृत्ति, चिन्ता, भ्रान्ति, व्याकुलता, पागलपन, विषयों की अभिलाषा, निरन्तर निद्रा, शरीर की जड़ता, परिश्रम और मूर्च्छा आदि ये उस आर्तध्यान से आक्रान्त मन वाले प्राणियों के निरन्तर बाह्य चिन्ह होते हैं जो स्पष्टतया पूर्णश्रुत के धारक गणधरों के द्वारा कहे गये हैं।

रौद्रध्यान के भेद व स्वामी

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणोभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः । (35)

रौद्रध्यान Wicked concentration is of 4 kinds.

हिंसानन्द Delight in humtfulness.

अनृतानन्द Delight in falsehoods.

स्तेयानन्द Delight in theft.

विषयसंरक्षणानन्द Delight in preservation of objects of sense

enjoyments.

This is possible in the Avirata i.e. the first 4 and in deshavrata i.e. the 5th stages.

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के लिए सतत् चिन्ता करना रौद्रध्यान है। वह अविरत और देशविरत के होता है।

हिंसा, अनृत आदि का निमित्त लेकर ध्यान की धारा चलती है, अतः हिंसादि का हेतु रूप से निर्देश किया है। अर्थात् उक्त लक्षण वाले हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह रौद्रध्यान के निमित्त होते हैं। अतः हिंसादि रौद्रध्यान की उत्पत्ति के कारण हैं।

(1) हिंसानन्द- तीव्र कषाय के उदय से हिंसा में आनन्द मानना हिंसा नन्द रौद्र ध्यान है। जैसे- विसमार्क-कंस, हिटलर, मुसोलिन, तैमूरलंग आदि तानाशाही राजा हिंसा करके आनंदित होते थे।

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।

स्वेन चान्येन यो हर्षस्ताद्विंसारौद्रमुच्यते।(4)

(ज्ञाना.पृ.सं.424)

स्वयं अपने द्वारा अथवा अन्य के द्वारा प्राणिसमूह के मारे जाने पर, दबाये जाने पर, नष्ट किये जाने पर अथवा पीड़ित किये जाने पर जो हर्ष हुआ करता है उसे रौद्र ध्यान कहते हैं।

संवासः सह निर्दयेरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता।

यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः॥(6)

(ज्ञाना.पृ. 424)

प्राणियों के जो हिंसा करने में कुशलता, पाप के उपदेश में अतिशय प्रवीणता, नास्तिक मत के प्रतिपादन में चतुरता, प्रतिदिन प्राण घात में अनुराग, दुष्टजनों के साथ सहवास तथा निरन्तर जो स्वाभाविक दुष्टता रहती है उसे यहाँ वीतराग महात्माओं ने रौद्र ध्यान कहा है।

गगनवनधरित्रीधारिणां  
दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु

देहभाजां  
यत्नम्।

वृत्तिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत् ।  
 तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम् ॥(8)  
 (ज्ञाना.पृ.425)

आकाश जल और पृथ्वी के ऊपर संचार करने वाले प्राणियों के पीसने, जलाने, बांधने, काटने और प्राणघात करने में जो प्रयत्न करता है तथा उनका चमड़ा, नख, हाथ और नेत्रों के उखाड़ने में जो कुतूहल होता है उसे यहाँ मनस्वी जनों ने रौद्रध्यान कहा है।

श्रुते वृष्टि स्मृते जन्तुवधाद्युरूपराभवे ।  
 या मुदस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दुःखानलेन्धनम् ॥10॥  
 (ज्ञाना.पृ.426)

जीवों के वध आदि तथा उनके महान् पराजय के सुनने, देखने अथवा स्मरण होने पर जो हर्ष हुआ करता है उसे रौद्र ध्यान जानना चाहिए। वह रौद्र ध्यान दुःख रूप अग्नि के बढ़ाने में ईंधन के समान काम करता है।

अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्क्रयम् ।  
 अस्य चित्रैर्वर्धेश्चेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता ॥(10+1)

इसके अनेक प्रकार के वध के द्वारा मैं पूर्व वैर का प्रतिकार कब करूँगा, इस प्रकार को चिन्तन भी रौद्रध्यान के लिए उसका कारण भूत माना गया है।

किं कुर्मः शक्तिवैकल्याज्जीवन्त्यद्यापि विद्विषः ।  
 तर्ह्यमुत्र हनिष्यामः प्राप्य कालं तथा बलम् ॥(10+2)

क्या करें, शक्ति की हीनता से शत्रु आज भी जीवित हैं। यदि वे इस समय नष्ट नहीं किये जा सकते हैं तो मर करके और तब बल को प्राप्त करके उन्हें अगले भव में नष्ट करेंगे, इस प्रकार का जो विचार किया जाता है वह रौद्रध्यान ही है।

हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहम् ।  
 निखिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥(13)

हिंसा के उपकरणभूत विष शस्त्रादि का ग्रहण करना, दुष्ट जीवों के विषय में उपकार का भाव रखना तथा निर्दयतापूर्ण व्यवहार आदि ये प्राणियों के उस रौद्रध्यान-के बाह्य चिन्ह है।

इस हिंसानंद के कारण जीव दूसरों को कष्ट देते हैं, दूसरों पर घात करते हैं, दूसरे देश का आक्रमण करते हैं, निरीह पशु, पक्षी का संहार करते हैं, इससे उनको पाप बंध होता है, व दुर्गतियों प्राप्त होती हैं। इसके कारण विप्लव, आतंकवाद फैलता है। जीवों का हनन होता है, जिससे अनेक जीवों की जाति एवं प्रजाति का लोप होता है। इसके कारण प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है जिससे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल, भूकम्प होता है, रोग बढ़ता है।

(2) मृषानंद— जिन पर दूसरों का श्रद्धान हो सके ऐसी अपनी बुद्धि के द्वारा कल्पना की हुई युक्तियों के द्वारा दूसरों को ठगने के लिये, झूठ बोलने के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्र ध्यान है।

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।

चेष्टते यज्जनस्ताद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥(14)

(ज्ञाना.पृ.428)

जिस मनुष्य का हृदय असत्य कल्पनाओं के समूह से मोह को प्राप्त हुआ है वह जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है उसे मृषारौद्र ध्यान कहा जाता है।

पातयामि जनं मूढं व्यसनेऽनर्थसंकटे ।

वाक्कौशल्यप्रयोगेण वाञ्छितार्थप्रसिद्धये ॥(19)

मैं अभीष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए वचन चार्तुय का उपयोग करके मूर्ख जन को अनर्थों से भयानक आपत्ति में डालता हूँ, ऐसे चिन्तन का नाम मृषानन्द रौद्र ध्यान है।

इमान जडान्बोधविचारविच्युच्यतान्प्रतारयाम्यद्य वचोभिरुन्नतैः ।

अमी प्रवत्स्यन्ति मदीयकौशलादकार्यवर्षेऽपि नात्र संशयः ॥(20)

मैं ज्ञान और विचार से रहित इन मूर्खों को आज अपने उन्नत वचनों के द्वारा ठगता हूँ। ये मेरी चतुराई से महान् अकार्यों में प्रवृत्त होंगे, इसमें सन्देह

नहीं हैं, ऐसा विचार करना ही रौद्र ध्यान है। झूठ बोल कर के झूठ को सही मानना एवं उसमें आनंदित होना मृषा नंद नाम का आर्तध्यान है।

पुराण प्रसिद्ध सत्यघोष इसके लिए अच्छा उदाहरण है।

असत्य बोलने से असत्य बोलने वालों के ऊपर दूसरों का विश्वास नहीं होता, सत्य छिप जाता है, कलह युद्ध आदि होते हैं। असत्य के कारण न्यायालय में मुकदमे का निर्णय शीघ्र नहीं होता है एवं धन, सम्पत्ति, समय की बरबादी होती है।

(3) स्तेयानंद-- बलपूर्वक या लोभ के वशवर्ती होकर दूसरे की धन, सम्पत्ति को हरण करने का बार-बार ध्यान करना स्तेयानंद रौद्रध्यान है। इस ध्यान के कारण जीव चोर बनता है, डकैत बनता है, जेब कटर बनता है। इस ध्यान के कारण ही शक्ति सम्पन्न व्यक्ति राजा, महाराजा दूसरे देश पर आक्रमण करके दूसरे देश की धन, सम्पत्ति के साथ-साथ देश को ही हड़प लेते हैं। जैसे सिकन्दर को भारतीय एक डाकू ने कहा था कि यदि मैं डाकू हूँ तो तुम महाडाकू हो क्योंकि मैं तो केवल हमारे देश की धन-सम्पत्ति को हड़पता हूँ परन्तु तुम तो दूसरे देश की सम्पत्ति व उस देश को ही हड़प लेते हो। ज्ञानार्णव में चौयनंदी का वर्णन निम्न प्रकार किया है।

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि।  
यच्चौर्यैकरतं चेतस्तच्चौर्यानन्दमिष्यते ॥(22)

जो चोरी विषयक उपदेश की अधिकता, चोरी के कार्य में चतुरता और उस चोरी के विषय में जो असाधारण रति होती है उसे चौयनंद रौद्रध्यान माना जाता है।

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते  
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम्।  
चौर्येणापहृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-  
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥(23)

प्राणियों के लिए जो प्रतिदिन चोरी के निमित्त चिन्ता उत्पन्न होती है, चोरी को करके भी जो निरन्तर अनुपम आनन्द करते हैं, और जो-दूसरे के

द्वारा चोरी से हरण किये गये दूसरो के धन के विषय में आदर या उत्सुकता होती है उसे तत्त्वज्ञ जन चोरी से उत्पन्न होने वाला (चौर्यानिन्द) रौद्रध्यान कहते हैं। वह अतिशय निन्दा का कारण है।

कृत्वा सहायं वरवीरसैन्यं तथाभ्युपायांश्च बहुप्रकारान्।  
 धनान्यलभ्यानि चिरार्जितानि सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम्॥(24)  
 द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम्।  
 वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात्॥(25)  
 इत्थं चुरायां विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः क्रियतेऽभिलाषः।  
 अपारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम्॥(26)

दीर्घकाल से कमाया हुआ जो लोगों का धन पृथिवी पर सरलता से नहीं प्राप्त किया जा सकता है उसको मैं उत्कृष्ट योद्धाओं की सेना की सहायता से अनेक प्रकार के उपायों को करके शीघ्र ही ग्रहण करूंगा। दुपद और चतुष्पदों में उत्कृष्ट तथा धन, धान्य एवं उत्तम स्त्रियों से व्याप्त जो भी दूसरों की वस्तु है, वह चोरी के बल से मेरे स्वाधीन है - मैं उसे सरलता से प्राप्त कर सकता हूँ। इस प्रकार से प्राणी जो चोरी के विषय में अनेक प्रकार की इच्छा किया करते हैं उसे यहां तीसरा रौद्रध्यान कहा गया है और वह अपरिमित दुखरूप समुद्र का कारणभूत है।

(4) विषयसंरक्षणानन्द- लोभ कषाय के तीव्र उदय से तथा तीव्र परिग्रह-संज्ञा के कारण जीव चेतन-अचेतन रूप परिग्रह का संचय करने के लिए जो बार-बार चिन्तवन करता है उसे विषय-संरक्षणानन्द (परिग्रह संरक्षणानन्द) रौद्रध्यान कहते हैं। पिण्याकगंधक, श्वश्रुनवनीत, आदि व्यक्ति विषयसंरक्षणानन्द में प्रसिद्ध हो गये हैं। इस ध्यान के कारण जीव धन सम्पत्तियों के लिए चोरी करते हैं, डाका डालते हैं, व्यापार में मिलावट करते हैं, विक्रयकर एवं आयकर की चोरी करते हैं। इस ध्यान के कारण दूसरों का शोषण भी करते हैं, इससे एक व्यक्ति धन्नासेठ, पूँजीपति, मालिक बन जाता है, जिससे समाज में आर्थिक विषमता फैलती है जिससे धनी, गरीब मालिक, मजदूर शोषक-शोषित आदि विषम वर्गों का सूत्रपात होता है जिससे देश में राष्ट्र में अशांति विप्लव, युद्ध, हड़ताल आदि होते है।

ज्ञानार्णव में कहा भी है-

आरोप्य चापं निशितैः शरोर्धैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम् ।  
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम् ॥

(28)

आच्छिद्य गृह्णन्ति धरां मदीयां कन्यादिरत्नानि धनानि नारीः ।  
ये शत्रवः संप्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥

(29)

सकल भुवन पूज्यं वीर वर्गोपसेव्यं स्वजन धन समृद्धं रत्नराम्माभिरामम् ।  
अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यं प्रबलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयाप्तम् ॥

(30)

भित्त्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्यटवीं विलङ्घ्य ।  
कृत्वा पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम् ॥

(31)

जलानलव्यालविषप्रयोगैविश्वासभेदप्रणिधिप्रपञ्चैः ।

उत्साद्य निःशेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं मे प्रबलः प्रतापः ॥

(32)

इत्यादिसंरक्षणसंनिबद्धं संचिन्तनं यत्क्रियते मनुष्यैः ।  
संरक्षणानन्दभवं तदेतद्रीद्रं प्रणीतं जगदेकनाथैः ॥

(33)

विषय संरक्षणानन्द रौद्र ध्यानी इस प्रकार विचार करता है - मैं धनुष को चढ़ाकर तीक्ष्ण वाण समूह द्वारा अतिशय प्रबल आशा रखने वाले शत्रुओं के समूह को छेद करके और उनके पुर, गाँव व खानों को जला करके जो ऐश्वर्य दूसरों को अलभ्य है उसे प्राप्त करूँगा। जो शत्रु लोभ युक्त मन से मेरी भूमि को आच्छादित करके कन्या आदि रत्नों धन और दिव्य स्त्रियों को ग्रहण करते हैं, मैं इस समय उनके कुल रूप वन को भस्म करूँगा। हर्ष है कि मैंने अतिशय बलवान् शत्रुओं के समूह को नष्ट करके समस्त संसार से पूजने के योग्य वीर पुरुषों के समूह द्वारा उपभोग करने के योग्य कुटुम्बीजन और धन से वृद्धिगत, रत्नों व स्त्रियों से रमणीय तथा अपरिमित श्रेष्ठ वैभव

से परिपूर्ण, ऐसे समस्त भोगों के स्वामित्व को प्राप्त किया है। मैंने पृथ्वी को भेद करके प्राणिसमूहों का धात करके, दुर्गम स्थानों (पर्वतादि) में प्रवेश करके, वन को लांघ करके और अभिमान में चूर रहने वाले शत्रुओं को सिर पर पाद प्रहार करके महान् स्वामित्व को प्राप्त किया है। जल, अग्नि, सर्प और विष के प्रयोग से तथा विश्वास उत्पन्न कराकर, फूट उत्पन्न कराकर एवं इसी प्रकार की अन्य भी कपट पूर्ण प्रवृत्तियों से समस्त शत्रु समूह को नष्ट कर देने से यह मेरा प्रबल प्रताप प्रगट है। इत्यादि प्रकार से मनुष्य जो विषयसंरक्षण से सम्बंधित विचार किया करते है उसे लोक के अद्वितीय अधिपति स्वरूप जिनेन्द्र देव ने संरक्षणानन्द जन्य रौद्र ध्यान कहा है।

हिंसादि के आवेश और परिग्रह आदि के संरक्षण के कारण देशव्रती के भी रौद्र ध्यान होता है; कभी कभी। परन्तु देशव्रत का रौद्र ध्यान सम्यक् दर्शन के सामर्थ्य से (सम्यक्दर्शन के साथ होने से) नरक गति आदि का कारण नहीं होता है। संयत के रौद्र ध्यान नहीं होता क्योंकि रौद्र भाव में संयम से च्युत हो जाते है। वे हिंसा आदि के आवेश में संयम रह नहीं सकता। क्योंकि जब आत्मा रौद्र ध्यान से युक्त होता है तब उसके संयम नहीं रह सकता। ये चारों में ही ध्यान प्रमादाधिष्ठान है अर्थात् प्रमाद भाव इनकी उत्पत्ति में कारण है। तथा नरकगति में जाना इस रौद्र ध्यान का फल है अर्थात् रौद्र ध्यानी नरक में जाता है। जैसे-अग्नि से संतप्त लोह पिण्ड चारों तरफ से जल खींचता है-उसी प्रकार इन आर्त रौद्र रूप अप्रशस्त ध्यानों से परिणत आत्मा चारों ओर से कर्म रूपी जल खींचता है/ कार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता है।

### धर्मध्यान का स्वरूप व भेद

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्। (36)

धर्मध्यान Righteous concentration is of 4 Kinds i.e. contemplation of.

1. आज्ञाविचय The principles taken on the faith of the scriptures as being the teachings of the Arhats.
2. अपायविचय As to how the universal wrong belief knowledge



and conduct of people can be removed.

3. **विपाकविचय** The fruition of the 8 Kinds of Karmas.

4. **संस्थानविचय** The nature and constitution of the universe.

आज्ञा, उपाय, विपाक और संस्थान इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान हैं।

(1) **आज्ञाविचय** :- उपदेश देनेवाले का अभाव होने से, स्वयं मन्दबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से और पदार्थों के सूक्ष्म होने से तथा तत्त्व के समर्थन में हेतु और दृष्टान्त का अभाव होने पर सर्वज्ञप्रणीत आगम को प्रमाण करके 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते' इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। अथवा स्वयं पदार्थों के रहस्य को जानता है और दूसरों के प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्व-सिद्धान्त के अविरोध द्वारा तत्त्व का समर्थन करने के लिए उसके तो तर्क, नय और प्रमाण की योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है वह सर्वज्ञ की आज्ञा-को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञाविचय कहा जाता है।

(2) **अपायविचय धर्म्यध्यान** :- मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्धपुरुष के समान सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्ग का परिज्ञान न होने से वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं इस प्रकार सन्मार्ग के उपाय का चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान हैं। अथवा, ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे दूर होंगे इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान हैं।

(3) **विपाकविचय धर्म्यध्यान** :- ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भावनिमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाक विचय धर्म्यध्यान हैं।

## शुक्लध्यान के स्वामी शुक्ले चाद्ये पूर्वविद् । (37)

शुक्लध्यानं pure concentration is also fo 4 kinds.

The first two kinds of pure concentration are only possible to saints possessed of a knowledge of the 14 पूर्व

आदि के दो शुक्ल ध्यान पूर्वविद् के होते हैं। आदि के दो शुक्लध्यान धारण करने का सामर्थ्य सकल श्रुत के धारी के है, अन्य के नहीं। इस बात की सूचना देने के लिए पूर्वविद् विशेषण का ग्रहण किया गया है। पूर्वकथित धर्मध्यान के समुच्चय के लिए 'च' शब्द का उल्लेख किया है कि पूर्वविद् (श्रुतकेवली) के आदि के पृथक् वितर्क वीचार और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान होते है। और धर्मध्यान भी होता है।

धर्मध्यान श्रेणी-आरोहण के पहले होता है तथा श्रेण्यारोहणकाल में शुक्ल ध्यान होता है, यह बात व्याख्यान से ज्ञात हो जाती है।

यहाँ पर जो वर्णन किया कि 'पूर्वविद्' अर्थात् 14 पूर्व या 9 पूर्व के ज्ञाता पहले के 2 शुक्ल ध्यान को ध्याता है यह कथन उत्कृष्ट रूप से है। परन्तु जघन्यरूप से अष्ट प्रवचन मातृका के धारी मुनिश्वर भी शुक्ल ध्यान कर सकते हैं। जब मुनि महाराज ध्यानारूढ होकर भाव विशुद्धि को प्राप्त करते है तब ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की विशेष वृद्धि होती है जिससे आगे जाकर पूर्वधारी बन जाते हैं क्योंकि जिस ध्यान के माध्यम से ज्ञानावरणीय क्षय होकर केवलज्ञान हो सकता है उस ध्यान से पूर्वविद् होना क्या आश्चर्य है। इस अपेक्षा से यहाँ कहा भी गया है कि आदि के 2 ध्यान सकल श्रुत के धारी श्रुत केवली को होते हैं।

## परे केवलिनः । (38)

The last 2 kinds of शुक्लध्यान pure concentration are peculiar to the man of perfect knowledge केवलि

शेष के दो ध्यान केवली के होते हैं।

‘केवली’ यह शब्द सामान्य है, अतः इस केवली शब्द से अचित्य विभूति रूप केवलज्ञान साम्राज्य का अनुभव करने वाले संयोग केवली और अयोगकेवली इन दोनों का ग्रहण करना चाहिये। इससे यह फलितार्थ हुआ कि उपशांतमोही के पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान, क्षीणमोही (बारहवें गुणस्थान) के एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान, संयोगकेवली के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और अयोग केवली के व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान होता है। अतः अन्तिम दो शुक्ल ध्यान केवली के होते हैं, छहस्थों के नहीं।

## शुक्ल ध्यान के चार भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि । (39)

The 4 kinds of शुक्लध्यान pure concentration are:

- 1) पृथक्त्व वितर्क विचार Absorption in meditation of the self but unconsciously alluding its different attributes to replace one another.
  - 2) एकत्व वितर्क विचार Absorption is one aspect of the self without changing the particular aspect concentrated upon.
  - 3) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति The very fine vibratory movements in the soul even when it is deeply absorbed in it self in a kevali.
  - 4) व्युपरतक्रिय निवर्ति Total absorption of the soul in it self steady and undisturbably fixed without any motion or vibration what so ever.
- पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवर्ति ये चार शुक्ल ध्यान है।

पृथक्त्वशुक्लध्यान का लक्षण

द्रव्याण्यनेकभेदानि	योगैर्ध्यायति	यत्त्रिभिः ।
शान्तमोहस्ततो	ह्येतत्पृथक्त्वमिति	कीर्तितम् ॥(45)
		(तत्त्वार्थसार पृ.186)

शान्तमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव, तीन योगों के द्वारा अनेक भेदों से युक्त द्रव्यों का जो ध्यान करता है वह पृथक्त्व नाम का शुक्ल ध्यान कहा गया है।

## एकत्वशुक्लध्यान की विशेषता

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः ।  
एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥(46)

अर्थव्यञ्जनयोगानां विचारः संक्रमो मतः ।  
वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेत् ॥(47)

चूँकि वितर्क का अर्थ श्रुत है और चौदह पूर्वों में प्रतिपादित अर्थ की शिक्षा से युक्त मुनि इसका ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क कहलाता है। अर्थ, शब्द और योगी का संक्रमण-परिवर्तन वीचार माना गया है। इस ध्यान में उक्त लक्षण वाला वीचार रहता है। इसलिये यह ध्यान सवीचार होता है।

## एकत्वशुक्लध्यान का लक्षण

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च ।  
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥(48)

क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थान में रहने वाला मुनि तीनों में से किसी एक योग्यके द्वारा एकद्रव्य का जो ध्यान करता है वह एकत्व नाम का दूसरा शुक्लध्यान है।

## एकत्वशुक्लध्यान की विशेषता

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः ।  
एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत् ॥(49)

अर्थव्यञ्जनयोगानां विचारः संक्रमो मतः ।  
वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत् ॥(50)

चूँकि वितर्क का अर्थ श्रुत है और चौदहपूर्वों में प्रतिपादित अर्थ को शिक्षा से युक्त मुनि एकत्व का ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क होता है। अर्थ, शब्द और योगों का संक्रमण विचार माना गया है। ऐसे विचार का सद्भाव इस ध्यान में नहीं रहता इसलिये यह अविचार होता है।

## सूक्ष्मक्रियाशुक्ल ध्यान का लक्षण

अवितर्कमवीचारं सूक्ष्मकायावलम्बनम्।  
सूक्ष्मक्रियं भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत्॥(51)

काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद् वर्तमानो हि केवली।  
शुक्लं ध्यायति संरोद्धं काययोगं तथाविधम्॥(52)

जो ध्यान वितर्क और वीचार से रहित है तथा सूक्ष्मकाययोग के अवलम्बन से होता है वह सूक्ष्मक्रिया नाम का शुक्लध्यान है। वह समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है। अत्यन्त सूक्ष्म काययोग में विद्यमान केवली भगवान् उस प्रकार के काययोग को रोकने के लिये इस शुक्लध्यान का ध्यान करते हैं।

व्युपरतक्रिया शुक्लध्यान का लक्षण

अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियम्।  
परं निरूद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमम्॥(53)

तत्पुना रूद्धयोगः सन् कुर्वन् कायत्रयासनम्।  
सर्वज्ञः परमं शुक्लं ध्यायत्यप्रतिपत्ति तत्॥(54)

जो वितर्क और वीचार से रहित है तथा जिसमें योगों का बिल्कुल निरोध हो चुका है वह व्युपरतक्रिया नाम का चौथा शुक्ल ध्यान है। यह ध्यान सर्वश्रेष्ठ शीलों के स्वामित्व को प्राप्त होता है अर्थात् यह अठारह हजार शील के भेदों से सहित होता है। जिसके सब योग रुक गये हैं तथा जो सत्ता में स्थित औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीन शरीरों का त्याग कर रहे हैं, ऐसे सर्वज्ञ भगवान् इस उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हैं। यह ध्यान प्रतिपत्ति से रहित है।

### शुक्लध्यान के आलम्बन

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्। (40)

These 4 kinds of शुक्लध्यान pure concentration inhere in:

The 1st पृथक्त्त्वं वितर्कं in the saint with 3 vibratory activities of the soul thought mind, body and speech.

The 2nd एकत्व वितर्क विचार In the saint with only any one of the 3 vibratory activities of the soul.

The 3rd सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति In the संयोग केवली in the 13th stage गुणस्थान The yoga is by the body only.

The 4th व्युपरतक्रिया निवर्ति In the अयोग केवली in the 14th stage गुणस्थान There is no yoga or vibratory activity of mind, speech or body.

वे चार ध्यान क्रम से तीन योग वाले, एक योग वाले, काययोग वाले और अयोग के होते हैं।

पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान तीनों योग के साथ हो सकता है। एकत्ववितर्क तीनों योगों में से किसी एक योग के साथ होता है, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्ल ध्यान काययोग वाले के होता है और अयोगी के व्युपरतक्रियानिवर्ती ध्यान होता है।

## आदि के दो ध्यानों की विशेषता

### एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे। (41)

The first two kinds of pure concentration are attainable by one with scriptural knowledge and consist of meditation upon a part of the scriptural knowledge. In the concentration the part meditated upon may change in character or aspect.

पहले के दो ध्यान आश्रय वाले, सवितर्क और सवीचार होते हैं।

ये पूर्व के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के द्वारा प्रारम्भ किये जाते हैं, अतः दोनों का आश्रय एक ही होने से एकाश्रय कहते हैं अर्थात् इन दोनों ध्यानों का एक ही प्रकार का सकल श्रुतकेवली स्वामी है। वितर्क और वीचार-वितर्क-वीचार, वितर्कवीचार सहित जो प्रवृत्ति करते हैं उसको सवितर्क वीचार कहते हैं।

### अवीचारं द्वितीयम्। (42)

But the 2nd kind of pure concentration is free from any such change. दूसरा ध्यान अवीचार है।

वह द्वितीय शुक्लध्यान वितर्क तो है-परन्तु वीचार से रहित है, ऐसा जानना चाहिए, परन्तु प्रथम शुक्लध्यान वितर्क और विचार सहित है।

### वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम्। (43)

वितर्क means scriptural knowledge.

वितर्क का अर्थ श्रुत हैं।

विशेष रूप से तर्कणा-ऊहन (विचार) को वितर्क कहते हैं। वितर्क का दूसरा नाम श्रुत है।

### वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः। (44)

विचार means संक्रान्ति i.e. change in अर्थ the object of concentration itself; in व्यञ्जन the verbal expression or in योग the vibratory activity with which the concentration is going on i.e. mind, speech or body.

अर्थ व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति वीचार है।

ध्यान करने योग्य द्रव्य और पर्याय को अर्थ कहते हैं। वचन या शब्द को व्यञ्जन कहते हैं और मन, वचन एवं काय के व्यापार को योग कहते हैं। संक्रान्ति का अर्थ है- परिवर्तन। अर्थ संक्रान्ति-द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना, इस प्रकार बार-बार ध्येय अर्थ में परिवर्तन होना अर्थ संक्रान्ति है। व्यञ्जन संक्रान्ति-श्रुतज्ञान के किसी शब्द को छोड़कर अन्य शब्द का अवलम्बन लेना और उसको छोड़कर पुनः अन्य शब्द को ग्रहण करना व्यञ्जन संक्रान्ति हैं। योगसंक्रान्ति काययोग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग का अवलम्बन लेना तथा उन्हें छोड़कर काययोग का अवलम्बन लेना योगसंक्रान्ति हैं। इस प्रकार अर्थ, व्यञ्जन और योग के परिवर्तन को वीचार कहते हैं।

ध्यान की प्रणाली-

पर्वत, गुफा, वृक्ष की खोह (कोटर) नदीतट, शमशान, जीर्ण उद्यान

और शून्यागार आदि किसी स्थान में व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के अगोचर, वहाँ के चलने, फिरने वालें चीटीं आदि (जन्तुओं) से रहित तथा (निर्जन्तु), समशीतोष्ण, अधिक शीत- उष्णता से रहित, अति वायु से रहित, वर्षा आतप आदि से रहित तथा सर्वत्र बाह्य और मन को विक्षेप करने वाले कारणों से रहित पवित्र और अनुकूल स्पर्श वाले भूमितल पर सुखपूर्वक पल्यंकासन से बैठ, शरीर को सरल और निश्चल करके अपनी गोदी में बाएँ हाथ पर दाहिना हाथ रखकर न खुले न बन्द, ईषत् खुले हुए नेत्र, दाँतों पर दाँत रखकर कुछ ऊपर किये मुख, सीधी कमर, निश्चल मूर्ति, गम्भीर, प्रसन्नमुख, अनिमेष स्थिर सौम्यदृष्टि, निद्रा, आलस्य, कामराग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदि को छोड़कर मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेने आदि परिकर्म से (सहायक कारणों से) युक्त मुमुक्षु साधु नाभि के ऊपर हृदय, मस्तक या शरीर के किसी भी अवयव पर अभ्यासानुसार चित्तवृत्ति को स्थिर करके प्रशस्त ध्यान करने का प्रयत्न करे (प्रयत्न करना चाहिये)। इस प्रकार एकाग्रचित होकर राग-द्वेष मोह का उपशम जिसके हो गया है, ऐसा उपशान्त रागद्वेषीमोही कुशलता से शारीरिक क्रियाओं का निग्रह करने वाला, मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वास लेता हुआ, निश्चित लक्ष्य वाला और क्षमाशील मुमुक्षु बाह्याभ्यन्तर द्रव्य एवं पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क (श्रुत) के सामर्थ्य से युक्त हो, अर्थ और व्यञ्जन, काय और वचन के पृथक्-पृथक् रूप से संक्रमण करने वाले और असीम बल और उत्साह से मन को सबल बनाकर अव्यवस्थित और भौथरे शस्त्र के द्वारा वृक्षछेदन के समान मोहकर्म की प्रकृतियों का उपशम एवं क्षय करने वाले पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान का ध्याता होता है। पुनः शक्ति की हीनता होने से योग से योगान्तर, व्यञ्जन से व्यञ्जानान्तर और अर्थ से अर्थान्तर को प्राप्त करता हुआ ध्यान के द्वारा मोहराज का विध्वंस करके इस ध्यान से निवृत्त हो जाता है, अर्थात् मोहकर्म का नाश करना ही पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान का कार्य है। यह ध्यान पृथक् पृथक् अर्थ, व्यञ्जन, योग की संक्रान्ति और श्रुत का आधार होने से सार्थक है। यह ध्यान यदि मोहकर्म का उपशमन करने वाला है तो छूट भी जाता है।

इसी विधि से मोहनीय कर्म का समूलतल उच्छेद करने की तीव्र भाव



से अनन्तगुणविशुद्धयोग विशेष का आश्रय लेकर ज्ञानावरणीय की सहायभूत बहुत-सी कर्मप्रकृतियों के बन्ध को रोकता हुआ तथा उन कर्मप्रकृतियों की स्थिति का खण्डन और क्षय करता हुआ श्रुतज्ञानोपयोगवाला वह ध्यानी अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति को रोककर एकाग्र निश्चल चित्त हो क्षीण कषाय वैदूर्यमणि के समान मिलेप ध्यान धारण कर पुनः नीचे नहीं गिरता है, ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश कर 13 वें गुणस्थान में चला जाता है, यह एकत्ववितर्क ध्यान है। यह इसका सार्थक नाम है क्योंकि इसमें एक योग के आधार से श्रुतज्ञान की सहायता से अर्थादि संक्रान्ति न करके ध्यान किया जाता है, इसलिये वितर्क सहित तो है परन्तु वीचार रहित है।

इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिसने घातिया कर्म रूपी ईंधन को जला दिया है, प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्य से जो प्रकाशित है, मेघसमूह को भेदकर निकले हुए सूर्य की किरणों के समान दैदीप्यमान है; ऐसे भगवान तीर्थंकर तथा अन्य केवली तीन लोक के ईश्वरों के द्वारा अभिवन्दनीय, अर्चनीय और अभिगमनीय होते हैं तथा वे कुछ कम उत्कृष्ट एक कोटि पूर्वकाल तक विहार करते हैं (जगत् के प्राणियों को धर्म का उपदेश देते हैं)। जब उनकी आयु अन्तमुहूर्त्त शेष रहती है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र की स्थिति भी अन्तमुहूर्त्त शेष रहती है तब सभी मन-वचन योग द्वारा और बादरकाययोग को छोड़कर केवली भगवान सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ करते हैं, परन्तु जब आयुर्कर्म अन्तमुहूर्त्त शेष रहता है और शेष तीन कर्मों (गोत्र, वेदनीय, नाम) की स्थिति आयुर्कर्म से अधिक रहती है तब योगी विशिष्ट आत्मोपयोग वाली परमसमाधिकपरिणत विशिष्टकरण महासंवर की कारणभूत शीघ्र ही कर्मों को पचाने वाली (कर्मों की निर्जरा करने वाली) समुदघात किया करते हैं। वह इस क्रिया से शेष कर्मरेणुओं का परिपाक करने के लिये चार समयों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण अवस्था में आत्मप्रदेशों को पहुँचा कर फिर क्रमशः चार ही समयों में उन प्रदेशों का संहरण कर चारों कर्मों की स्थिति, समान कर लेते हैं। इस दिशा में वह फिर अपने शरीर परिमाण हो जाता है। पुनः सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ करता है। सूक्ष्मकाययोगी के द्वारा इसका

ध्यान किया जाता है। अतः सूक्ष्मक्रिया और अप्रतिपाती होने से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती यह इसका नाम सार्थक है।

इसके बाद 14 वें गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रिया प्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ होता है। श्वासोच्छ्वास आदि सर्व मन, वचन और काय सम्बन्धी व्यापारों का निरोध होने से यह ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति कहलाता है। इस समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान में सर्व आम्रव-बन्ध का निरोध होकर समस्त कर्मों का नष्ट करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, इसके धारक अयोग केवली के संसार दुःख जाल के उच्छेदक, साक्षात् मोक्षमार्ग के कारण परिपूर्ण यथाख्यात चारित्र, ज्ञान, दर्शन आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। वे अयोगकेवली भगवान पुनः ध्यानरूपी अग्नि से समस्त कर्ममल कलंक बन्धों को जलाकर (भस्मकर) किट्ट-कालिमा रहित सुवर्ण के समान परिपूर्ण स्वरूप लाभ करके निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं।

**पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन  
सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहपकोपशमकोपशान्त  
मोहक्षप्रकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः । (45)**

1. The dissociation of Karmas increases innumerable-fold from stage to stage in the ten stages of the right believer.
2. The house holder with partial vows.
3. The ascetic with great vows.
4. The separator of the passions leading to infinite births.
5. The destroyer of faith-deluding karmas.
6. The suppressor of conduct-deluding karmas.
7. The saint with quiescent passions.
8. The destroyer of delusion.
9. The saint with destroyed delusion.
10. The spiritual victor (Jina)-

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिविसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक,

उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं। जब तक सम्यग्दर्शन को उपलब्धि नहीं होती तब तक आम्रव और बंध की परम्परा चलती ही रहती है। यह बंध की परम्परा मिथ्यादृष्टि के अनादि से है। उसकी जो निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा या अकाम निर्जरा है। इसलिए मिथ्यादृष्टि केवल आम्रव और बंध तत्त्व का कर्ता है। सम्यग्दर्शन होते ही जीव के ज्ञान एवं दर्शन में परिवर्तन हो जाता है। जिस अंश में दर्शन-ज्ञान-चारित्र में सम्यक् भाव है उतने अंश में संवर, निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान एवं चारित्र आत्मा का स्वभाव है। पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा है—

येनांशेन	सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य	बन्धनं	नास्ति।
येनांशेन	तु रागस्तेनांशेनास्य	बन्धनं	भवति॥(212)
येनांशेन	ज्ञानं तेनांशेनास्य	बन्धनं	नास्ति।
येनांशेन	रागस्तेनांशेनास्य	बन्धनं	भवति॥(213)
येनांशेन	चारित्रं तेनांशेनास्य	बन्धनं	नास्ति।
येनांशेन	तु रागस्तेनांशेनास्य	बन्धनं	भवति॥(214)

जिस अंश में आत्मा के सम्यग्दर्शन है उस अंश में अर्थात् उस सम्यग्दर्शन द्वारा इस आत्मा के कर्म बन्ध नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन कर्म बन्ध का कारण नहीं है। और जिस अंशसे रागभाव हैं सकषाय परिणाम उस अंश में कर्मबन्ध होता है। जिस अंश में आत्मा के सम्यक् ज्ञान है उस अंशेन इस आत्मा के कर्म बंध नहीं है और जिस अंश से इसके राग है उस अंश से इसके कर्मबन्ध होता है। जिस अंश से चरित्र हैं उस अंश से इस आत्मा के कर्मबन्ध नहीं है और जिस अंश से इसके राग भाव है उस अंश से इसके कर्मबन्ध होता है।

पात्र की अपेक्षा गुणश्रेणी निर्जरा और उसके द्रव्य प्रमाण और काल प्रमाण का वर्णन गोम्मटसार में निम्न प्रकार किया है—

सम्मत्तुप्पत्तीये-सावय विरदे अणंत कम्मंसे।  
दंसणमोहक्खवगे कषायउवसामगे य उवसंते।(66)

पृ. 49 गो. जी. काण्ड

खवगे य खीणमोहे-जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा ।

तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा हांति।(67)

सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला, कषायों का उपशम करने वाले 8-9-10 वे गुणस्थानवर्ती जीव क्षीण, मोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली दोनों प्रकार के जिन इन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यात गुणी असंख्यात गुणी अधिक अधिक होती जाती है और उसका काल इसके विपरीत है। क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है।

1. सम्यग्दृष्टि (अविरत)— जैसे मद्यपायी के शराब का कुछ नशा उतरने पर अव्यक्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है, या दीर्घ निद्रा के हटने पर जैसे-ऊंघते-ऊंघते भी अल्प स्मृति होती है, या विष मूर्च्छित व्यक्ति को विष का एक देश वेग कम होने पर चेतना आती हैं अथवा पित्तादि विकार से मूर्च्छित व्यक्ति को मूर्च्छा हटने पर अव्यक्त चेतना आती है - उसी प्रकार अनन्तकाय आदि एकेन्द्रियों में बार-बार जन्म-मरण परिभ्रमण करते-करते विशेष लब्धि से दो इन्द्रिय आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है। कभी मुनिराज कथित जिन धर्म को सुनता है तथा कदाचित्त प्रतिबन्धी कर्मों के दब जाने से उस पर श्रद्धान भी करता है। जैसे-कतक फूल के सम्पर्क से जल का कीचड़ बैठ जाता है और जल निर्मल बन जाता है; उसी प्रकार मिथ्या उपदेश से अति मलिन मिथ्यात्व के उपशम से आत्मा निर्मलता को प्राप्त कर श्रद्धानाभिमुख होकर तत्त्वार्थ श्रद्धान की अभिलाषा के सन्मुख होकर कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। प्रथम सम्यक्त्वआदि का लाभ होने पर अध्यवसाय (परिणामों) की विशुद्धि की प्रकर्षता से ये दसों स्थान क्रमशः असंख्येयगुणी निर्जरा वाले हैं। (सादि अथवा अनादि दोनों ही प्रकार का मिथ्यादृष्टि जीव जब करण लब्धि को प्राप्त करके उसके अधः प्रवृत्तकरण परिणामों को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामों को ग्रहण करता है तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टि के जो कर्मों की निर्जरा होती है वह पूर्व की निर्जरा से अर्थात् सदा ही संसारावस्था या मिथ्यात्व दशा में होने वाली या पाई जाने

वाली निर्जरा से असंख्यात गुणा अधिक हुआ करती है।

यह कथन गोम्मट्टसार जीवकाण्ड की अपेक्षा है। इसी से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की जो निर्जरा होती है उस निर्जरा को यहाँ पर इकाई रूप में स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र की अपेक्षा निर्जरा के स्थान दस हैं और गोम्मट्टसार की अपेक्षा निर्जरा के स्थान ग्यारह है परन्तु तत्त्वार्थ सूत्र में जो अन्तिम स्थान 'जिन' है उसे सयोगी जिन एवं अयोगी जिन रूप में विभक्त करने से तत्त्वार्थ सूत्र में भी ग्यारह स्थान हो जाते हैं।

श्रावक (पञ्चम गुण स्थान) अवस्था प्राप्त होने पर जो कर्मों की निर्जरा होती है, वह असंयत सम्यग्दृष्टि की निर्जरा से असंख्यातगुणी अधिक होती है। इसी प्रकार विरतादि स्थानों में भी उत्तरोत्तर क्रम से असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक कर्मों की निर्जरा हुआ करती है। तथा इस निर्जरा का काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन-हीन होता गया है अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा में जितना काल लगता है उससे संख्यात गुणा कम काल श्रावक की निर्जरा में लगा करता है। इसी प्रकार आगे के विरत आदि स्थानों के विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हीन-हीन समय में ही उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्धि की अधिकता होते जाने के कारण कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक-अधिक होती जाती है तात्पर्य यह है कि, जैसे-जैसे मोहकर्म निःशेष होता जाता है वैसे-वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्य प्रमाण असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलतः वह जीव भी निर्वाण के अधिक-अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहाँ गुणाकार रूप से गुणित निर्जरा का द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उन स्थानों में गुण श्रेणी निर्जरा कही जाती हैं।

### निर्ग्रन्थ-साधुओं के भेद

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः । (46)

The nirgranthas, the possessionless or saints are 5 Kinds:

1. **पुलाक** Like the husk i.e. some times there is a very slight lapse in the perfect observance of their primary vows **मूलगुण** ।

2. **बकुश** They are still slightly coloured by some consideration of their body, books and disciples.
3. **कुशील** Sometimes there is a very slight lapse in the perfect observance of their secondary vows **उत्तरगुण** ।
4. **निर्ग्रन्थ** The absolutely passionless in the 11th and 12th stages.
5. **स्नातक** The Kevali in the 13th and 14th stages.

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच निर्ग्रन्थ हैं।

(1) **पुलाक**:- अपरिपूर्णव्रत वाले और उत्तरगुण से रहित पुलाक होते हैं। जिनके मन में उत्तरगुणों के पालन करने की भावना नहीं है, मूलगुणों की भी कभी-कभी विराधना करते हैं अर्थात् मूलगुणों का भी परिपूर्ण पालन नहीं करते हैं, वे बिना पके वा जिसमें पूर्ण शुद्धि नहीं हुई है, उस पुलाक धान्य के समान व्रतों की शुद्धि न होने से पुलाक इस नाम को धारण करते हैं, अर्थात् पुलाक कहलाते हैं।

(2) **बकुश** :- जो निर्ग्रन्थ यद्यपि मूलगुणों का अखण्ड रूप से (निर्दोषता से) पालन करते हैं, परन्तु शरीर और उपकरणों की सजावट में जिनका चित्त लगा है, यश और ऋद्धियों की जो कामना करते हैं, साता और गौरव से युक्त हैं, परिवार के ममत्व से जिनकी चित्तवृत्ति निवृत्त नहीं हुई है और छेद से जिनका चित्त शबल अर्थात् चित्रित है, क्योंकि बकुश शब्द शबल का पर्यायवाची है।

(3) **कुशील** :- प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील के भेद से कुशील मुनि दो प्रकार के हैं। यहाँ कुशील का अर्थ व्यभिचार नहीं है। परिग्रह की भावना सहित (अन्तरंग में कमण्डलु आदि परिग्रह की अभिलाषा बनी रहती है) मूल और उत्तर गुणों में परिपूर्ण कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करने वाले प्रतिसेवनाकुशील कहलाते हैं। ग्रीष्मकाल में उष्णता के कारण जंघाप्रक्षालन आदि का सेवन की इच्छा होने से जिनके संज्वलन कषाय जगती है और अन्य कषायें वश में हो चुकी हैं, वे कषाय कुशील कहलाते हैं।

(4) **निर्ग्रन्थ** :- जैसे पानी में खींची गई रेखा शीघ्र ही विलीन हो जाती है

उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अत्यन्त अनभिव्यक्त (नहीं के समान) हैं तथा जिनको अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होने वाली हैं उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं, अर्थात् वे निर्ग्रन्थ हैं। वा जिनके अतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह नष्ट हो चुके हैं, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

(5) स्नातक :- घातियांकर्म के नाशक केवलज्ञानी स्नातक हैं। ज्ञानावरणीय घातिया कर्मों के नाश होने जाने से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियाँ प्रकट हुई हैं, जो योग सहित हैं, सम्पूर्ण शीलों के स्वामी हैं, वा शैल-पर्वत के समान अचल अड़ोल अकम्प हैं, लब्धास्पद (कृतकृत्य) हैं वे सयोगकेवली स्नातक कहलाते हैं।

ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

दृष्टि रूप सामान्य की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ हैं; भूषा, वेष और आयुध से रहित निर्ग्रन्थरूप और शुद्ध सम्यग्दर्शन के कारण पुलाक आदि सभी मुनियों में निर्ग्रन्थता समान है, क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि हैं और भूषा, वेष, आयुध से रहित हैं, अतः इनमें निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग सकारण है।

चारित्र गुणों की उत्तरोत्तर प्रकर्षता बनाने के लिये पुलाकादि का उपदेश है, अर्थात् चारित्र गुण का क्रमविकास और क्रमप्रकर्ष दिखाने के लिये इन पुलाकादि भेदों की चर्चा की है।

### पुलाकादि मुनियों में विशेषता .

संयतश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेभ्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः । (47)

They are fit to be described (differentiated) on the basis of differences in-

1. Self - restraint.
2. Scriptural Knowledge.
3. Transgressions.
4. The period of Tirthanrara.
5. The sign.

6. The colouration.

7. Birth.

8. The state of condition.

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों का व्याख्यान करना चाहिये।

(1) संयम :- पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों को धारण करते हैं अर्थात् इनके दो संयम होते हैं। कषायकुशील मुनि के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक यथाख्यात संयम ही होता है।

(2) श्रुत की दृष्टि से :- पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनि उत्कृष्ट से अभिन्न अक्षरदशपूर्व के धारी होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट चौदह पूर्व के धारी होते हैं। जघन्य से पुलाक का श्रुत आचारवस्तु के ज्ञान तक सीमित है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों का जघन्य श्रुत आठ प्रवचनमातृकाओं (पाँच समिति और तीन गुप्ति) के ज्ञान तक है। स्नातक केवली है, अतः श्रुतातीत है।

(3) प्रतिसेवना :- पाँच मूलगुण (अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत) तथा रात्रिभोजनत्याग रूप षष्ठ व्रत में से किसी की पर के दबाव से प्रतिसेवना (विराधना) करने वाला पुलाक मुनि होता है, अर्थात् पुलाक मुनि के पर के दबाव से पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन त्याग व्रत की विराधना हो जाती है। वह प्रतिसेवना है। बकुश मुनि दो प्रकार के होते हैं— उपकरणबकुश और शरीर बकुश। उपकरणों (पिच्छिका, कमण्डलु, शास्त्र) में जिनका चित्त आसक्त है, जो अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न परिग्रह से युक्त हैं, जो सुन्दर बहुविशेष रूप से अलंकृत उपकरणों के आकाङ्क्षी हैं तथा जो उन उपकरणों का संस्कार किया करते हैं अथवा उनके उपकरण स्वच्छ, सुन्दर दीखते रहें ऐसा उनका संस्कार पसन्द करते हैं, ऐसे मुनि उपकरणबकुश कहलाते हैं। शरीर संस्कारसेवी (शरीर को स्वच्छ वा सुसज्जित रखने में तत्पर) भिक्षु शरीर बकुश कहलाता है। जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करने वाला



है, परन्तु उत्तरगुणों की कभी-कभी विराधना करता है, वह प्रतिसेवनाकुशील है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के कभी भी व्रतों की विराधना नहीं होती, अतः ये प्रतिसेवना से रहित हैं।

(4) तीर्थ :- सभी तीर्थकरों के तीर्थ में पुलाक आदि मुनि होते हैं।

(5) लिंग :- लिंग दो प्रकार का है-द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंग की अपेक्षा ये पाँचों ही निर्ग्रन्थलिंगी होते हैं, परन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा भाज्य हैं, अर्थात् भाव की अपेक्षा पाँचों ही प्रकार के मुनि भावलिंगी सम्यग्दृष्टि निष्प्रमादी हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा पुलाक आदि भेद हैं।

(6) लेश्या :- पुलाक मुनि के उत्तर की तीन (पीत, पद्म और शुक्ल) लेश्या होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्या होती हैं। कषाय कुशील और परिहारविशुद्धि वाले के उत्तर की चार (नील, पीत, पद्म, शुक्ल) लेश्या होती है) सूक्ष्मसाम्पराय, निर्ग्रन्थ और स्नातक के एक शुक्ललेश्या ही होती है। अयोगशैल को प्रतिपन्न (अयोगकेवली) लेश्यारहित होते हैं। यद्यपि चतुर्थगुणस्थान के ऊपर शुभ तीन लेश्या ही कही हैं, फिर चार लेश्या मानना ठीक नहीं है, क्योंकि भावलिंगी मुनि छठे आदि गुणस्थान में होते हैं, परन्तु छहों लेश्याओं का बकुश के जो वर्णन किया है, वह आर्त्तध्यान की अपेक्षा वर्णन किया है, कार्य में कारण का उपचार किया है।

(7) उपपाद :- पुलाक का उत्कृष्ट रूप से उपपाद सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों तक है, अर्थात् पुलाक अठारह सागर की स्थिति वाले 12 वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील का उत्कृष्ट रूप से आरण और अच्युतकल्प में 22 सागर की उत्कृष्टस्थिति में उपपाद होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ, सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर की स्थिति में उत्पन्न होते हैं। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, इन सभी का जघन्य रूप से सौधर्मस्वर्ग में दो सागर की आयु सहित देवों में उपपाद होता है। स्नातक के तो उसी भव से निर्वाणपद की प्राप्ति होती है।

(8) स्थान :- कषाय के निमित्त से असंख्यात-संयमस्थान होते हैं। उनमें कषायकुशील और पुलाक के सर्वजघन्य लब्धिस्थान होते हैं। वे दोनों आगे

एक साथ असंख्यात संयमस्थानों को प्राप्त होते हैं। उसके आगे पुलाक की व्युच्छिति हो जाती है, अर्थात् संयमलब्धि की अधिक विशुद्धि होने से पुलाक भाव वाले मुनि नहीं रहते। उसके आगे कषायकुशील असंख्यात संयमस्थानों को अकेला ही प्राप्त होता है। उसके आगे कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और बकुश एक साथ असंख्यात संयमस्थानों को प्राप्त होते हैं, उसके आगे बकुश रूप परिणामों की व्युच्छिति हो जाती है। उसके आगे भी असंख्येय संयमस्थान (परिणामों की विशुद्धि) को प्राप्त होकर कषायमन्द हो जाने से प्रतिसेवना कुशील रूप परिणामों की व्युच्छिति हो जाती है। उससे असंख्यात संयमस्थानों के बीत जाने पर कषायकुशील परिणामों की व्युच्छिति हो जाती है। इसके आगे अकषाय स्थान को प्राप्त होकर निर्ग्रन्थ हो जाता है। वह निर्ग्रन्थ भी असंख्यात संयमस्थानों को प्राप्त कर व्युच्छिन्न हो जाता है। उसके बाद निर्ग्रन्थ (12 वें गुणस्थानवर्ती) तथा स्नातक (सयोगकेवली और अयोग केवली) एक स्थान को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं। इनके संयमस्थान एक ही होता है, क्योंकि कषायों के अभाव में संयमस्थान नहीं होते। इस प्रकार इनके संयमलब्धि अनन्तगुणी होती है।

## अध्याय 9

### अभ्यास प्रश्न-

1. संवर किसे कहते हैं ?
2. संवर के लिए कारण क्या है ?
3. तप से क्या-क्या होता है ?
4. गुप्ति किसे कहते हैं ?
5. पांचों सभिति की परिभाषा लिखो ?
6. दश धर्म का वर्णन करो ?
7. बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन करो ?
8. परीषह क्यों सहन करना चाहिए ?
9. प्रज्ञा एवं अज्ञान परीषह क्यों होते हैं ?
10. चारित्र मोहनीय के उदय से कौन-कौन से परीषह होते हैं ?
11. चारित्र के कितने भेद है, तथा उसका वर्णन करो ?

12. अभ्यन्तर तप का वर्णन करो ?
13. स्वाध्याय के उत्तर भेद कौन से हैं ?
14. ध्यान किसे कहते हैं ?
15. ध्यान के मुख्य भेद कितने हैं ?
16. संसार एवं मोक्ष के लिए कौन-कौन से ध्यान आवश्यक है ?
17. रौद्र ध्यान का वर्णन करो ?
18. धर्मध्यान का वर्णन करो ?
19. निर्जरा के स्थानों का वर्णन करो ?
20. साधुओं के पाँचों भेदों की परिभाषा लिखो ?
21. पुलाक आदि पांच मुनियों की विशेषता क्या है ?

क्रोधादि अन्तरंग परिग्रह का त्याग बिना बहिरंग त्याग विषधर  
सौंप की काँचली के त्याग के समान है।

बाट करके खाओ, मिल करके काम करो।

धर्म का रहस्य स्वावलम्बी एवं स्वतन्त्र बनना है।

जो समय का दुरुपयोग करता है, समय उसके लिए काल बन  
जाता है।

मनुष्य समाज; पशु समाज एवं वनस्पति समाज के योगदान पर  
जीवित है।

आत्मानुशासन ही सर्वश्रेष्ठ अनुशासन है।

## अध्याय 10

### मोक्षतत्त्व का वर्णन

#### केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

#### मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । (1)

केवल ज्ञान perfect knowledge (is gained) by destroying the मोहनीय deluding Karmas (in the end of the 10th गुणस्थान stage and then by simultaneous destruction of knowledge and conation observing karmas ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय and of obstructive karmas अन्तराय in the end of the 12th गुणस्थान stage.

मोह का क्षय होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है।

इस मोक्षशास्त्र में नवें अध्याय तक जीव तत्त्व से लेकर संवर तत्त्व पर्यन्त वर्णन हुआ है। अवशेष मोक्षतत्त्व का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। मोक्ष का अर्थ-मुक्त होना, स्वतंत्र होना, शुद्ध होना, बन्धनों से रहित होना, पूर्ण स्वावलम्बी होना है।

जीव अनादि काल से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। योग्य अन्तरंग-बहिरंग कारणों को प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि बनकर सम्यग्ज्ञानी होकर सम्यग्चारित्र को धारण करता है। पहले बहिरंग परिग्रहों को त्याग करके मुनि चारित्र को स्वीकार करता है। ऐसे ही निर्ग्रन्थ तपोधन धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को लेकर क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मोहनीय कर्म को नाश करके पुनः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान आदि को प्राप्त करता है। इसका विशेष खुलासा निम्न प्रकार है—

पूर्वोक्त विधि के साथ परम तपोविशेष के द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता है- और अप्रशस्त-अशुभ अनुभाग कृश होकर विलीन हो जाता है। कोई वेदक सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त गुणस्थान में सात प्रकृतियों के उपशम का प्रारम्भ करता

है तथा सात प्रकृतियों का उपशम करके उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होकर चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम करना प्रारम्भ करता है। कोई असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयम गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन सात प्रकृतियों का उपशम करना प्रारम्भ करता है, पुनः अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम कर के उपशम श्रेणी पर चढ़कर अपूर्वकरण-उपशमक व्यपदेश को प्राप्त कर वहाँ नवीन परिणामों में पापकर्मों के प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को क्षीण कर शुभ कर्मों के अनुभाग को बढ़ाते हुए अनिवृत्तिबादरसाम्पराय उपशमक गुण स्थान में पहुँच जाता है। वहाँ नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, छहनोकषाय पुंवेद, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान दो क्रोध, दो मान, दो माया, दो लोभ, क्रोध-मान-संज्वलन नामकर्म प्रकृतियों का क्रमशः उपशम करता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के प्रथम समय में अर्थात् नौवें गुणस्थान के अन्त भाग में माया संज्वलन का उपशम कर देता है तथा संज्वलन लोभ को कृश कर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। पुनः उपशांतकषाय के प्रथम समय में लोभ संज्वलन का उपशम कर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से उपशांत कषाय कहलाता है। इस गुणस्थान में यदि आयु का क्षय हो जाय तो मरण हो सकता है अथवा पुनः कषायों की उदीरणा हो जाने से नीचे गिर जाता है। पुनः वही साधक या दूसरा कोई जीव विशुद्धि के अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण करते हुए पूर्व के समान क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर बड़ी भारी विशुद्धि से क्षायिक श्रेणी में आरूढ़ होकर पूर्वकथित लक्षण वाले अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिरूप तीन कारणों के द्वारा अपूर्वकरणक्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ कषायों को नष्ट कर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को उखाड़कर छह नोकषायों को पुरुषवेद में क्षेपण कर पुरुषवेद को क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान संज्वलन को माया संज्वलन में और माया संज्वलन को लोभ संज्वलन में क्षेपण कर क्रम-क्रम से बादरकृष्टिविभाग से इनका क्षय करके अनिवृत्ति बादरसाम्परायक क्षपक गुणस्थान में पहुँच जाता है। तदनन्तर लोभ संज्वलन कषाय को सूक्ष्म कर सूक्ष्म साम्परायक नामक दशम गुणस्थान को प्राप्त होता

है। सूक्ष्म साम्पराय अवस्था का अन्तर्मुहूर्त्त तक अनुभव करके समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीणकषाय (वा क्षपक मोह) नामक गुणस्थान को प्राप्त कर मोहनीय कर्म का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। वह क्षपक उस गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला कर्म का नाशकर अन्त समय में पाँचज्ञानवरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्म का नाश कर अचिंत्यविभूतियुक्त केवलज्ञान एवं केवल दर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त एवं निर्लेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्यपर्यायों के स्वभाव का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहत अनन्तदर्शनशाली निरवशेष पुरुषार्थ को प्राप्त कर कृतकृत्य मेघ-पटलों से विमुक्त शरत्कालीन स्वकिरणकलापों से पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन तथा देदीप्यान मूर्ति केवली हो जाता है।

गोम्मटसार जीवकारण्ड में मोहक्षय की प्रक्रिया एवं केवलज्ञान प्राप्त करने का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामल भायणदुय समचित्तो।  
 खीणकसाओ भण्णदि, णिगंथो वीयरयेहिं॥(72)

जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथाक्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीणकषाय नामका बारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है।

जिस छद्मस्थ की वीतरागता के विरोधी मोहनीय कर्म के द्रव्य एवं भाव दोनों ही प्रकारों का अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों भेदों का सर्वथाबंध, उदय, उदीरणा एवं सत्त्व की अपेक्षा क्षय हो जाता है वह बारहवें गुणस्थान वाला माना जाता है इसलिए आगम में इसका नाम क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ ऐसा बताया है। यहाँ 'छद्मस्थ' शब्द अन्त्य दीपक है। और 'वीतराग' शब्द नाम, स्थापना और द्रव्यरूप वीतराग की निवृत्ति के लिए है। तथा यहाँ पर पाँच भावों में से मोहनीय के सर्वथा अभाव की अपेक्षा से एक क्षायिक भाव ही माना गया है।

तेरहवें गुणस्थान—

केवलणाणदिवायरकिरण-कलावप्यणासियणाणो ।

णवकेवललद्धुगम सुजणियपरमप्यववएसो ॥(63)

असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवलि हु जोगेण ।

जुत्तोति सजोगजिण, अणाइणिहणारिसेउत्तो ॥(64)

जिसका केवल ज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेदरूप किरणों के समूह (उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण) अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवललब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रिय आलोक आदिकी अपेक्षा न रखने वाले ज्ञानदर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग, तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगम में कहा है।

बारहवें गुणस्थान का विनाश होते ही जिसके तीन घाति कर्म और अघाति कर्मों की 16 प्रकृति, इस तरह कुल मिलाकर 63 कर्म प्रकृतियों के नष्ट होने से अनन्तचतुष्टय-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य तथा नव केवललब्धि प्रकट हो चुकी हैं किन्तु साथ ही जो योग से भी युक्त है, उस अरिहन्त परमात्मा को तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

## मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । (2)

**मोक्ष** Liberation (is) the freedom from all Karmic matter, owing to the non-existence of the cause of bondage and to the shedding (of all the Karmas).

बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बंध के कारणों

का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मों का आना (आस्रव) रूक जाता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है।

तप आदि निर्जरा के कारणों का सन्निधान (निकटता) होने पर पूर्व अर्जित (संचित) कर्मों का विनाश हो जाता है।

**प्रश्न—**कर्मबन्ध सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिये ?  
क्योंकि जो अनादि होता है उसका अन्त नहीं होता तथा दृष्ट विपरीत (प्रत्यक्ष से विपरीत) की कल्पना करने पर प्रमाण का अभाव होता है।

**उत्तर—**अनादि होने से अन्त नहीं होता ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे बीज और अङ्कुर की सन्तान अनादि होने पर भी अग्नि से अन्तिम बीज के जला देने पर उससे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कर्मबन्ध के कारणों को भस्म कर देने पर भवाङ्कुर का उत्पाद नहीं होता, अर्थात् भवाङ्कुर नष्ट हो जाता है। यही मोक्ष है, इस दृष्ट बात का लोप नहीं कर सकते। कहा भी है जैसे—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

“बीज के जल जाने पर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने भवाङ्कुर उत्पन्न नहीं होता।”

कृत्स्न (सम्पूर्ण) कर्म का कर्म अवस्था रूप से क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योंकि 'सत्' द्रव्य का द्रव्यत्वरूप से विनाश नहीं है किन्तु पर्याय रूप से उत्पत्तिमान होने से उनका विनाश होता है तथा पर्याय, द्रव्य को छोड़कर नहीं है अतः पर्याय की अपेक्षा द्रव्य भी व्यय को प्राप्त होता है, ऐसा कह दिया जाता है। क्योंकि पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती हैं अतः पर्याय रूप से द्रव्य का व्यय होता है। अतः कारणवशात् कर्मत्वपर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबन्ध के प्रत्यनीक (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप) कारणों के सन्निधान होने पर उस कर्मत्वपर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय



हो जाता है, उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है। इसलिये कृत्स्न कर्म क्षय की मुक्ति कहना युक्त ही है।

हेतुभभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।

आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥(50)

कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य ।

पावदि इन्दिधरहिदं अच्चाबाहं सुहमणंतं ॥(51)

(पंचास्तिकाय प्राभृत)

कर्मी के आवरण में प्राप्त संसारी जीव का जो क्षायोपशमिक विकल्परूप भाव है वह अनादिकाल से मोह के उदय के वश रागद्वेष मोहरूप परिणमता हुआ अशुद्ध हो रहा है यही भाव है। अब इस भाव से मुक्त होना कैसे होता है सो कहते हैं। जब यह जीव आगमकी भाषा से काल आदि लब्धिको प्राप्त करता है तथा अध्यात्म भाषा से शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणामरूप स्वसंवेदन ज्ञान को पाता है तब पहले मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम होने पर फिर उनका क्षयोपशम होने पर सराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तब अर्हत् आदि पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि के द्वारा पर के आश्रित धर्मध्यानरूप बाहरी सहकारी कारण के द्वारा मैं अनंत ज्ञानादि स्वरूप हूँ इत्यादि भावना स्वरूप आत्मा के आश्रित धर्मध्यान को पाकर आगममें कहे हुए क्रमसे असंयत सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर अप्रमत्त संयत पर्यन्त चार गुणस्थानों के मध्यमें से किसी भी एक गुणस्थान में दर्शनमोह को क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर मुनि अवस्था में अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में चढ़कर आत्मा सर्व कर्म प्रकृति आदि से भिन्न है ऐसे निर्मल विवेकमई ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यान का अनुभव करता है। फिर रागद्वेष रूप चारित्र मोहके उदय के अभाव होने पर निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप वीतराग चारित्र को प्राप्त कर लेता है जो चारित्र मोहके नाश करने में समर्थ है। इस वीतराग चारित्र के द्वारा मोहकर्म का क्षय कर देता है-मोहके क्षय के पीछे क्षीण कषाय नाम बाहरवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल ठहर कर दूसरे शुक्लध्यान को ध्याता है। इस ध्यान से ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातिया कर्मी को एक साथ इस गुणस्थान के अन्तमें जड़ मूल से दूरकर केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टयस्वरूप भाव मोक्ष को प्राप्त

कर लेता है।

दंसणणाणसमगं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।

जायदि णिज्जरहेद् सभावसहिदस्स साधुस्स ॥(152)

इस प्रकार वास्तव में इन (पूर्वोक्त) भावयुक्त (भावमोक्षवाले) भगवान केवली को जिन्हें स्वरूपतृप्तपने के कारण कर्मविपाक कृत सुख, दुःखरूप विक्रिया नष्ट हो गई है उन्हें - आवरण के प्रक्षीणपने के कारण, अनंत ज्ञानदर्शन से सम्पूर्ण शुद्धज्ञानचेतनामयपने के कारण तथा अतीन्द्रियपने के कारण जो अन्यद्रव्य के संयोग से रहित है और शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यवृत्तिरूप होने के कारण जो कथंचित् 'ध्यान' नाम के योग्य है ऐसा आत्मा का स्वरूप (आत्मा की निज दशा) पूर्वसंचित कर्मों की शक्ति का शासन (क्षीणता) अथवा उनका पतन (नाश) देखकर, निर्जरा के हेतुरूप से वर्णन किया जाता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।

ववग्गदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥(153)

वास्तव में केवली भगवान को, भावमोक्ष होने पर, परम संवर सिद्ध होने के कारण उत्तर कर्म संतति निरोध को प्राप्त होकर और परम निर्जरा का कारणभूत ध्यान सिद्ध होने के कारण पूर्व कर्मसंतति कि जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभाव से ही आयु कर्म के जितनी होती है और कदाचित् समुद्धातविधान से आयु कर्म के जितनी होती है- आयु कर्म के अनुसार ही निर्जरित होती हुई अपुनर्भव (सिद्धगति) के लिये भव छूटने के समय होने वाला जो वेदनीय-आयु-नाम-गोत्ररूप कर्मपुद्गलों का जीव के साथ अत्यन्त विश्लेष (वियोग) है वह द्रव्यमोक्ष है।

ज्ञानावरणी - दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्मों के क्षय से अरहन्त केवली बनते हैं। तीर्थकर केवली समोवशरण की विभूति के साथ उपदेश करके भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का स्वरूप बताते हैं और सामान्य केवली गंध कुटी में विराजमान होकर भव्यजीवों को उपदेश देते हैं तीर्थकर केवली नियम से जघन्य रूप से नौ वर्ष एवं उत्कृष्ट रूप से अंतमूर्हुत अधिक 8 वर्ष कम, एक पूर्व कोटी वर्ष तक उपदेश करते हैं। अंत में समवशरण

या गंध कुटी का विर्सजन होता है - दिव्यध्वनि का भी (उपदेश देना) संकोच हो जाता है और केवली योग निरोध करते हैं। जो मुनिश्वर 6 महिना आयु शेष रहते केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके नाम गोत्र एवं वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है वे केवली समुद्घात भी करते हैं। अंत में “अ इ उ ऋ लृ” इन पाँच लघु अक्षर के उच्चारण काल प्रमाण अयोगी गुणस्थान (14 वें) में जीव रहता है। उपान्त (द्विचरम, अंतिम समय के पहले । समय) समय में 72 प्रकृतियों का एवं अंतिम समय में 13 प्रकृतियों का नाश करके जीव सिद्ध, बुद्ध - नित्य निरंजन बन जाता है।

गोम्मटसार में कहा भी है-

सीलेसिं संपत्तो, णिरूद्धणिस्सेसआसथो जीवो।  
कम्मरयविप्पमुक्को, गय जोगो केवली होदि॥(65)

जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने का द्वाररूप आस्त्रव सर्वथा बन्द हो गया है तथा सत्त्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रजकी सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योगरहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं।

अट्टविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्छा।  
अट्टगुणा किदकिच्छा, लोयग्गणिवसिणो सिद्धा॥(68)

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित है, अनन्तसुखरूपी अमृत के अनुभव करने वाले शान्तिमय है, नवीन कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अञ्जन से रहित है, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु, ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं - जिनको कोई कार्य करना बाकी न रहा है, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

औपशमिकादिभव्यत्वानां च । (3)

There is also non-existence of भाव or thought-activity due to the

operation, subsidence and to the destruction-subsidence and operation of the Karma and of भव्यत्व (i.e. the capacity of becoming liberated.)

औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भाव के अभाव होने से मोक्ष होता है।

भव्यत्व का ग्रहण अन्य पारिणामिक भावों की अनिवृत्ति के लिये है। पारिणामिक भावों में जीवत्व भाव की मोक्ष में अनिवृत्ति के लिये भव्यत्व भाव का ग्रहण किया गया है। अतः पारिणामिक भावों में भव्यत्व तथा औपशमिकादि भावों का अभाव भी मोक्ष में ही जाता है।

सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के अभाव से, कर्म से जायमान औपशमिक, क्षयोपशमिक, औदयिक भावपूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। औपशमिक, क्षयोपशमिक, और औदयिक भावों का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में सविस्तार से किया गया है। केवल इन भावों का ही अभाव नहीं होता है इसके साथ भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है। भव्यत्व भाव को आगम में कुछ स्थान में पारिणामिक भी कहा है। आगमानुसार पारिणामिक भाव का अभाव नहीं होता है। क्योंकि पारिणामिक भाव उसे कहते हैं जो कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय की अपेक्षा नहीं रखता हो। तब प्रश्न होता है कि भव्यत्व, पारिणामिक भाव होकर मोक्ष में क्यों नहीं रहता है? तब इसका उत्तर वीरसेन स्वामी ने धवला में आगमोक्त व तार्किक शैली से किया है। उनका तर्क यह है कि भव्यत्व भाव पूर्ण शुद्ध पारिणामिक भाव नहीं है कथञ्चित् कर्म जनित है और कथञ्चित् कर्म निरपेक्ष है। भव्य उसे कहते हैं जो भावी भगवान है अथवा जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र को धारण करने की योग्यता रखता है। मिथ्यात्वादि कर्म के उदय से जीव सम्यग्मत्नत्रय को प्राप्त नहीं कर पाता है इसलिये अभव्यत्व भाव कर्म सोपक्ष है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि कर्म के क्षय, उपशम, क्षयोपशम के निमित्त से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है इस अपेक्षा से भव्यत्व भाव भी कर्म सापेक्ष है। सिद्ध अवस्था में सम्पूर्ण कर्म का अभाव होने से, तथा भव्य और अभव्यत्व की शक्ति या व्यक्ति की योग्यता के अभाव से सिद्ध जीव भव्य, अभव्य व्यपदेश से रहित

होते हैं।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः । (4)

Otherwise there remain सम्यक्त्व perfect-right belief ज्ञान perfect right knowledge दर्शन perfect conation and सिद्धत्व the state of having accomplished all.

केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान और सिद्धत्व भाव का अभाव नहीं होता ।

कर्म बन्धन से रहित होने के बाद जीव के सम्पूर्ण वैभाविक भाव नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वैभाविक भाव के निमित्तभूत कारणों का अभाव हो जाता है। वैभाविक भाव के नष्ट होने पर स्वाभाविक भाव नष्ट नहीं होते परन्तु स्वाभाविक भाव पूर्ण शुद्ध रूप में प्रगट हो जाते हैं। तत्त्वार्थ सार में कहा भी है—

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः ।

दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः ॥(37)

वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः ।

मोहनीयसमुच्छेदात्सम्यक्त्वमचलं श्रिताः ॥(38)

आयुः कर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः ।

नामकर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः ॥(39)

गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरवलाघवाः ।

अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यामाश्रिताः ॥(40)

वे सिद्ध भगवान ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान से सुशोभित रहते हैं, दर्शनावरण कर्म का क्षय होने से केवलदर्शन से सहित होते हैं, वेदनीय कर्म का क्षय होने से अव्यबाधत्वगुणको प्राप्त होते हैं, मोहनीय कर्म का विनाश होने से अविनाशी सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, आयुर्कर्म का विच्छेद होने से अवगाहना को प्राप्त होते हैं, नामकर्मका उच्छेद होने से सूक्ष्मत्वगुण को प्राप्त हैं, गोत्रकर्मका विनाश होने से सदा अगुरुलघुगुण से सहित होते हैं और अन्तरायका नाश होने से अनन्त वीर्य को प्राप्त होते हैं।

सिद्धों की अन्य विशेषता

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते

केवलज्ञानदर्शने ।

सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निःक्रियाः ॥43॥

वे सिद्ध भगवान् तादात्म्यसम्बन्ध होने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में सदा उपयुक्त रहते हैं तथा सम्यक्त्व और सिद्धता अवस्था को प्राप्त हैं। हेतु का अभाव होने से वे निः क्रिया-क्रिया से रहित हैं।

सिद्धों के सुख का वर्णन

संसारविषयातीतं

सिद्धानामव्ययं

सुखम् ।

अव्याबाधमिति

प्रोक्तं

परमं

परमर्षिभिः ॥45॥

(तत्त्वार्थसार)

सिद्धों का सुख संसार के विषयों से अतीत, अविनाशी, अव्याबाध तथा परमोत्कृष्ट है ऐसा परमऋषियों ने कहा है।

शरीर रहित सिद्धों के सुख किस प्रकार हो सकता है ?

स्यादेतदशरीरस्य

जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः ।

कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु ॥46॥

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।

विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥47॥

सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते ।

दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ॥48॥

पुण्यकर्मविपाकाच्च

सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।

कर्मक्लेशविमोक्षाच्च

मोक्षे

सुखमनुत्तमम् ॥49॥

यदि कोई यह प्रश्न करे कि शरीर रहित एवं अष्टकर्मों को नष्ट करने वाले मुक्तजीव के सुख कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है, सुनो। इस लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक और मोक्ष इन चार अर्थों में सुख शब्द कहा जाता है। अग्नि सुख रूप है, वायु सुख रूप है, यहाँ विषय अर्थ में सुख शब्द कहा जाता है। दुःख का अभाव होने पर पुरुष कहता है कि मैं सुखी हूँ यहाँ वेदना के अभाव में सुखशब्द प्रयुक्त हुआ है। पुण्यकर्म के

उदय से इन्द्रियों के इष्ट पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुख होता है। यहाँ विपाक-कर्मोदय में सुखशब्द का प्रयोग है। और कर्मजन्यक्लेश से छुटकारा मिलने से मोक्ष में उत्कृष्ट सुख होता है। यहाँ मोक्ष अर्थ में सुख का प्रयोग है।

मुक्तजीवों का सुख सुषुप्त अवस्था के समान नहीं है

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्।

तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखातिशयतस्तथा ॥50॥

श्रमक्लेशमदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्।

मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनध्नस्य कर्मणः ॥51॥

कोई कहते हैं कि निर्वाण सुषुप्त अवस्था के तुल्य है परन्तु उनका वैसा कहना अयुक्त है-ठीक नहीं है क्योंकि मुक्तजीव क्रियावान् है जबकि सुषुप्तावस्था में कोई क्रिया नहीं होती तथा मुक्तजीव के सुख की अधिकता है जबकि सुषुप्त अवस्था में सुख का रञ्चमात्र भी अनुभव नहीं होता। सुषुप्तावस्था की उत्पत्ति श्रम, खेद, नशा, बीमारी और कामसेवन से होती है तथा उसमें दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मोह की उत्पत्ति होती रहती है जबकि मुक्तजीव के यह सब संभव नहीं है।

मुक्तजीव का सुख निरूपम है।

लोकेतत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्पन्यो न विद्यते।

उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरूपमं स्मृतम् ॥52॥

लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः।

अलिङ्गं चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम् ॥53॥

समस्त संसार में उसके समान अन्य पदार्थ नहीं है जिससे कि मुक्तजीवों के सुख की उपमा दी जा सके, इसलिये वह निरूपम माना गया है। लिङ्ग अर्थात् हेतु से अनुमान में और प्रसिद्धि से उपमान में प्रामाणिकता आती है परन्तु मुक्तजीवों का सुख अलिङ्ग है-हेतुरहित है तथा अप्रसिद्ध है इसलिये वह अनुमान और उपमान प्रमाण का विषय न होकर अनुपम माना गया है।

अर्हन्त भगवान् की आज्ञा से मुक्तजीवों का सुख माना जाता है।

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितम् ।  
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न च छद्मस्थपरीक्षया ॥54॥

मुक्त जीवों का वह सुख अर्हन्त भगवान् के प्रत्यक्ष है तथा उन्हीं के द्वारा उसका कथन किया गया है इसलिये 'वह है' इस तरह विद्वज्जनों के द्वारा स्वीकृत किया जाता है, अज्ञानी जीवों की परीक्षा से वह स्वीकृत नहीं किया जाता ।

कुन्दः कुन्द देव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है, सिद्धत्व अवस्था में जीव के स्वाभाविक गुणों का अभाव नहीं होता है, परन्तु स्वाभाविक गुण पूर्ण शुद्ध रूप से पूर्ण विकसित होकर अनन्त काल तक विद्यमान रहते हैं।  
यथा—

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स ।  
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥(35)

पृ. (128)

सिद्धों के वास्तव में द्रव्यप्राण के धारण स्वरूप से जीव स्वभाव मुख्य रूप से नहीं है, जीव स्वभाव का सर्वथा अभाव भी नहीं है, क्योंकि भावप्राण के धारणस्वरूप जीव स्वभाव का मुख्य रूप से सद्भाव है। और उन्हें शरीर के साथ नीरक्षीर की भांति एकरूप वृत्ति नहीं है, क्योंकि शरीर संयोग के हेतु भूत कषाय और योग का वियोग हो गया है इसलिये वे अतीत अनन्तर शरीर प्रमाण अवगाहरूप परिणत होने पर भी अत्यन्त देह रहित हैं। और वचनगोचरातीत उनकी महिमा है, क्योंकि लौकिक प्राण के धारण बिना और शरीर के सम्बन्ध बिना सम्पूर्ण रूप से प्राप्त किये हुए निरूपाधि स्वरूप के द्वारा वे सतत् प्रतपते हैं।

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य ।  
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ॥(29)

पृष्ठ न. (114)

वह चेतयिता (आत्मा) सर्वज्ञ और सर्वलोकदर्शी स्वयं होता हुआ, स्वकीय अमूर्त अव्याबाध अनंत सुख को प्राप्त करता है।



जं जस्स दु संठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ।  
तं संठाणं तस्स दु जीवघणो होई सिद्धस्स ॥

(2129 अ.10.सू.पृष्ठ 900 भग.आ.)

दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चंतं ।  
अच्चंतिगो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥(2130)

मन वचन काययोगों का त्याग करते समय अयोगी गुणस्थान में जैसा अन्तिम शरीर का आकार रहता है उस आकाररूप जीव के प्रदेशों का, घनरूप सिद्धोंका आकार होता है।

सिद्ध भगवान के कर्मों का अभाव होने से दस प्रकार के प्राणों का सर्वथा अभाव है। तथा शरीर का अभाव होने से इन्द्रिय जनित सुख दुःख का अभाव है।

जं णत्थिं बंधहेदुं देहग्गहणं ण तस्स तेण पुणो ।  
कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥(2131)

मुक्त जीव के कर्म बन्ध का कारण नहीं है। अतः वह पुनः शरीर धारण नहीं करता। क्योंकि कर्मों से बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीर को धारण करता है।

कज्जाभावेण पुणो अच्चंतं णत्थि फंदणं तस्स ।  
ण पओगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥(2132)

सिद्ध जीवों के कुछ करना शेष न होने से उनमें हलन चलन का अत्यन्त अभाव है। और वे शरीर रहित हैं। अतः वायु आदि के प्रयोग से भी उनमें हलन चलन नहीं होता।

कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगादो ।  
सो उवकारो इट्ठो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥(2133)

सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाश के प्रदेशों को अवगाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकाय का माना गया है; क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीव का स्वभाव

स्थिति नहीं है।

तेल्लोक्कमत्थयत्थो तो सो िद्धो जगं णिरवसेसं।  
सव्वेहिं पज्जएहिं ब संपुण्णं सव्वदव्वेहिं ॥(2134)  
पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।  
तह वा लोमभसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥(2135)

तीनों लोकों के मस्तक पर विराजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों से सम्पूर्ण जगत को जानते देखते हैं। तथा वे मोह रहित भगवान् पर्यायों से सहित तीनों कालों को और समस्त अलोक को जानते हैं।

भावे सगविसयत्थे सूरु जुगवं जहा पयासेइ।  
सव्वं वितथा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥(2136)

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है।

### कर्मों का क्षय होने के बाद

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। (5)

After that (liberation from all Karmas the liberated souls go up-wards (right vertically) to the end of लोक (or the universe).

तदनन्तर मुक्त जीव लोक के अन्त तक ऊपर जाता है।

जीव की स्वाभाविक गति का प्रतिपादन करते हुए आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्यों के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादक ग्रन्थ द्रव्य संग्रह शास्त्र में उल्लेख करते हैं कि “विस्ससोइड्ढगई” अर्थात् जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगमन स्वरूप है। अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार में जीव एवं पुद्गल के स्वभाव का वर्णन करते हुए उल्लेख करते हैं कि—

ऊर्ध्वं गौरव धर्माणो जीवो इति जिनोत्तमैः।

अधोगौरव धर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान ने जीव को ऊर्ध्व गौरव (ऊर्ध्व गुरुत्व)

धर्म वाला बताया है और पुद्गल को अधोगौरव (अधो गुरुत्व) धर्म वाला प्रतिपादित किया है।

जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व से ऊर्ध्वगमन करने की है। पुद्गल की स्वाभाविक गति नीचे से नीचे की ओर है। कारण यह है कि जीव (matter) के अमूर्तिक (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, वजन से रहित) एवं स्थानान्तरित रूप गति क्रिया-शक्ति से युक्त होने के कारण उसकी गति ऊर्ध्वगमन होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ; हाइड्रोजन गैस लीजिए। हाइड्रोजन गैस से भरे हुए बैलून को मुक्त करने पर वह बैलून धीरे-धीरे ऊपर ही गमन करता रहता है। यदि वह बैलून किसी कारणवश फटा नहीं तो वह गति करते-करते उस ऊँचाई तक पहुँचेगा जहाँ तक वायुमण्डल की तह में हाइड्रोजन गैस है। साधारण हवा से 14 गुना हल्की हाइड्रोजन होती है। जब हाइड्रोजन हवा से 14 गुना हल्की होने के कारण वह बैलून ऊपर ही ऊपर उड़ता है, तो शुद्ध जीव का, जो पूर्णतः वजन (भार) शून्य है, ऊपर गमन करना स्वाभाविक है। पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण, भारादि के साथ-साथ स्थानान्तरित गति शक्ति युक्त होने से पुद्गल का अधोगौरव स्वभाव होना भी स्वाभाविक है। यहाँ पर जिज्ञासा होना स्वाभाविक जीव की गति ऊर्ध्वगमन स्वरूप है तो यह संसारी जीव विभिन्न प्रकार की वक्रादि गति से विश्व के विभिन्न भाव में क्यों परिभ्रमण करता है ?

इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए अमृतचन्द्र सूरि बताते हैं कि—

**अधस्तिर्यक् तयोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः।**

**ऊर्ध्वमेक स्वभावेन भवति क्षीण कर्मणाम्॥**

जीव की संसार अवस्था में जो विभिन्न गति होती है, वह स्वाभाविक गति नहीं है। जीव की संसारावस्था में अधोगति, तिर्यकगति, उर्ध्वगति का कारण कर्म जनित है। सम्पूर्ण कर्म से रहित जीव की केवल एक स्वाभाविक ऊर्ध्वगति ही होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के गति सम्बन्धी प्रथम सिद्धान्त के अनुसार—

“A body at rest will remain at rest and a body moving with uniform velocity in a straight line will continue to do so unless an external

force is applied to it.” अर्थात् एक द्रव्य, जो विराम अवस्था में है, वह विराम अवस्था में रहेगा तथा एक द्रव्य जो सीधी रेखा में गतिशील है, वह गतिशील ही रहेगा, जब तक उस द्रव्य की अवस्था में परिवर्तन करने के लिए कोई बाह्य बल न लगाया जाए। (एक द्रव्य तब तक स्थिर रहता है जब तक बाह्य शक्ति का प्रयोग उसके गतिशील कराने में नहीं होता है तथा एक द्रव्य अविराम गति से एक सीधी रेखा में तब तक चलता रहता है, जब तक उस पर किसी बाह्य शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता है।

कोई भी द्रव्य यदि किसी एक दिक् की ओर गति करता है, तो वह द्रव्य उस दिक् में अनन्तकाल तक अविराम, अपरिवर्तित गति से गति करता रहेगा, जब तक कोई विरोधी शक्ति या द्रव्य उस गति का निरोध नहीं करेगा। दिक् अनन्त काल एवम् शक्ति अक्षय होने से, जिस दिक् में एक द्रव्य गति करता है, वह द्रव्य उस दिक् के अनन्त आकाश की ओर अनन्त काल तक गति करता ही रहता है, परन्तु केन्द्राकर्षण शक्ति, बाह्य भौतिक या जैविक आदि विरोध शक्ति के कारण उस गति में परिवर्तन आ जाता है। जैसे एक गेंद को यदि ऊर्ध्व दिक् में फेंकते हैं तो वह कुछ समय के पश्चात् नीचे गिर जाती है। इसका कारण यह है कि गेंद को ऊपर फेंकने के लिए जो शक्ति प्रयोग की गई थी, उससे वह ऊपर की ओर उठी थी, परन्तु पृथ्वी की केन्द्राकर्षण शक्ति के कारण उसमें परिवर्तन आया और कुछ समय के बाद उस गेंद की ऊर्ध्व गति में परिवर्तन होकर अधोगति हो गई। एक अन्य उदाहरण— खेत से पक्षी उड़ाने वाली रस्सी के एक यन्त्र विशेष में पत्थर आदि रखकर रस्सी के दोनों छोरों को पकड़कर अपनी ओर घुमाते हैं। रस्सी के साथ-साथ पत्थर भी घूमता रहता है। कुछ समय के बाद रस्सी के एक छोर को छोड़ देते हैं जिससे वह पत्थर छूट कर सीधा दूर जाता है। जिस समय वह व्यक्ति रस्सी के दोनों छोर पकड़कर घूमा रहा था उस समय वह पत्थर उस व्यक्ति की घुमाव शक्ति से प्रेरित होकर आगे भागने का प्रयास करता था, परन्तु दोनों छोर को पकड़कर घुमाने के कारण वह पत्थर रस्सी के साथ-साथ वर्तुलाकार में घूमता रहता था। जब उस व्यक्ति ने रस्सी के एक छोर को छोड़ दिया तो वह पत्थर उस बन्धन से मुक्त होकर आगे भागा। इसी प्रकार

जीव की स्वाभाविक ऊर्ध्व गति होते हुए भी विरोधात्मक कर्म शक्ति से प्रेरित होकर कर्म संयुक्त संसारी जीव चतुर्गति रूपी संसार में परिभ्रमण कर रहा है, परन्तु जब वह कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है तब अन्य गतियों में से निवृत्त होकर स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है—

परयडि द्विदि अणुभागप्पदेस बंधेहिं सव्वदो मुक्को।

उड्डं गच्छदि सेसा विदिसा वज्जं गदिं जंति॥

प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध, प्रदेश बन्ध से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने के बाद परिशुद्ध स्वतन्त्र शुद्धात्मा तिर्यक् आदि गतियों को छोड़कर ऊर्ध्व गमन करता है।

### मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के कारण

पूर्वप्रयोगादसंज्ञत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च । (6)

1. As the soul is previously impelled,
2. As it is free from ties or attachment,
3. As the bondage has been snapped and
4. As it is of the nature of darting up-wards.

पूर्व प्रयोग से, संग का अभाव होने से, बन्धन के टूटने से और वैसा गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

संसारी जीव ने मुक्त होने से पहिले कितनी ही बार मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया है, अतः पूर्व का संस्कार होने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है। जीव जब तक कर्मभार सहित रहता है तब तक संसार में बिना किसी नियम के गमन करता है और कर्मभार से रहित हो जाने पर ऊपर को ही गमन करता है। अन्य जन्म के कारण भूत गति जाति आदि समस्त कर्मबन्ध के उच्छेद हो जाने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है। आगम में जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने वाला बताया है। अतः कर्म नष्ट हो जाने पर अपने स्वाभाविक अवस्था के कारण मुक्तात्मा का एक समय तक ऊर्ध्व गमन होता है।

## उक्त चारों के कारणों के क्रम से चार दृष्टांत

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरणडबीजवदग्निशिखावच्च ।

(7)

1. Like the potters wheel,
2. The gourd devoid of mud,
3. The shell of the castor seed and
4. The flame of the candle.

घुमाये गये कुम्हार के चक्र के समान, लेप से मुक्त हुई तूम्बड़ी के समान एरण्ड के बीज के समान और अग्नि की शिखा के समान ।

1. घुमाये हुए चक्र के समान— अपवर्ग की प्राप्ति के लिये बहुत बार प्रणिधान होने से हाथ से घुमाये हुए चक्र के समान ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे कुम्हार के प्रयोग से उसके हाथ का दण्ड से और दण्ड का चाक से संयोग होने पर चाक का भ्रमण होता है ; परन्तु जब कुम्हार चाक पर दण्ड को घुमाना बन्द भी कर देता है तब भी पूर्वप्रयोग के कारण संस्कारक्षयपर्यन्त चक्र बराबर घूमता रहता है, उसी प्रकार संसारी आत्मा ने जो मोक्ष-प्राप्ति के लिये अनेक बार प्रणिधान और प्रत्यन किये हैं परन्तु अब मोक्ष-प्राप्ति के समय उद्योग के अभाव में भी उस संस्कार के आदेशपूर्वक पूर्वप्रयोग के कारण मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है।

2. मुक्त लेप वाली तूम्बड़ी के द्रव्य के समान— सजरहित होने से मुक्त लेप वाली तूम्बड़ी द्रव्य के समान मुक्तात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है। जैसे मिट्टी के लेप से वजनदार तूम्बड़ी पानी में डूब जाती है। और वही तूम्बड़ी ज्योंहि मिट्टी का लेप धुल जाता है तब शीघ्र ही पानी के ऊपर आ जाती है उसी प्रकार कर्मभार के आक्रान्त से वशी कृत आत्मा, कर्मवश संसार में इधर-उधर भ्रमण करती है। उसका अधः पतन होता है पर जैसे ही वह कर्मबन्धन से मुक्त होती है वैसे ही ऊपर आती है अर्थात् ऊर्ध्वगमन करती है।

3. एरण्ड के बीज के समान— बन्ध का उच्छेद हो जाने से एरण्ड के बीज के समान आत्मा ऊर्ध्वगमन करता है। जिस प्रकार ऊपर के छिलके के हटते

ही एण्ड के बीज की गति दृष्टिगोचर होती है अर्थात् छिलका हटते ही एण्ड बीज ऊपर को ही जाता है उसी प्रकार मनुष्यादि भवों में भ्रमण कराने वाले गति नामकर्मादि सर्वकर्मों के बन्ध का छेद हो जाने से मुक्त जीव का स्वाभाविक ऊर्ध्व ही गमन होता है।

4. स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन— अथवा अग्नि की शिखा के समान, मुक्त जीव का स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन ही है। जैसे— तिरछी बहने वाली वायु के अभाव में प्रदीपशिखा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करती है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी नाना गतिविकार के कारणभूत कर्म के हट जाने पर ऊर्ध्वगति स्वभाव से ऊपर को ही जाती है।

भगवती अराधना में कहा गया है—

तं सो बंधणमुक्को उड्ढं जीवो पओगदो जादि।

जह एण्डयबीयं बंधणमुक्कं सम्पुददि॥(2121)

इस प्रकार बन्धन से मुक्त हुआ वह जीव वेग से ऊपर को जाता है जैसे बन्धन से मुक्त हुआ एण्ड का बीज ऊपर को जाता है।

संगउ विजहणेण य लहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो।

जथ आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिबुड्ढो वि॥(2122)

समस्त कर्म नो कर्मरूप भार से मुक्त होने के कारण हल्का हो जाने से वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिट्टी के लेप रहित तूम्बी जल में डूबने पर भी ऊपर ही जाती है।

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढं।

वेणेण पूरिदो जह ठाड्ढुकामो वि य ण ठादि॥(2123)

जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर को जाता है।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होहि उड्ढगदी ।

जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स ॥(2124)

अथवा जैसे आग की लपट स्वभाव से ही ऊपर को जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव ।

पावदि जयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसंतो ॥(2125)

कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समय वाली मोड़े रहित गति से सात राजु प्रमाण आकाश के प्रदेशों का स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्र वेग से लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है।

**लोकाग्र के आगे नहीं जाने में कारण**

**धर्मास्तिकाया भावात् । (8)**

But it does not rise higher than the extreme limit to लोक or the universe because (beyond it there is) the non-existence of धर्मास्तिकाय or the medium of motion.

धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव लोकान्त से और ऊपर नहीं जाता ।

समस्त कर्म बन्धन से मुक्त होने के बाद सिद्ध जीव के अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख अनंत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरूलघुत्व आदि अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं। जीव की गति स्वाभाविक उर्ध्व गति होने के कारण एवं सम्पूर्ण कर्मबन्धन से सिद्ध जीव मुक्त होने से यह गति पूर्ण रूप से स्वाभाविक रूप में प्रगट होती है। सिद्ध जीव की अनन्त शक्ति होती है उर्ध्वाकाश अनंत होता है भविष्य काल भी अनंत होता है तब प्रश्न होता है सिद्ध जीव क्या अनंत काल तक अनंत आकाश में गमन करते रहते हैं? उस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि काल अनंत होते हुए शक्ति, अनंत होते हुए एवं उर्ध्वाकाश अनंत होते हुए भी सिद्ध जीव केवल एक समय में 7 राजू गमन करके लोकाग्र में स्थिर हो जाते हैं क्योंकि अलोकाकाश में 'गति-माध्यम' धर्म द्रव्य' के अभाव से सिद्ध जीव अलोकाकाश में गमन



नहीं करते हैं।

गत्युपग्रहकारण भूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः  
तद्भावे च लोकालोक विभागाभावः प्रसज्यते ॥

गति के उपकार का कारण भूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है, इसलिए मुक्त जीव का अलोक में गमन नहीं होता। और यदि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर भी अलोक में गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः।  
धर्मोहि सर्वदा कर्ता जीव पुद्गलयोर्गतेः ॥

त्रैलोक्य के अंत तक धर्मास्तिकाय होने से सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है। अलोक में जीव और पुद्गल के गति हेतु का अभाव होने से लोक के ऊपर गति नहीं होती।

**मुक्त जीवों में भेद होने के कारण**

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबो-

धितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः। (9)

The emancipated souls can be differentiated with deference to

1. The region.
2. Time.
3. State.
4. Sign.
5. Type of Tirtha.
6. Conduct.
7. Self enlightenment, enlightened by others.
8. Knowledge.
9. Stature.
10. Interval.
11. Number and

12. Numerical comparison. (The sacred flocks of the jains  
TATVARTHA SUTRAM - by J.L.Jains)

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र प्रत्येक बोधित, बुद्ध बोधित ज्ञान अवगाहना अन्तर संख्या और अल्प बहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं।

प्रत्युत्पन्न और भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा क्षेत्रादि के द्वारा सिद्धों में भेद साध्य है। क्षेत्र को आदि लेकर अल्पबहुत्व पर्यन्त 12 अनुयोगों के द्वारा प्रत्युत्पन्न नय और भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा सिद्धों के विकल्प साध्य होते हैं।

(1) क्षेत्रः— सिद्धिक्षेत्र में वा कर्मभूमि में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्ध क्षेत्र, स्व प्रदेश या आकाश प्रदेश में सिद्ध होती है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों में और संहरण की अपेक्षा मनुष्य लोक में सिद्ध होती है। ऋजुसूत्र नय और तीन शब्दनय (शब्द नय, समभिरूढ़ नय, और एवंभूत नय) प्रत्युत्पन्न नय वर्तमान ग्राही है तथा शेष नय (संग्रह, व्यवहार, और नैगम) उभय (वर्तमान और भूतकाल) विषयग्राही (ग्रहण करने वाले) हैं।

(2) कालः— एक समय में सिद्ध होते हैं वा साधारण रूप से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में ही सिद्ध होता है क्योंकि सिद्ध होने का काल तो एक समय ही है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा दो विकल्प हैं—जन्म से और संहरण से। जन्म की अपेक्षा सामान्यतः उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सुषम-सुषमा के अन्त भाग में और दुषम-सुषमा में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुषम-सुषमा में उत्पन्न हुआ जीव दुषमा में सिद्ध हो सकता है, परन्तु दुषमा में या प्रथम द्वितीय काल में तथा सुषमा-सुषमा के प्रथम भाग में वा दुषमा-दुषमा काल में उत्पन्न हुआ कभी सिद्ध नहीं हो सकता। संहरण की दृष्टि से सभी कालों में (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी में) सिद्ध हो सकते हैं।

(3) गतिः— सिद्ध गति में वा मनुष्य गति में सिद्ध होती है। प्रत्युत्पन्न नय

की दृष्टि से सिद्ध गति में सिद्धि होती है। भूतनय की अपेक्षा दो विकल्प हैं—एकान्तर गति और अनन्तर गति। अनन्त गति भूतनय की दृष्टि से मनुष्य गति में सिद्धि होती है और एकान्तर गति की अपेक्षा चारों गतियों में सिद्धि होती है अर्थात् किसी भी गति से मनुष्य होकर सिद्ध हो सकता है।

(4) लिंगः— अवेद से मुक्ति होती है या तीनों वेदों से मुक्ति होती है? वर्तमान नय (प्रत्युत्पन्न नय) की अपेक्षा अवेद अवस्था में सिद्धि होती है और अतीत गोचर नय की (भूतनय) की अपेक्षा साधारण रूप से तीनों वेदों से सिद्धि होती है - तीनों लिंगों से सिद्धि भाववेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं क्योंकि द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पुरुष लिंग से ही सिद्धि होती है, दूसरे वेद से नहीं। अथवा लिंग दो प्रकार का है—सग्रन्थ लिंग और निर्ग्रन्थ लिंग। उसमे प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिंग से ही मुक्ति होती है और भूतनय की अपेक्षा विकल्प है।

(5) तीर्थः— तीर्थसिद्धि दो प्रकार की होती है—एक तीर्थकर रूप से और दूसरी तीर्थकर भिन्न रूप से। कोई तीर्थकर होकर सिद्ध हुए हैं और कोई तीर्थकर न होकर सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं। जो सामान्य सिद्ध हैं, तीर्थकर बिना हुए सिद्ध हुए है वे दो प्रकार के हैं - उनमें कोई तो तीर्थकरो के अस्तित्व (मौजूदगी) में सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थकर की गैरमौजूदगी में सिद्ध होते हैं।

(6) चारित्रः— चारित्र अचारित्र के विकल्प से रहित अवस्था से या एक, चार, पाँच विकल्प वाले चारित्र से सिद्ध होते हैं— अर्थात् प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से न तो चारित्र से सिद्धि होती है और न अचारित्र से सिद्धि होती है, चारित्र अचारित्र के विकल्प रहित निर्विकल्प भाव से सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा दो प्रकार है - अनन्तर और व्यवहित। अनन्तर भूतप्रज्ञापननय की दृष्टि से यथाख्यात चारित्र से सिद्धि होती है और व्यवधान भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा चार या पाँच चारित्रों से सिद्धि होती है। सामायिक छेदोपस्थापना, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, इन चार चारित्रों को धारण कर सिद्ध होते हैं, और कोई सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात, इन पाँच चारित्रों को प्राप्त कर मुक्त होते हैं। मुक्त होने के पूर्व

चार चारित्र तो अवश्य होते हैं, परिहारविशुद्धि संयम भजनीय है, किसी के होता है किसी के नहीं भी होता है।

(7) **प्रत्येक बुद्धः**— स्वशक्ति और परोपदेश निमित्त ज्ञान के भेद से प्रत्येक बुद्ध और बोधित बुद्ध ये दो विकल्प होते हैं। कुछ प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होते हैं जो परोपदेश के बिना स्वशक्ति से ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं, अर्थात् पूर्वभवोपार्जित कर्म संस्कार के कारण स्वयमेव संसार से विरक्त हो जाते हैं।

(8) **बोधित बुद्धः**— जो परोपदेश पूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं गुरुजनों के द्वारा सम्बोधित करने पर संसार से विरक्त हो मुक्ति प्राप्त करते हैं वे बोधित बुद्ध कहलाते हैं।

(9) **ज्ञानः**— ज्ञान की अपेक्षा कोई एक ज्ञान से, कोई दो ज्ञान से, कोई तीन ज्ञान से, और कोई चार ज्ञान विशेष से सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक केवलज्ञान से ही सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापन नय की दृष्टि से मति, श्रुत, इन दोनों से मति श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से व मति, श्रुत और मनः पर्यय इन तीनों ज्ञानों से तथा मति, श्रुत अवधि और मनः पर्यय इन चारों से सिद्धि होती है।

(10) **अवगाहनः**— उत्कृष्ट और जघन्य के भेद से अवगाहन (शरीर की ऊँचाई) दो प्रकार का है। आत्म प्रदेशों का व्यापित्व अर्थात् अवगाहन शरीर परिमाण है और वह अवगाहन उत्कृष्ट एवं जघन्य के भेद से दो प्रकार का है। उत्कृष्ट अवगाहन पाँच सौ पच्चीस धनुष है और जघन्य साढ़े तीन अरत्नि (मुष्टि बन्द किए हुए हाथ को अरत्नि कहते हैं) प्रमाण है। मध्य में अवगाहना के अनेक विकल्प होते हैं। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ पच्चीस धनुष है, जघन्य साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण से और मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है तथा प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापन नय की दृष्टि से उत्कृष्ट कुछ कम पाँच सौ पच्चीस धनुष से जघन्य साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण से और मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है तब प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापन नय की दृष्टि से उत्कृष्ट कुछ कम पाँच सौ पच्चीस धनुष से सिद्धि होती है और जघन्य से कुछ कम साढ़े तीन अरत्नि प्रमाण से सिद्धि होती है।

(11) **संख्या:**— जघन्य से दो समय तक और उत्कृष्ट से आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते रहते हैं। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह महीने का अन्तर पड़ सकता है। सिद्धों के विरहकाल को अन्तर कहते हैं, अर्थात् एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने के मध्य का काल वा जितने समय तक कोई भी जीव मोक्ष में नहीं जाए, उसको अन्तर कहते हैं। सिद्ध होने का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास है। उसके बाद कोई न कोई जीव मोक्ष में अवश्य जायेगा। जितने जीव एक साथ मोक्ष में जाते हैं, उसे संख्या कहते हैं। एक समय में जघन्य से एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट से 108 सिद्ध हो सकते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

(12) **अल्पबहुत्व:**— क्षेत्रादि भेद से भिन्न-भिन्न की परस्पर संख्या विशेष संख्या के तारतम्य को अल्पबहुत्व कहते हैं। क्षेत्र काल लिंग आदि ग्यारह अनुयोग द्वार से भेदों की परस्पर संख्या विशेष को अल्पबहुत्व कहते हैं। जैसे-प्रत्युत्पन्ननयकी अपेक्षा सिद्धक्षेत्र में सिद्ध होते हैं अतः उनमें अल्पबहुत्व नहीं है। परन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा यहाँ विचार किया जाता है-भूतपूर्व नय की अपेक्षा क्षेत्रसिद्ध दो प्रकार के हैं-एक जन्म की दृष्टि से। और दूसरे संहरण की दृष्टि से उनमें संहरण सिद्ध अल्प है, जन्म सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं। संहरण दो प्रकार का है-एक स्वकृत दूसरा परकृत। देवों के द्वारा एवं चारण विद्याधरों के द्वारा कृत संहरण परकृत है और चारण विद्याधरों का स्वयं संहरण स्वकृत है। जिस क्षेत्र में जन्म हुआ है वह क्षेत्र कहलाता है और देव विद्याधर उठाकर समुद्र में डाल देते हैं या स्वयं विद्या या ऋद्धियों से दूसरे स्थान में चले जाते हैं, वह संहरण कहलाता है। उनके क्षेत्रों के विभाग को कहते हैं-कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र-द्वीप, ऊपर, नीचे, तिरछे आदि। उनमें ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे स्तोत्र-कर्म हैं। उर्ध्वलोक से सिद्ध होने वाले जीवों की अपेक्षा अधोलोक से सिद्ध होने वाले संख्यात गुणे अधिक हैं। उससे भी तिर्यग्लोक सिद्ध संख्यात गुणे हैं। अधोलोक का अर्थ नरक वा ऊर्ध्वलोक का अर्थ स्वर्ग नहीं है अपितु अधोलोक का अर्थ है - किसी ने मुनिराज को नीचे गडढे में डाल दिया हो या पर्वत आदि ऊँचे स्थान में ले गये हों वह ऊर्ध्वलोक कहलाता है। वहाँ से सिद्ध होने वाले अधो लोक सिद्ध और ऊर्ध्वलोक सिद्ध कहलाते हैं। सबसे कम

समुद्र सिद्ध हैं उससे असंख्यातगुणे द्वीपों से मुक्त हुए जीव हैं, यह सामान्य वर्णन है - विशेष से सबसे कम लवण समुद्र से सिद्ध हुए जीव हैं उससे संख्यातगुणे कालोदधि समुद्र से सिद्ध हुए हैं उससे संख्यातगुणे जम्बूद्वीप समुद्र हैं। जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकी खण्ड से सिद्ध हुए हैं वह जीव संख्यातगुणे अधिक हैं उससे संख्यातगुणे पुष्पकरार्धद्वीप सिद्ध हैं।

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं, व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम्।

साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं, को न विमुह्यतिशास्त्रसमुद्रे ॥(1)

इस शास्त्र में यदि कहीं अक्षर, मात्रा, पद, या स्वर रहित हो तथा व्यञ्जन सन्धि व रेफसे रहित हो तो सञ्जन पुरुष मुझे क्षमा करें। क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्र में कौन पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् भूल नहीं करता।

### अभ्यास प्रश्न-

1. केवल ज्ञान की उत्पत्ति किन कारणों से होती है ?
2. मोक्ष जीव को कब प्राप्त होता है ?
3. 13 वाँ गुणस्थान (अरहंत अवस्था) का वर्णन करो ?
4. 14 वाँ गुणस्थान (अयोग केवली गुणस्थान) का वर्णन करो ?
5. मोक्ष में किन-किन भावों का अभाव होता है और क्यों होता है ?
6. मोक्ष में ज्ञान दर्शन आदि भावों का अभाव क्यों नहीं होता है ?
7. सम्पूर्ण कर्म नष्ट होने के बाद जीव की गति कहाँ तक होती है ?
8. जीव की उर्ध्वगति के कारण क्या-क्या है ?
9. सिद्ध जीव लोकाग्र में जाकर क्यों स्थिर हो जाते हैं ?
10. मुक्त जीव में भेद किन कारणों से होता है ?

## उपाध्याय श्री कनकनन्दी द्वारा रचित ग्रंथ

आपको जानकर हर्ष होगा कि जैन धर्म की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता एवम् तत्त्वज्ञता से सभी वर्गों के परिचय हेतु - 'धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन' का शुभारम्भ हो गया है। वर्तमान वैज्ञानिक युग की पीढ़ी, बुद्धिजीवी वर्ग एवं जैन-जैनेतर बन्धुओं की मानसिकता को दृष्टिगत कर रची गई सभी पुस्तकें आपको स्वयं अपने अन्तर्मन में उमड़ते प्रश्नों का ही उत्तर प्रतीत होगी।

उपाध्याय कनकनन्दी जी की लेखनी से भूगोल, विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, राजनीति, रसायन विज्ञान, खगोल, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, ऋद्धि, सिद्धि, स्वप्न विज्ञान, ध्यान-योग, इतिहासादि सभी को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है।

### प्रकाशित पुस्तकें :

- (1) धर्म विज्ञान बिन्दु (मूल्य 15.00 रु.)
- (2) धर्म ज्ञान एवं विज्ञान (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 15.00 रु.)
- (3) भाग्य एवं पुरुषार्थ (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य स्वाध्याय, 10.00 रु.)
- (4) संस्कार (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य स्वाध्याय 5.00 रु.)
- (5) दिगम्बर जैन साधु का नम्रत्व एवं केशलौच (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य स्वाध्याय 5.00 रु.)
- (6) व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण (हिन्दी व अंग्रेजी) (मूल्य 20.00 रु.)
- (7) जिनार्चना पुष्प-I एवं II (मूल्य 21.00 रु. प्रत्येक)
- (8) धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान पुष्प - I (मूल्य स्वाध्याय, 20.00 रु.)
- (9) पुण्य पाप मीमांसा (मूल्य 15.00 रु.)
- (10) निमित्त उपादान मीमांसा (मूल्य 7.00 रु.)
- (11) धर्म दर्शन एवं विज्ञान (मूल्य 21.00 रु.)
- (12) क्रांति के अग्रदूत (मूल्य स्वाध्याय, 10.00 रु.)
- (13) लेश्या-मनोविज्ञान (मूल्य 6.00 रु.)

- (14) ऋषभ पुत्र भरत से भारत (मूल्य 10.00 रु.)
- (15) ध्यान का एक वैज्ञानिक विश्लेषण (मूल्य 15.00 रु.)
- (16) अनेकान्त दर्शन (मूल्य 20.00 रु.)
- (17) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन (मूल्य 25.00 रु.)
- (18) युग निर्माता ऋषभदेव (मूल्य-स्वाध्याय, 15.00 रु.)
- (19) विश्व शान्ति के अमोघ उपाय (मूल्य-स्वाध्याय 10.00 रु.)
- (20) मनन एवं प्रवचन (मूल्य-स्वाध्याय 5.00 रु.)
- (21) अहिंसामृतम् (मूल्य 7.00 रु.)
- (22) विनय मोक्षद्वार (मूल्य-स्वाध्याय, 5.00 रु.)
- (23) क्षमा वीरस्य भूषणम् (मूल्य 15.00 रु.)
- (24) संगठन के सूत्र (मूल्य 10.00 रु.)
- (25) अतिमानवीय शक्ति (मूल्य 21.00 रु.)
- (26) मन्त्र विज्ञान (मूल्य 10.00 रु.)
- (27) Philosophy of Scientific Religion (Rs. 15.00)
- (28) धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान पुष्प – II (मूल्य 20.00 रु.)
- (29) भगवान् महावीर और उनका दिव्य संदेश (मूल्य 5.00 रु.)
- (30) विश्व विज्ञान रहस्य (मूल्य 100.00 रु.)
- (31) धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्प-I एवं II (मूल्य 5.00 रु.)
- (32) भगवान् महावीर और उनका दिव्य संदेश (मूल्य 5.00 रु.)
- (33) विश्व विज्ञान रहस्य (मूल्य 100.00 रु.)
- (34) Religious and scientific analysis of Vyasan (Rs. 20.00)
- (35) स्वप्न विज्ञान (मूल्य 25.00 रु.)
- (36) त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य (मूल्य 12.00 रु.)
- (37) आत्मोत्थानोपायः तप (मूल्य 9.00 रु.)
- (38) तत्त्वानुचिन्तन (मूल्य 15.00 रु.)
- (39) विश्व इतिहास (मूल्य 25.00 रु.)
- (40) शकुन विज्ञान (मूल्य 25.00 रु.)
- (41) बाल धर्म विज्ञान (मूल्य 8.00 रु.)
- (42) कथा सुमन मालिका (मूल्य 15.00 रु.)



- |                                     |                   |
|-------------------------------------|-------------------|
| (43) 72 कलायें                      | (मूल्य 5.00 रु.)  |
| (44) हिंसामय यज्ञ का प्रारम्भ क्यों | (मूल्य 7.00 रु.)  |
| (45) कथा-सौरभ                       | (मूल्य 21.00 रु.) |
| (46) कथा-पारिजात                    | (मूल्य 15.00 रु.) |
| (47) धर्म प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर   | (मूल्य 5.00 रु.)  |
| (48) जीने की कला                    |                   |
| (49) संस्कार (बृहत्)                |                   |
| (50) कथा चिन्तामणि                  |                   |
| (51) सत्य धर्म                      | (मूल्य 5.00 रु.)  |

प्रकाशन की ओर से साधु-संघों, स्वाध्याय शालाओं, धार्मिक शिक्षण संस्थाओं, शोधरत छात्रों, असमर्थ भाई-बहनों को पुस्तकें निःशुल्क भेंट की जाती हैं। पुस्तकालय, वाचनालय शिक्षण संस्थाओं के लिए 25% छूट से शास्त्र दिये जायेंगे। सामान्य स्वाध्याय प्रेमियों के लिए 10% छूट है, डाक खर्च अलग से है। आजीवन सदस्य 2101.00 रु.। रूपये अग्रिम भेजने की आवश्यकता है। द्रव्यदाता आजीवन-सदस्य कार्य-कर्ताओं को संस्था की समस्त पुस्तकें निःशुल्क मिलती है। आर्थिक दृष्टि से समर्थ सामान्य व्यक्ति से उचित मूल्य इसलिये प्राप्त किया जाता है कि जिससे साहित्य का अवमूल्यन न हो योग्य व्यक्ति को साहित्य प्राप्त हो, साहित्य का आदर हो, साहित्य प्रकाशन के लिये ज्ञान दान (सहयोग) हो, साधु आदि को निःशुल्क साहित्य भेजने में आर्थिक आपूर्ति हो एवं उस सहयोग से अधिक से अधिक साहित्य प्रकाशन, प्रचार, प्रसार हो, द्रव्यदाता को उस द्रव्य से प्रकाशित प्रतियों की एक दशमांश प्रतियाँ भी निःशुल्क प्राप्त होंगी पुस्तकें छपवाने वाले यदि लागत रूप्यों में से कुछ रूपये देने में असमर्थ होंगे तो संस्था उसकी आर्थिक सहायता के साथ साथ अन्यान्य सहायता करके उनके नाम पर ही उसकी पुस्तकें छपवा देगी। इसमें संस्था का कोई निहित स्वार्थ नहीं है। परन्तु ज्ञान-प्रचार का एक मात्र उद्देश्य है।

निवेदक

धर्म-दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन  
बड़ौत - 250611 मेरठ (उ. प्र.)

